1913

मूल्य १।)

भास्करप्रकाश

अर्थात्

दयानन्द तिमिरभास्कर का उत्तर

तुलसीराम स्वामी

सामवेदभाष्यकार, न्याय-वैशेषिक-सांख्य-योग
वेदान्त-गीता-मनुस्मृति आदि के अनुवादक
और भाष्यकार ने रचा, छपाया और
प्रकाशित किया

संवत् १९७० ज्येष्ठ

PRINTED and Published by
Tulsi RAM Swami,
at the Swami Machine Press
Meerut
1913

मूल्य १।)

ओ३म्

भास्करप्रकाश

अर्थात्

दयानन्द तिमिरभास्कर का उत्तर

तुलसीराम स्वामी

सामवेदभाष्यकार, न्याय-वैशेषिक-सांख्य-योग
वेदान्त-गीता-मनुस्मृति आदि के अनुवादक
और भाष्यकार ने रचा, छपाया और
प्रकाशित किया

संवत् १९७० ज्येष्ठ

PRINTED and Published by
Tulsi RAM Swami,
at the Swami Machine Press
Meerut
1913

मूल्य १।)

भास्करप्रकाश

तृतीय संस्करण

(दयानन्दतिमिरभास्कर का उत्तर)

इसमें नीचे लिखे ग्रन्थों के प्रमाण दिये गये हैं

१-वेद=ऋग्, यजुः, साम, अथर्व
२-ब्राह्मण=साम, गोपथ शतपथ, ऐतरेय, ताण्ड्य, षड्विंश
३-उपनिषद्=वाजसनेय, तलवकार, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, मैत्र्युपनिषद्, कैवल्योपनिषद्
४-स्मृति=मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर, नारद, वसिष्ठ ॥
५-वेदाङ्ग=अष्टाध्यायी, महाभाष्य, निरुक्त, सिद्धान्तशिरोमणि
६-दर्शन=गोतम, कणाद, कपिल पतञ्जलि, जैमिनि और व्यास के
७-इतिहास=महाभारत
८-पुराणाऽऽभास=भागवत
९-वाल्मीकीयरामायण
१०-सुश्रुत
११-चरक
१२-अमरकोश

विषयानुक्रम

सं०	विषय	पृष्ठ से
	* प्रथमसमुल्लासमण्डन	९
१	शतनामप्रकरण में ब्रह्मादि पदों से परमेश्वरार्थ ग्रहण का मण्डन किया गया है ॥	११
२	मङ्गलाचरणप्रकरण—इसमें "दुं दुर्गायैनमः" इत्यादि अवैदिक मङ्गलाऽऽरम्भ का खण्डन और ओ३म् आदि शब्दों से ऋषिसंमत मङ्गलाचरण का मण्डन किया गया है ॥	१२
३	ओङ्कारप्रकरण-इसमें ओङ्कार के स्वामी जी लिखित अर्थों का माण्डूक्योपनिषद् में कहे प्रकारानुसार मण्डन किया गया है। निरुक्त और ऋग्वेदवचन का सत्यार्थ करके द० ति० भास्कर का अज्ञान दिखाया है	१४
	* द्वितीयसमुल्लासमण्डन	१८
४	बालशिक्षाप्रकरण में-गर्भ से ही शिक्षा का मण्डन, भूतप्रेतादि तथा फलितज्योतिषादि ग्रहभयखण्डन किया गया है ॥	१८

ओ३म्

सब सज्जनों को विदित हो कि संवत् १९५१ में मुम्बई वेङ्कटेश्वर यन्त्रालय में "दयानन्दतिमिरभास्कर" नामक पुस्तक, मुरादाबाद निवासी पं० ज्वाला-प्रसाद मिश्र ने मुद्रित कराया है, जिस में उन्होंने श्रीमान् स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराजकृत "सत्यार्थप्रकाश" के प्रकाश पर धूल फेंक कर अन्ध-कार फैलाने का उद्योग किया है परन्तु जिन लोगों को समझ है और जिन्हों ने स्वामी जी का दर्शन किया है, उन से धर्मविषयक शङ्का निवृत्त की हैं, उन के रचे "सत्यार्थप्रकाश" आदि ग्रन्थ सत्यासत्य की खोज करने के लिये पढ़े हैं और उन के उपदेशों तथा पुस्तकों द्वारा सत्य वेदोक्त धर्म का स्वरूप जान लिया है, वे निस्सन्देह प्रचलित ईश्वर की मूर्त्तिपूजा आदि वेदविरुद्ध व्यवहारों को छोड़ चुके और इस प्रकार के लेखों से इस के अतिरिक्त और कुछ फल नहीं कि ग्रन्थकर्त्ता, एक धार्मिक महात्मा के लेखों में द्वेषभाव से वृथा दोषा-रोपण करके अपने आप को बुराई का भागी बनावे। अथवा एक प्रसिद्ध पुरुष का प्रतिद्वन्द्वी बन कर केवल अनजान मनुष्यों में नाममात्र को प्रतिष्ठा प्राप्त कर ले। यद्यपि ऐसे लाघवसूचक पुस्तक कई बन चुके और सर्वसाधारण में उन का कुछ भी मान्य नहीं हुवा, ऐसी ही दशा इस की भी होती परन्तु मुम्बई के प्रसिद्ध पुस्तकविक्रेता "खेमराज श्रीकृष्णदास" के यहां मुद्रित होने और उन्हीं को विक्रय का अधिकार देदेने से एक बार भारतवर्ष और उस के आस पास के ब्रह्मा, आसाम और बिलोचिस्तान आदि देशों तक में इस का प्रचार होगया है, जिस से थोड़ी समझ के पुरुष भ्रम में पड़ जाते हैं और संस्कृत न जानने वाले आर्य भी प्रायः संशयनिवृत्त्यर्थ हम को पत्र लिखते हैं कि इस का खण्डन अवश्य शीघ्र छपना चाहिये॥

यद्यपि हम को इस बात का कोई दुराग्रह नहीं है कि सत्यार्थप्रकाशादि स्वामी जी कृत पुस्तकों में भूल हो ही नहीं सक्ती। परन्तु जब तक यथार्थ में कोई भूल सिद्ध न हो जावे तब तक मनमाने अनुचित असत्य आक्षेपों का उत्तर देना आवश्यक जानते हैं। इसी कारण हम इस पुस्तक का खण्डन करते हुए भी यदि कहीं कोई सत्य आक्षेप देखेंगे तो उस पर लेखनी नहीं उठावेंगे। परन्तु इस पुस्तक में ऐसी आशा न्यून ही है। क्योंकि ग्रन्थकर्त्ता ने अत्यन्त ही पक्षपातपूर्वक पुस्तक लिखा है, जिस की झलक तो पुस्तक के

नाम से भी सर्वसाधारण को ज्ञात होगी। भला ऐसे सामान्य पुरुषों की ओर से एक भूमण्डल में विख्यात महात्मा के नाम "दयानन्दतिमिरभास्कर" नामक पुस्तक लिखा जाना और उस का ऐसा उद्दण्ड नाम रखना क्या थोड़े द्वेष को सूचित करता है? यदि पं० ज्वालाप्रसाद जी सीधे सादे अपने मत-सम्बन्धी विश्वास से विरोध के कारण पुस्तक बनाते तो ईश्वरगानव्याख्या, सन्ध्या, अग्निहोत्र, ब्रह्मचर्य आदि विषयक लेखों पर तो लेखनी न चलाते क्योंकि ऐसे २ विषयों को तो सर्वसाधारण हिन्दू मानते ही हैं। परन्तु उन को तो यह कहावत चरितार्थ करनी थी कि–

येन केन प्रकारेण कुर्य्यात्सर्वस्य खण्डनम्

जैसे बने वैसे सब का खण्डन करना। चाहे सत्य हो चाहे असत्य परन्तु संसार यह तो जाने होगा कि स्वामी दयानन्दसरस्वती जी इतने बड़े विद्वान् प्रसिद्ध थे, उन का खण्डन पं० ज्वालाप्रसाद जी ने किया तो यह भी कोई बड़े विद्वान् होंगे। बस ऐसे ही कारणों से प्रसिद्धि का उपाय निकाला गया है-अस्तु। हम को इस से प्रयोजन नहीं। पं० ज्वालाप्रसाद जी ने ११स मुल्लासों का खण्डन किया है। हम क्रमशः उन की समीक्षा करेंगे, अर्थात् यदि यथार्थ में कोई भूल सत्यार्थप्रकाश में होगी तो स्वीकार करेंगे और मिथ्या शङ्काओं का निरास करेंगे, जिस से सर्वसाधारण को सत्यार्थप्रकाश के निर्माता का शुद्ध धर्मभाव प्रकट होकर वैदिकधर्म का प्रकाश होवे। इति॥

मेरठ ९।६।९७ ई०   तुलसीराम स्वामी

द्विरावृत्ति का निवेदन

हम इस के प्रथम मुद्रित पुस्तक निकल जाने से ग्राहकवर्ग की रुचि जानकर आज दूसरी बार छापना आरम्भ करते हैं, जिस में अवकाश कम होने पर भी जहां तहां नवीन संस्कार और शोधन भी करते जाते हैं॥

तुलसीराम स्वामी   २०।१२।०४

त्रिरावृत्ति

में द० ति० भा० त्रिरावृत्ति के ६४ पृष्ठों तक के नोट्स का उत्तर बढ़ाया गया है॥   तुलसीराम स्वामी   १५।६।१३

ओ३म्

अथ भास्करप्रकाशः

ज्वालाभासोपशमनं वा

ओ३म् । शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा । शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेवप्रत्यक्षं ब्रह्मासि।त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारम-वतु। अवतु माम् । अवतु वक्तारम् । ओं शान्तिः ३ ॥ १ ॥

प्राणवृत्ति का और दिवस का अभिमानी देवता जो मित्र सो हम को सुखकारी हो इत्यादि अपना मनमाना अर्थ करके द० ति० भा० पृष्ठ २ पं० ३ । ४ में पं० ज्वालाप्रसाद जी लिखते हैं कि "दयानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश में इस का अन्यथा व्याख्यान किया है सो त्याज्य है" ॥ २ । ५

प्रत्युत्तर—स्वा० दया० जी ने जितने हेतु अपने अर्थ की पुष्टि में दिये हैं उन का खण्डन किये विना, केवल " त्याज्य है " कहने से त्याज्य नहीं हो सकता । स्वामी जी ने प्रकरण का बल दिया है कि स्तुति प्रार्थना उपासना के प्रकरण में मित्रादि * नामों से ईश्वर ही का ग्रहण योग्य है, जिस को

---

* द० ति० भा० तृ० पृष्ठ २ में यजुः ३ । ३१ व ३३ के प्रमाण से मित्रादि ३ देवता लिये हैं, सो तो प्रकरण में स्वामी जी भी प्राणादि का नाम मानते हैं, किन्तु स्वामी जी कृत ईश्वरार्थ में शङ्करभाष्यसहित वेदान्त सूत्र १ । १ । २२, २३, २८ तथा १ । २ । ९, २४, २८ तथा १ । ३ । ८, १० और इन का शारीरकभाष्य, भामती, रत्नप्रभा और न्यायनिर्णय सब एक स्वर से " न देवताभूतं च " का व्याख्यान करके देवतार्थ का निषेध करते हैं । विस्तार से हमारा बनाया वेदान्तभाष्य देखिये ॥

उन्होंने विस्तारपूर्वक सत्यार्थप्रकाश में सिद्ध किया है और उस का उत्तर आप ने कुछ भी नहीं लिखा । यदि ऐसा ही खण्डन आगे २ भी चला तो "दाता बेली" है ॥

द० ति० भा० पृष्ठ २ पं० ११ से-समीक्षा-इस लेख (सत्यार्थप्रकाश की भूमिका के) से पहिला सत्यार्थप्र० गुजराती भाषा मिश्रित विदित होता है किन्तु इस में कोई गुजराती भाषा का शब्द पाया नहीं जाता भला वह तो अशुद्ध होचुका पर अब यह तो आप के लेखानुसार सम्पूर्ण ही शुद्ध है क्योंकि इस के बनाने के पूर्व न तो आप को लिखना ही आता था न शुद्ध भाषा ही बोलनी आती थी, इस से यह भी सिद्ध होता है कि इस सत्यार्थ से पूर्वरचित वेदभाष्यभूमिका तथा यजुर्वेदादि भाष्यों की भाषा भी अशुद्ध होगी इत्यादि ॥ २ । २५ ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी का आशय यह नहीं है कि जन्मभूमि की गुजराती भाषा होने से इस में उस का मेल होगया किन्तु वे स्पष्ट लिखते हैं कि मातृभाषा गुजराती थी और सम्प्रति संस्कृत ही बोलने आदि का काम था क्योंकि इस देश के लोगों के साथ (जहां लेखकों को सत्यार्थप्रकाश बोल कर तात्पर्य समझा कर लिखवाया) संस्कृत ही में काम चलाया जाता था, अतः समझने समझाने में भूल होकर तात्पर्य ठीक २ न रहा । बहुत लोगों ने देखा है, वे अब तक वर्त्तमान हैं कि स्वामी जी महाराज आर्यसमाजों के स्थापन से पूर्व दिगम्बर हो गङ्गातट पर विचरा करते और संस्कृत का ही भाषण करते तथा संस्कृत में ही सेवा सत्सङ्गादि करने वालों को वैदिकधर्म का उपदेश तथा वेदविरुद्ध मतों का खण्डन भी किया करते थे । उसी समय राजा जयकृष्णदास जी ने यह समझ कर कि इन के पवित्र विचार से लेख-द्वारा दूरदेशवर्त्ती लोगों का भी उपकार हो सकता है, प्रथम सत्यार्थप्रकाश काशी में छपवाया था । उस समय तक स्वामी जी गङ्गातटादि विविक्तस्थानों में ही प्रायः रहते थे यही कारण था कि भाषादि को अच्छे प्रकार न जांच पाये । और यह भी विदित रहे कि प्रथम का सत्यार्थप्रकाश लेख के समय से बहुत पीछे छपा । और भूमिका वा वेदभाष्य एक तो लिखने के थोड़े ही काल पीछे छपे और वे पुस्तक (अखिल) मूल संस्कृत में स्वामी जी ने बोल २ कर लेखकों को लिखाये फिर उन की भाषा नौकर पण्डितों ने की । इस लिये ऊपर लिखा आक्षेप निर्मूल है ॥

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः स शिवः सोऽक्षरः स परमः स्वराट्।
स इन्द्रः स कालाग्निः स चन्द्रमाः ॥ कैवल्योपनिषद् ॥

इस प्रमाण से जो स्वामी जी ने ब्रह्मा विष्णु आदि परमात्मा के नाम सिद्ध किये हैं इस पर पं० ज्वालाप्रसाद जी द० ति० भा० पृष्ठ ३ पं० ५ से लिखते हैं कि–"धन्य है स्वामी जी आप तौ दश ही उपनिषद् मानते थे आज मतलब पड़ा तौ कैवल्य भी मान बैठे। और विना प्रमाण फिर ब्रह्मा विष्णु आदि को पूर्वज विद्वान् बताया। और आप का यह अर्थ भी अशुद्ध है कि वही ब्रह्मा वही विष्णु आदि है," शुद्ध अर्थ यह है कि "वह ब्रह्मा रूप होकर जगत् की रचना करता, विष्णुरूप हो पालन करता" इत्यादि। और ब्रह्मा शिव आदि पूर्वज विद्वान् थे तौ किस के पुत्र थे? यदि कहो कि स्वयं उत्पन्न हो गये तौ आप का सृष्टिक्रम जाता रहेगा कि विना पिता के मनुष्य नहीं उत्पन्न होता इत्यादि॥

प्रत्युत्तर- कैवल्य उपनिषद् क्या! आप के सम्मुख तौ अल्लोपनिषद् का भी प्रमाण दिया जा सक्ता है क्योंकि आप उस को मानते हैं। जब कि "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः" इत्यादि वेदमन्त्रों से स्वामी जी सिद्ध कर चुके कि ये सब नाम प्रार्थनोपासनाप्रकरण में ईश्वर के हैं तौ फिर वेद के अनुकूल चाहे जिस उपनिषद् वा अन्य किसी ग्रन्थ का प्रमाण अमान्य नहीं होसक्ता। और आप का तौ सूत्र ही नहीं है कि जिन पुस्तकों को आप मानते हैं उन में से किसी के वाक्य को भी न मानें। क्योंकि आप के मत में तौ "संस्कृतं प्रमाणम्" है। दूसरी बात का समाधान यह है कि ब्रह्मा विष्णु आदि पूर्वज पुरुषविशेष देहधारी थे, यह बात तौ सब हिन्दू मानते ही हैं, पुराणों और इतिहासों में उन के जन्मादि चरित्र वर्णित ही हैं, इस विषय में स्वामी जी को प्रमाण देने की आवश्यकता न थी क्योंकि सिद्ध को सिद्ध करना पिष्टपेषण है। ब्रह्मा जी आदि को देहधारी तौ स्वयं ही लोग मानते हैं, हां, ब्रह्मा आदि नाम परमात्मा के भी हैं, इस विषय को लोग नहीं मानते थे, अतः स्वामी जी ने वेदों, मनुस्मृति और लोगों के माने हुवे कैवल्योपनिषद् से भी यह सिद्ध कर दिया कि ये नाम परमात्मा के भी हैं। आप जो अर्थ करते हैं कि "वह ब्रह्मारूप होकर जगत को उत्पन्न करता है" इत्यादि, यह आप का अर्थ अक्षरार्थ में नहीं मिलता क्योंकि "स ब्रह्मा

न विष्णुः" इत्यादि का सीधा अक्षरार्थ यह है कि सः=वह, ब्रह्मा=ब्रह्मा है। सः=वह, विष्णुः=विष्णु है। इत्यादि। आप बताइये कि "स ब्रह्मा" का यह अर्थ कैसे हो गया कि "वोह ब्रह्मारूप होकर जगत् को उत्पन्न करता है" क्योंकि मूल में 'रूप होकर' यह अर्थ किसी पद से नहीं निकलता, अतः स्वामी जी का अर्थ ठीक और आप ही का बेठीक है और बिना पिता के पुत्र नहीं होता, यह नियम सृष्टि की उत्पत्ति के पश्चात् का है किन्तु सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ही सृष्टि के पिता होते हैं और आरम्भ का वही नियम है। स्वामी जी का लेख भङ्ग की तरङ्ग नहीं है किन्तु जीवनचरित्र में यदि बाल्यावस्था का भङ्ग पीने का वृत्तान्त लिखा होगा तो वह आप ही के माननीय भोलानाथ पार्वतीश की सामयिक उपासना का फल होगा, जिस के लिये पार्वती १२ वर्ष तक घोटती है, तब भी कोक अवश्य रहता है। यदि प्रमाण की आवश्यकता हो तो भांग चरस आदि पीने वाले अपने पौराणिकों से पूछ लीजिये ॥

द० ति० भा० पृ० ३ पं० १८ से पृ० ५ पं० १३ तक स्वामी जी के सत्यार्थप्रकाश से नारायणादि परमेश्वर के १०० नामों में की व्याख्या उद्धृत की है जिस पर पं० ज्वालाप्रसाद जी ने कुछ उत्तर स्वयं ही नहीं लिखा, मानो उस को स्वीकार ही कर लिया है इस लिये प्रत्युत्तर की आवश्यकता ही नहीं ॥

—:○:*:○:—

मङ्गलाचरण

मङ्गलाचरण में द० ति० भा० पृष्ठ ५ से ७ तक इतने तर्क हैं:—

१-मङ्गलाचरण को आप नहीं मानते तो स्वयं "शन्नोमित्रादि" से मङ्गलाचरण क्यों किया ?

प्रत्युत्तर-स्वामी जी तान्त्रिकादि लोगों की परिपाटी "भैरवाय नमः, दुर्गायै नमः, हनुमते नमः।" इत्यादि का खण्डन करते हैं। ऋषि लोगों की परिपाटी "अथ" आदि से मङ्गलाचरण करना अच्छा मानते हैं, अतः ऋषिपरिपाटी से उन्हों ने मङ्गलाचरण किया ॥

२-यदि आप आदि मध्य अन्त में मङ्गलाचरण करने से बीच में के भाग को अमङ्गलाचरण समझते हैं तो क्या सत्यार्थप्रकाश वेदभाष्यादि पुस्तकों में जो मङ्गलाचरण आदि मध्य अन्त में आप ने किया सो क्या आप के पुस्तकों

का शेष भाग भी अमङ्गलाचरण है? सत्य है। आप ने जो पोप आदि दुर्वचन लिखे हैं वे वेद में कहीं विहित नहीं इस से अमङ्गल ही हैं इत्यादि॥

प्रत्युत्तर—स्वामी जी ने आदि मध्य अन्त में ऋषिपरिपाटी से मङ्गलाचरण किया और बीच २ में भी सर्वत्र असत्यखण्डन और सत्यमण्डनरूप मङ्गलाचरण ही किया है। उन्हों ने पोपादि शब्दों का प्रयोग भी सर्वसाधारण को धोके से बचाने के लिये किया है, अतः वह भी मङ्गलाचरण ही है॥

३—क्या स्वामी जी को परमेश्वर के कुछ नाम प्रिय और कुछ अप्रिय हैं? जो "नारायणाय नमः। शिवाय नमः। सरस्वत्यै नमः" इत्यादि नामों को परमेश्वर का नाम बता कर भी इन नामों से मङ्गलाचरण का निषेध करते हैं?

प्रत्युत्तर—निस्संदेह ये नाम परमेश्वर के भी हैं परन्तु स्वामी जी के समय में लोक में इन नामों से विशेष कर के पूर्वज पुरुषविशेषों का और वेदविरुद्ध अवतारों का ग्रहण करने का बहुत प्रचार था और है। अतः स्वामी जी ने यह समझ कर इन नामों से मङ्गलाचरण को रोका कि लोक में अवतारादि की कथा प्रचरित होकर वेदविरुद्ध मत मतान्तर फैलते गये और फैलते जाते हैं, जहां तक होसके मङ्गलाचरणादि से भी वैसे अशुद्ध संस्कारों की पुष्टि न हो, इस लिये ऐसा किया। उन को परमात्मा का कोई अप्रिय नाम न था॥

४—क्या "रमु" क्रीडायाम् धातु से "राम" और "हृ" धातु से हरि शब्द सिद्ध नहीं होता? फिर क्यों राम और हरि शब्दों को बुरा समझते हो? और "कृषिर्भूवाचकः शब्दोणश्च निर्वृत्तिवाचकः। तयोरैक्यं परंधाम कृष्ण इत्यभिधीयते" इस प्रकार कृष्ण के अर्थ भी तो ईश्वर ही के हैं फिर इन से क्यों मङ्गलाचरणादि न किये जावें॥

प्रत्युत्तर—राम, कृष्ण, हरि आदि शब्द चाहे व्याकरण से किसी प्रकार खेंचातानी करके ईश्वरार्थवाचक सिद्ध भी होजावें परन्तु इन शब्दों से वेदादि प्राचीन ग्रन्थों में ईश्वर का ग्रहण नहीं करते आये हैं, इस लिये स्वामी जी ने ऐसा किया और "कृष्ण" शब्द की व्युत्पत्ति तो आपने किसी व्याकरण से की भी नहीं? क्या आप किसी व्याकरण वा निरुक्त में "कृषिर्भूवाचकः" आदि अपनी लिखी कारिका को दिखा सकते हैं?

५—स्वामी जी ने प्राचीनग्रन्थों से ही विष्णुसहस्रनामादि द्वारा ईश्वर

के १००० नाम क्यों न लेलिये, अपने १०० नामों की व्याख्या भिन्न क्यों की ? इस लिये कि हमारे मत में आर्यलोग इसी नई रीति पर चलें ॥

प्रत्युत्तर-विष्णुसहस्रनाम के साथ गोपालसहस्रनाम भी तौ है, उसे क्यों छोड़ते हो । क्या इस लिये कि उस में तौ-

"चोरजारशिखामणिः"

यह भी परमेश्वर का नाम है । बस रहने दीजिये, विष्णुसहस्रनाम, गोपालसहस्रनाम, गीतगोविन्द आदि का भेद न खुलवाइये और विदेशियों से हंसी न कराइये । स्वामी जी तौ आप के घर का भेद खूब जानते थे और आप की शुभचिन्तकता से केवल दिग्दर्शनमात्र ही पोल खोली है । यदि स्वामी जी वा हम लोग आप की तरह करते वा करें तौ वही दशा हो जो "स्वर्ग में सब्जेक्टकमेटी" से भले कार झलकती है । बस इन्ही बखेड़ों को स्वामी जी उघाड़ना नहीं चाहते थे, अतएव उन्होंने गोपालसहस्रनामादि पर उपेक्षा ही की ॥

६-ऋषि पुस्तकों में के " ओ३म् " वा " अथ " शब्द वेद के अनुकूल कैसे हैं ?

प्रत्युत्तर-यह आप का काम है कि आप इन शब्दों को वेदविरुद्ध सिद्ध करें । ओं खम्ब्रह्म । यजुः अध्याय ४० आदि शतशः प्रकरणों में ओमादि नाम जो आर्ष ग्रन्थों में आये हैं, उपस्थित हैं । नहीं तौ आप बतलाइये कि राम कृष्ण हरि आदि नाम वेद में कहां ईश्वरवाचक आये हैं ?

७-जीवनचरित्र में भालू मिला था इत्यादि ठठोल का प्रत्युत्तर देना असभ्यता है अतः तूष्णींभाव ठीक है ॥

ओङ्कारप्रकरण-

द० ति० भा० पृष्ठ ७ पं० २६ से लिखा है कि ओङ्कार की ३ मात्राओं से जो अर्थ स्वामी जी ने लिये हैं वे किसी मन्त्र, ब्राह्मण, शास्त्र, पुराण से नहीं मिलते इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-हम अन्य प्रमाण के लिखने की आवश्यकता नहीं समझते किन्तु जो मन्त्र आप ने प्रमाण दिया है और उस का निरुक्तपरिशिष्ट तथा भाष्य लिखा है, वही स्वामी जी के अर्थों की पुष्टि करता है । आप ने तौ केवल मन्त्र, निरुक्त, भाष्य लिख दिया परन्तु यह न विचारा कि यह तौ सब स्वामी जी के अर्थ की पुष्टि करता है । यथा-

मन्त्र—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्तइमे समासते ॥

(ऋ० मं० १ सू० १६४ मं० ३९)

निरुक्त—परिशिष्ट

ऋचो अक्षरे परमे व्यवने यस्मिन्देवा अधिनिषण्णाः सर्वे। यस्तन्न वेद किं स ऋचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्तइमे समासते इति विदुष उपदिशति । कतमत्तदेतदक्षरमित्येषा वागिति शाकपूणिर्ऋचश्च ह्यक्षरे परमे व्यवने धीयन्ते नानादेवतेषु च मन्त्रेषु । एतद्ध वा एतदक्षरं यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रति प्रतीति च ब्राह्मणम् । निरु० अ० १३ खं० १० ॥

पं० ज्वालाप्रसाद जी ने जहां से इस मन्त्र का निरुक्त आरम्भ हुआ है वहां से कुछ छोड़ कर " इति विदुषउपदिशति " यहां से ही लिखा है तथापि इस से उन की प्रयोजनसिद्धि न हुई, प्रत्युत स्वामी जी का ही तात्पर्य सिद्ध होता है ॥

मन्त्र का निरुक्तस्थ अर्थ—

यद्यपि निरुक्तकार ने इस का दूसरा अर्थ आगे सूर्यविषयक भी किया है परन्तु हम प्रथम जिस ओङ्कारविषयक अर्थ को निरुक्तकार ने ब्राह्मण का प्रमाण देकर लिखा है उसी को पाठकों के अवलोकनार्थ लिखते हैं:—

(ऋचः) ऋचायें, (अक्षरे परमे व्यवने) अविनाशी परम रक्षक में (यस्मिन्सर्वे देवाः [अधिनिषण्णाः] जिस में सब दिव्यगुण स्थित हैं, [उसी में स्थित हैं] (यस्तन्न वेद) जो उस को नहीं जानता (स ऋचा किं करिष्यति वह ऋचा से क्या करेगा (यइत्तद्विदुस्तइमे समासत इति विदुष उपदिशति) "यइत्तद्वि०" इस से विद्वानों को उपदेश करता है कि—(कतमत्तदेतदक्षरम्) कौनसा वह अक्षर ? (ओमित्येषा वागिति शाकपूणिः) शाकपूणि आचार्य उत्तर देते हैं कि "ओ३म्" यह वाणी है) । (ऋचश्च ह्यक्षरे परमे व्यवने

धीयन्ते) और ऋचायें निश्चय अविनाशी परम रक्षक में धारित हैं (नाना देवतेषु च मन्त्रेषु) अनेक [अग्न्यादि] देवता वाले मन्त्रों में (एतद्वाए-तदक्षरम्) यही है वह यही अक्षर है (यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रति प्रतीति ब्राह्मणम्) जो सम्पूर्ण त्रयीविद्या के प्रति (बराबर) है, ऐसा ब्राह्मण में लिखा है ॥

ऊपर लिखे निरुक्त के (नानादेवतेषु मन्त्रेषु एतद्वा०) अर्थात् अनेक देवता वाले मन्त्रों में यही ओङ्कार अक्षर है । इस से स्पष्ट है कि वेद में जो "अग्निमीडे पुरोहितम्०" इत्यादि अग्निदेवत मन्त्र हैं वा वायु आदि देवता वाले मन्त्र हैं उन का मुख्य तात्पर्य अग्न्यादि पदों से ओङ्कार ही है अर्थात् अग्न्यादि पदों से स्तुतिप्रार्थनोपासना प्रकरणों में वेद, परमेश्वर ही को बोधित करता है ॥

अब इस मन्त्र और निरुक्त से इतना तो सिद्ध हो ही गया कि वेदों में अग्न्यादि नाना देवता का तात्पर्य ओ३म् है इस लिये अग्न्यादि बहुत से अर्थ जो स्वामी जी ने ओ३म् से लिये हैं, वे युक्त हैं । अब हम पाठकों को ध्यान दिलाते हैं कि द० ति० भा० पृष्ठ० ८ संस्कृतभाष्य पं० १२ में "अग्निः" पं० १३ में "वायुः" और पं० १३–१४ में "आदित्यः" ये अर्थ स्वयं पं० ज्वाला प्रसाद लिखते हैं और भाषा पृष्ठ ९ पं० ६ में वही "अग्नि" पं० ७ में "वायु" और पं० ८ में "आदित्य" शब्द ओङ्कार की व्याख्या में उपस्थित है तब सत्यार्थप्रकाश में लिखे अ, उ, म्, के अग्नि, वायु, आदित्य अर्थों में क्या भूप मिल गया और स्वामी जी ने जो अकार से विराट् अग्नि विश्वादि, उकार से हिरण्यगर्भ वायु तैजसादि और मकार से ईश्वर आदित्य प्राज्ञादि अर्थ लिये हैं सो माण्डूक्य उपनिषद् के निम्न लिखित वाक्यों से स्पष्ट निकलते हैं ॥ यथा—

जागरितस्थानोवैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्रा० ॥

जागरितस्थान=विराट् । वैश्वानर=अग्नि अकार पहली मात्रा ॥

स्वप्नस्थानस्तैजसउकारो द्वितीया मात्रा० ॥

स्वप्नस्थान=हिरण्यगर्भ । तैजस=तैजस उकार दूसरी मात्रा ॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा० ॥

सुषुप्तस्थान=ईश्वर । प्राज्ञ=प्राज्ञ मकार तीसरी मात्रा ॥

देखना चाहिये कि माण्डूक्य के ऊपर लिखे वाक्यों में वैश्वानर तैजस और प्राज्ञ ये तीन अर्थ क्रम से अ, उ, म्, के वैसे ही लिखे हैं जैसे स्वामी जी ने लिखा है। और स्वयं पं० ज्वाला० जी ही जो ज़रा व्याख्या बढ़ाकर पाण्डित्य में गणना होने के लिये द० ति० भा० पृ० १० वा ११ में इन्हीं माण्डूक्यवाक्यों का अर्थ कुछेक घपले से में मिलाकर वही अग्नि तैजस और प्राज्ञ अर्थ करते हैं और करें कैसे ना! मूल में वे शब्द उपस्थित हैं॥

इस प्रकार यह ओ३म् का व्याख्यान स्वामी जी कृत और माण्डूक्य तथा द० ति० भा० में एकसा ही होने से वादी अपने आप ही परास्त होता है। हां एक बात शेष है, यद्यपि वह बात सत्यार्थप्रकाश के खण्डन मण्डन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखती तथापि ओ३म् की चतुर्थमात्रा जो अ, उ, म् का अवसान है, उस पर माण्डूक्य का वाक्य और शङ्करमतानुसार अर्थ कर के पं० ज्वाला० जी ने जो कुछ लिखा है उस से पाठकों को अद्वैतवाद की झलक आवेगी, जो अद्वैतवाद (जीव ब्रह्म की एकता) हमारी समझ में वेदों और उपनिषदों के विरुद्ध है, अतः हम भी पाठकों के भ्रमनिरासार्थ नीचे वह माण्डूक्यवाक्य और उस का स्पष्ट अक्षरार्थ किये देते हैं। यथा—

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥

माण्डूक्योपनि० ॥

(अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः) विना मात्रा चौथा [अवसान] किसी शब्द से व्यवहार में नहीं आसक्ता (प्रपञ्चोपशमः) उस में प्रपञ्च=जगत् का उपशम=लय है (शिवः) वह कल्याणमय है (अद्वैतः) वह अद्वितीय है अर्थात् उस के सदृश कोई नहीं। (एवमोङ्कारः) इस प्रकार का ओ३म् है। (य एवं वेद) जो ऐसे जानता है वह (आत्मैव आत्मनात्मानं संविशति) आप ही अपने स्वरूप से परमात्मा को संवेश करता है—ब्रह्म को प्राप्त हो मुक्त हो जाता है॥

बिना खैंचातानी के सीधा अक्षरार्थ यही है, परन्तु केवल "अद्वैतः" के आते ही पं० ज्वालाप्रसाद जी खिंच गये। अद्वैत शब्द का सुगम अर्थ सब कोई समझ सक्ता है कि "जिस के सदृश कोई न हो"। यह तात्पर्य नहीं निकल सक्ता वा खैंच तान से निकलता है कि "उस के अतिरिक्त कुछ न हो"॥

यह ओङ्कार की व्याख्या और द० ति० भा० के प्रथम समुल्लास का खण्डन समाप्त हुवा॥

ओ३म्

अथ द० ति० भास्करस्य द्वितीयसमुल्लासखण्डनम्

द० ति० भा० पृ० १३ पं० ३ से स्वामी जी के लेख (धन्य वह माता जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो, सुशीलता का उपदेश करे) पर आक्षेप करते हैं कि गर्भाधान से सुशीलता का उपदेश असम्भव है ॥

प्रत्युत्तर-क्या आप नहीं जानते कि:—

आहारशुद्धेः सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः

आहार की शुद्धि से सत्त्व की शुद्धि और सत्त्व की शुद्धि में स्मृति निश्चल होती है। अर्थात् खाने पीने आदि व्यवहारों का प्रभाव, शील आदि पर पड़ता है और माता के अङ्गों से सन्तान के अङ्ग बनते हैं। यथा-

अङ्गादङ्गात्संस्रवसि हृदयादधि जायसे ॥

हे पुत्र ! तू अङ्ग २ से टपकता और हृदय से अधिकृत हो उत्पन्न होता है। जब कि माता के अङ्ग २ से सन्तान के अङ्ग बनते और माता की भोजनादि व्यवस्था का प्रभाव, शील आदि पर पड़ता है तब गर्भाधान से ही लेकर माता के अच्छे व्यवहारों का प्रभाव होकर सन्तान अवश्य सुशील हो सकती है। दूसरी बात यह है कि जब आप पुराणों को मानते हैं और उन में नारद ने अपनी गर्भावस्था में ज्ञानोपदेश पाने का वृत्तान्त कहा है तो आप किस मुंह से इस विषय में शङ्का करते हैं ?

सत्यार्थप्र० पृ० ८८ पं० १६ जैसा ऋतुगमन की विधि का समय है, रजोदर्शन के ५ वें दिन से १६ वें तक ऋतुदान का समय है। प्रथम ४ दिन त्याज्य हैं शेष १२ में एकादशी त्रयोदशी छोड़ शेष दिनों में ऋतुदान दे। इस पर-

द० ति० भा० पृ० १३ पं० १३ से लिखा है कि क्या यह लेख ज्योतिषविद्या से सम्बन्ध रखता है वा नहीं ? मनु ने त्याज्य रात्रियों में दुष्टसन्तान और श्रेष्ठरात्रियों में श्रेष्ठ तथा युग्म में पुत्र अयुग्म में पुत्री का जन्म लिखा है जिसे आप फल को नहीं मानते तो भी गुप्त २ लिखते हैं इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-इस मनु और स्वामी जी के लेख का फलित ज्योतिष के साथ सम्बन्ध नहीं। रजोदर्शन से १३ वीं ११ वीं रात्रियों और युग्मायुग्म रात्रियों तथा प्रथम की ४ रात्रियों का विचार पदार्थविद्या से सम्बन्ध है। फलित ज्योतिष तो बहुधा गणितशास्त्र तथा पदार्थविद्या का विरोधी होने से त्याज्य ही है। जैसा कि "जातकाभरण" में—

स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते मनवोभूरितेजसः ॥ ६३ ॥

अर्थ—स्वायम्भुवादि तेजस्वी ७ मनु ये हैं कि—स्वायम्भुव स्वारोचिष उत्तम तामस रैवत चाक्षुष और विवस्वान् ॥

अब बताइये तो सही कि मरीच्यादि का पुत्र स्वायम्भुव ७ मनुओं के अन्तर्गत (देखो श्लोक ३६) है ? वा मनु के पुत्र मरीच्यादि १० (देखो श्लोक ३५) हैं ? धन्य श्लोक के घड़ने वालो ! और प्रमाण देने वालों को तो क्या कहूं । नींद में श्लोक बनाकर मनु में मिलाये ! और दम मारते हैं ! ! चलो चुपचाप बैठे रहिये ॥

भला ऐसे परस्परविरुद्ध बुद्धिविरुद्ध वेदविरुद्ध श्लोक से प्रेत सिद्ध होते हैं ? क्यों न हो, आप के भाई पं० बलदेवप्रसाद तो भूत प्रेतों को मानो मुट्ठी ही में लिये रहते हैं उन की थियासोफ़ी तो प्रसिद्ध ही है तब आप क्या इतने से भी जाते ! ॥ द० ति० भा० पृ० १५ पं० १ से—

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति ।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टांल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात् ॥

यजुः । २ । ३० ॥

पितरों का अन्न श्राद्ध में भक्षण करने की इच्छा से अपने रूपों को पितरों की समान करते हुवे जो देवविरोधी असुर पितृस्थान में फिरते हैं तथा जो असुर स्थूल और सूक्ष्म देहों को अपना २ असुरत्व छिपाने के लिये धारण करते हैं उल्मुक रूप अग्नि उन असुरों को इस पितृयज्ञस्थान से हटाता है ॥

प्रत्युत्तर—आप तो कहा करते हैं कि स्वामी जी उलटा अर्थ करते हैं । आप स्वयं क्यों सीधा अर्थ छोड़ खैंचातानी करते हैं ? भला मन्त्र में पितरों और श्राद्धों का वाचक कोई शब्द है ? नहीं है तो आप कहां से लाये ? मन्त्र का अन्वय और अर्थ इस प्रकार है:—

अन्वयः—ये असुराः रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः सन्तः स्वधया चरन्ति, ये परापुरो निपुरो भरन्ति तान् अस्मात् लोकादग्निः प्रणुदाति ॥

(ये असुराः) जो स्वार्थी जन (रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः) वेष बदलते हुए (स्वधया चरन्ति) पृथिवी आकाश में घूमते हैं (ये परापुरो निपुरः भरन्ति) जो पराये से और निकृष्टता से अपने को पुरने वाले अपना पोषण करते हैं (तानग्निरस्माल्लोकात् प्रणुदाति) उन्हें अग्नि इस लोक से खेद देवे । स्वधा

शब्द निघण्टु ३ । ३० में द्यावापृथिवी के नामों से पढ़ा है । तात्पर्य यह है कि जो पुरुष, चोर उचक्के बहुरूपिये डांकू आदि वेष बदल कर संसार को ठगते हैं अग्नि (परमेश्वर) उन्हें दूर करे वा अग्नि=भौतिकाग्नि के प्रकाश से उन अन्धकारप्रियों को पकड़ना और दण्ड देना चाहिये । इस मन्त्र में भूत प्रेतादि का कथनमात्र भी लेश नहीं । अथवा शतपथानुसार कर्मकाण्डपरक यह अर्थ है कि "वेदि वा पृथिवी के रहने वाले प्राणनाशक दुष्ट प्राणिवर्ग वा पदार्थ दूर होवें"; अब इस मंत्र में आगे परमात्मा ने यह बताया है कि अग्नि उन दुष्ट प्राणियों वा पदार्थों को दूर करता है । ज्ञात रहे कि असुर वा राक्षस शब्द से यहां उन वायु में रहने वाले दुष्ट पदार्थों वा कीड़ों से तात्पर्य है, जो रोगों को उत्पन्न करके प्राणनाश वा मृत्यु का कारण बनते हैं और अग्नि में होम करने से वे दूर होते हैं।

मन्त्रार्थः-(ये) जो (असुराः) असुर (रूपाणि) रूपों को (प्रतिमुञ्चमानाः) बदलते (सन्तः) हुये (स्वधया) अन्न [निघं० २ । ७] के साथ (चरन्ति) वायु में घूमते फिरते हैं और (ये) जो (परापुरः) बुरे शरीरों को और (निपुरः) निकृष्ट सूक्ष्म दुर्गन्धिमय शरीरों को (भरन्ति) धारण करते हैं (तान्) उन सब को (अस्मात् लोकात्) इस लोक से [जहां यज्ञ होता है] (अग्निः) अग्नि (प्रणुदाति) दूर कर देता है ॥

कैसा स्पष्ट वायुगत दुष्टकीड़ों का वर्णन है कि जिन का रूप शीघ्र २ बदल जाता है, जो बुरे और सूक्ष्म शरीरों वाले हैं और वे अग्नि के तेज से दूर होते हैं । शतपथ ब्राह्मण २ । ४ । ५ में लिखा है कि असुरों और राक्षसों को परमात्मा ने तमस् अन्धकार वा तमोगुण वस्तु खाने को दी हैं, जिस अन्न=अपनी खुराक के साथ वे घूमते हैं ॥ द० ति० भा० पृ० १५ पं० ९ से लिखा है कि—

भूतविद्यानामदेवासुरगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचनागग्रहाद्युपसृष्टचेतसांशान्तिकर्मबलिहरणादिग्रहोपशमनार्थम् सु०सूत्रस्थान ११

अर्थ-भूतविद्या जो आठ प्रकार के आयुर्वेद के विभाग में चतुर्थ है उन को कहते हैं कि देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच और नाग आदि ग्रहों करके व्याप्त चित्तवाले पुरुषों को ग्रहशान्ति करने से आरोग्य होता है । आशय यह है कि सुश्रुतकार ने भी भूत, प्रेतादि योनि मानी हैं ॥

प्रत्युत्तर-सत्यार्थप्रकाश पृ० ३० पं २२ में जो लिखा है कि-"जिस को शङ्का, कुसङ्ग, कुसंस्कार होता है उस को भय और शङ्कारूप भूत, प्रेत, शाकिनी, डाकिनी आदि अनेक भ्रमजाल दुःखदायक होती हैं ।" इस से स्वामी

ओं का तात्पर्य यह है कि यद्यपि भूत प्रेतादि योनिविशेष कोई नहीं तथापि जिन के चित्त में अविद्या से इन की शङ्का वा भय जम गया है उन को अवश्य वह भय वा शङ्का ही तद्रूप बनकर दुःख देने लगते हैं। इसी प्रकार यहां सुश्रुत में भी जो कुछ सुश्रुतकार वा उन के नाम से अन्य किसी ने लिखा है उस से यह तो नहीं सिद्ध होता कि भूत प्रेतादि योनिविशेष हैं, किन्तु यह विहित होता है कि "उपसृष्टचेतसां" जिन के चित्त में भूत प्रेतादि का ख़याल जम गया है उनकी चिकित्सा शान्तिकर्म और बलि देना आदि जो भूतविद्या कहाती है, उससे होती है। जैसे इन्द्रजालविद्या एक प्रकार की छलविद्या है वैसी ही यह भूतविद्या भी रहो, इतने से भूत प्रेतादि योनिविशेष नहीं सिद्ध होती। यदि कहो कि योनिविशेष नहीं हैं तो उनकी बलि देने से प्रायः रोग दूर क्यों हो जाते हैं? तो उत्तर यह है कि जिन लोगों के हृदय में ये कुसंस्कार नहीं जमें उन्हें न तो ये रोग हों और यदि उन्मादादि कोई रोगविशेष हो भी जिस में कुसंस्कारी पड़ोसियों को भूत प्रेतादि का भय हो, तो किसी मन्त्र यन्त्र बलि आदि से कुछ भी लाभ नहीं होता। हां भ्रांतियुक्त पुरुषों को भ्रांति से भूत प्रेत डाकिनी शाकिनी आदि की पीड़ा होती हैं और उन्हीं की भ्रांति इन्द्रजाल के समान भूतविद्या नाम छलविद्या से दूर करके प्रायः आरोग्य हो जाता है। इस में भी इन्द्रजाल के समान औषधोपचार करते हैं, परन्तु रोगी को यही निश्चय कराते हैं कि अमुक प्रेतादि की अमुक प्रकार बलि आदि की जाती है, देखो अभी तुम्हें आराम हुआ जाता है। बात यह है कि उस रोगी को जैसे केवल अपने मन की भ्रांति से रोग हो गया वैसे ही मन को संतोष दिलानेवाली बहकावट से आराम भी हो जाता है। क्योंकि "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" मन की कल्पना का बड़ा सामर्थ्य है। सुना है कि अमेरिका देश में मन की भ्रांति के फल की परीक्षा के लिये एक पुरुष जिस का प्राण किसी कारण लेना ही था उस को विश्वास दिलाया कि तुम्हारे शरीर के अमुक स्थान की नस काट दी जावेगी उस में ख़ून (रक्त) निकलते २ तुम्हारा प्राण लिया जावेगा, तुम्हारे माथे और आंखों पर पट्टी बंधी रहेगी। जब उस पुरुष को ऐसा निश्चय दिला कर आंख बन्द करके बिठा कर उस के रक्त की नाड़ी के स्थान में उसे न काट कर अन्य नाड़ी का छेदन किया जिस से रक्त एक बिन्दु भी न निकला किन्तु रक्त के बराबर गरमी वाला पानी बूंद २ करके नाड़ीछेदन के स्थान

पर टपकाते गये जिस से वह पुरुष समझता रहा कि मेरे देह से रक्तबिन्दु टपकती है। बस उसको इस निश्चय से कि मेरा रक्त निकलता है, थोड़े ही मिन्टों में उसका प्राणान्त हो गया। किसी मनुष्य को जो भूत प्रेतादि नहीं मानता था कहागया कि अच्छा तुम अर्धरात्रि में अमुक जङ्गल में अमुक पीपल के वृक्ष के नीचे कील गाड़ आओ जब उस ने कील गाड़ी, दैवयोग से उस के अङ्गरखे का सिरा कील में इलझकर गड़ गया। जब वह वहां से चला तो उसने रुकने से समझा कि भूत अवश्य है उसी ने मेरा पल्ला पकड़ा है, परन्तु खेंच तान कर अङ्गरखा फाड़ तोड़ कर भाग आया परन्तु आते ही प्रेतज्वर (आन्तुक) चढ़ा और उसी से मर भी गया। आशय यह है कि स्वामी जी के लेखानुसार प्रेतादियोनि न होने पर भी वृथा भ्रम से शाकिनी, डाकिनी आदि का रोग होजाता है उसी की निवृत्ति के लिये सुश्रुत में वह प्रतीकार लिखा है कि शान्ति और बलि आदि कराने से आरोग्य होता है किन्तु जिनको भ्रान्ति नहीं उन्हें न यह रोग हों और न बलि आदि से आरोग्य होता है॥

द० ति० भा० पृ० १५ पं० १९ में लिखा है कि—निश्चय जानिये कि देवतों ने ही आप का प्राण शरीर से निर्गत कर दिया, नहीं तो ब्रह्मचर्य वालों की तो आप के कथनानुसार बड़ी उमर होती इत्यादि॥

प्रत्युत्तर—निश्चय जानिये कि देवतों का काम किसी का प्राण लेना नहीं किन्तु उन के लेखानुसार किसी राक्षस ने अवश्य उन का प्राण लिया, नहीं तो आप भी जिन के ब्रह्मचर्यबल को स्वीकार करते हैं ऐसे पूर्ण यती की अवस्था अवश्य बहुत होती परन्तु राक्षसों से उन की लोकोपकारक देवचेष्टा सही न गई और सुनते हैं कि उनका प्राण विषद्वारा ले लिया॥

द० ति० भा० पृ० १५ प० २६ से लिखा है कि यदि फलितज्योतिष झूंठा है तो आपने ही "कारकीये" में "तत्पातेन छाप्यमाने" इस वार्त्तिक पर नीचे लिखा महाभाष्य है। यथा—

वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी।
कृष्णा सर्वविनाशाय दुर्भिक्षाय सिता भवेत्॥

पीली बिजुली चमके तो वायु चले, लोहित से धूप, कृष्ण से सर्वनाश और श्वेत से दुर्भिक्ष। कहिये यह फलित नहीं तो क्या है? जन्मपत्र शोक

पत्र है तो कहिये आप के जन्म का दिन संवत् आपको उत्पन्न होने ही से याद है ? और कोई प्रमाण भी है ? इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—सत्यार्थप्रकाश में स्पष्ट लिखा है कि वे सूर्यादि ग्रह प्रकाश और गरमी आदि के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कर सक्ते । जब महाभाष्य में जो बिजुली का फल लिखा है वह भी गरमी की न्यूनाधिकता और उससे होने वाला मात्र ही है, अधिक कुछ नहीं । और जन्मपत्र का फल आप के लेखानुसार यदि जन्मसमय का स्मरण रहना है तो यह हम भी स्वीकार करते हैं परन्तु उस से धन धान्य स्त्री पुत्र जीविकादि का ज्ञान साध्य था जिस की सिद्धि में आप को वेदादि का प्रमाण देना था सो आप ने कुछ नहीं लिखा । और आगे:-द० ति० भा० पृ० १६ पं० २० में लिखा है कि:—

शंनोग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्याश्च राहुणा ॥ अथर्ववेद ॥

अर्थात् चन्द्रमा राहु आदित्यादि ग्रह सुखदायक हों इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-जैसे कोई यह प्रार्थना करे कि हम को पानी, पवन, अन्न आदि सुखकारक हों, क्या उस का यह तात्पर्य होता है कि ये पदार्थ चेतन हैं? नहीं, केवल यह कि हमको इन पदार्थों से सुख मिले ऐसा चाहते हैं ॥ और रामचन्द्र जी के जन्मसमय ग्रहों के लिखे जाने का कारण यह है कि ग्रहों से ऐतिहासिकसहायता भविष्यत् के लिये बड़ी पुष्ट मिलती है । यदि आज कल उन ग्रहों के गणित से आजकल के ग्रहों का गणितफल निकाला जाय तो गतसमय का निश्चत ज्ञान हो सक्ता है ॥

द० ति० भा० पृ० १६ पं० २८ डोरा बान्धने से और मन्त्र पढ़के रक्षा नहीं होती तो आपने संध्यामें गायत्री मन्त्रसे शिखाबन्धन और रक्षा क्यों लिखी है और शिखा बान्धने से रक्षा होजाय तो तलवार, तमंचा आदि व्यर्थ हो जावें इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-प्रथम तो कृपा करके ऐसे कुतर्क न कीजिये जिन से आपके भी सम्मत विषयों में आक्षेप हो । महाशय ! सन्ध्या में शिखाबन्धन और रक्षा को तो आप और समस्त हिन्दु नामधारी मानते हैं उस में आप को शङ्का न करनी चाहिये, क्यों कि उस के खण्डन से आप का भी खण्डन होता है परन्तु यदि आप को यही हट है कि "मेरी जाय सो जाय पर पड़ोसी की क्यों रहे" तो उत्तर यह है कि गायत्री मन्त्र परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना का है परमात्मा अवश्य सब के रक्षक हैं । स्वामी जी ने आप के कल्पित देवतों के

सामर्थ्य पर आक्षेप किया है। शिखा बान्धने का फल-वालों की ओर से सावधानता होना नहीं लिखा है। रक्षा के उपायों में एक उपाय परमेश्वर से प्रार्थना भी है। यदि कोई किसी रोग की एक औषधि लिखे तो क्या उस से अन्य औषधियों की निष्फलता सिद्ध हो जाती है? नहीं। इसी प्रकार परमेश्वर से रक्षा की प्रार्थना, तलवार आदि द्वारा रक्षाओं को व्यर्थ नहीं करतीं। हां, यह अवश्य है कि हम प्रार्थी लोग इस योग्य परमात्मा की दृष्टि में ठहरें कि वह प्रार्थना स्वीकार करे तो इस में भी सन्देह नहीं कि तलवार आदि उस के सामने कुछ वस्तु नहीं॥ द० ति० भा० पृ० १७ पं० ५ में लिखा है कि:—

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः।

महतोऽप्येनसोमासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥ मनु २। ७९

ओ३म्, व्याहृति और गायत्री को नगर से बाहर १००० एक मास पर्यन्त जपे तो द्विज महान् पाप से छूटे। देखो यह मनु ने मन्त्र का फल लिखा है तथा अघमर्षण पाप दूर करने के निमित्त जपा जाता है। कौशल्या ने रामचन्द्र के बनवास होते समय मन्त्र पढ़कर रक्षा की ऐसा वाल्मीकीयरामायण में लिखा है। और शौनककृत ऋग्विधान में वेदमन्त्र जप से रोगादि शान्ति लिखी है यथा—

८।७।१४ रात्रिसूक्तं जपेद्रात्रौ त्रिवारन्तु दिने दिने।

भूतप्रेताहिचौरादिव्याघ्रादीनां च नाशनम्॥ १॥

३।४।२३ कृणुष्वेति जपेत्सूक्तं श्राद्धकाले प्रशस्तकम्।

रक्षोघ्नं पितृतुष्ट्यर्थं पूर्णं भवति सर्वतः॥ २॥

६।२।१९ येषामावधमन्त्रं च जपेच्च अयुतं जले।

बालग्रहान पीड्यन्ते भूतप्रेतादयस्तथा॥ ३॥

तात्पर्य यह है कि रात्रिसूक्त, कृणुष्वेति सूक्त और "येषामावध" मन्त्र को ३००० जपने से भूत प्रेतादि शान्ति, पितरों की तुष्टि आदि फल होता है इत्यादि

प्रत्युत्तर-गायत्री ओ३म् व्याहृति के जप का फल पापनिवृत्ति इस लिये ठीक है कि उस में ईश्वर की स्तुतिपूर्वक उत्तम बुद्धि की प्रार्थना है। और बुद्धि उत्तम होने से पाप में प्रवृत्ति नहीं होती, यह पापनिवृत्ति है। परन्तु यह तो मनु ने नहीं लिखा कि पुरोहितादि लोग दक्षिणा लेलें और जपकर

के पाप उतार दें। स्तुति प्रार्थना का फल (असर) करने वाले पर अवश्य पड़ता है, यदि वह जी लगा कर करे परन्तु अन्य के किये जप पाठ पुरश्चर णादि से यजमानादि अन्य को फल पाठादि का नहीं होता। हां, यह ठीक है कि वेदाभ्यासादि करने वाले जीविकार्थ अन्य उद्योग जिन का नहीं उन लोगों की जीविकार्थ दक्षिणा देने से दाता को शुभकर्म की प्रवृत्ति में हेतुता आती है इस लिये उसे कुछ पुण्य हो परन्तु ऊपर लिखे मनु के श्लोक वा अन्य किसी रीति से यह नहीं आता कि अन्यकृत जपादि का फल साक्षात् अन्य को हो। कौशल्या ने भी वेदमन्त्रों द्वारा परमात्मा से रामचन्द्र की रक्षा-प्रार्थना की हो तो इन से मन्त्र यन्त्र तन्त्रों की वर्त्तमान रीति की पुष्टि नहीं होती और शौनककृत ऋग्विधान का जो आप प्रमाण देते हैं उस में इतनी बातों का प्रथम उत्तर दीजिये १-यदि यह ग्रन्थ प्राचीन है तो इस के पाठ की शैली नूतन क्यों है। २ चौरादि व्याघ्रादि पद में दो वार आदि शब्द का प्रयोग क्यों है। ३-ऋग्वेद के कृणुष्वपाज०सूक्त और येषामावाध०मन्त्र में तो भूत प्रेत का वर्णन है ही नहीं उन में अग्नि का वर्णन है। सायणाचार्य भी इन का अग्नि देवता लिखते हैं,भूतप्रेत नहीं। ४-अयुतं का अर्थ ३००० आप कैसे लेते हैं। ५-"मन्त्रं च जपेच्च" ये दो चकार व्यर्थ क्यों आये हैं। ६-"जपेच्च अयुतं" में सवर्ण दीर्घ की सन्धि न करने का क्या कारण है, यदि कहो कि विवक्षाधीन है तो क्या किसी कवि का लौकिक शिष्ट प्रयोग ऐसा अन्यत्र भी कहीं है वा नहीं यदि है तो कहां और नहीं तो इन में ही ऐसा क्यों हुवा। ७-पीडयन्ति के स्थान में पीड्यन्ते कैसे हुवा। यदि पीड्यन्ते ठीक है तो "ग्रह नहीं पीड़ित किये जाते हैं" यह अर्थ होगा,नकि "ग्रह नही पीड़ा करते हैं" ८-भूत प्रेतादि पद (१) में आया है पुनः (३) में क्यों दुबारा आया॥ प्रथम तो इन श्लोकों मेंसे इन दोषों का हटाना असंभव है दूसरे यदि अशुद्ध श्लोक मान भी लिये जावें तो क्या वेदमन्त्र वा सूक्त किसी को मना करते कि हम को जप करके भूत प्रेतादि की छलविद्या न करो, पूर्व प्रकार सुश्रुत के प्रमाण पर भूत प्रेतादि विषय में जो उत्तर दिया गया वही यहां जानिये॥

द० ति० भा० पृ० १८ पं० ४ से लिखा है कि-सत्यार्थप्र० पृष्ठ ३३ में तो अति ठिकाने शिर है जो द्विजशब्द ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और जाति ही सिद्ध रक्खी है। परन्तु तीसरे समुल्लास में इस के विरुद्ध है सो उस का खण्डन वहीं होगा॥

प्रत्युत्तर—द्विज शब्द से अन्यत्र भी तो ब्राह्मणादि ३ वर्णों ही का ग्रहण किया है। रही यह बात कि यहां तो जाति ही सिद्ध रक्खी है—सो नहीं, किन्तु विद्यारम्भ करने वाले सन्तान के माता पिता का वर्ण गुण कर्म स्वभावानुसार ही यहां भी अभिप्रेत है और आगे जैसा आप खण्डन करेंगे उस का प्रत्युत्तर वहीं दिया जायगा ॥

द० ति० भा० पृ० १८ पं० ८ में लिखा है कि=सत्यार्थप्र० पृ० ३५ बड़ों का मान्य दे उन के सामने उठ कर जाकर उच्चासन पर बैठा प्रथम नमस्ते करे, इत्यादि पर समीक्षा की है कि-यह नमस्ते की परिपाटी भी अजब ढङ्ग की चलाई है और परस्पर नमस्ते करने का प्रमाण कोई नहीं लिखा। छुटाई बड़ाई नीच ऊंच की कुछ न रही, और बुद्धि को तिलाञ्जलि देकर कहते हैं कि [नमः ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय] यजु १६। ३२ में छोटे बड़े को नमस्कार लिखा है। यह मन्त्र रुद्राध्याय का है जिस में ज्येष्ठ का अर्थ व्यष्टि शिव तथा कनिष्ठ के अर्थ समष्टिरूप शिव के हैं। छोटे बड़े मनुष्यों को नमस्ते का विधान इस में नहीं है। आगे व्यवहार की प्राचीन रीति लिखते हैं:-

लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च ॥
आददीत यतोज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ ११७ ॥
शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् ॥
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ११९ ॥

इत्यादि १२० से १२७ तक मनु अ० २ के श्लोक और उन का अर्थ लिखा है और यह भी लिखा है कि स्वामी जी इस स्थान पर मनुस्मृति देखते २ ऊंघ गये। समाजियों को क्या सूझी है कि छोटा बड़ा भाई बेटा शूद्र वा गुरु सब से नमस्ते ही करते हैं। जो समाजी पण्डित वैश्य शूद्रादि को नमस्ते करते हैं वे (योनमेश्यभिवादस्य०) के अनुसार शूद्रवत् ही हैं। पैसे का लोभ करो तो तुम्हारे पुरुषा तुम से चौगुणा धन कमाते थे। तथा विदेश में कहते हैं कि हमारा अमुक से नमस्ते कह देना। भला परोक्ष में नमस्ते प्रयोग कब घटता है? चिट्ठी में यह बात नहीं बन सक्ती इससे नमस्ते कभी न करे, प्रणाम दण्डवत् इत्यादि करे ॥

प्रत्युत्तर—आपने सत्यार्थप्र० पृ० ३५ से जो लेख उद्धृत किया है उस में जानबूझ कर वा भूल से एक भेद कर दिया जिस से अर्थ पलट गया। वह

यह है कि " उच्चासन पर बैठावे" ऐसा चाहिये परन्तु आपने द० ति० भा० पृ० १८ पं० ८ में "उच्चासन पर बैठा" प्रथम नमस्ते करे, यह लिख दिया जिस से अर्थ में यह भारी अन्तर हो गया, क्योंकि स्वामी जी का तात्पर्य तो इस शिक्षा से है कि छोटा बड़े को उच्चासन पर बैठावे अर्थात् स्वयं नीचे बैठे, और आपके उद्धृत अशुद्ध पाठ से उलटा यह तात्पर्य झलकता है कि छोटा उच्चासन पर बैठा हुआ बड़े से नमस्ते करे । स्वामी जी का तात्पर्य मनु के इन श्लोकों से मिलता है, जिन्हें आप पृष्ठ १८ व १९ में लिखते हैं कि—

तं पूर्वमभिवादयेत् । प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ।

अर्थात् प्रथम अभिवादन करे और उठकर करे । यही स्वामी जी ने पृ० ३५ पं २ में लिखा है। रही यह बात कि स्वामीजी ने नमस्ते लिखा है, अभिवादन नहीं लिखा । अभिवादन, वन्दना, प्रणाम, प्रणति, नति ये एकार्थ हैं इस लिये इस में कुछ भेद नहीं। छुटाई उठने, हाथ जोड़कर करने, प्रथमकरने आदि से भले प्रकार सूचित होती है। यदि आप का यह पक्ष हो कि अभिवादन अन्य शब्दों से न किया जावे तो आप ने जो अन्त में दण्डवत् प्रणामादि लिखे हैं, वे भी असत्य हैं । और वर्त्तमान में ब्राह्मण आपस में नमस्कार करते हैं और उनमें आपसमें गुरु शिष्य, पिता पुत्र आदि सम्बन्ध के कारण छुटाई बड़ाई रहने पर भी नमस्कार शब्द के प्रयोग वा राम २ तथा यहां तक कि हिन्दू लोग मुसलमानादि से क्या अपने आपस तक में सलाम करने लगे हैं तथापि आप उनपर कुछ नहीं कहते लिखते। "नमोज्येष्ठायच" इस मंत्र में ज्येष्ठ कनिष्ठ शब्द स्पष्ट छोटे बड़े के वाचक हैं और इसके आगे इसी १६ वें अध्याय में "स्तेनानांपतये" इत्यादि शब्द भी आते हैं जो शिव वा ईश्वर पक्षमें सर्वथा नहीं लग सक्ते । यदि इसका विशेष व्याख्यान देखना चाहो तो "शास्त्रार्थखुरजा" नामक पुस्तक में देख लीजिये । स्वामी जी तो मनुस्मृति को देखते २ नहीं ऊंघे परन्तु आप की समझ निराली है जो आप अभिवादन प्रणाम नमस्ते आदि में भेद समझते हैं । स्वामी जी को अभिवादनादि शब्दोंका व्यवहार ज्ञात था, यह तो संस्कारविधि के वेदारम्भ संस्कारप्रकरण से अच्छे प्रकार विदित हो सक्ता है जहां ठीक यही मनुके अनुसार अभिवादनका विधान लिखा है (देखो संस्कारविधि वेदारम्भ पं० ३८ पृ० ८१) जो समाजी पण्डित वैश्य आदि को नमस्ते करते हैं । वे अभिवादन प्रत्यभिवादनके तात्पर्य को ठीक २ जानते हैं और आपके समान अभिमान

में नहीं ऐंठते हैं। वे योग्यतानुसार वर्त्ताव करते हैं। वे हर समय बड़े भी नहीं बनते। वे साधर्म्य और वैधर्म्य तथा सामान्य और विशेष का तात्पर्य समझते हैं। ध्यान देकर सुनिये। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से मनुष्यत्व साधर्म्य से समान है, फिर एकही धर्मका अवलम्बी होनेसे समान है, एक ही ईश्वर का उपासक होने से समान है, एक ही देश में रहने वाला होने से भी समान है, लोक में जाति भाई, देश भाई, धर्म भाई आदि व्यवहार हैं। परन्तु यह सामान्य उस विशेष का बाधक नहीं जो विशेष छुटाई बड़ाई राजा प्रजा, गुरु शिष्य, पिता पुत्र, सेव्य सेवकादि सम्बन्ध विशेषों से होती है। इस लिये आर्य पण्डित सामान्य और विशेष का ठीक तात्पर्य समझते हुवे धर्मभाई, देशभाई आदि व्यवहार को जान कर अभिमान में चूर नहीं होते। और आप छुटाई बड़ाई का क्यों इतना विचार करते हैं, आप के यहां तो मूर्ख पण्डित आदि में कुछ विवेक ही नहीं "अविद्योवा सविद्योवा ब्राह्मणोमामकी तनुः" मूर्ख हो वा विद्वान् ब्राह्मण मेरा देह है, यह भगवान् का वाक्य है। आपके यहां तो ब्राह्मणों ने विष्णु भगवान् की छाती में लात मारी है, भला फिर ब्राह्मण मनुष्य को मनुष्य क्यों गिनने लगे हैं? और पण्डितों का तो कहना ही क्या है। और आप तो मूर्ख से मूर्ख ब्राह्मण को भी शूद्रवत् नहीं कह सक्ते क्योंकि वह भगवान् का स्वरूप है फिर आप के मतानुसार प्रत्यभिवादन न जानने वाले पण्डित शूद्रवत् कैसे हैं? और पैसे का लोभ तो आर्यपण्डितों को नहीं है, यह तो आप के लेख से भी सिद्ध है क्योंकि आप ने भी लिखा है कि "तुम्हारे बड़े चौगुणी जीविका करते थे" और सचमुच करते हैं! ठीक है, यह चौगुणी जीविका ही पौराणिक पाखण्डों को नहीं छोड़ने देती और आर्यधर्म के विरुद्ध द०ति०भा० जैसे पोथे लिखा रही है। और विदेश में जो नमस्ते कहला कर भेजते हैं वा पत्र में लिखते हैं वह प्रत्यक्ष का अनुकरण लिखा जाता है इस लिये नमस्ते, अभिवादये आदि करना और गुड्वत् दण्डवत् अडीएङ्ग आदि त्याज्य हैं॥

द० ति० भा० पृ० २० पं० २३ से लिखते हैं कि "वाह बड़ी सुन्दर शिक्षा लिखी। वेद का प्रमाण नहीं यह शिक्षा स्वतः प्रमाण है वा परतः प्रमाण? योनि संकोचन, उपस्थेन्द्रियस्पर्श न करना आदि शिक्षा नहीं किन्तु सत्या नाश करने, नास्तिक बनाने और वर्णसङ्कर करने की है॥

प्रत्युत्तर-इस शिक्षा में इतने प्रमाण दिये गये हैं, देखो सत्यार्थप्रकाश पृ० २८ पं० ३ में:-

मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषोवेद । शतपथ ।

फिर पृ० ३० पं० १५ में:-

गुरोःप्रेतस्यशिष्यस्तुपितृमेधंसमा०मनु और पृ० ३४ पं० ५ में सामृतैःपाणिभिर्घ्नन्तिगुरवो०महाभाष्य। पुनःपृ० ३५ पं० ७ में यान्यस्माकंसुचरितानितानित्वयो० तैत्ति०अपरञ्चपं०२३ में दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्। सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ मनु ॥ और वही पं० २७ में:-

माता शत्रुः पिता वैरी, येन बालोन पाठितः । चाणक्य ।

इन के अतिरिक्त पुस्तक बढ़ने के भय से भाषा में जितनी बात हैं वे प्रायः शास्त्रों का सार हैं, परन्तु आप को तो योनिसंकोच का द्वेष उपस्थेन्द्रियस्पर्शत्याग का द्वेष है, फिर भला आप की शिक्षा के होते हुवे स्त्रियों को प्रदरादि रोग और पुरुषों को स्पर्शातिशय से प्रमेहादि रोग क्यों न हों। आप ने तो देश को रसातल पहुंचाने में अपनी शक्ति भर उद्योग करना हो, इतने पर भी यदि इस देश के लोग वैदिकधर्म की ओर प्रतिदिन उत्साह को बढ़ाते ही जावें, अनाथों का पालन, ब्रह्मचर्य की प्रणाली का सुधार, संस्कृत की शिक्षा और देशहितैषिता फैलती ही जावे तो आपका क्या दोष। आप ने तो अपनी करनी में कसर न की और न करोगे परन्तु इतने पर भी यदि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के सत्यसङ्कल्प सुफल होते ही जावें तो आप तो अन्त में कहियेगा ही कि भाई युग का प्रभाव है !!! परन्तु न जाने जो वैदिकमार्ग के प्रचार में बाधा डालते हैं वह युग का प्रभाव है वा वैदिकधर्म का प्रचार और उस की दिनोंदिन उन्नति युग का प्रभाव है ? अस्तु

यह दयानन्द ति० भा० का खण्डन और सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास का मण्डन समाप्त हुवा ॥

——=:*:=——

ओ३म्

अथ तृतीयसमुल्लासखण्डनम् ॥

द० ति० भा० पृ० २१ पं० ४ में सत्यार्थप्रकाश के पृ० ३८ पं० १२ से उद्धृत करके लिखा है कि:—

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् । मनु०

स्वामी जी लिखते हैं कि ८ वें वर्ष उपरान्त लड़के लड़की घर में न रहैं पाठशाला में जावें, यह जातिनियम और राजनियम होना चाहिये, जो इस के विरुद्ध करें दण्डनीय हों इत्यादि। इस पर समीक्षा करते हुवे पं० ज्वालाप्रसाद जी लिखते हैं कि इतना लम्बा चौड़ा अभिप्राय कौन से अक्षरों से निकलता है? इन्हीं अभिप्रायों ने नवशिक्षितों की बुद्धि पर परदा डाला है फिर "मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे वा" इत्यादि मनु अ० ७ श्लोक १५१। १५२ लिख कर कहते हैं कि यह राजप्रकरण है, राजा को योग्य है कि अर्द्धरात्रि वा दोपहर को विश्रामयुक्त हो मन्त्रियों सहित धर्म अर्थ काम का विचार करे वा आप ही। अपने कुल की कन्याओं के विवाह और कुमारों के विनयादिरक्षण का विचार करे। स्वामी जी का तात्पर्य इस से किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं रखता। स्त्रियों का यज्ञोपवीत नहीं होता तब गायत्री का अधिकार कब है? आप ने गायत्री पढ़ना लिख दिया तो यज्ञोपवीत भी क्यों न लिख दिया, समाजी तो आप के लेख को पत्थर की लकीर मान्ते ही इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर–जब कि आप स्वयं स्वीकार करते हैं कि यह श्लोक राजप्रकरण का है और यथार्थ में है ही, तो राजा को अपनी कन्याओं के सम्प्रदान और कुमारों की रक्षा का विशेष विधान करना किस लिये लिखा, जबकि प्रत्येक प्रजागणस्थ पुरुष का भी कर्त्तव्य है कि वह अपनी कन्याओं के सम्प्रदान और कुमारों की रक्षा करें। तात्पर्य यथार्थ में यही है कि राजा अपनी प्रजा का पितृतुल्य रक्षक है, इसी लिये आप की विवाहपद्धतियों में कन्यादान के पूर्व, किस को कन्यादान करना उचित है, यह निश्चय करते हुवे लिखा है कि:–

"अथ कन्यादानं कुर्य्यात्पिता तदभावे माता तदभावे भ्राता तदभावे राजा इत्यादि" ॥

अर्थात् कन्यादान में पिता उस के अभाव में माता उस के अभाव में भ्राता उस के भी अभाव में राजा इत्यादि का अधिकार है। इस से यह

ध्वनि स्पष्ट निकलती है कि यदि कोई अपनी सन्तान के विषय में अपने कर्त्तव्य को पूर्ण न करे, न कर सके वा करने वाला न रहे तो वह कार्य राजा करे। बस यही तात्पर्य लेकर राजा को विशेष आज्ञा है कि वह प्रजावर्ग के पुत्र पुत्रियों के रक्षणशिक्षणादि का प्रबन्ध करे। वह प्रबन्ध दो प्रकार से हो सकता है १-पितृवर्ग जीवित और योग्य हों तो जाति वा राजा का नियम रहे जिसे वे उल्लङ्घन न करें और २-दूसरा यह कि उन के अभाव में राजा स्वयं करे। अब बताइये स्वामी जी ने इस में क्या मिला दिया। ८ वर्ष का तात्पर्य मनु के उन श्लोकों से निकल आता है जो उपनयन की अवस्था बताते हुवे मनु ने लिखा है कि:-

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्। इत्यादि मनु २।३६

कन्याओं को यज्ञोपवीत न होने से गायत्रीमन्त्र पढ़ने का अधिकार नहीं तो लाजाहोम के समय "इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयोमम स्वाहा"। और प्रतिज्ञा के समय विवाह में "समञ्जन्तु विश्वेदेवाः" इत्यादि वेदमन्त्रों के पाठ का अधिकार कहां से आ जायगा और स्त्री पुरुष की सहधर्मिणी कैसे मानी जायगी और:-

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अथर्व०

के अनुसार कन्या ब्रह्मचारिणी होवें यह पाया जाता है, तब आप कन्याओं के ब्रह्मचर्य वेदाध्ययन से ऐसे क्यों चौंकते हैं। क्या आप के पास कोई वेद का प्रमाण है कि स्त्रियों को ब्रह्मचर्य और वेदपाठ का अधिकार नहीं? द्विज कहने से जब कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का आप भी ग्रहण करते हैं और द्विज का अर्थ दो जन्म वाला है अर्थात् एक माता के उदर से प्रकट होना दूसरा गुरुकुल में प्रकट होना, तो हम पूछते हैं कि जब जन्म और संस्कार इन दोनों से द्विज बनता है और आप के मत में कन्या का द्विजत्वसम्पादक संस्कार नहीं होता तो:-

उद्वहेत द्विजोभार्य्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्॥

जिस का अर्थ स्पष्ट है कि द्विज, लक्षणवती सवर्णा भार्या से विवाह करे। सवर्णा का अर्थ समानवर्ण वाली है। वर्ण ४ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हैं जिन में से पहले ३ द्विज इस लिये हैं कि उन के दो जन्म होते हैं तो बताइये तो सही कि कन्या के दो जन्म नहीं हुवे और जननी और

गायत्री इन दो संस्ताओं को जो कन्या प्राप्त नहीं हुई वह द्विज कैसे होगी और जो कन्या द्विज नहीं वह द्विजों की सवर्णा कैसे हो सकती है और सवर्णा से द्विजों को विवाह विहित है तो आप के मत में द्विजों को कन्या ही न मिलेगी। अब स्त्रियों के वेदपाठाधिकार में प्रमाण सुनियेः-

१-इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्॥ श्रौतसूत्र॥

इस मन्त्र को पत्नी पढ़े॥

२-वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेत्॥ श्रौतसूत्र॥

स्त्री को पुस्तक देकर वेद बँचवावे॥

३-अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव।

बृहदारण्यक। याज्ञवल्क्य की दो स्त्री थीं मैत्रेयी और कात्यायनी इन में मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी। यदि स्त्रियों को वेदपाठ का अधिकार नहीं तो मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी कैसे हुई॥

४- शङ्करदिग्विजय में मण्डनमिश्र की स्त्री ने शङ्कराचार्य से कहा कि-

अपि तु त्वयाद्य न समग्रजितः प्रथिताग्रणीर्मम पतिर्यदहम्। वपुरर्द्धमस्य न जिता मतिमन् अपि मां विजित्य कुरु शिष्यमिमम्॥ ५६॥

हे शङ्कराचार्य! आप ने मेरे प्रसिद्धाग्रणी पति को अभी पूर्ण नहीं जीता क्योंकि उस का अर्धदेह मैं हूं अब मुझे भी आप जीत लें तब मेरे पति को शिष्य करें॥

शङ्कराचार्य ने उत्तर दिया किः-

यदवादिवादकलहोत्सुकतां प्रतिपद्यते हृदयमित्यबले। तद साम्प्रतं न हि महायशसो महिलाजने नकथयन्तिकथाम्॥५९॥

तुम शास्त्रार्थ करने को चाहती हो परन्तु महायशस्वी लोग स्त्री से शास्त्रार्थ नहीं करते॥

उस ने उत्तर दिया कि-

स्वमतं प्रभेत्तुमिह योयतते सवधूजनोस्तुयदिवास्त्वितरः। यतितव्यमेव खलु तस्यजये निजपक्षरक्षणपरैर्भगवन्॥६०॥

भगवन् ! जो अपने मत का खण्डन करे चाहे स्त्री हो वा पुरुष, अपने पक्ष की रक्षा में तत्परों को अवश्य उस के विजय करने में प्रयत्न करना उचित है॥

इस के अतिरिक्त उस समय विद्याधरी ने प्राचीन समय में भी स्त्री पुरुषों में शास्त्रार्थ होने का प्रमाण दिया कि-

अतएवगार्ग्यभिधयाकलहं सहयाज्ञवल्क्यमुनिराडकरोत्।जनकस्तथासुलभयाऽबलयाकिममीभवन्ति न यशोनिधयः॥६१॥

इसी लिये याज्ञवल्क्य ने गार्गी से और जनक ने सुलभा से शास्त्रार्थ किया था । क्या ये लोग यशस्वी न थे ? ॥ ६१ ॥

इस पर शङ्कराचार्य को उत्तर न आया और शास्त्रार्थ स्वीकार करना पड़ा । और उस शास्त्रार्थ में श्रुति (वेद) के वाक्यों पर विवाद हुवा। यथा-

अथसाकथा प्रववृतेस्मतयोरुभयोः परस्परजयोत्सुकयोः।मतिचातुरी रचितशब्दभरी श्रुतिविस्मयी कृतविचक्षणयोः ॥६३॥

तब वह शास्त्रार्थ आरम्भ हुवा जिस में एक दूसरे के विजय करने को उत्सुक था । और बुद्धिचातुर्य, शब्दगाम्भीर्य और श्रुतिप्रमाण आश्चर्य दायक थे ।६३।

अब बताइये कि स्त्री को वेद पाठाधिकार न था तो वेदविषयक शास्त्रार्थ विद्याधरी गार्गी और सुलभा ने कैसे किया । परन्तु हां, इतना पता अवश्य लगता है कि शङ्कराचार्य जो प्रथम शास्त्रार्थ करने में हिचकिचाये और टालना चाहा, इस से प्रतीत होता है कि उस समय जब कि शङ्कराचार्य हुवे तब भी स्त्री जाति की अप्रतिष्ठा आरम्भ हुई थी, परन्तु जब का विद्याधरी ने प्रमाण दिया कि जनक और याज्ञवल्क्य ने स्त्रियों से शास्त्रार्थ किया उस उत्तम समय में निस्सन्देह आप जैसे सङ्कीर्णहृदयों का जन्म न होने से देश का सौभाग्य था कि स्त्रियों को भी वेदपाठाद्यधिकार समान ही प्राप्त थे ॥

५-इङश्च । अष्टाध्यायी ३ । ३ । २१ महाभाष्यम्-इङश्चेत्यपादाने स्त्रियामुपसङ्ख्यानं कर्त्तव्यम् । इङश्चेत्यत्रापादाने स्त्रियामुपसङ्ख्यानं कर्त्तव्यं तदन्ताच्च वा ङीष्वक्तव्यः । उपेत्याधीयतेऽस्या उपाध्यायी, उपाध्याया ॥

देखिये इस उदाहरण में उपाधायी वा उपाध्याया उस स्त्री का नाम है

जिस के पास जाकर (लड़कियां) वेद पढ़ें। यदि स्त्री को पढ़ने का अधिकार नहीं तो पढ़ाने का अधिकार कहां से होगया। और यदि कन्यापाठशाला की उपाध्याया वा उपाध्यायी से कन्यायें पढ़ने को जावें तो क्या लड़के उन से पढ़ने को जावें? क्या कहीं यह लेख है कि लड़के लोग उपाध्याय से न पढ़ कर उपाध्यायी से पढ़ा करें? यदि नहीं तो कन्या ही "उपेत्याधीयते" अर्थात् उपनीत होकर पढ़े, यह तात्पर्य हुवा और यह पाया गया कि कन्यायें भी उपाध्यायी के पास वैसे ही उपनीत होती थीं जैसे लड़के उपाध्याय के पास॥

६-अनुपसर्जनात्। अष्टा० ४।१।१४॥

महाभाष्यम्-आपिशलमधीते ब्राह्मणी आपिशला॥

इस से सिद्ध है कि स्त्रियां भी गुरुकुल में जाकर वेदशाखा आदि पढ़ती थीं। इस सूत्र पर दूसरा उदाहरण है कि:-

७-काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी। काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी॥

इस से भी सिद्ध है कि काशकृत्स्न ऋषिकृत मीमांसा को पढ़ने वाली ब्राह्मणी का नाम काशकृत्स्ना होता था। मीमांसा शास्त्र में वैदिकमन्त्रों वा कर्मों की मीमांसा होती है॥

इन प्रमाणों से सिद्ध हो गया है कि आर्ष समय में कन्यायें उपाध्यायी के पास उपनीत होती थीं और उपाध्यायी उन्हें पढ़ाती थीं। पत्नी यज्ञ में मन्त्रपाठ करती थीं। वधू विवाह में मन्त्रपाठपूर्वक लाजाहोम करती है। तो अवश्य है कि उन का उपनयन मन्त्रोपदेश और स्वाध्यायादि होता था जैसा कि स्वामी जी ने वेदशास्त्रानुकूल लिखा है॥

गायत्रीप्रकरण

सत्यार्थप्र० पृ० ३८ पं० १२ स्वामी जी ने गायत्री और अर्थ संक्षेप से लिखे हैं और वहां "भूरिति वै प्राणः" इत्यादि तैत्तिरीय के प्रमाण दिये हैं उस पर-

द० ति० भा० पृ० २२ पं० २१ से-समीक्षा-दयानन्द जी ने महाव्याहृतियों के अर्थ में भी गोलमाल करा है। तैत्ति० के नाम से स्वयं कल्पना की है इत्यादि

प्रत्युत्तर-स्वामी जी ने कुछ गोलमाल नहीं किया। आप को "कुर्यात्सर्वस्य खण्डनम्" का व्यसन हो गया है। इस प्रसङ्ग में तो आप बड़े ही चक्कर में

आये हैं। जो अर्थ स्वामी जी ने किये हैं वही आपने भी तो किये हैं फिर गोलमाल उन्होंने की है या आपने । देखो द० ति० भा० पृ० २४ पं० १ । २ "भूरिति वै प्राणः भुव इत्यपानः" तैत्ति० अनु० ५ फिर आप कैसे कहते हैं कि स्वामीजी ने स्वयं कल्पना की है। "सवितुः" का अर्थ स्वामी जी ने "सर्वोत्पादक" किया है वही आप ने द० ति० भा० पृ० २५ पं० २० में लिखा है कि "सवनात्सविता" उत्पादक होने से "सविता"। "धियः" का अर्थ स्वामी जी ने "बुद्धियों को" किया है वही आप ने द० ति० भा० पृ० २५ पं० ९ में "बुद्धयोवैधियः" बुद्धियां धी हैं, ऐसा लिखा है । आप सविता शब्द से आपने दिये प्रमाण के विरुद्ध सूर्यलोक का ग्रहण करेंगे और गायत्री से सूर्य देव की भौतिक उपासना सिद्ध करेंगे तो आपने ही जो विस्तारपूर्वक गायत्री मन्त्र में आये "भर्गः" पद का अर्थ लिखा है कि–

भइतिभासयतीमान् लोकान् । रइतिरञ्जयत्तीमानिभूतानि ।
गइतिगच्छन्त्यस्मिन्नागच्छन्त्यस्मादिमाः प्रजाः ॥

इस का अर्थ भी आपने पृ० २३ पं० ५ में लिखा है कि–"सुषुप्तिप्रबोध या महाप्रलय, उत्पत्ति काल में सर्व प्रजा, परमात्मा में लीन होकर उत्पन्न होती हैं" ॥

देखिये आपने भी यहां "भर्ग" शब्द के अर्थ में परमात्मा का ग्रहण किया है। इस से सिद्ध हुवा कि स्वामी जी ने जो अर्थ कियाहै वह सङ्गत और शास्त्रानुकूल होने के अतिरिक्त आप के पुस्तक से भी पुष्ट होता है । यह दूसरी बात है कि आप ने पाण्डित्यप्रकाशनार्थ व्याहृतियों का अर्थ करते हुए तैत्तिरीय का पाठ बहुत सा भरदिया और आधिभौतिक आधिदैविक आध्यात्मिक तीनों प्रकार के अर्थ लिख दिये और स्वामी जीने ये सब अर्थ न लिखकर संक्षेप से एक अर्थ लिख दिया जो ब्रह्मयज्ञ में उपयोगी था और उन्हों ने सत्यार्थप्र०पृ० ३८ पं० २२ में प्रथम ही लिख दियाहै कि अब तीन महाव्याहृतियों के अर्थ "संक्षेप" से लिखते हैं । इस लिये उनपर यह तूफ़ान मचाना और तैत्ति० का बहुत पाठ लिख मारना और वृथा लिखना कि स्वामी जी ने अपनी कल्पना तैत्ति० के नाम से की है, सब अनर्थ और असत्य है । और आपने जोः–

खल्वात्मनोत्मा नेतामृताख्यश्चेता मन्ता गन्तोत्स्रष्टानन्दयिता कर्त्ता वक्ता रसयिता घ्राता द्रष्टा श्रोता स्पृशति च ॥

और

त्रिभुर्विग्रहे सन्निविष्टा इत्येवं ह्याह । इत्यादि-

लेख मे बृहदारण्यक के इस पाठ को जोड़ दिया है कि:-

आत्मेत्येवोपासीतात्रह्येतेसर्वएकंभवन्ति। बृह०अ०३ब्रा०४ ॥

सो आपने चातुर्य नहीं किया किन्तु खुल्लम खुल्ला झूंठ लिखा है । भला पूर्वोक्त पाठ का इस से क्या सम्बन्ध । धन्य ! महाराज!! आपने इसी वास्ते अपने पूर्वलेख (खल्वात्मनोत्मा नेता) का पता जान बूझ कर नहीं लिखा जिस से कोई पता न चला लेवे, भला इस प्रकार के चातुर्य से कभी सत्यार्थप्रकाश का खण्डन वा विद्वानों की आखों पर धूल फेंक कर कार्यसिद्धि हो सकती है ? वा अद्वैतपक्ष सिद्ध हो सकता है ? कभी नहीं । तथापि हम आप के बेपते लेख का अर्थ करके आप को दिखलाते हैं कि इस में अद्वैत का क्या वर्णन है:-

(आत्मनः आत्मा नेता) आप के ही लेखानुसार आत्मा अर्थात् शरीरेन्द्रियसंघात का जो नेता आत्मा है वही चेता मन्ता गन्ता उत्स्रष्टा आनन्दयिता कर्त्ता वक्ता रसयिता घ्राता द्रष्टा श्रोता और स्प्रष्टा है । भला इस से द्वैत अद्वैत का क्या सिद्ध हुवा ? और दूसरे वाक्यः—

विभुर्विग्रहे सन्निविष्टा इत्येवंह्याह । अथ यत्र द्वैतीभूतं विज्ञानं तत्र हि शृणोति पश्यति जिघ्रति रसयति चैव स्पर्शयति सर्वमात्मा जानीतेति यत्राद्वैतीभूतं विज्ञानं कार्यकारणकर्मनिर्मुक्तं निर्वचनमनौपम्यं निरुपाख्यं किंतदवाच्यम् ॥

का अर्थ यह है कि—व्यापक आत्मा देह में घुसा है, यह कहते हैं। जब द्वैतीभूत ज्ञान होता है तब समझा जाता है कि आत्मा सुनता, देखता, सूंघता, चखता और छूता है तथा सब को जानता है, परन्तु जब अद्वैत अर्थात् देहादि द्वितीय पदार्थों से सम्बन्ध छूट जाता है तब कार्य कारण कर्म से निर्मुक्त, वचन उपमा और नाम से रहित किम् और तद् शब्द का भी वाच्य नहीं होता । तात्पर्य यह है कि आत्मा में देखना, सुनना आदि व्यवहार, निर्देश, देवदत्तादि नाम-शरीरसम्बन्ध से बनते हैं, केवल में नहीं । भला इस से जीव ब्रह्म की एकता अनेकता क्या निकलती है ? कुछ नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० २७ पं० २५ दयानन्द जी ने सत्यार्थप्र० पृ० ६०१ में वेदों

की ११२७ शाखा व्याख्यानरूप बताई हैं, परन्तु गायत्रीमन्त्र के अर्थ करने में किसी भी व्याख्यान की रीति से न लिखा। तथा वेदों की शाखा ११३१ हैं उन्हों ने महाभाष्य के विरुद्ध ४ न्यून लिखी हैं॥

प्रत्युत्तर—स्वामी जी ने संक्षेप के कारण आप के समान तैत्तिरीय शाखा का पाठ नहीं धरा परन्तु जितना लिखा है वह सब तैत्तिरीय के अनुकूल ही है। हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं कि जो अर्थ स्वामी जी ने लिखे हैं वही आपने भी लिखे हैं। हां, उन्हों ने प्रकरणानुकूल संक्षेप से और आप ने प्रकरणविरुद्ध विस्तार से लिखा है। वेदों की ११३१ शाखाओं में ४ संहिता मूल वेद भी अन्तर्गत गिनी हैं उन को पृथक् करके स्वामी जी ने ११२७ गिनाई हैं, समझ कर देखिये॥

द० ति० भा० पृ० २८ पं० १ स्वामी जी ने सवितृ पद का व्याख्यान यह लिखा है जो (सुनोत्युत्पादयति सर्वं जगत् स सविता) दयानन्द जी तो अपने को निघण्टु निरुक्त का पण्डित मानते हैं फिर यह विरुद्ध अर्थ क्यों लिखा। क्योंकि निरु० अ० ५ खं० ४ में सवितृपद का व्याख्यान यह है कि (सविता षु प्रसवैश्वर्ययोः भू० प० तृचि सविता सर्वकर्मणां वृष्टिप्रदानादिना अभ्यनुज्ञाता) षु धातु प्रसव और ऐश्वर्य अर्थ में है। प्रसव नाम अभ्यनुज्ञान का है अर्थात् फल देने वाले कर्म का स्वीकार करना। सो सविता देव वृष्टिरूप फल देने वास्ते यावत् प्राणिवर्ग के कर्म को स्वीकार करता है और ऐश्वर्य नाम प्रेरणा का है सो सविता देव सर्वजन्तुमात्र को कर्म में प्रवृत्त करता है। तब निरुक्त के मत से "सुवतीति सविता" होना चाहिये और दयानन्द जी ने "सुनोति" यह प्रयोग रख कर "उत्पादयति" अर्थ लिखा है जो पाणिनिलिखित धात्वर्थ से विरुद्ध है क्योंकि "सुनोति" धातु का अर्थ अभिषव है। "अभिषव" नाम कण्डन का है सोमवल्ली का रस निकालने में उस का अभिषव नाम कण्डन होता है। स्वादिगणी षुञ् धातु का अर्थ उत्पादन नहीं। इस से पाणिनि के भी विरुद्ध है इत्यादि॥

प्रत्युत्तर—आप ने जो पाठ निरु० अ० ५ खं० ४ का लिखा है वह न तो नैगमकाण्ड अ० ५ खं० ४ में है और न दैवतकाण्ड अ० ५ खं० ४ में लिखा है। अतः या तो आप पता भूले वा अन्य कुछ कारण हो इस लिये जब तक निरुक्त में इस पाठ का पता पं० ज्वालाप्रसाद न लगायें तब तक उत्तर देना व्यर्थ है। रही यह बात कि निरुक्तकार के मतानुसार भ्वादिगणी षु प्रसवैश्वर्ययोः धातु का प्रयोग "सुवति" होता है "सुनोति" नहीं, इस का उत्तर

यह है कि प्रथम तो आप का लिखा निरुक्त का पाठ उस पते पर मूल में उपस्थित नहीं जो पता आपने छापा है, इस के अतिरिक्त निरुक्तकार ने कहीं धातुओं के गण भी नहीं बताये हैं कि भ्वादि आदि में से अमुकगणी धातु का प्रयोग है इस लिये आप का (भू० प०) लिखना असङ्गत है । निरुक्त में केवल प्रयोग से गण पहचाना जाता है सो आप के असत्यपते के निरुक्त में भी सुनोति वा सुवति इन दोनों में से कोई प्रयोग भी नहीं है तो आप के लेखानुसार भी स्वामी जी का "सुनोति" प्रयोग निरुक्त के विरुद्ध नहीं प्रतीत होता। और पाणिनि का जो आप प्रमाण देते हैं कि पाणिनि ने स्वादिगणी षुञ् धातु का अर्थ अभिषव लिखा है, उत्पादन नहीं, इसका उत्तर यह है कि महात्मा जी! पाणिनि जी ने अभिषव अर्थ तो लिखा है परन्तु यह तो नहीं लिखा कि अभिषव का अर्थ उत्पादन नहीं वा कुछ अन्य अमुक अर्थ है? अर्थ समझना हमारा आप का काम है। सोमवल्ली के रस निकालने में इस धातु का प्रयोग होता है तो यह तो समझिये कि रस निकालना वा रस उत्पन्न करना इस में क्या भेद है ? कुछ नहीं । रस निकालने का तात्पर्य भी तो यही है कि सोमरस का उत्पन्न करना । इस लिये स्वामी जी का लेख पाणिनि के विरुद्ध नहीं और आप ने जो " षुप्रसवैश्वर्ययोः " धातु को भू० प० लिखा क्या यह अदादि गण में नहीं है ? जब षु धातु भ्वादि अदादि और स्वादि तीनों गणों में है तो स्वादिगण में गण का आदि होने से मुख्य है । तो "मुख्यामुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः" के अनुसार स्वादिगणी का ही ग्रहण भी चाहिये, जैसा कि स्वामी जी ने किया है ॥

द० ति० भा० पृ० २८ पं० १६ से लिखा है कि स्वामी जी ने देवपद की व्युत्पत्ति में "दीव्यति दीव्यते वा" यह दो प्रयोग लिखे हैं, परन्तु दिव धातु परस्मैपदी है उस का दीव्यति प्रयोग होता है किन्तु आत्मनेपदी न होने से "दीव्यते" प्रलाप है । यदि कहो कि कर्म में प्रत्यय मान कर आत्मनेपद ठीक है सो भी नहीं क्योंकि ऐसा होता तो स्वामी जी को "यः" के स्थान में कर्तृपद "येन" लिखना था । यदि कहो कि उस पक्ष में यः यह कर्मपद परमात्मा का वाचक है तो प्रकाश्य जड़ जगत् है सो ऐसा करने से प्रकाश्यता से जड़ता ईश्वर में आवेगी क्योंकि ईश्वर प्रकाश का कर्त्ता है न कि प्रकाशित कर्म । और देवपः कर्तृप्रकरणस्थपचादिगण में पढ़ा है कर्मवाच्य में नहीं और (सब सुखों का देने हारा) यह देवपद का अर्थ नहीं हो

सकता क्योंकि दिवु धातु के १० अर्थों में सुख देना अर्थ नहीं है । दयानन्द जी ने यह अर्थ कल्पना कर लिया इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—दीव्यते प्रयोग यथार्थ में कर्मवाच्य है और यही कारण आत्मने पद लिखने का है और प्रकाश "प्रकट होने" को भी कहते हैं क्योंकि परमात्मा भक्तों के हृदय में प्रकट होते हैं, इस लिये प्रकाश क्रिया के कर्म भी कहे जा सक्के हैं, इस में कुछ दोष नहीं । पचादिगण में कर्तृवाच्य लिखने से हमारी हानि नहीं क्योंकि स्वामी जी ने कर्तृवाच्य अर्थ भी तो लिखा ही है । कर्तृवाच्य अर्थ में "यः" है ही कर्मवाच्य में कर्तृवद् अप्रयुक्त "येन" का अध्याहार हो जायगा । "सब सुखों का देने वाला" यह पदार्थ नहीं किन्तु भावार्थ है । दिवु धातु का "मोद-आनन्द" अर्थ है ही, ब्रम स्वयम् आनन्दस्वरूप है वही अपने भक्तों को सब सुख दे सक्ता है । इस लिये स्वामी जी का तात्पर्य निर्दोष है ॥

अथाचमनप्रकरणम्

स्वामी जी ने जो आचमन का फल कण्ठस्थकफ़ और पित्त की निवृत्ति लिखा है और जलाभाव में आचमन की उपेक्षा की है, मार्जन से आलस्य दूर होना लिखा है उस पर द० ति० भा० पृष्ठ २८ पं० ९ में लिखा है कि 'यदि आचमन का प्रयोजन यह है तो क्या सभी लोग सन्ध्याकाल में कफ़पित्त ग्रसित होते हैं ? और सब को आलस्य और निद्रा ही दबाये रहती है ? वह निद्रा का समय नहीं और जल से कफ़ की निवृत्ति नहीं किन्तु वृद्धि होती है और ऐसा ही है तो हाथ में जल लेकर ब्राह्मतीर्थ से ही आचमन की क्या आवश्यकता है । और आलस्य दूर करने को हुलास की चुटकी हो क्यों न सूंघ ली जावे ? अथवा चाय वा काफ़ी पीलेवें, वा एमोनियां की शीशी पास रक्खें और स्नान करने से ही आलस्य न गया तो मार्जन से क्या होना है । इस से स्वामी जी का लिखना मिथ्या है । मनु के अनुसार आचमन की विधि नीचे लिखते हैं कि आचमन से आभ्यन्तरशुद्धि होती है । यथा—अ० २

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेननित्यकालमुपस्पृशेत् ।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ॥ ५८ ॥
अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते ।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ॥ ५९ ॥

इत्यादि ६० । ६१ और ६२ तक श्लोक हैं जिनका तात्पर्य यह है कि विप्र को ब्राह्मकाय वा दैवतीर्थ से आचमन करना, पित्र्य से नहीं । ५८ । अङ्गुष्ठ मूल में ब्राह्म, अङ्गुलिमूल में काय, अङ्गुलियों के अग्र भाग में दैव और उन के नीचे पित्र्य तीर्थ है । ५९ । प्रथम तीन आचमन करे फिर दो बार मुख धोवे और जल से इन्द्रियां देह और शिर को छुवे । ६० । फेन और उष्णता रहित जल से उचित तीर्थ से धर्मवेत्ता शौच चाहने वाले को सदा एकान्त में उत्तरमुखस्थ होकर आचमन करना चाहिये । ६१ । ब्राह्मण हृदयगत जल से, क्षत्रिय कण्ठगत, वैश्य जिह्वागत और शूद्र स्पर्श से शुद्ध होता है । ६२ । आप के चेले तो कोट पतलून पहर कर सन्ध्या करेंगे फिर स्नान कौन करेगा और मनसा परिक्रमा किस की करे आप की वा सत्यार्थप्रकाश की ? क्योंकि निराकार ईश्वर की परिक्रमा असंभव है । (अपां समीपे, मनु में लिखा है कि जलाशय पर गायत्री जपे, परन्तु आप के मत में तो कफ़ने घेरा हुवा पुरुष कोठी बङ्गले ही में करेगा इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-कण्ठस्थकफ की निवृत्ति कण्ठ में थोड़ा जल पहुंचने से अवश्य होती है । स्वर स्पष्ट हो जाता है । जल कफरोग को बढ़ाता है परन्तु यह किसी रोग का तो इलाज नहीं किन्तु सामान्य प्रकार से कण्ठ में कफ रहता और मन्त्रोच्चारणादि में वहां का कफ बाधक होता है वह निवृत्त हो जाता है । यदि जल तर होने से कफरोग को उत्पन्न करता है यह नियम हो तो जितने वैद्यक के प्रयोगों में मिश्री, गुड़, शहत, गुडूची आदि तरवस्तु खांसी के रोग में प्रयुक्त की हैं, सब व्यर्थ होजावें । यथार्थ में तरी के द्वारा दोष का नाश नहीं करना है किन्तु उसे शान्त रखना अभीष्ट है और आप ने जो मनु के श्लोक लिख दिये उन से स्वामी जी के लिखे फल का निषेध तो नहीं आया किन्तु आचमन के प्रकार का वर्णन है और ब्राह्मणादि वर्णों की उत्तरोत्तर न्यून जल से शुद्धि का प्रयोजन यह है कि अपने २ वर्णानुसार उन को उतनी २ शुद्धि भी न्यूनाधिक ही अपेक्षित है । ब्राह्मण को उत्तम होने से जितनी शुद्धि अपेक्षित है अन्यों को क्रमशः उस से न्यून अपेक्षित है, इत्यादि प्रकार से कारणवाद सर्वत्र खोजा जासकता है । हम आप से यह पूछते हैं कि स्वामी जी ने कर्म तो वे २ लिखे ही जिन्हें आप भी मानते हैं परन्तु उस की पुष्टि के लिये यदि स्वामीजी ने कुछ युक्ति भी लिखदीं तो क्या दोष हो गया ? और स्वामी जी के लिखने को तो आप न मानियेगा

परन्तु वेदवचन को कैसे न मानियेगा । देखिये यजुर्वेद । ३६ । १२ ॥

शन्नो देवीरभिष्टय आपोभवन्तु पीतये । शंयोरभिस्रवन्तु नः

इस का आध्यात्मिक अर्थ तो पञ्चमहायज्ञविधि के लिखे अनुसार है परन्तु आधिदैविक और भौतिक अर्थ पर दृष्टिपात कीजिये-देव्य आपः नः पीतये शंभवन्तु । नोऽस्मान् अभिष्टये शंयोरभिस्रवन्तु । अर्थात् दिव्यजल हमारे पीने के लिये सुखदायक हो और वह हम को मनोवाञ्छित सुख को वर्षावे । तात्पर्य यह है कि उत्तम दिव्य जल से (जैसा कि मनु अ० २ श्लोक ६१ में स्वच्छ जल से आचमन लिखा है) आचमनादि करने से सुख की प्राप्ति होती है । अर्थात् शारीरिक सुख तृप्ति शान्ति आदि के लिये जल को प्रयोग में लाना चाहिये । यही कारण इस मन्त्र के आचमन करने में विनियोग होने का है और आलस्यनिवृत्त्यर्थ मार्जन पर जो आप ने लिखा कि क्या मन को आलस्य दबाये रहता है ? और स्नान से आलस्य दूर न हुवा तो मार्जन से क्या होगा । महाशय ! प्रथम तो यह बात है कि जल के छींटा पड़ने से जैसी चेतनता होती है उस प्रकार की स्नान से नहीं होती दूसरी बात यह भी है कि भला प्रातः सन्ध्या में तो स्नान करके बैठते हैं परन्तु सायंसन्ध्या में स्नान का नियम नहीं देखा जाता और तीसरी बात यह है कि जाड़े में भी एक वार नित्य स्नान करना उत्तम कर्म है और गरमी आदि में दो वार वा जितने वार से देह शुद्ध रहे । परन्तु स्नान की कर्त्तव्यता, सन्ध्याकी कर्त्तव्यता के बराबर नहीं रक्खी गई । जिस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में-

नतिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्चपश्चिमाम् ।
सशूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः २ । १०३ ॥

दोष लिखा है कि "प्रातः सायं सन्ध्या न करे उसे शूद्र तुल्य बाहर किया जावे" इस प्रकार मन्वादि किसी धर्मशास्त्रकार ने प्रातःसायं स्नान न कर सकने वा न करने वालों को बाह्य करना नहीं लिखा इस से हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि स्नान कर्त्तव्य नहीं किन्तु सन्ध्या के बराबर नहीं । अर्थात् स्नान १ के स्थान में १० वार भी करे और सन्ध्या न करे तो पतित ही हो जायगा । परन्तु स्नान न करके भी सन्ध्योपासन कर लेने वाला पतित नहीं होसक्ता तो सन्ध्या के अङ्ग आचमन मार्जनादि में स्नान से व्यर्थता लिखना ठीक नहीं । ब्राह्मतीर्थ से सुगम और उत्तम रीति से आचमन हो

सकता है और धर्मशास्त्र ने भेद भी भिन्न२ कर्मों के कर दिये हैं इस लिए ब्रह्म तीर्थ से आचमन करना अन्य रीति की अपेक्षा उत्तम है। हुलाम की चुटकी से आलस्य दूर करने की विधि सन्ध्याकाल में सच्छास्त्रों में होती तो वह भी माननीय होती। परन्तु स्वामी जी का तो प्रयोजन यह था कि जो कुछ विधि शास्त्रानुकूल हैं उनको अनुकूल तर्क से पुष्ट किया जावे, न कि नई बात चलावें स्वामी जी के चेले कोट पतलून पहर कर तो सन्ध्या कर लेंगे परन्तु आप के चेले तो वेद शास्त्र सन्ध्या आदि सभी से छुट्टी पा गये और पाते जाते हैं। यदि स्वामी जी महाराज का पुरुषार्थ न होता तो अंग्रेज़ी शिक्षा के फैलते ही सब कर्म धर्म दूर हुवा था। धन्य है स्वामी जी को जो कोट पतलून वालों को गिरजों से बचाकर सन्ध्या सिखाते हैं। परिक्रमा मन से परमात्मा की हो सक्ती है। परिक्रमा का यह अर्थ नहीं जो आप ठाकुर जी की परिक्रमा समझते हैं कि बीच में ठाकुर जी को करके उनके चारों ओर घूमना। किन्तु परि=सब ओर, क्रम=घूमना अर्थात् सब ओर मन जावे और जहां जावे वहां परमात्मा को ही पावे, पूर्व पश्चिम दक्षिण उत्तर ऊपर नीचे सर्वत्र परमात्मा को ही पावे। यह परिक्रमा है। (अपां समीपे० जलाशयों के किनारे हरित वृक्ष पत्र पुष्पादि से रम्यस्थान में सन्ध्या करे और आप कोठी बंगलों पर क्यों चिढ़े हैं। यदि कोठी बंगलों में सुन्दर फव्वारे लगे हों, एकान्त हो, पुष्पादि के गमलों से सुसज्जित हो तो क्या हानि है। इस प्रसङ्ग में शास्त्रीय प्रमाणों से काम न लेकर आपने ठठोलबाज़ी बहुत की है, अतः हम को अधिक लिखने की आवश्यता नहीं॥

द० ति० भा० पृ० ३० पं० २२ से लिखा है कि स्वामी जी ने जो दो ही काल में सन्ध्या अग्निहोत्र करना लिखा है सो क्या अधिक करने में कोई पाप है? परमेश्वर का नाम जितना अधिक लिया जाय श्रेयस्कर है इसलिये स्वामी जी का दो ही काल में सन्ध्या अग्निहोत्र का विधान ठीक नहीं॥

प्रत्युत्तर-जब आप को त्रिकाल सन्ध्या का कोई प्रमाण न मिला तो धन्य! यही लिख दिया कि परमेश्वर का नाम श्रेयस्कर है। हम भी तो कहते हैं कि परमेश्वर का जितना अधिक स्मरण करो अच्छा है परन्तु प्रसङ्ग तो यह है कि जिस सन्ध्योपासन के बिना किये द्विज पतित हो जाता है उस का विधान तो स्वामी जी के लेखानुसार ही शास्त्र से केवल दो काल में सिद्ध है। यूं तो " अधिकस्याधिकं फलम् " के अनुसार त्रिकाल सन्ध्या की

अपेक्षा भी समस्त दिन उसकी उपासना करो तो क्या पाप है ? तब आप की त्रिकाल सन्ध्या जो वेद और धर्म शास्त्र की मर्यादा से भिन्न भाव में प्रचरित है उस को निर्मूलता स्वामी जी ने लिखी सो ठीक ही है ॥

द० ति० भा० पृ० ३० पं० २६ से लिखा है कि सत्या० पृ० ४२ पं० १५ स्वाहा शब्द का यह अर्थ है कि जैसा ज्ञान आत्मा में वैसा ही बोले। समीक्षा—यह स्वाहा शब्द का अर्थ कौन से निरुक्त से निकाला भला ऊपर जो आप ने लिखा है कि "प्राणाय स्वाहा" तो इसका यह अर्थ हुवा कि प्राण अर्थात् परमेश्वर के अर्थ जैसा ज्ञान आत्मा में होवे वैसा बोले। भला यह क्या बात हुई इससे हवन की कौन सी कला सिद्ध होती है। सुनिये स्वाहा अव्यय है जिस के अर्थ हविस्त्यागन करने के हैं जो देवता के उद्देश से अग्नि में हवि दिया जाता है उस में स्वाहा शब्द का प्रयोग होता है जैसे "प्राणाय स्वाहा" प्राणों के अर्थ हवि दिया वा प्राणों के अर्थ श्रेष्ठ होम हो ॥

प्रत्युत्तर—स्वाहा शब्द के उक्त स्वामी जी कृत अर्थ में प्रमाण सुनिये जो उन्हीं ने "पञ्चमहायज्ञविधि" में लिखा भी है:—

स्वाहा कृतयः स्वाहेत्येतत्सुआहेति वा स्वावागाहेतिवा स्वं प्राहेतिवा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा तिसामेषा भवति ॥

निरु० दैवत कां० अ० ८ खं० २० ॥

इस में से "स्वा वागाहेति" का अर्थ भी "पञ्चमहाय०" में लिख दिया है कि "यास्वकीया वाग्ज्ञानमध्ये वर्त्तते सा यदाह तदेव वागिन्द्रियेण सर्वदा वाच्यम्"। अर्थात् जैसा ज्ञान मन में हो वैसा कहे किन्तु बाहर भीतर में भेद करके कपट व्यवहार न करे। यह तो प्रमाण हुवा। अब यह भी सुनिये कि प्राण नाम परमेश्वर का है तो "प्राणायस्वाहा" का क्या अर्थ हुवा। इस का यह अर्थ हुवा कि परमेश्वर के लिये अर्थात् उस की प्रसन्नता के लिये सत्यही बोलना कपट न करना औरआपने जो आहुति देना अर्थ लिखा है वह भी ठीक है और वह स्वामी जी ने भी "पञ्चमहायज्ञविधि" में निरुक्त के "स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा" इस वाक्य का प्रमाण देकर लिखा है परन्तु यहां सत्यार्थप्रकाश में यह समझ कर कि पञ्चयज्ञ का विधिपूर्वक लेख तो पञ्चमहायज्ञविधि में है ही वहां सब लोग पढ़ कर जानलेंगे कि इसलिये संक्षेप से सन्ध्योपासनादि की शिक्षा के प्रसङ्ग में थोड़ा सा लिख दिया। संक्षेप के

के कारण जैसा " पञ्चमहा०" में स्वाहा शब्द के कई अर्थ निरुक्त के प्रमाण से लिखे हैं वे विस्तारभय से यहां नहीं लिखे । और " स्वाहा अव्यय है " यह जो आप ने लिखा तो क्या स्वामी जी ने इस के अव्ययत्व का निषेध किया है ? यदि नहीं किया तो व्यर्थ आप क्यों पुस्तक बढ़ाते हैं ?

द० ति० भा० पृ० ३१ पं० ८ से अग्निहोत्रविषयक सत्यार्थप्र० के लेख पर इतने आक्षेप हैं:—

१—यज्ञपात्रों की आकृति वेद विरुद्ध है ॥

प्रत्युत्तर—आप कृपा करके वेदोक्त आकृति लिखते तो जाना जाता कि स्वामी जीने वेदविरुद्ध लिखा । परन्तु आप के प्रमाणशून्य कथनमात्र से कोई नहीं मान सक्ता ॥

२—यदि अग्निहोत्र का फल जल वायु की शुद्धि है तो थोड़ीसी आहुतियों से क्या होगा किसी आढ़तिये की दूकान में आग लगादेनी चाहिये जल वायु की शुद्धि तो प्राकृत नियम से ही होती है वन में अनेक सुगन्ध पुष्प वायु से प्रसरण को स्वयं ही प्राप्त होते हैं । वायुशुद्धि गन्धक से हो सक्ती है । जलशुद्धि निर्मली के बीज से होसक्ती है ॥

प्रत्युत्तर— हम भी आप से कह सक्ते हैं कि यदि अन्न से क्षुधानिवृत्ति होती है तो क्या किसी हलवाई की दूकान लूट खाइयेगा वा अनाजमण्डी का चर्वण करलेना उचित होगा ? जैसे आप किसी की घृत की दुकान में आग लगाने से कहते हैं । प्राकृत नियम से जैसे दुर्गन्धयुक्त पदार्थों के बदले सुगन्ध का प्रसार परमात्मा करते हैं वैसे ही मनुष्यों के उत्पन्न किये गये दुर्गंध फैलाना रूप पाप की निवृत्तिके लिये वा अग्नि वायु जल आदिभौतिकदेवऋण की निवृत्ति करने अर्थात् जलादि अशुद्धको शुद्ध करने के लिये परमात्मा ने वेद में हम को हवन का फल बताया है । यथा—

वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोसि० ।

इत्यादि । यजुः अ० १ मं० २

" यज्ञो वै वसुः " शतपथ १ । ५ । ४ । ९ । वसु जो यज्ञ है वह पवित्र है । दिव्यगुणयुक्त है । विस्तार युक्त है, वायुशोधक है । मूल मन्त्र में मातरिश्व शब्द वायु के लिये है । " मातरिश्वा के वायुः " निरु० ७ । २६ ॥ इत्यादि शतशः प्रमाण वेदों में यज्ञफल सूचक हैं जिन्हें विस्तारभय से यहां कहां तक उद्धृत करें । गन्धक में सुगन्ध है वा दुर्गन्ध जो यह भी नहीं जानता उस से

गन्ध न की गन्ध आपही को भावेगी । निर्मली से जल की रुद्दी ही केवल नीचे बैठ सक्ती है, अन्य रोगकारक वस्तु नहीं । परन्तु वायु और मेघों तक की शुद्धि करके यज्ञ संसार भर का उपकार करता है! यदि प्रत्येक मनुष्य पूर्वकालिक ऋषियों के समान गौ आदि पालें और नित्य हवन यज्ञ करें तो थोड़ी आहुति न रहें किन्तु भारत के २० करोड़ आर्यवंशियों की १० । १० आहुति मिलकर २ अरब प्रतिदिन की आहुतियों से समस्त देश में आनन्द मङ्गल हो जावे । परन्तु वेद में तो देवनों (जल वायु आदिकों का दूत " अग्नि " लिखा है, जैसा कि हम नीचे लिखेंगे और आप स्वयं देवदूत बनकर सूर्य चन्द्रादि भौतिकदेवों के नाम की सामग्री पुजवाकर अपने घर लेजाने की ही परिपाटी स्थिर रखना चाहते हैं तब भला यह लोकोपकार कैसे हो ॥

३-यदि मन्त्रपाठ का कारण यह है कि मन्त्रों में हवन के फल का वर्णन है तो " गायत्री और विश्वानिदेव०" इन मन्त्रों से आपने क्यों आहुति लिखी इन मन्त्रों के अर्थ तो अग्निहोत्र के फल को नहीं बताते ॥

प्रत्युत्तर—मुख्यमन्त्रों में जैसे अग्नयेस्वाहा । सोमायस्वाहा । वायवेस्वाहा । वरुणायस्वाहा । प्राणायस्वाहा । इत्यादि में वायु जल प्राण आदि के अर्थ तो हैं ही परन्तु हवन की सामग्री विशेष हो तो गायत्री आदि मन्त्रों से परमात्मा की स्तुतिप्रार्थनोपासना करता जावे और शेष सामग्री को अग्नि में चढ़ादेवे यह तात्पर्य स्वामी जी का है । किसी मुख्य यज्ञ की कोई आहुति विशेष तो गायत्री से स्वामी जी ने नहीं लिखी । जो अग्निहोत्र के विशेष मन्त्र " समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आस्मिन्हव्या जुहोतन " इत्यादि हैं उन में तो अग्नि में समिधाहोम घृतहोमादि का अर्थ स्पष्ट है ही । दुर्गापाठ के तुल्य-

" गर्ज २ क्षणं मूढ मधु यावत्पिबाम्यहम् " मदिरा की आहुति वेद में नहीं लिखी ॥

४-गायत्री से प्रथम चुटिया बन्धवाई फिर रक्षा की फिर जप किया अब घी फूंका । आगे २ इंजिन लगाकर रेल चलावेंगे इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर स्वामी जी ने यदि रक्षादि कर्य किये तो अनर्थ क्या किया परन्तु आप तो अपने बड़ों को मानते हैं कि उन्हों ने गायत्री के जप से ही इतना सामर्थ्य बढ़या था कि धोती निराधार आकाश में सुखाते, जल से अग्नि जल ते, किसी का प्राण चाहते तो ले लेते इत्यादि । और इस में संदेह

नहीं कि हम आप के समान गायत्री को सामर्थ्यहीन नहीं समझते, जैसा आप का भाई धर्म से विधर्म होजावे तौ आप की गायत्री गङ्गा यमुना आदि कुछ नहीं कर सक्तीं। यहां यह बात नहीं, किन्तु आप के मुरादाबाद में और अन्यत्र शतशः पतित भाईयों का उद्धार इस सामर्थ्यवान् गायत्रीमन्त्र से हम ने किया और देखिये आगे २ क्या करेंगे, घबराते क्यों हो। गायत्री मन्त्र की विचित्र शक्ति को देखना क्या २ काम देती है। कदाचित आप भी तौ भूत प्रेत गायत्री से दूर किया करते हैं और यजमानों से दक्षिणा लिया करते हैं। फिर बिना दक्षिणा मांगे स्वामी जी ने गायत्री से रक्षा और होमादि का विधान किया तौ बुरा क्या किया ॥

५-जलवायु की शुद्धि प्रयोजन है तौ प्रातःसायं का नियम क्यों? स्नानादि की आवश्यकता क्या है? पात्रों की क्या आवश्यकता है? चूल्हे वा भट्टी में झोंक दें। और मन्त्रपाठ बिना हवन करो तब भी कण्ठस्थ रह सक्ता है ॥

प्रत्युत्तर-प्रातःसायं ही सब कामों के प्रथम और सब के पश्चात् प्रधान कार्य करने चाहियें। तथा वेद ने भी "सायं सायं गृहपतिर्नो॰प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो॰" (अथर्ववेद कां॰ १९ अनु॰ ७ मं॰ ३। ४ ॥) प्रातःसायं ही इस का विधान किया है। समय भी यही ऐसा है जिस में प्रायः चित्त स्थिर शान्त और अन्यकार्यों से निश्चिन्त होता है इत्यादि अनेक कारण हैं जिन से प्रातः सायं समय ही उत्तम है। शुद्धिकारक कर्म करते हुये क्या देह को शुद्ध करना आवश्यक नहीं जो स्नान को व्यर्थ बताते हो! पात्रों के विना वह कार्य सिद्ध नहीं होता जैसा उस कार्य के लिये बनाये हुए विशेष पात्रों से और यूं तौ कड़ाही का काम तवे और थाली का काम संबिये आदि से अभाव में लिया ही जाता है और अभाव में हवन भी स्थण्डिल पर करते ही हैं, परन्तु जिस २ कार्य के लिये जो २ पात्र बनायेगये हों वह २ कार्य उन २ पात्रों से जैसा उत्तम होता है वैसा अन्यथा कदापि नहीं हो सकता इस कारण पात्रविशेष का लिखना सार्थक है ॥

६-यजुर्वेद के अ॰ ५ मं॰ ३७ अ॰ ११ मं॰ ३५। ३७ और उन का अर्थ लिखकर कहते हैं कि ये मन्त्र परलोक स्वर्गप्राप्त्यर्थ अग्नि की स्तुति विधान करते हैं। अग्नि देवदूत है। अग्नि हमाराधन सम्पादन करो। संग्रामों को विदीर्ण करो। अन्न हमें देओ। शत्रु को जीतो। देवतों को हवि पहुंचाओ। यजमान का कल्याण करो। अपने लोक में ठहरो। पुष्करपर्ण पर भले प्रकार बैठो इत्यादि अग्नि की स्तुति लिखी है ॥

प्रत्युत्तर-हम आप के किये अर्थों को मानलें तब भी कोई हमारे पक्ष की हानि नहीं क्योंकि जल वायु की शुद्धि से शौर्य धैर्य आरोग्य बल पुष्टि आदि बढ़ते हैं जिस से धन, जय, अन्न, कल्याण की प्राप्ति होती है। इस से वह बात खण्डित नहीं होती जो हम ने ऊपर यजुः अ० १ मं० २ से वायु की शुद्धि यज्ञद्वारा सिद्ध की है। और अग्नि को देवदूत अर्थात् वायु आदि देवतों का उन के लिये दिया हुवा भाग पहुंचाने और उस से उन को प्रसन्न अर्थात् स्वच्छ शुद्ध अनुकूल करने वाला तो हम भी मानते हैं, स्वामीजी ने भी माना है। परन्तु आप तो अग्नि के स्थान में अग्निमुख ब्राह्मणों (नाममात्र) के ही द्वारा सब देवतों की पूजा सामग्री के चट्ट कराने की रीति ही अच्छी समझते हैं। अग्नि के द्वारा (जो देवदूत है) देवभाग उन को प्राप्त कराना तो आप " आग में झोकना फूंकना" आदि कठोर शब्दों से व्यवहार करते हुवे अच्छा ही नहीं समझते। और द० ति० भा० पृ० ३२। पं० २५ और पृ० ३३ पं० ३ में जो मनु के अ० ३ श्लोक ७६ । ७४ । ७१ से यह लिखा है कि " विद्या पढ़ने पढ़ाने, व्रत, हवन, ३ वेद पढ़ने और यज्ञादि के करने से ब्रह्म प्राप्ति के योग्य होता है। अग्नि में डाली आहुति सूर्य को प्राप्त होती, उस से वृष्टि, वृष्टि से अन्न, अन्न से प्रजा को उत्पन्न करती है। ७६। आहुतजप, हुत हवन, प्रहुत, भूतबलि, ब्राह्महुत श्रेष्ठब्राह्मण की पूजा, प्राशितश्राद्ध। ७४। अग्निहोत्र में युक्त होय तो जगत् को धारण करता है" इत्यादि का उत्तर यह है कि वेदादि के पढ़ने से आभ्यन्तर और हवनयज्ञ से बाह्य जलादि की शुद्धि होकर अन्तःकरण की शुद्धिपूर्वक मनुष्य, परब्रह्म की प्राप्ति के योग्य होता है, इस में विवाद ही किसे है। परन्तु आप स्वामी जी के विरुद्ध वायु आदि की शुद्धि की हेतुता न हो, ऐसा कोई फल यज्ञ का बतावें। किन्तु आप तो आहुति से वर्षा और अन्नादि द्वारा प्रजा का धारण पोषण मनु के प्रमाण से लिखते हैं, जिसे स्वामी जी और हम लोग निर्विवाद मानते हैं और वह वायु की शुद्धि वृद्धि होकर अन्नादि शुद्ध पदार्थ खाने योग्य उत्पन्न होवें तभी संसार का धारण पोषण हो सकता है, सो ठीक है। हमें आप के समान पक्षपात नहीं कि ठीक बात आप लिखें और स्वामी जी के लेख की पुष्टि करें, तब भी हम न मानें। श्लोक ७४ में अहुत, प्रहुत, हुत, प्राशित, ब्राह्महुत ये पञ्चमहायज्ञों के नामान्तर हैं, इस से हमारा कोई विरोध नहीं, आप की विशेष इष्टसिद्धि नहीं, व्यर्थ पुस्तक बढ़ाई गई है। और पृ० ३३ पं०

१४ में मनु के श्लोक से जो संध्या और हवन से पापनिवृत्ति लिखी है, सो ठीक है, संध्या के द्वारा आभ्यन्तर राग द्वेषादि और हवन से वायुविकारादि बाह्य दोष निवृत्त होते हैं, इस में स्वामी जी के लेख का खण्डन नहीं आपने क्या किया। देव यज्ञ का विशेष मण्डन देखना हो तो मेरा व्याख्यान "वैदिकदेवपूजा" देखिये॥

अथ स्त्रीशूद्राध्ययनप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० ३३ पं० २१ से पृ० ३४ पं० २५ तक सत्यार्थप्रकाश पृ० ४३। ३१। ७५। ७४ के लेख उद्धृत करके शङ्का की है कि स्वामी दयानन्दसरस्वती जी मन्त्रभाग छोड़ शूद्र को पढ़ना सुश्रुत से प्रमाणित करके फिर "यथेमां" आदि मन्त्र से शूद्र को पढ़ने का अधिकार लिखते हैं। और "तुम कुवे में पड़ो" इस को दुर्वचन बता कर उलाहना दिया है॥

प्रत्युत्तर—अधिकार शब्द के दो अर्थ हैं, १—'योग्यता' २ 'स्वत्व'। स्वामी जी ने वा अन्य किसी ऋषि ने जहां २ शूद्र को मन्त्रसंहिता छोड़ कर अन्य सब कुछ पढ़ना लिखा है उस का तात्पर्य योग्यतापरक है अर्थात् शूद्र मन्त्र-संहिता पढ़ने के अयोग्य है वा उन के पढ़ने की योग्यता से रहित है। जैसे स्कूल में सब विद्यार्थी ऊँची क्लास में पढ़ने को योग्य नहीं होते किन्तु कोई कोई होते हैं। जो नहीं होते उन्हें कहा जा सक्ता है कि वे ऊँची कक्षा (क्लास) के योग्य नहीं वा उन्हें उस कक्षा में पढ़ने का अधिकार नहीं है॥

'स्वत्व' अपनापन को कहते हैं। और जहां २ वेदमन्त्रों, ऋषिवाक्यों और सत्यार्थप्र० में वेद पढ़ने का शूद्र को अधिकार है यह लिखा है उस का तात्पर्य स्वत्व (इसतहक़ाक़) परक है। अर्थात् जैसे ईश्वररचित अन्य पदार्थों से उपकार ग्रहण करने का योग्यतानुसार सब को स्वत्व (अधिकार वा इस-तहक़ाक़) है उसी प्रकार वेद जो ईश्वर का दिया ज्ञान है उस पर भी सब का स्वत्व (हक़) है। तदनुसार शूद्र का भी अधिकार (हक़) है॥

योग्यता और स्वत्व में भेद है। योग्यता न होने से अयोग्य पुरुष उस पद पर बैठाया भी जावे तो भी अशक्त होवे। और स्वत्व न होना वह कहाता है कि चाहे योग्य भी हो तब भी स्वत्व न होने से उस पद पर नहीं बैठाया जा सके। जैसे देवदत्त के धन का स्वत्व (हक़) उस का पुत्र ही रखता है। अन्य किसी का पुत्र चाहे इस योग्य है कि वह उस धन को लेकर वर्त्त सके परन्तु अधिकारी (हक़दार) नहीं है बस इसी प्रकार शूद्र अपनी अयो-

ग्यता के कारण अनधिकारी है, परन्तु स्वत्व के कारण अधिकारी (मुस्तहक़) है। क्योंकि एक ही पिता परमात्मा की वेदविद्या होने से उस के पुत्र ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि सब ही अधिकारी (मुस्तहक़) हैं। जैसे किसी पिता के चार पुत्र में से योग्यता के तारतम्य (कमी बेशी) से कोई अधिकारी हो और कोई न हो परन्तु स्वत्व सब को है अर्थात् जब ही उन में से कोई अयोग्य अपनी अयोग्यता दूर कर ले तब ही अधिकारी हो जायगा। परन्तु दूसरे पुरुष का पुत्र पूर्वोक्त अन्य पिता के धनादि का अधिकारी योग्यता होने पर भी नहीं हो सक्ता। इसी प्रकार परमात्मा के चारों पुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हैं। उन में से जो अयोग्य है वह कोष का फल नहीं पाता परन्तु अयोग्यता दूर करके योग्य होने पर सब को उस पर अधिकार (इसतहक़ाक़) अवश्य प्राप्त है। जैसे अन्य किसी का पुत्र अन्य किसी के धनादि का अधिकारी योग्यता होने पर भी नहीं हो सक्ता। वैसे परमात्मा की वेदसंपत्ति का अधिकारी योग्य होने पर भी कोई शूद्रादि कुलोत्पन्न होने मात्र से) न हो यह नहीं होना चाहिये, न हो सक्ता है॥

दयानन्दतिमिरभास्कर पृष्ठ २५ पंक्ति ३॥

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च। शारीरक सूत्र ३६

अध्याय १ पा० ३

विद्या पढ़ने के लिये उपनयनादि संस्कार सुनने से शूद्र वेदविद्या पढ़ने का अधिकारी नहीं इत्यादि॥

प्रत्युत्तर–हम पूर्व लिख चुके हैं कि अनधिकार का जहां जहां वर्णन है वह योग्यता के अभाव से है॥

द० ति० भा० पृ० ३५ पं० ७ मनु के अ० २ श्लोक १७१। १७२ से लिखा है कि उपनयन संस्कार से पूर्व वेदपाठाधिकार नहीं॥

प्रत्युत्तर–अयोग्य दशा में शूद्र को अपनी अयोग्यता के कारण अधिकार नहीं। अयोग्यता से योग्यता को पहुंचने की सन्धि में यद्यपि शूद्र शब्द का प्रयोग पूर्वावस्था के अभ्यास से रहो परन्तु योग्यता प्राप्त होते ही वह अधिकारी हो जाता है जैसा कि आप के ही लिखे मनु के वक्ष्यमाण श्लोकों से सिद्ध है:–

न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम्॥ १०। १२६॥

धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः ।
मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥ १२७ ॥
यथायथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः ।
तथातथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥ १२८ ॥

अर्थ-न शूद्र में कुछ पातक है, न वह संस्कार योग्य है, न उस का धर्म में अधिकार है, न धर्म करने का उसे निषेध है ॥१२६॥ धर्म की इच्छा वाले तथा धर्म को जानने वाले शूद्र मन्त्र से रहित करके भी सत् पुरुषों के आचरण करते हुवे दोषों को नहीं प्राप्त होते किन्तु प्रशंसा को प्राप्त होते हैं ॥१२७॥ निन्दा को न करने वाला शूद्र, जैसा २ अच्छे पुरुषों के आचरणों को करता है वैसा २ इस लोक तथा परलोक में उत्कृष्टता को प्राप्त होता है १२८ यह श्लोक तथा अर्थ हमने द० ति० भा० का ही उद्धृत किया है हम कुछ देर के लिये इसी को ठीक मान लेते हैं और पाठकों से निवेदन करते हैं कि ये श्लोक और इन का अर्थ स्वामी जी के सत्यार्थप्रकाशस्थ सिद्धान्त को पुष्ट करता है वा पं० ज्वालाप्र० जी के सिद्धान्त को ? १२६ वें श्लोक में स्पष्ट कहा है कि शूद्र को न धर्म का अधिकार न धर्मका निषेध है। अर्थात् साधारणतया अयोग्यता के कारण जिन २ धर्मकार्यों को वह नहीं कर सकता उन्हीं का अधिकार नहीं परन्तु जिन२ धर्मकार्यों की योग्यता उस में होती जावे उन२ को करता जावे क्योंकि धर्मकार्य का निषेध भी नहीं है। १२७ और १२८वें श्लोकों में इसी को और भी स्पष्ट किया है कि धर्मज्ञ शूद्र, जैसे २ सदाचार (धर्म) को करता है वैसे २ इस लोक और परलोक में उत्कृष्टता को प्राप्त होता है। हम पं० ज्वालाप्र० जी से पूछते हैं कि परलोक की उत्कृष्टता तो आप कहेंगे कि स्वर्ग प्राप्त होता है देवयोनि प्राप्त होती है परन्तु इस लोक की उत्कृष्टता इस के अतिरिक्त क्या है कि शूद्र, शूद्र न रहे। तात्पर्य यह है कि यद्यपि शूद्र अयोग्यता के कारण धर्माधिकारी नहीं होता परन्तु जैसे २ योग्यता बढ़ाता जावे वैसे २ अधिकारी होता जावे और अपने से उत्कृष्ट (वर्ण) पद को प्राप्त होता जावे इसमें कोई धर्मशास्त्र का निषेध (रोक टोक) नहीं है॥

द० ति० भा० पृ० ३५ पं० २६ अब वेद मन्त्र का अर्थ सुनिये (यथेमां) इस से पूर्व यह मन्त्र है:-

अग्निश्च पृथिवी च सन्नते ते मे सन्नमतामदो वायु-श्चान्तरिक्षं च सन्नते ते मे सन्नमतामद आदित्यश्च द्यौश्च-सन्नते ते मे सन्नमतामद आपश्च वरुणश्च सन्नते ते मे सन्नमतामदः सप्तसंसदो अष्टमीभूतसाधनी सकामां २ ॥ अध्वनस्कुरु संज्ञानमस्तु मेऽमुना ॥

यजुः ६। १ अग्नि-पृथिवी, वायु-अन्तरिक्ष, आदित्य-द्यौः, आपः-वरुण ये ८ दो २ परस्पर सम्बन्ध हैं। मेरे काम को वश करो तथा हे परमात्मन्! पञ्चज्ञानेन्द्रिय ६ मन ७ बुद्धि ८ वाणी आप का आयतन हैं तात्पर्य यह है कि इसी आठवीं वाणी की अनुवृत्ति (पर्वतां०) मन्त्र में आती है इस लिये इस मन्त्र में उस वाणी का वर्णन है जो यज्ञ के अन्त में यजमान (दीयताम्=दीजिये। भुज्यताम्=खाइये) बोलता है। वेदवाणी का प्रकरण नहीं। यह द० ति० भा० का आशय है ॥

प्रत्युत्तर-आप इस मन्त्र में वाणी का प्रयोक्ता यजमान को बताते हैं परन्तु आपके माननीय महीधर अपने भाष्य में इस ऋचा को ब्राह्मीगायत्री लिखते हैं, जिस का तात्पर्य यह है कि इस ऋचा का ब्रह्म वा ब्रह्मा देवता और गायत्री छन्द है। तब बताइये कि आपका लेख महीधर के विरुद्ध कैसे माना जावे। नहीं २ आप का लेख तो अपना कुछ है ही नहीं किन्तु आप ने तो महीधर से ही लिया है, महीधर को भी यह न सूझा कि प्रथम मन्त्र के आरम्भ में तो इस द्वितीय मन्त्र को गायत्री ब्राह्मी लिखा फिर टीका करते समय एक अर्थ में स्मरण रक्खा द्वितीय में भूल गये। इससे पूर्व मन्त्र का अर्थ महीधर ने प्रथम इस प्रकार लिखा है:-

परमात्मानं प्रत्युच्यते। हे स्वामिन्! यस्य तव सप्तसंसदनानि अधिष्ठानानि अग्निवाय्वन्तरिक्षादित्यद्युलोकाम्बुवरुणा-ख्यानि तत्राष्टमी भूतसाधनी पृथ्वी भूतानि साधयति उत्पा-दयति भूतसाधनी भूमिं विना भूतोत्पत्तेरभावात्० इत्यादि ॥

अर्थ परमात्मा के प्रति कहा जाता है कि हे स्वामिन्! जिस आप के ७ अधिष्ठान १ अग्नि, २ वायु, ३ अन्तरिक्ष, ४ आदित्य, ५ द्युलोक, ६ जल,

७ वरुण हैं । उन में ८ वीं पृथ्वी है जो कि भूतसाधनी है क्योंकि भूमि के विना भूतोत्पत्ति असम्भव है इस कारण पृथ्वी को भूतसाधनी कहा ॥

आगे चलकर महीधर ने दूसरा अर्थ किया कि:-

विज्ञानात्मा वोच्यते । यस्य तत्र सप्त संसदः पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि मनोबुद्धिश्चेति सप्तायतनानि अष्टमी भूतसाधनी भूतानि साधयति वशीकरोति भूतसाधनी वाक्० इत्यादि ॥

अर्थ अथवा विज्ञानात्मा के प्रति कहा जाता है कि जिस आप के ७ आयतन हैं ५ ज्ञानेन्द्रियां ६ मन ७ बुद्धि । इन में आठवीं वाणी है जो भूतसाधनी अर्थात् भूतों को वश में करने वाली है ॥

अब विचार करना चाहिये कि मूल मन्त्र "अग्निश्च पृथिवी च" इत्यादि में अग्नि आदि ७ अधिष्ठानों के नाम और ८ वीं पृथिवी का नाम स्पष्ट आया है फिर खेंचतान करके जो ५ ज्ञानेन्द्रिय ६ मन ७ बुद्धि ८ वाणी यह अर्थ कैसे हो सक्ता है और महीधर ने ज्ञानेन्द्रियादि अर्थ किया तो उसे योग्य था कि अग्नि आदि ८ पदों से जो मन्त्र में आये हैं अपने अभीष्ट अर्थों को व्याकरण निरुक्त आदि किसी प्रमाण से सिद्ध करता और महीधर ने नहीं किया तो उस को मानने और उस के सहारे से अपना प्रयोजन सिद्ध करने वाले पं० ज्वालाप्र० जी को वह अर्थ किसी प्रकार सिद्ध करना था ऐसा न करके केवल अप्रामाणिक लेखमात्र से ७ ज्ञानेन्द्रियादि और ८ वीं वाणी अर्थ लेना सर्वथा असंगत है । हम कोई दूसरा अर्थ भी नहीं करते किन्तु महीधर ने जो प्रथम एक अर्थ मूलमन्त्र के अक्षरानुकूल किया है उसी के ऊपर पं० ज्वालाप्र० जी तथा पाठकों को ध्यान दिलाते हैं कि वहां वाणी का वर्णन नहीं, फिर उसी वाणी की अनुवृत्ति से जो (यथेमां वाचम्०) इस अगले मन्त्र में वेदवाणी का ग्रहण नहीं करते सो ठीक नहीं है और पूर्वमन्त्र में यदि मनघड़न्त अर्थ में से वाणी की अनुवृत्ति लाई भी जावे तो सामान्य करके विज्ञानात्मा की सामान्य वाणी का ग्रहण होगा परन्तु यजमान की दीयताम् भुज्यताम् आदि वाणी का अर्थ करना तो महीधरकल्पित द्वितीय अर्थ से भी असङ्गत है ॥

हमारे पक्ष में दोनों मन्त्रों की सङ्गति इस प्रकार हो जाती है कि पूर्व मन्त्र में अग्नि, वायु, पृथिवी आदि शारीरिक उपकार करने वाले ८ पदार्थों

का वर्णन करके अगले मन्त्र में कृपालु परमात्मा ने आत्मिक उपकारार्थ वेद का वर्णन करके आत्मा के उपकार का मार्ग बताया और कहा कि मैंने तुम को यह कल्याणी वाणी दी है, तुम ब्राह्मण, क्षत्रियादि सब लोगों को इस का उपदेश करो यह ज्ञान की दक्षिणा है इस दक्षिणा का दाता देवों का प्रिय होता है इत्यादि ॥

यहां तक हमने इन के और महीधर के द्वितीय अर्थ की असङ्गति तथा स्वामी जी कृत अर्थ की सङ्गति दिखाई अब जो तर्क इन्हों ने स्वामी जी के अर्थ पर किये हैं उन का प्रत्युत्तर देते हैं ॥

१-यदि वेद "वाणी" है तो उसके वक्ता का शरीर भी होगा और अग्नि वायु आदित्य अङ्गिरा के हृदय में वेद का प्रादुर्भाव मानना भी न बनेगा और शूद्र को वेद के पठन पाठन का अधिकार मानना अशुचि में शुचि बुद्धिरूप अविद्या है ॥

प्रत्युत्तर-वेद को वाणी शब्द से व्यवहार करना, भाविनी संज्ञा को लेकर है अर्थात् परमात्मा जानते हैं कि हमारे उपदेश किये मन्त्रों को ऋषि लोग वाणीद्वारा संसार में फैलायेंगे तब यह उपदेश वेदवाणी कहलायेगा । भाविनी संज्ञा इस को कहते हैं जैसे कोई पुरुष भींत चिनते समय आरम्भ की ईंट रखता हो और उस से कोई पूछे कि क्या करते हो तो वह भाविनी=आगे होने वाली संज्ञा का प्रयोग करके कहता है कि भींत चिनता हूं तो यद्यपि उस को "इष्टका चीयते" कहना था परन्तु "भित्तिश्चीयते" कहता है । इसी प्रकार तार पूरने वाला कहता है कि कपड़ा बुनता हूं क्योंकि तार पूरने से कपड़ा बन जायगा और ईंट चिनने से भींत बन जायगी । इसी प्रकार परमात्मा भी यह जानते हुये कहते हैं कि ऋषियों के हृदय में उपदेश करने से उन की वाणीद्वारा प्रचार होगा, इस लिये शरीर की शङ्का करना व्यर्थ है । सपर्यगाच्छुक्रमकायम्० यजुः ४०। ८ इत्यादि अनेकशः प्रमाण इस विषय के हैं कि परमात्मा अकाय=शरीर रहित है । शूद्र को अध्ययन करना अशुचि को शुचि मानना नहीं किन्तु अज्ञानी अशुचि जीव को पवित्र वेदोपदेश के द्वारा शुचि करना है ॥

२-स्वामी जी ब्राह्मणादि वर्णों को गुणकर्मस्वभावानुसार मानते हैं तो इस मन्त्र में आये हुये ब्राह्मणादि पद जातिपरक हैं वा गुणकर्मस्वभाव परक ? यदि जातिपरक हैं तो तुम्हारी सिद्धान्तहानि है और गुणकर्मस्व-

भावपरक हैं तो उपदेश करना व्यर्थ है ?

प्रत्युत्तर-इस मन्त्र में आये ब्राह्मणादि पद गुणकर्मस्वभावानुकूल वर्णों के सन्तानपरक हैं और पिछली तथा होने वाली संज्ञापरक हैं और हम भी तो आप से पूछेंगे कि ब्राह्मणादि पद केवल जन्मपरक हैं वा गुणकर्मस्वभा॰वानुगत जन्मपरक हैं। यदि केवल जन्मपरक हैं तो ईसाई मुसल्मानादि मतों में गये हुए जन्म के ब्राह्मणों को भी ब्राह्मणत्व प्राप्त है। यदि गुणकर्म-स्वभाव और जन्म सब मिलाकर ब्राह्मणादि पद का वाच्य कोई पुरुष होता है तो आप के मत में भी वही शङ्का रहेगी कि उपनयनादि संस्कारों के समय वेदोपदेश के पूर्व विना गुणकर्मस्वभाव के आप भी ब्राह्मणादि पदों का व्यवहार कैसे करेंगे ? केवल भाविनी संज्ञा वा माता पिता की संज्ञा से। इसलिये जो उत्तर आपका होगा वही यहां हमारा भी जानिये ॥

३-यह यजुर्वेद के २६ वें अध्याय का मन्त्र है इस से पूर्व भी वेद है और आगे भी। इस प्रकार का उपदेश आदि वा अन्त में चाहिये था मध्य में नहीं। क्यों " इमाम् " =इस वाणी को-ऐसा निर्देश समीपस्थ में होता है दूरस्थ में नहीं ॥

प्रत्युत्तर-"इमाम्" का अर्थ यह है कि "इमामुक्तां वक्ष्यमाणां च" अर्थात् यह वाणी जो पूर्व कही और और आगे कहेंगे। इस मन्त्र से पूर्व और पश्चात् जो वेद और उस के मन्त्र हैं वे समीपस्थ तो हैं ही आप दूरस्थ कैसे समझाते हैं। जब कि इस दूसरे मन्त्र से प्रथम का मन्त्र पूर्व समीप है और तीसरा मन्त्र आगामी समीप है तो दूर कहां हुवा ? यदि कहो कि अन्य मन्त्र तो दूर रहे तो ४ वेदों के आदि वा अन्त में कहने पर भी समस्त वेद समीप न रहता किन्तु सन्निहित मन्त्र और उस के पद और प्रथमाक्षर वा अन्तिमाक्षर के बीच में आते ही अन्य सब वेद दूर हो जाता। धन्य आपकी दूर समीप का अर्थ समझने वाली बुद्धि को ! जब आप मार्ग में चलते हुवे कहते हैं कि अमुक नगर यहां से समीप है तो उस नगर के दूरस्थ गृह को छोड़ अन्य घर दूर रहेंगे और उस एक गृह का नाम नगर नहीं हो सकता तो भला बुद्धि से शोचें तो सही कि नगर के समीपत्व की विवक्षा थी वा नगर के एक देश गृह था उस की सब से वरली भींत वा सब से समीप भींत के पलास्टर की ? । इस प्रकार २६ वें अध्याय के दूसरे मन्त्र से पूर्व और पश्चात् आये और आने वाले समस्त वेद की विवक्षा है वा समीप कहने से केवल वेद के

आदिस्थ वा अन्तस्थ अक्षरमात्र की ? धन्य !

४-अरण शब्द से स्वामी जी ने अतिशूद्र लिया है उस को तो वेदोपदेश सर्वथा निष्फल है । जैसे ऊषर में बीज बोना ॥

प्रत्युत्तर-ऊषर में बीज बोया हुआ उपजना असम्भव है परन्तु अतिशूद्र का उपदेश करने से कुछ ना कुछ समझना सम्भव है इसलिये ऊषरभूमि का दृष्टान्त असङ्गत है ॥

द० ति० भा० ३१ सं० १९:-

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम । गोपाय मा शेवधिष्टे०

इत्यादि निरुक्त लिख कर शङ्का की है कि इस से नीच कुटिल शूद्रों को कदापि विद्या नहीं देनी । स्वामी जी इस निरुक्तस्थ ऋग्वेदमन्त्र को गड़ाप कर गये इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-प्रथम तो इस निरुक्त में विद्या का लेख है वेद का लेख नहीं और यदि विद्या शब्द से वेद का ही ग्रहण करो तो शूद्र का नाम तक यहां नहीं आया फिर शूद्र को वेदानधिकार कैसे सिद्ध होगया, कुछ भी नहीं । निरुक्त अ० २ खं० ४ का पाठ और अर्थ यह है:-

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेहमस्मि ।
असूयकायाऽनृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

(विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम) विद्या विद्वान् के पास आई [और बोली कि] (गोपाय मा) मेरी रक्षा कर (अहं ते शेवधिरस्मि) तेरा निधि मैं (ख़ज़ाना) हूं (असूयकाय) चुग़लख़ोर (अनृजवे) कुटिल और (अयताय) जो यती नहीं उस को (न मा ब्रूयाः) मेरा उपदेश मत कर (वीर्यवती तथा स्याम्) इस से मैं वीर्यवती होऊं । एक तो पं० ज्वालाप्र० जी ने इस को पा० २ पते से लिखा है। निरुक्त में अध्याय और खण्ड हैं, पाद नहीं हैं । यदि पाद शब्द खण्ड की जगह भूल से लिखा गया तो दूसरे खण्ड में भी यह पाठ नहीं किन्तु चतुर्थ खण्ड में है। दूसरी बात यह है कि आपने "शेवधि" का अर्थ " सुखनिधान " किया है परतु निरुक्त में स्पष्ट लिखा है कि " निधिः शेवधिरिति " शेवधि का अर्थ निधि=ख़ज़ाना है । तीसरी बात यह है कि यहां कुटिल, अजितेन्द्रिय, चुग़लख़ोर को विद्यादान का निषेध है परन्तु शूद्रका कुटिलत्वादि दोषयुक्त होना आवश्यक नहीं न यहां शूद्र पद आया है । यदि किसी ब्राह्मण के सन्तान

में भी कुटिलत्वादि दुर्गुण हों तो उस दुष्ट को शिष्य न करे यह तात्पर्य है ॥ तात्पर्य ही नहीं किन्तु अगले निरुक्त में स्पष्ट विप्र शब्द आया है। यथाः-

अध्यापिता ये गुरूनाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव तेन गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्॥ नि० २।४

जो पढ़ाये हुवे विप्र, मन वचन कर्म से गुरु का आदर नहीं करते जैसे वे गुरु के भोजनीय नहीं वैसे उन का पढ़ा हुवा सफल नहीं। इस से स्पष्ट है कि कुटिल शिष्यों की निन्दा का प्रकरण है वर्ण वा जाति निन्दा का प्रकरण ही नहीं पूर्व पृ० ४६ में मनु के श्लोक में सदाचारी कौटिल्यरहित शूद्र को उच्चपदप्राप्ति लिख चुके हैं, कुटिल को नहीं। यहां तक शूद्रानधिकारखण्डन हुवा अब स्त्री के अनधिकार का खण्डन सुनिये:-

द० ति० भा० पृ० ३७ पं० ३१ में "ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्" का अन्वय उलट कर लगाया है कि "ब्रह्मचर्येण युवानं पतिं कन्या विन्दते" ब्रह्मचर्य से जवान हुये पति को कन्या प्राप्त होवे। तात्पर्य यह है कि पति का ब्रह्मचर्य हो, कन्या का नहीं॥

प्रत्युत्तर-आप ही के किये अन्वय से भी दो बातें तो सिद्ध हो गईं १-विवाह में पति की युवावस्था होना। सम्प्रति प्रचलित ८। १० वर्ष के बालकों का विवाह आप के लेख से भी विरुद्ध है। २-यहां सामान्य उपदेश है कि कन्यामात्र युवा ब्रह्मचर्ययुक्त पति से विवाह करें तो यहां ब्राह्मणी आदि द्विज कन्या का वर्णन नहीं किन्तु सभी कन्याओं का है तो शूद्र कन्या भी ब्रह्मचर्य से युवा होते हुवे पति से विवाह करे और शूद्रा कन्या का शूद्रपति से विवाह होगा तो इस विधि से ब्रह्मचर्ययुक्त सामान्य करके सब ही कन्याओं के पति होने चाहियें और जब तक वेदादि शास्त्र से कोई प्रमाण स्त्री के अनधिकार का न दिखलाओ तब तक अन्वय में ऐसी खैंच तान भी ठीक नहीं। आपने स्त्री के अनधिकार में नाम मात्र को उलटे सीधे अर्थ करके भी कोई वेदमन्त्र नहीं लिखा। लिखते कहां से है ही नहीं॥

द० ति० भा० पृ० ३७ पं० ३२ से पृ० ३८ पं० ६ तक "इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्" की सङ्गति की है कि इस मन्त्र के विवाह में बोलने का विधान है पढ़ने का नहीं॥

प्रत्युत्तर-आप को यह भी ख़बर है कि पत्नी शब्द का अर्थ क्या है? "पत्युर्नो यज्ञसंयोगे"। अष्टाध्यायी ४। १। ३३ से पत्नी शब्द यज्ञसंयोग में सिद्ध है अर्थात् यज्ञ में यजमान की स्त्री पत्नी कहाती है। कन्या के विवाह में

उस विवाहरूप यज्ञ का यजमान कौन होता है ? कन्या का पिता आदि । फिर उस की स्त्री कौन हुई ? कन्या की माता आदि । तौ भला अन्धाधुन्ध कैसे चलेगी कि "इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्" का तात्पर्य विवाहपरक है और आप की विवाहपद्धति में कहीं लिखा है ? कि "इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्" कहीं नहीं । विवाहपद्धतियों में कन्या वा वधू शब्द का व्यवहार है पत्नी शब्द का नहीं क्योंकि विवाह संस्कार में जिस कन्या का विवाह है वह यजमान की पत्नी नहीं किन्तु यजमान की कन्या है । यह अन्धेर कैसे चल सक्ता है ॥

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौवासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥ मनुः ॥

इस का अर्थ यह नहीं है कि स्त्रियों का विवाह ही उपनयन है किन्तु (स्त्रीणां वैवाहिको विधिः, पतिसेवा, गुरौवासः, गृहार्थः, अग्निपरिक्रिया, वैदिकः संस्कारः स्मृतः) स्त्रियों को इतनी बातें वैदिक हैं । वैवाहिकविधिः, पतिसेवा, गुरुकुलवास, गृहस्थाश्रम और अग्निहोत्र करना ॥ तौ भला अब अग्निहोत्रादि यज्ञ, यज्ञ में यजमानपत्नी होकर मन्त्रपाठ, गुरुकुलवास, ये सब बातें स्त्रियों को वेदाध्ययन का अधिकार सूचित करती हैं वा अनधिकार ?

उत्तर अधिकार ॥

द० ति० भा० पृ० ३८ पं० ८ में,

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ मनुः ॥

जो ब्राह्मण वेद न पढ़े और अन्यत्र परिश्रम करे वह वंशसहित जीते हुए ही शूद्रत्व को प्राप्त होता है । जो ब्राह्मण वेद न पढ़े वह शूद्रतुल्य हो जावे परन्तु शूद्र भी वेद पढ़े तौ न पढ़ने वाले ब्राह्मण को शूद्रतुल्य कहना व्यर्थ हो जावे । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-इस से शूद्र को अनधिकार तौ सूचित नहीं होता किन्तु वेद न पढ़ने वाले ब्राह्मण को जीते ही अर्थात् इसी जन्म में शूद्रत्व लिखा जिस से यह सिद्ध हो गया कि जो ब्राह्मण वेद हीन हो जाता है तौ इसी जन्म में शूद्र हो जाता है अर्थात् वर्ण बदल जाता है । शूद्र को अधिकार रहने से जब शूद्र वेद पढ़ कर तदनुकूल द्विजों के गुणकर्मस्वभावयुक्त हो जाता है

तब शूद्र नहीं रहता, द्विज हो जाता है। जैसे वेद न पढ़ा ब्राह्मण शूद्र हो जाता है ॥

द० ति० भा० पृ० ३८ पं० १७-२० ईश्वर में शूद्र को अनधिकारी करने से पक्षपात नहीं आता जैसे सब को कर्मानुसार धन सन्तानादि देने न देने से पक्षपात नहीं किन्तु न्याय है वैसे ही शूद्र में समझो ॥

प्रत्युत्तर-धन सन्तानादि में भी चाहे कर्मानुसार प्राप्त न हो परन्तु किसी को धनोपार्जन वा सन्तानोत्पादन का अनधिकारी नहीं किया किन्तु धनोपार्जन और सन्तानोत्पादनार्थ प्रयत्न करने का सब को अधिकार है। प्रयत्न का सफल निष्फल होना कर्माधीन है। वैसे ही आप के दृष्टान्त से भी मानो शूद्र को वेदाध्ययन में प्रयत्नवान् का तो धनोपार्जनादि प्रयत्न के सदृश अधिकार ही है किन्तु अध्ययन करने पर भी विद्वान् होना न होना शूद्र वा ब्राह्मण कोई हो सब को श्रम और प्रारब्धकर्मादि के आधीन है ॥

द० ति० भा० पृ० ३८ पं० २२

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।
गुरौ वसन् संचिनुयाद् ब्राह्माधिगमिकं तपः ॥ मनुः ॥

इस श्लोक में द्विजः पद से ब्रह्मचारी पुरुष का ग्रहण है ब्रह्मचारिणी कन्या का नहीं ॥

प्रत्युत्तर-द्विजः पुंल्लिङ्गनिर्देश से यदि पुरुष ही का ग्रहण है तो मनुष्य शब्द के पुंल्लिङ्ग होने से मनुष्य पद में भी स्त्रीजाति का ग्रहण न होना चाहिये। धर्मशास्त्रों में जितने काम करने न करने को सामान्य निर्देश से विधिवाक्य वा निषेधवाक्य लिखे हैं उन के करने न करने, मानने न मानने वाली स्त्री को कोई दोष ही नहीं ? अपराधियों के दण्ड विधानसंग्रह में पुरुष निर्दोष है तो उस प्रकार के अपराध करने वाली स्त्रियां सब छूट जानी चाहियें ? धन्य ! पक्षपात !! जब स्त्रियों के अनधिकार का कोई वाक्य न मिला तो यह खैंच तान !!!

द० ति० भा० पृ० ३८ पं० ३० कन्या को वेद न पढ़ना यह पूर्व ही लिख चुके हैं इति ॥

प्रत्युत्तर-पूर्व क्या ! आप चाहे बात २ में इस वचन को "तकियाकलाम" बनालें आप को अधिकार है परन्तु स्त्रियों के वेदाध्ययनानधिकार में आप

को ऐसी भी श्रुति स्मृति का वाक्य न मिला न लिखा। सत्यार्थप्र० से ही बनावटी श्रुति-

स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्

ले ली होती। कोई यह तो मानता कि श्रुति के प्रमाण से सिद्ध किया है। अन्य प्रसङ्गों में तो ख़ैर आपने उलटे सीधे अर्थ करके एक आध वाक्य लिख ही मारा है परन्तु स्त्रियों के अनधिकार विषय में तो वह भी न बन पड़ा, अस्तु ख़ूब मुंह की खाई॥

अथ सृष्टिक्रमप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० ३९ के आरम्भ से पृ० ४० पं० २८ तक का आशय यह है कि स्वामी जी ने जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध बातों को असम्भव मानकर त्याज्य बताया है सो ठीक नहीं क्योंकि परमात्मा की विभूति का अन्त कोई नहीं जान सक्ता जब नहीं जान सक्ते तो उस की सृष्टि का क्रम किसी को कैसे विदित होसक्ता है उस की सृष्टि में सब कुछ है और होसक्ता है। स्वामी जी जिस बात को अपनी बुद्धि से नहीं समझ सक्ते उसी को सृष्टिक्रम के विरुद्ध कह देते हैं। यदि माता पिता संयोग बिना पुत्रोत्पत्ति असम्भव और सृष्टिक्रम विरुद्ध है तो "तस्मादश्वा अजायन्त०" वेद में लिखा है कि उस परमात्मा ने घोड़े भेड़ बकरी आदि उत्पन्न किये। फिर यह भेड़ बकरी आदि बिना माता पिता हुये? वा ईश्वर की लुगाई मानोगे? रामायण महाभारतादि में मृतक जिवाना, पर्वत उठाना आदि लिखा है आप रामायण भारतादि को मानते हैं। इस लिये जो असमर्थ को असम्भव है वह समर्थ को सम्भव है इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-निस्सन्देह परमात्मा अनन्त और उस की समस्त सृष्टि का क्रम मनुष्य को अविज्ञेय है परन्तु इस से आप सम्भव असम्भव की व्यवस्था का लोप न कीजिये। स्वामी जी ने उतनी ही बातों को असम्भव लिखा है जो रात्रि दिन एक क्रम से हमारे आप के देखने में आती हैं। परमात्मा की वह सृष्टि जहां तक हमारा ज्ञान नहीं पहुंचा चाहे कैसी ही हो परन्तु तथापि जानी हुई बातों में कोई क्रम अवश्य है। यदि क्रम न हो तो गेहूं बोने वाले कृषक को यह विश्वास न होना चाहिये कि इस के फल गेहूं ही होंगे कदाचित् चणे आदि हो जावें और परमात्मा की अमैथुनी सृष्टि को आप मानुषी मैथुनी आदि सृष्टियों से मिलाकर दोष देते हैं यह बेसमझी है। सृष्टिक्रम सृष्टि के लिये है वैसे परमात्मा का क्रम परमात्मा के लिये है।

जैसे सृष्टि के मनुष्यादि प्राणी अपने २ गुण कर्म स्वभाव सामर्थ्य नियम के विरुद्ध नहीं करते वैसे ही परमात्मा भी अपने पवित्र गुण कर्म स्वभाव के विरुद्ध नहीं करता । यदि करता है तो क्या परमात्मा कभी पाप करता है ? झूठ बोलता है ? मरता है ? नहीं, नहीं । इस लिये परमात्मा का भी क्रम है । और सृष्टि का भी क्रम है रामायण महाभारत को स्वामी जी ने माना यह लिखना झूठ है । देखो सत्यार्थप्र० पृ० ६८ पं० २५ में "मनुस्मृति वाल्मीकि रामायण महाभारत के उद्योगपर्वान्तर्गत विदुरनीति आदि अच्छे २ प्रकरण पढ़ावें" इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों के अच्छे २ प्रकरण पढ़ाये जावें बुरे २ नहीं महाभारत के आदि पर्व में लिखा है:—

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्

व्यासजी ने २४००० श्लोकों में भारत संहिता बनाई । वर्त्तमान समय में १००००० एक लक्ष से अधिक श्लोक महाभारत में हैं वे सब व्यासरचित नहीं हैं यही दशा रामायणादि की है । दूसरी बात यह है कि रामायण भारत भागवतादि में लिखी सृष्टिक्रम विरुद्ध असम्भव बातें तो साध्य पक्ष में हैं । जिन को अन्य प्रमाणों से सिद्ध करना आप का काम था । आप ने "साध्य" ही को प्रमाण में धर दिया । न्यायशास्त्र में "साध्यसम" हेतु भी हेत्वाभास=मिथ्या हेतु माना है तो आप तो साक्षात् साध्य ही को हेतुरूप से प्रमाण-कोटि में धरते हैं । असमर्थ मनुष्य को इतना समर्थ मानना कि अङ्गुली पर पर्वत उठाया यही तो असम्भव है और उन मनुष्यों को ईश्वर मानना साध्य है, सिद्ध नहीं । इस लिये सृष्टिक्रम का न मानना न्यायशास्त्र के ८ प्रमाणों में ७ वें सम्भव प्रमाण को अपने हठ से न मानना है और सृष्टिक्रम ईश्वरक्रम सब ठीक है और उस के विरुद्ध बातों का मानना मूर्खता है ॥

अथ पठनपाठनप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० ४१ पं० १६ से " स्वामी जी ऋषियों को पूर्ण विद्वान् लिख कर भी उन के ग्रन्थों में वेदानुकूल मानना अन्य न मानना लिखते हैं इस लिये वे नास्तिक हैं क्योंकि वे ऋषिप्रणीत आप्तोक्त ग्रन्थों का अपमान करते हैं । मनु में लिखा है कि:—

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥

जो वेद और शास्त्रों का अपमान करे वह वेदनिन्दक नास्तिक जाति पङ्क्ति और देश से बाहर किया जावे ॥

प्रत्युत्तर-पूर्ण विद्वान् ऋषि थे इस का तात्पर्य यह नहीं हो सकता कि वे, वेदप्रणेता परमात्मा से अधिक थे किन्तु मनुष्यों में वे पूर्ण विद्वान् थे। उन के वेदविरुद्ध वचन को (यदि उन के ग्रन्थों में उन का वा उन के नाम से अन्य किसी का कोई वचन वेदविरुद्ध जान पड़े) न मानना उन का अपमान नहीं किन्तु मान्य है क्योंकि मनु आदि ऋषि लिख गये हैं कि वेदबाह्य स्मृति माननीय नहीं। यथा:-

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः। इत्यादि

और जो वेदशास्त्र का अपमान करे वह बाहर किया जावे। यह वचन स्वामी जी पर नहीं किन्तु आप पर घटता है क्योंकि स्वामी जी तो यह कहते हैं कि "वेदविरुद्धस्मृतिवाक्य नहीं मानना" इस से वे वेद का मान्य करते हैं और आप उन के विरुद्ध मानो यह कहते हैं कि वेदविरुद्ध भी स्मृतिवाक्य मानना। वेद का अपमान साक्षात् ही आप करते हैं और ऋषियों का भी अपमान इस लिये करते हैं कि ऋषि लोग वेदबाह्य स्मृतियों को नहीं मानते और आप मानते हैं। इस प्रकार आप, परमात्मा और ऋषि दोनों का अपमान करते हैं। कहिये अब आप को कहां भेजा जावे ॥

द० ति० भा० पृ० ४२ पं० ४ से-यदि वेदानुकूल ही मानना अन्य न मानना तो पञ्चयज्ञादि की विधि कौन २ मन्त्र के अनुकूल है ? इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-प्रथम तो हम यह नहीं कहते कि हम मन्त्रों में साक्षात् ही सब विधि दिखला सकते हैं किन्तु हमारा सिद्धान्त तो जैमिनीय मीमांसा के:-

विरोधेत्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्

मी० अ० १ पा० ३ सू० ३

के अनुसार यह है कि शब्दप्रमाण के साक्षात् विरुद्ध बातें न मानी जावें परन्तु विरोध भी न हो और साक्षात् विधिवाक्य भी न मिले तो अनुमान करना चाहिये कि यह विधि किसी प्रकार किन्हीं ऋषियों ने वेद में साक्षात् वा ध्वनि आदि से देखा ही होगा। तथापि उद्गाता आदि का विधान नीचे लिखे मन्त्र में मूलरूप पाया जाता है:-

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्, गायत्रं त्वो गायति शक्व-

रीषु । ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां, यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः ॥ ऋ० मं० १० अष्टक ८ अध्याय २ मं० अन्तिम ॥

अन्वितव्याख्यानम्—[त्वशब्दः सर्वनामसु पठित एकशब्दपर्यायः] एको होता (पुपुष्वान् ऋचां पोषमास्ते) स्वकर्माधिकृतस्सन् यत्र तत्र पठिता ऋचो यथाविनियोगविन्यासेन पोषयति सार्थकाः करोति (त्वः शक्वरीषु गायत्रं गायति) एक उद्गाता शक्वर्युपलक्षितासुच्छन्दोविशेषयुक्तास्वृक्षु गायत्रं गायत्रादिनामकं साम गायति (त्वो ब्रह्मा जातविद्यां वदति) एको ब्रह्मा, अपराधे जाते तत्प्रतीकाररूपां विद्यां वदति (त्वो यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ) एकोऽध्वर्युर्यज्ञस्य मात्रामियत्तां विमिमीते विशिष्टतया परिच्छिनत्ति ॥

अर्थात् एक होता ऋचाओं को विनियोगानुसार सङ्कटित करता है, एक उद्गाता शक्वर्यादिच्छन्दोयुक्त गायत्र गान करता है, एक ब्रह्मा यज्ञ में कुछ अपराध वा भूल चूक होने पर उसका प्रतीकार करता है और एक अध्वर्यु यज्ञ के परिणाम वा इयत्ता को निर्धारित करता है ॥

द०ति०भा० पृ० ४२ पं० ११ से जब आप ब्राह्मण, निघण्टु, निरुक्तादि की सहायता से वेदार्थ करते हैं तो ब्राह्मणादि स्वतःप्रमाण क्यों नहीं । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर–यह बात नहीं है कि निरुक्तादि की सहायता विना वेदार्थ हो ही न सके । जब तक निरुक्तादि ग्रन्थ नहीं बने थे तब भी वेद और उन का अर्थ था हो किन्तु निरुक्तादि के प्रमाण इस लिये दिये जाते हैं कि जो वेद का अर्थ हम करते हैं उस प्रकार अन्य भी अमुक २ ऋषि लिखते हैं जिस से हमारे समझे अर्थ की पुष्टि होती जावे ॥

द० ति० भा० पृ० ४२ पं० १८ इन ग्रन्थों में अंशभी वेदविरुद्ध नहीं है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर–सत्यार्थप्र० में भी यह तो नहीं लिखा कि निरुक्तादि ऋषिप्रणीत ग्रन्थों में वेदविरुद्ध है ही है किन्तु यह लिखा है कि यदि इन में वेदविरुद्ध हो तो त्याज्य है नहीं तो नहीं । अर्थात् ऋषि यद्यपि पूर्ण विद्वान् थे, उन के ग्रन्थों में पुराणप्रणेताओं के से गप्प नहीं हैं, यावच्छक्य ऋषियों ने वेदानुकूल ही लिखा है परन्तु तो भी विद्वान ऋषि लोग सर्वज्ञ परब्रह्म न थे अत एव यदि कहीं किसी आर्षग्रन्थ में वेदसंहिता के विरुद्ध कुछ वचन पाये जावें तो वहां वेद माना जावे अन्य ग्रन्थ नहीं और यह बात कुछ स्वामी जी ने ही नहीं लिखी किन्तु जैमिनि जी भी मीमांसा शास्त्र में लिखगये हैं कि–

विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसतिह्यनुमानम् । १ । ३ । ३ ॥

विरोध हो तो त्याज्य है और विरोध न हो तो अनुमान करे कि अनुकूल है । यदि वेद से विरुद्ध कोई बात भी इतर ग्रन्थों में न होती तो जैमिनि जी ऐसा क्यों लिखते । आप स्वामी दयानन्द स० जी के लेख को न मानियेगा तो जैमिनीय मीमांसा को तो मानियेगा ? फिर आप का यह लेख कैसे सत्य हो सक्ता है कि इन ग्रन्थों में अंश भी वेदविरुद्ध नहीं ॥

द० लि० भा० पृ० ४२ पं० १९ में (मन्त्रब्राह्मणयोः वेदनामधेयम्) मन्त्र और ब्राह्मण दोनों मिलकर वेद कहा जाता है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर- यह आपस्तम्ब की यज्ञपरिभाषा है । पारिभाषिक शब्दों का जो अर्थ ग्रन्थकार नियत करते हैं वह सार्वत्रिक नहीं किन्तु उसी अधिकरण में माना जाता है । जैसे पाणिनि जी अष्टाध्यायी में "अदेङ्गुणः" १ । १ । १३ लिखते हैं कि अ, ए, ओ, ये तीन गुण हैं तो व्याकरण ही में गुण शब्द से अ, ए, ओका अर्थ लिया जायगा अन्यत्र नहीं । यदि साङ्ख्य शास्त्र में गुण शब्द आता है तो सत्व, रजः, तमः का अर्थ लिया जाता है । और वैशेषिक में रूप रस गन्धादि २४ गुण माने गये हैं । सो वे २ अपने २ ग्रन्थ में पारिभाषिक (इस्तलाही) शब्द हैं । यदि कोई व्याकरण में गुण से सत्व रजः तमः समझे तो अज्ञान है, वा सांख्य में गुणशब्द से अ, ए, ओ समझे तो मूर्खता है । इसी प्रकार यज्ञ के प्रकार वर्णन करते हुवे आपस्तम्ब के सूत्रों में जहां वेद शब्द आता है वहां ही मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ग्रहण होता है न कि सर्वत्र ॥

द० लि० भा० पृ० ४२ पं० २२ में लिखा है कि सत्यार्थप्र०पृ० ३० के लेखानुसार यदि ऋषिप्रणीत ग्रन्थों में भी वेदविरुद्ध अंश हैं तो वे भी (विषसंपृक्तान्नवत्याज्याः) विषयुक्त अन्न के तुल्य त्याज्य हैं फिर ऋषिप्रणीत को पढ़ने योग्य क्यों मानते हो ॥

प्रत्युत्तर—पूर्वापर प्रसङ्ग देखिये सत्यार्थप्र० पृ० ३० में पुराणों के लिये विषयुक्त अन्न का दृष्टान्त है वह ऋषिप्रणीत ग्रन्थों में नहीं घटता । पुराणों के कर्त्ताओं ने ईर्ष्या द्वेष आदि से असत्य बातों का ढेर किया है वह अवश्य विषतुल्य है जिस के सङ्ग से पुराणों का सत्य विषय भी विषयुक्तअन्न तुल्य हो गया है परन्तु ऋषिप्रणीत ग्रन्थों में जो कुछ कहीं भूल भी हो वह ईर्ष्या द्वेषादि से नहीं किन्तु अल्पज्ञता से है इस लिये उसे विष नहीं कह सक्ते किन्तु

वह ऐसा है जैसे किसी औषध में कुछ मिट्टी कङ्कर आदि मिल गया हो तो उसे छांट कर औषधमात्र ग्रहण करना योग्य होता है इसी प्रकार ऋषिप्रणीत औषध रूप ग्रन्थ में अल्पज्ञता से आये मिट्टी कङ्कर आदि निकाल कर औषधोपम आर्षग्रन्थ पढ़ने चाहियें ॥

पुराणों का विष–

सर्वन्तु समवेक्ष्येदन्निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ॥

अर्थ–विद्वान् पुरुष को उचित है कि सब बातों को ज्ञान की आंख से देखकर श्रुति अर्थात् वेद के प्रमाण से पहले धर्म को स्वीकार करे ॥

तिलकों में विरोध–

पद्मपुराण में कहा है:–

ऊर्ध्वपुण्ड्रविहीनस्य श्मशानसदृशं मुखम् ।
अवलोक्य मुखं तेषामादित्यमवलोकयेत् ॥
(तथा) ब्राह्मणः कुलजोविद्वान् भस्मधारी भवेद्यदि ।
वर्जयेत्तादृशं देवि मद्योच्छिष्टं घटं यथा ॥

अर्थ–जो लंबा तिलक (वैष्णवी मार्ग का) धारण नहीं करता उस का मुंह श्मशान के तुल्य है अतएव देखने योग्य नहीं कदाचित देख पड़े तो उस का प्रायश्चित्त करे अर्थात् तुरन्त सूर्य का दर्शन कर लेवे ॥ १ ॥ ब्राह्मण-कुलोत्पन्न जो विद्वान् होकर भस्म धारण करे उस को शराब के जूठे बासन की नाईं त्याग देवे ॥

अब देखिये इस के विरुद्ध शिवपुराण में क्या लिखा है:—

विभूतिर्यस्य नो भाले नाङ्गे रुद्राक्षधारणम् ।
नास्ये शिवमयी वाणी तं त्यजेदन्त्यजं यथा ॥

अर्थ–विभूति (भस्म) जिस के माथे पर नहीं और अङ्ग में रुद्राक्ष नहीं पहिने । मुंह से शिव २ ऐसा न कहे वह चाण्डाल की नाईं त्याज्य है ॥

इसी प्रकार पृथिवीचन्द्रोदय में भी वैष्णवों को लताड़ दी है:–

यस्तु सन्तप्तशङ्खादिलिङ्गचिन्हधरोनरः ।
स सर्वयातनाभोगी चाण्डालोजन्मकोटिषु ॥

अर्थ-जो मनुष्य तपे हुए शङ्खादिकों के चिह्न को धारण करता है वह सब नरकयातनाओं को भोगता है और कोटिजन्मपर्यन्त चाण्डाल होता है ॥

ऊपर के श्लोकों से स्पष्ट विदित होता है कि तिलक धारण करने के विषय में पुराणों में सर्वथा परस्पर विरोध है अर्थात् शैवसम्प्रदायी चक्राङ्कित सम्प्रदायियों के तिलक को बुरा कहते और वैष्णवसम्प्रदायी शैवादिसम्प्रदायियों के तिलक को भ्रष्ट बताते हैं इस से यह निश्चित हुवा कि यदि पुराणों को सत्य माना जाय तो सर्व प्रकार के तिलकधारी भ्रष्ट पतित और नरक के अधिकारी ठहरते हैं अतएव पुराण भ्रमजाल में फँसाने वाले हुए जैसा कि पद्मपुराण में स्पष्ट लिखा है:-

व्यामोहाय चराचरस्य जगतश्चैते पुराणागमास्तां
तामेव हि देवतां परमिकां जल्पन्ति कल्पावधि ।
सिद्धान्ते पुनरेकएव भगवान् विष्णुस्समस्तागमा
व्यापारेषु विवेचनं व्यतिकरं नितयेषु निश्चीयते ॥

अर्थात् जितने पुराण हैं सब मनुष्य को भ्रम में डालने वाले हैं उन में अनेक देव ठहराये गये हैं एक ईश्वर का निश्चय नहीं होता। केवल एक भगवान् विष्णु पूज्य हैं ॥

हे पौराणिक भक्तो! जब सभी पुराण भ्रम में डालने वाले हैं जैसा कि ऊपर के वचन से स्पष्ट है तो तुम्हें भ्रम से बचाने वाला आर्यसमाज के अतिरिक्त और कौन है ॥

पुराणों में देवताओं की निन्दा

भागवत में लिखा है:-

भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः ।
पाषण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः ॥
मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ ।
नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥

अर्थ-जो शिव के भक्त हैं और उन की सेवा करते हैं सो पाखण्डी और सच्चे शास्त्र के वैरी हैं इस लिये जो मोक्ष की इच्छा रखते हैं सो भयानक वेष भूतों के स्वामी अर्थात् महादेव को छोड़ें और नारायण की शान्त-कलाओं की पूजा करें ॥

अब पद्मपुराण में शिव की स्तुति में यह श्लोक कहे हैं:-

विष्णुदर्शनमात्रेण शिवद्रोहः प्रजायते ।
शिवद्रोहान्न सन्देहो नरकं याति दारुणम् ॥
तस्माद्वै विष्णुनामापि न वक्तव्यं कदाचन ॥

अर्थ यह है कि-जब लोग विष्णु का दर्शन करते हैं तब महादेव क्रुद्ध होता है और उस के क्रोध से मनुष्य महानरक में जाते हैं इस कारण विष्णु का नाम कभी न लेना चाहिये ॥

इसी पुराण में ये श्लोक हैं:-

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः ।
समं सर्वैर्निरीक्षेत स पाषण्डी भवेत्सदा ॥
किमत्र बहुनोक्तेन ब्राह्मणा येऽप्यवैष्णवाः ।
न स्पृष्टव्या न द्रष्टव्या न वक्तव्याः कदाचन ॥

अर्थ यह है-जो कहते हैं कि और देवता अर्थात् ब्रह्मा महादेव इत्यादि नारायण के समान हैं सो पाखण्डी हैं इन के विषय में हम और बात न बढ़ावेंगे क्योंकि जो ब्राह्मण विष्णु को नहीं मानते उन को कभी न छूना न देखना और न उन से बोलना चाहिये ॥

फिर पद्मपुराण में विष्णु की स्तुतियों में यह श्लोक है:-

येऽन्यं देवं परत्वेन वदन्त्यज्ञानमोहिताः ।
नारायणाज्जगन्नाथात् ते वै पाषण्डिनो नराः ॥

अर्थ यह है कि-जो लोग किसी दूसरे देवता को नारायण से जो जगत् का स्वामी है बड़ा करके मानते हैं सो अज्ञानी हैं और लोग उन को पाखण्डी कहते हैं ॥

फिर इसी पुराण में परस्पर विरोध देखो जैसे:-

एष देवो महादेवो विज्ञेयस्तु महेश्वरः ।
न तस्मात्परमङ्किञ्चित् पदं समधिगम्यते ॥

अर्थ यह है कि—महादेव को महान् ईश्वर जानना चाहिये और यह मत समझो कि उस से कोई बड़ा है। फिर इस से विरुद्ध देखोः-

वासुदेवं परित्यज्य येऽन्यं देवमुपासते ।
तृषितोजाह्नवीतीरे कूपं खनति दुर्मतिः ॥

अर्थ यह है कि—विष्णु को छोड़ कर जो दूसरे देव को मानते हैं सो उस मूर्ख के समान हैं कि जो गङ्गा के तीर प्यासा बैठा कुआ खोदता है ॥

इसी प्रकार ब्रह्मा विष्णु श्रीकृष्ण पराशर शिव चन्द्रमा बृहस्पति इन्द्र आदि महानुभाव जो कि प्राचीन काल में अत्यन्त प्रसिद्ध विद्वान् राजा महाराजा हुए हैं और सत्यशास्त्रों में उन का बड़ा सत्कार किया गया है और जिन्हें ऋषि मुनि देवताओं की पदवियां दी गई हैं, पुराण उन की निन्दा करते और कोई ऐसा दूषण नहीं जो इन देवताओं पर नहीं लगाते हैं ॥

द० ति० भा० पृ० ५३ पं० १५ से कौमुदी की निन्दा करते थे परन्तु उन के मरणानन्तर बस्ते में निकली, भला व्याकरण में क्या मिथ्यापना है जो कौमुदी आदि को त्याज्य लिखा। काव्य न पढ़ें तो व्युत्पत्ति कैसे हो इनमें क्या बुराई है। आप के "संस्कृतवाक्यप्रबोध" में सैकड़ों अशुद्धि हैं जिस से बुद्धि भ्रष्ट हो जावे। तर्कसंग्रह क्यों त्याज्य है, उस में वैशेषिक के विरुद्ध क्या बात है। मनु में भी प्रक्षिप्त है तो यह भी विषाक्त अन्नवत् क्यों न त्याग दिया। जब भाषा के सब ग्रन्थ कपोलकल्पित हैं तो क्या सत्यार्थप्रकाशादि भाषा के ग्रन्थ कपोलकल्पित नहीं? यदि मुहूर्त मिथ्या हैं तो संस्कारविधि के पुण्य नक्षत्र उत्तरायणादि मिथ्या क्यों नहीं? और सुश्रुत सूत्रस्थान २ अध्याय में:—

उपनीयस्तु ब्राह्मणः प्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तेषु० इत्यादि ॥

ब्राह्मण का उपनयन अच्छे तिथि करण मुहूर्त और नक्षत्र में करे इत्यादि और शकुन भी सुश्रुत में लिखा है। सूत्रस्थान अ० १०—

ततो दूतनिमित्तशकुनं मङ्गलानुलोम्येन । इत्यादि ॥

अर्थात् वैद्य चिकित्सा को जावे तो शकुनादि अच्छे पड़ें तब रोगी को देखे छुवे और पूछे। इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-व्याकरणादि सभी विषयों के ऋषिप्रणीत ग्रन्थों का पढ़ना इस लिये अच्छा है कि उन में अपने मुख्य विषय के वर्णन के साथ साथ उदाहरणादि के मिष से उस समय के धर्म आचार व्यवहार आदि की भी चर्चा कुछ न कुछ आती ही है जिस से विद्यार्थी पर कुछ न कुछ प्रभाव ऋषियों के चालचलन का पड़ता ही है। इसी प्रकार कौमुदी आदि के पढ़ने से उस समय के सिद्धान्त विचार व्यवहारादि का भी विद्यार्थी पर बुरा प्रभाव न पड़े इस लिये स्वामीजी ने ऋषिप्रणीत ग्रन्थों के प्रचारार्थ लिखा है। आधुनिक व्याकरण काव्यादि में श्रीकृष्णादि पर मिथ्यारोपित दूषणों का वर्णन है इस लिये उन से विद्यार्थी पर बुरा प्रभाव पड़ेगा अतः त्याज्य लिखा है। संस्कृतवाक्यप्रबोध में छापे आदि की अशुद्धि हों वे पढ़ने वाले शुद्ध करके पढ़ लेंगे परन्तु कोई ऋषि सिद्धान्तविरुद्ध बात तो नहीं जिस से विद्यार्थी का आचरण बिगड़े। तर्कसंग्रह में वैशेषिक से क्या विरुद्ध है यह तो आप को वैशेषिक पढ़ा होता तो ज्ञात होता-वैशेषिक में:—

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानामित्यादि।

छः पदार्थ हैं। तर्कसंग्रह में इस के विरुद्ध—

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाऽभावाः सप्तपदार्थाः०

इत्यादि में सात पदार्थ हैं। मनु में प्रक्षिप्त है परन्तु मनुस्मृति ऋषिप्रणीत तो है और बहुत न्यून जो कुछ मिलावट हुई है उसे वेद का सिद्धान्त जानने वाले सहज में जान सकते हैं। वह पुराणों के समान जानबूझ कर ग्रन्थ का ग्रन्थ ही तो अनार्ष नहीं। भाषाग्रन्थ मात्र को स्वामी जी ने त्याज्य नहीं लिखा, सत्यार्थप्र० खोलकर देखिये पृ० ७१ पं० २७ में यह लिखा है कि "रुक्मिणीमङ्गलादि और सब भाषाग्रन्थ" इस लिखने से स्पष्ट विदित होता है कि रुक्मिणीमङ्गल के सदृश श्रीकृष्ण महाशय के शुद्ध चरित्रों को अश्लील अयुक्त रीति पर वर्णन करने वाले ही भाषाग्रन्थ त्याज्य हैं, न कि सत्यार्थप्रकाशादि उत्तम ग्रन्थ। मुहूर्त्तादि ग्रन्थों के मिथ्या लिखने का तात्पर्य यह है कि उन २ मुहूर्त्तों में लिखे फल मिथ्या हैं यथार्थ में मुहूर्त समयविशेष को कहते हैं। शुभमुहूर्त में उपनयनादि लिखने वाले सुश्रुतादि ग्रन्थकारों का आशय यह है कि जिस मुहूर्त में अनुकूलता सब प्रकार से हो वह शुभमुहूर्त है न कि अनुकूलता तो १० बजे दिन को हो और ज्योतिषी जी कहते हैं कि ३॥ बजे रात्रि

को मुहूर्त अच्छा है। उत्तरायण इस लिये अच्छा है कि वह देवदिन है। क्योंकि १ वर्ष को देवदिन मानने पर दक्षिणायन रात्रि और उत्तरायण दिन है। इसी प्रकार आर्षग्रन्थों की बातें निष्प्रयोजन नहीं हैं। शकुन का केवल इतना फल युक्त है कि जब किसी कार्य को मनुष्य चलता है तब यदि अच्छे पदार्थ सम्मुख हों तो चित्त को आल्हाद होने से उस कार्य में अधिक उत्साह होता और उससे कार्य अच्छा बनना सम्भव है। अन्य शकुनावली आदि में लिखे ऊटपटांग शकुनों को मानना और समझना कि "शकुन के विरुद्ध कार्य होही नहीं सकता" मूर्खता है। क्योंकि केवल अशुभ शकुन से चित्त पर कुछ बुरा प्रभाव भी पड़े और दूसरी बातें सब अनुकूल हों तो शकुन कुछ नहीं कर सक्ता। तात्पर्य यह है कि ऋषियों की सम्मति के अनुसार शुभ अशुभ कार्यों को देखकर चित्त पर उस का कुछ न कुछ प्रभाव होता है यह ठीक है परन्तु जिस प्रकार प्रचरित ग्रन्थों में लिखे शकुनों के विरुद्ध लोग काम ही नहीं करते, चाहे कैसी ही अन्य अनुकूलता हों, और चाहे जितनी प्रतिकूलता होने पर भी केवल शकुन के भरोसे जो लोग काम विगाड़ते हैं, यह मूर्खता है॥

अथ इतिहासपुराणप्रकरणम् ॥

द० ति० भा० पृ० ४५ पं० १ से लिखा है कि-शतपथादि का नाम पुराण नहीं-

मध्याहुतयो वा एता देवानां यदनुशासनानि०। इत्यादि

शतपथ का पाठ लिखकर कहते हैं कि "आशय यह है कि विद्या वाक्, वाक्य इतिहास पुराण गाथा नाराशंसी इन का पाठ अवश्य है जो इन का अध्ययन करते हैं देवता प्रसन्न होके उनके सब कार्य पूर्ण करते हैं"

प्रत्युत्तर—कोई पूछे कि प्रमाण तो आप को यह देना था कि भागवतादि का नाम पुराण है, शतपथादि का नहीं। आप यह लिखते हैं कि इन का पढ़ना अवश्य है। भला इनका पढ़ना अनावश्यक कौन बताता था। स्वामी जी ने तो यही लिखा है कि भागवतादि पुराण नहीं किन्तु नवीन हैं, शतपथादि पुराण हैं, उन्हीं का पढ़ना आवश्यक है, उन्हीं के पढ़ने से देवता प्रसन्न होते हैं। अच्छा उत्तर दिया? कोई गावे शीतला, मैं गाऊं मसान॥

फिर द० ति० भा० पृ० ४५ पं० १५ में—

स यथार्द्रैन्धाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवम्०

शत० का पाठ लिखकर पं० २० में लिखते हैं कि ऋग् यजुः साम अथर्व

इतिहास पुराणादि उसी परमेश्वर के श्वास हैं, इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-आप यह तो ध्यान दें कि आपको सिद्ध क्या करना है और सिद्ध क्या करते हैं। मैं फिर स्मरण दिलाता हूं कि "भागवतादि पुराण हैं" यह आपका साध्य है। "शतपथादि पुराण हैं" यह स्वामी जी का साध्य है। अब न तो ईश्वर के श्वास होने से यह सिद्ध होता है कि भागवतादि का नाम पुराण है, न यह सिद्ध होता है कि शतपथादि को पुराण नहीं कहते, किन्तु आपके लेखानुसार इतना अवश्य निकलता है कि पुराणविद्या उपनिषद् श्लोक सूत्र व्याख्यान अनुव्याख्यानादि सब ईश्वर का श्वास है। मैं यह पूछता हूं कि यदि श्लोक ईश्वर के श्वास हैं तो क्या "त्रयोवेदस्य कर्त्तारोभण्डधूर्त्तनिशाचराः" इत्यादि नास्तिकनिर्मित श्लोक भी ईश्वर के श्वास हैं? इस पक्ष का अच्छे प्रकार खण्डन और इस शतपथ की कण्डिका का अर्थ सब मेरे बनाये "ऋगादिभाष्यभूमिकेन्दुपरागे द्वितीयोंऽशः" में लिखा है, जिन को विशेष जिज्ञासा हो, वहां देखलें ॥

द० ति० भा० पृ० ४६ पं० ११ में जो "अरे अस्य महतोभूत०" और इस का अर्थ लिखा है। इसका उत्तर भी मेरे बनाये "ऋगादि-द्वितीयोंऽशः" में लिखा है ॥

द० ति० भा० पृ० ४६ पं० २४ में आश्वलायनसूत्र लिखा है-

अथ स्वाध्यायमाधीयीत ऋचो यजूꣳषि सामान्यथर्वाङ्गिरसोब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासः पुराणानीत्यमृताहुतिभिर्यदृचोधीते पयसः कुल्या अस्य पितॄन्स्वधा उपक्षरन्ति। यद्यजूꣳषि घृतस्य कुल्या, यत्सामानि मध्वः कुल्या, यदथर्वाङ्गिरसः सोमस्य कुल्या, ब्राह्मणानिकल्पान्गाथानाराशंसीरितिहासः पुराणानीत्यमृतस्य कुल्या, यावन्मन्येत तावदधीत्यैतया परिदधाति। नमोब्रह्मणे,नमोस्त्वग्नये, नमःपृथिव्यै, नमओषधीभ्यो, नमोवाचे, नमोवाचस्पतये, नमोविष्णवे महतेकरोमीति ॥

आशय यह है कि जो ऋगादि चारों वेदों को और ब्राह्मणादि ग्रन्थों को कल्प गाथादि सहित पढ़ते हैं उन के पितरों का स्वधा से अभिषेक होता है, ऋग्वेदाध्यायी के पितरों को दूध की, यजुर्वेदपाठियों के को घृत की, सामाध्यायियों के को मधु, अथर्वाध्यायियों के को सोम और ब्राह्मण कल्प नाराशंसी इतिहास पुराण पढ़ने वालों के पितरों को अमृत की कुल्या प्राप्त होती है। इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—साध्य की सिद्धि का यहां भी पता नहीं। क्यों कि इस से भी ब्राह्मण ग्रन्थ पुराण नहीं हैं, यह भी सिद्ध नहीं होता और न यह होता है कि भागवतादि का नाम पुराण है। किन्तु तात्पर्य यह है कि इस सूत्र में स्वाध्याय [पढ़नेरूपी] यज्ञ को पितृयज्ञ की उपमा दी गई है कि जैसे पितरों की सेवा दुग्ध घृतादि से की जाती है वैसे ब्रह्मचारी जो गुरुकुल में रहता है वह अपने माता पिता को घर छोड़ आता है, उसका वेदादि पढ़ना ही मानो पितृसेवा है। वह जो ऋग्वेद पढ़ता है सो ही मानो पितरों के लिये दूध की कुल्या [नहर] बहाता है, यजुः पढ़ता है सो घृत की, जो साम पढ़ता है सो मधु की, जो अथर्व पढ़ता है सो सोम की, जो ब्राह्मण ग्रन्थों को पढ़ता है जो कि कल्प गाथा नाराशंसी इतिहास पुराण कहाते हैं सो मानो अमृत की नहरें बहाता है। इस से यह तो सिद्ध न हुआ कि ब्राह्मण ग्रन्थ पुराण नहीं हैं, न यह कि भागवतादि पुराण हैं, किन्तु चारों वेदों को कह कर फिर ब्राह्मणों को वेदों के पश्चात् और पृथक् गिनाने से ब्राह्मणों का वेदों से पृथक् होना, वेद न होना, वेदों से दूसरी श्रेणी का होना और उनके पुराण इतिहास गाथादि नाम होना ही पाया जाता है ॥

द० ति० भा० पृ० ४७ पं० १२ में—

सप्तद्वीपा वसुमती त्रयोलोकाश्चत्वारोवेदाः साङ्गाःसरहस्याः बहुधाभिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्त्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाथर्वणोवेदोवाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः।

महाभाष्य । १ आह्निक

यदि नाराशंसी का नाम ही पुराण होता तो साङ्ग लिखकर फिर पुराण लिखने की क्या आवश्यकता थी। पूर्वोक्त वाक्यों से सिद्ध है कि ब्राह्मण, उप-

निषद् सूत्रादि से भिन्न ही कोई पुराण और इतिहास संज्ञा वाले ग्रन्थ हैं। इतिहास का पुराण विशेषण मानो तो इतिहास पुंल्लिङ्ग है उस का विशेषण पुराणं नपुंसकलिङ्ग नहीं हो सक्ता, अतःपुराण से इतिहासभी कोई भिन्न ग्रन्थ हैं॥

प्रत्युत्तर-यदि उक्तमहाभाष्य में यहीं ब्राह्मण पद भी आता और इतिहास पुराण शब्द भी भिन्नविषयक आते तो सिद्ध हो जाता कि ब्राह्मण से इतिहास भिन्न हैं परन्तु जब ब्राह्मण पद नहीं और इतिहास पुराण शब्द हैं तो हम कह सक्ते हैं कि ये ही पद ब्राह्मण के ऐसे भाग के नाम हैं जिस में कोई कथाप्रसङ्ग है वह ब्राह्मणभाग इतिहास है। जैसेः—

जनमेजयोह वै पारिक्षितोमृगयाञ्चरिष्यन्हंसाभ्यामशिक्षन्नुपात्रतस्थइति तावूचतुर्जनमेजयं पारिक्षितमभ्याजगाम। सहोवाच नमोवां भगवन्तौ को नु भगवन्ताविति। गोपथ। प्रपाठक २ ब्रा० ५॥

यहां परीक्षित के पुत्र जनमेजय की मृगयायात्रा और दो परमहंसों (संन्यासियों) का मिलना उन को नमस्कार करके पूछना कि आप कौन हैं? इत्यादि इतिहास है * और सृष्टि के आरम्भ समय के ऋषियों का वर्णन जिस में हो वह ब्राह्मणग्रन्थों का भाग "पुराण" कहाता है। जैसेः—

अग्नेर्ऋग्वेदोवायोर्यजुर्वेदःसूर्यात्सामवेदः। शतपथ। ११।५।

अग्नि वायु आदि ऋषियों से ऋगादि वेद हुवे। अग्नि वायु आदि तत्त्व न थे किन्तु जीवविशेष थे। यह सायणाचार्य अपनी ऋग्वेदभाष्य भूमिका में लिखते हैंः—

जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात्॥

---

* द० ति० भा० उ० पृष्ठ ६५ पर वेद में इतिहास सिद्ध करने को अथर्व काण्ड २०। १२७। १० का प्रमाण दिया है कि—

"जनः सभद्रमेधति राष्ट्रे राज्ञः परीक्षितः"।

उत्तर-यहां अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित का नाम नहीं है, किन्तु परि=चारों ओर, ईक्षिता=देखने वाले राजा के राज्य में प्रजा सुख से बढ़ती है, यह अर्थ है। वामदेव्यं साम (यजुः १२। ४) में ऋषिपर्याय वामदेव है, व्यक्ति का नाम नहीं॥

अर्थात् जीवविशेष अग्नि वायु आदित्यों ने वेदों को प्रकट किया है। इस से इन रीति से इतिहास और पुराण ये दोनों नाम ब्राह्मणों के ही हुये। इतिहास पुराण का जो अर्थ हमने किया और ब्राह्मण ग्रन्थों के उदाहरण दिये यही अर्थ आप भी द० ति० भा० पृ० ४६ पं० १७ में लिखते हैं कि 'जिस में कोई कथा प्रसङ्ग होता है सो इतिहास । जिस में जगत् की पूर्वावस्था सर्गादि का निरूपण होता है सो पुराण" सो ये दोनों बातें ब्राह्मण ग्रन्थों में (जैसा कि हमने ऊपर गोपथ और शतपथ का प्रमाण दिया) भी पाई जाती हैं, इस से ये इतिहास पुराण हुवे। यदि कोई यह शङ्का करे कि एक ही स्थान पर ब्राह्मण पुराण इतिहास गाथा नाराशंसी ये सब नाम क्यों आये हैं जब कि ये सब एकार्थ हैं। तो उत्तर यह है कि "ब्राह्मण" यह सामान्य नाम है और इतिहास पुराण गाथा नाराशंसी आदि उस के विशेषों के नाम हैं। जैसे "गृह" सामान्य शब्द है और हर्म्य (महल) भवन शाला आदि उस के विशेष हैं। इसी प्रकार यहां भी जानो। और आपने जो यह कहा कि साङ्ग कहने से अङ्गों में नाराशंसी भी आ जाती फिर साङ्ग लिख कर पुराण क्यों पृथक् लिखते। सो महाशय! क्या आप वेदों के छः अङ्गों को भी नहीं जानते कि शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्योतिष ये छः अङ्ग कहाते हैं। इन में कल्प कहने से श्रौतसूत्रादि का ग्रहण है। और पुराण इतिहास ये दो नाम ब्राह्मणों के उस विशेष भाग के हैं जिसमें ऊपर लिखे अनुसार कथादि का प्रसङ्ग है। और यह भी जानना चाहिये कि यदि उपनिषदादि मिलाकर सब वेद हैं तो "चत्वारोवेदाः" कहकर फिर "सरहस्याः" इत्यादि की क्या आवश्यकता रहती। भिन्न ग्रहण से जाना जाता है कि ये ग्रन्थ वेद से भिन्न ही हैं॥

द० ति० भा० पृ० ४७ पं० २९ से पृ० ४८ तक न्यायदर्शन के अ० ४ सूत्र ६२ और उस का वात्स्यायन भाष्य और उस का भावार्थ लिखा है उस सब को लिखने से ग्रन्थ बढ़ेगा परन्तु मुख्य अंश उस का यह है कि—

"इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदइति" और "यज्ञोमन्त्रब्राह्मणस्य, लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य, लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः"

अर्थात् इतिहास पुराण ५ वां वेद है तथा मन्त्र ब्राह्मण का विषय यज्ञ है, इतिहास पुराण का विषय लोक का वृत्तान्त है और लोकव्यवहार की व्यवस्था करना धर्मशास्त्र का विषय है। यहां ब्राह्मण से भिन्न इतिहास

पुराण का विषय पढ़ा है और भिन्न २ नाम भी, इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-एक ही ग्रन्थ का सामान्य विषय एक होता है और उसी ग्रन्थ के विशेष भागों के विशेष विषय भिन्न २ होते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण सामान्य का विषय यज्ञ है। यह लिखकर ब्राह्मण के वे विशेष भाग जिन का नाम पुराण और इतिहास है, जिन के दो उदाहरण भी हमने ऊपर लिखे हैं, उन भागों का भिन्न "लोकवृत्त" विषय है। इस कथन से विषयभेद ही सिद्ध होता है, ग्रन्थभेद नहीं। क्या एक ग्रन्थ में अनेक विषय नहीं होते? आप के ही इस द० ति० भा० में अनेक विषय हैं, फिर क्या यह एक ग्रन्थ नहीं? और यह कि इतिहास पुराण की प्रामाणिकता में ब्राह्मण ने प्रमाण दिया है कि यह पञ्चम वेद है। इस का उत्तर यह है कि वेद तो ४ ही हैं। इतिहास पुराण को पञ्चमवेद कहना उस की प्रशंसा है, जैसे किसी पुरुष की प्रशंसा में कहते हैं कि यह तो दूसरा युधिष्ठिर है वा दूसरा बृहस्पति है। यथार्थ में युधिष्ठिर वा बृहस्पति दूसरे नहीं हैं परन्तु धर्मात्मा और विद्वान् अधिक होने से दोनों की उपमा दी जाती है। इसी प्रकार इतिहास पुराणसंज्ञक ब्राह्मणभाग की यह प्रशंसा है कि ये पांचवां वेद हैं। क्या आप यथार्थ में जैसे चारों वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् किसी पुरुष के बनाये नहीं इसी प्रकार यह समझते हैं कि इतिहास पुराण भी वास्तव में ५ वां वेद हैं और ये भी अपौरुषेय हैं? यदि ऐसा है तो आप अन्य पौराणिकों के सदृश यह भी न मानते होंगे कि पुराणों के कर्त्ता व्यास हैं! अन्त में आप को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि यह वाक्य प्रशंसापरक है। यदि यह कहो कि ब्राह्मण का कोई भाग पुराण है तो उस में अपनी प्रशंसा आप ही क्यों की गई, तो उत्तर यह है कि मनु ने भी अपनी प्रशंसा में यह कहा है कि-

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।

अर्थात् अल्पविद्या वाले लोगों के बनाये ग्रन्थ आज बनते हैं, कल नष्ट होते हैं, जो कि इस मनु के अतिरिक्त कोई ग्रन्थ हैं। इस से मनु ने अपना प्रमाण और प्रशंसा, दूसरों (अल्पविद्यारचितों) का अप्रमाण और निन्दा की है, सो ठीक है। यदि अपने विषय में उचित प्रशंसा वा कथन कोई न करे तो दूसरे द्वारा प्रशंसा न होने तक उस में श्रद्धा वा प्रामाण्य कैसे हो। यदि अपने विषय में स्वयं प्रामाणिकता का कहना अच्छा नहीं तो आपने ही अपने इस द० ति० भास्कर की प्रशंसा और प्रामाणिकता को जताने के लिये

आरम्भ में सुर्ख़ी से ग्रन्थों के नाम और टाइटिल पेज पर "वेद ब्राह्मण शास्त्र स्मृति पुराण वैद्यकादि प्रमाणों से अलंकृत" यह प्रशंसा और प्रामाण्य क्यों लिखा है और जब आप ने ही टाइटिल पेज पर वेद शब्द लिख कर फिर ब्राह्मण और पुराण शब्द भिन्न लिखे हैं तो औरों को क्यों कहते हो कि पुराण ५ वां वेद हैं। यदि पुराण ५ वां वेद हैं तो जैसे वेद कहने से ऋग्, यजुः, साम, अथर्व इन ४ का अर्थ आ जाता है, वैसे ही ५ वें का भी अर्थ आ जाता ॥

द० ति० भा० पृ० ७९ पं० १२ में अथर्ववेद के मन्त्र में इतिहास पुराण गाथा और नाराशंसी पद को देख कर कहते हैं कि वेद में भी इतिहासादिस्पष्टता है ॥

प्रत्युत्तर-वेद में सामान्य शब्द इतिहास पुराणादि हैं, किसी शिवपुराण अग्निपुराणादि आप के अभिमत पुराण का नाम नहीं। वेद में यदि "मनुष्य" शब्द आजावे तो क्या आप कहेंगे कि देखो वेद में मनुष्य शब्द है और हम (पं० ज्वालाप्रसाद) भी मनुष्य हैं इस लिये हमारा वर्णन वेद में आया है। इस का सविस्तर उत्तर मेरे बनाये "ऋग्वादिभाष्यभूमिकेन्दुपराजे द्वितीयोऽशः" में छपा है, वहां देख लीजिये। जैसे आप ने महामोहविद्रावण, सत्यार्थभास्कर, सत्यार्थविवेक, मतताबदिवाकर, मूर्तिरहस्य, मूर्तिपूजा आदि पुस्तकों के आशयों को इकट्ठा करके पिष्टपेषण किया है वैसा हम अच्छा नहीं समझते॥

द० ति० भा० पृ० ७९ पं० १६ में-एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः। इत्यादि। गोपथ के वाक्य को उद्धृत करके शङ्का की है कि यदि ब्राह्मण और इतिहास एक ही पुस्तक के नाम होते तो "सब्राह्मणाः" कहकर "सेतिहासाः" न कहते ॥

प्रत्युत्तर-आप तो अभी पुराणों को ५ वां वेद लिख चुके हैं फिर "सर्वे वेदाः" कहने में इतिहास भी (जो आप के लेखानुसार ५ वां वेद है) अन्तर्गत था, फिर "सेतिहासाः" क्यों कहा ? इस लिये आप का तर्क आप ही के पक्ष में दोषारोपण करता है। ब्राह्मण शब्द सामान्य कहकर भी ब्राह्मणान्तर्गत उपनिषद् और इतिहास का फिर से गिनाना यह सूचित करता है कि ब्राह्मण वा वेद के जिस भाग में विशेष कर ब्रह्मविद्या है उस भाग का नाम भिन्न उपनिषद् पड़ा और जिस ब्राह्मण भाग में लोकवृत्तान्त है उस का नाम भिन्न इतिहास पड़ा। इसी से वे पुनः भी गिनाये गये। जैसे "भगवद्गीता" महाभारत के अन्तर्गत है परन्तु विशेष प्रकरण का विशेष नाम "भगवद्गीता" वह भिन्न भी है। इसी प्रकार यहां जानिये ॥

द० ति० भा० पृ० ४९ पं० २६-और सूत्रकार ने भी तो "अश्वमेध" प्रकरण में ८ वें दिन इतिहास और ९ वें दिन पुराण का पाठ करना लिखा है। इस से निश्चय हो गया कि पुराण इतिहास, ब्राह्मणों से भिन्न ही ग्रन्थ हैं॥

प्रत्युत्तर- धन्य हैं! आप का ऐसे निश्चय होजाता है तभी तो इतना पुस्तक बढ़ाय बैठे। भला "८ वें ९ वें दिन में पुराण इतिहास सुनना आदि" इस से यह कैसे सिद्ध होगया कि ब्राह्मणों से पुराणादि पृथक् हैं? प्रत्युत यह सिद्ध होगया कि सूत्रकार के समय में आप के माने व्यासकृत १८ पुराण तो थे ही नहीं, इस से सूत्रकार ने ब्राह्मण ग्रन्थों ही को लक्ष्य करके इतिहास पुराण का पाठ लिखा है। व्यास जी से पूर्व भी कई राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ किये उन यज्ञों में ८ वें ९ वें दिन ब्राह्मणग्रन्थों ही का पाठ किया होगा॥

द० ति० भा० पृ० ५० और ५१ में मनु, महाभारत, वाल्मीकीयरामायण, अमरकोष के श्लोक जिन में पुराणशब्द और पुराण का लक्षण है, लिखे हैं परन्तु उन में से किसी में भी "ब्रह्मवैवर्तादि का नाम पुराण है" यह नहीं लिखा तो फिर सामान्य पुराण शब्दमात्र आने से कुछ भी सिद्ध नहीं होसक्ता। हां, इस पुराण सिद्धिप्रकरण भर में केवल एक श्लोक द० ति० भा० पृ० ५० में लिखा है कि-

एवं वेदे तथा सूत्रे इतिहासेन भारतम्।
पुराणेन पुराणानि प्रोच्यन्ते नात्र संशयः॥

सो इस श्लोक का कुछ पता नहीं लिखा कि यह किस ग्रन्थ का श्लोक है। हमारी समझ में तो यह पं० ज्वालाप्रसाद का ही कृत्य है। जैसा इस श्लोक में लिखा है कि "इस प्रकार वेद व सूत्र में इतिहास से भारत और पुराण से पुराणों का ग्रहण है इस में संशय नहीं"॥ ऐसा ऊपर के लिखे वेद ब्राह्मण महाभाष्यादि में कहीं भी नहीं। मनु, रामायण को तो आप भी व्यास जी से पूर्व रचित मानते हैं फिर मनु वा वाल्मीकि के प्रमाणों से व्यासकृत पुराणों का ग्रहण करना अज्ञान नहीं तो क्या है? इति॥

तिलकप्रकरणम्-

सत्यार्थप्र० पृ० ३३ पं० १९ में जो तिलकादिधारण से "पापनाशक" विश्वास को मिथ्या कहा है उस की समीक्षा द० ति० भा० पृ० ५१ व ५२ में इस प्रकार की है कि जैसे "नमस्ते" दयानन्दियों का, "परमात्माजयति" इन्द्रमणिपन्थ का, शेर का चिन्ह गवर्नमेंट की वस्तु का चिन्ह है वैसे ही तिलकादि के भेद

सम्प्रदायों के चिह्न हैं और चन्दन के गुण राजनिघण्टु में लिखे हैं इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-" नमस्ते " चिह्न नहीं किन्तु शिष्टाचार है । और चिह्न होना और बात है तथा पापनिवृत्ति का उपाय समझना और बात है । स्वामी जी पापनाशक विश्वास का खण्डन करते हैं । और भिन्न २ वेदविरोधी सम्प्रदायों के चिह्न धारण करना भी अच्छा नहीं । आप जो चन्दन के गुण बताते हैं सो तो केवल लेपन और क्वाथादि में पान करने को हैं जिस से कोई नकार नहीं करता । स्वामी जी चन्दन केशर आदि लगाते थे और आर्य लोग भी लगाते हैं, उन की बुद्धि शुद्ध है । आप के ऊर्ध्वपुण्ड्रादि में चिताभस्म के तिलक का विधान होने से मुर्दे के राख का बुरा प्रभाव आप के शैव अनुयायियों पर पड़ा है इसी से वैदिकधर्म के विरोधी बने हैं ॥

द० ति० पृ० ५२ आप का मत वेद है तो मन्वादि के प्रमाण क्यों लिखे इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर वेद अन्य सब ग्रन्थों का मूल है इस लिये स्वामी जी ने वेद और वेद के अविरुद्ध अन्य शास्त्रों के प्रमाण दिये हैं । संन्यासी (स्वामी जी) ने रुपये नहीं जोड़े, न नफ़े से पुस्तक बेचे किन्तु लोकोपकारार्थ आर्यों ने सम्मति करके स्वामी जी के द्वारा वैदिक धर्मसम्बन्धी पुस्तकों के प्रचारार्थ वैदिक यन्त्रालय स्थापित किया था और है, स्वामी जी ने उस में का स्वयं कुछ नहीं भोगा । आप ज़रा काशी के स्वामी विशुद्धानन्द जी आदि पर तो दृष्टि डालिये कि कैसा ठाठ व विभूति है ॥

इति तुलसीराम स्वामिविरचिते भास्करप्रकाशे तृतीयसमुल्लास-खण्डनम्

ओ३म्

अथ द० ति० भास्करस्य चतुर्थसमुल्लासखण्डनम्

सत्यार्थप्र० पृ० ७८ में लिखा है कि (असपिण्डा च०) इस मनु के अनुसार सामीप्य में विवाह नहीं करना और उन मनु धर्मशास्त्र की आज्ञा की पुष्टि में ८ युक्तियां भी स्वामी जी ने दे दी हैं तो पं० ज्वालाप्रसाद जी वा किसी भी मनु के मानने वाले को धर्मशास्त्र की सहायक युक्तियों का विरोध उचित नहीं । परन्तु पं० ज्वालाप्रसाद जी को तो पोछा ही करना है । इस लिये इन सहायक युक्तियों का भी प्रतिवाद ही किया है । सो

यद्यपि ऐसे छोटे विषयों पर ग्रन्थ बढ़ाना तो व्यर्थ है तथापि उन में से मुख्य २ बातों का उत्तर हम को अवश्य देना है सो लिखते हैं ॥

हम उन युक्तियों की उपेक्षा करते हैं जो पण्डित ज्वालाप्रसाद जी ने समीप विवाह के गुणों में दी हैं। वे और उन के अनुयायी सदा पड़ोस में ही विवाह कर लिया करें। स्वामी जी ने तो अपनी शास्त्रानुसारिणी एवं लोकोपकारिणी बुद्धि से दूर देश में विवाह की रीति पर बल देकर चाहा था कि आर्यधर्म का गौरव देश देशान्तर तक रहे और यदि दौर्भाग्य से पूर्वकाल के समान आर्यों का सम्बन्ध देशान्तर वा द्वीपान्तर से नष्ट न होता तो ईसाई मूसाई आदि वेदविरुद्ध मत फैल कर मनुष्यजाति की दुर्दशा ही क्यों होती। और क्यों सङ्कीर्णहृदय मनुष्यों की संख्या बढ़ती, क्यों अनैक्य और फूट बढ़कर एक मनुष्य जाति के स्थान में अनेक हिन्दू मुसलमान आदि जातियां बनतीं, क्यों एक वैदिकधर्म के अनेक मत बनते ? परन्तु सामान्य लोग उन की दूरदर्शिता गाम्भीर्य को नहीं समझ सकते। दौर्भाग्य !!

हां, एक बात द० ति० पृ० ४७ में यह लिखी है कि सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ७८ में जोः—

परोक्षप्रियाइव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः। शतपथ

प्रमाण दिया है सो यह "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा" के समान है क्योंकि शतपथ में यह देवताप्रकरण है, विवाहप्रकरण नहीं और ऐसा पाठ है किः—

तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते।
तं वा एतं मुच्युं सन्तं मृत्युरित्याचक्षते।
तं वा एतमङ्गं रसं सन्तमङ्गिरा इत्याचक्षते। शतपथे अग्निर्ह वैतमग्निरित्याचक्षते। तत् इन्द्रो मखवान् भवन्मखवान्ह वैतं मघवानित्याचक्षते परोक्षम् परोक्षकामा हि देवाः श० १४। १। १। १३॥

गोपथ ब्राह्मण के प्र० प्रपा० में लिखा है कि देवता परोक्षप्रिय हैं प्रत्यक्ष से द्वेष करते हैं। इस कारण वरण शब्द को वरुण, मुच्यु को मृत्यु और

अङ्ग रस को अङ्गिरा कहते हैं। शतपथ में लिखा है देवता परोक्षकामा हैं इस कारण परोक्ष में अग्नि को अग्नि, अश्रु को अश्व, और मखवान् को मघवान् कहते हैं इत्यादि। दयानन्द जी ने विवाह में प्रसंग लगा दिया॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी ने भी इस को विवाहप्रकरण का नहीं बताया किन्तु दृष्टान्त दिया है कि जैसे देवता परोक्षप्रिय हैं वैसे मनुष्यों के इन्द्रियों में भी देवता रहते हैं इस कारण मनुष्य को भी दूर से मिली वस्तु में अधिक प्रीति होती है, इस लिये दूरस्थों का विवाह अधिक प्रीतिप्रद होगा, यह तात्पर्य है। यह नहीं कि ब्राह्मण ग्रन्थ में दूरदेश के विवाह की विधि है किन्तु मनु के वाक्य को ब्राह्मण ग्रन्थ से पुष्ट किया है। दृष्टान्त का एक देश लिया जाता है तदनुसार केवल इतना अंश ब्राह्मण ग्रन्थ का प्रमाण में है कि "परोक्ष को देवता प्यार करते हैं" तो परोक्षों के विवाह में भी प्यार अधिक होगा और आपने जो परोक्ष विवाह का खण्डन किया सो दैवत प्रकृति से विरुद्ध हुआ तब आसुरी प्रकृति का है वा अन्य कुछ? सो आप ही विचारलें। परोपकारक स्वामी जी को " कहीं की ईंट " का उलाहना न दें। गोपथ ब्राह्मण में यह पाठ कई ठिकाने उपस्थित है॥

१-प्रपाठक १ कण्डिका १ तथा २ तथा कण्डिका ७ में ३ वार कण्डिका ३९ यथा-

परोक्षप्रियाइव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः।

और आपने जो—

परोक्षकामा हि देवाः। श० १४।१।१।१३॥

लिखा है उस का भी अर्थ यही है कि देवता परोक्ष वस्तु की कामना करते हैं। तब स्वामी जी का कहना बुरा लगने का कोई कारण द्वेष के अतिरिक्त नहीं है॥

रही यह बात कि शतपथ में यह पाठ नहीं जो कि स्वामी जी ने लिखा है। सो प्रथम तो शतपथ समस्त का पाठ किये विना ऐसा कहना कठिन है कि शतपथ में नहीं। क्योंकि आप ने जो १३ वीं कण्डिका का पाठ लिखा है वह भी शतपथ में पूरा २ इस प्रकार नहीं जैसा आप ने लिखा, किन्तु पूर्ण कण्डिका इस प्रकार है-

स उ एष मखः स विष्णुः । तत इन्द्रो मखवानभवन्मखवान्ह
वैतं मघवानित्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः ।
श० १४ । १ । १ । १३ ॥

किन्तु १३ वीं कण्डिका पूर्ण ऊपर लिखे अनुसार बर्लिन के छपे शतपथ में उपस्थित है; देख लें । इस में आप का लिखा—

अग्निर्हवैतमग्नि०

इत्यादि पाठ देखने तक को नहीं । तब तो आप ही ने "कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा" किया है । और इस से यह भी प्रतीत होता है कि समस्त शतपथ का पाठ तो दूर रहा किन्तु इस १४ । १ । १ । १३ का पाठ भी आप ने देखा भाला नहीं और अटकलपच्चू लिख दिया । तब कैसे आप कुछ विश्वास करते हैं कि यह पाठ शतपथ में नहीं है ॥

दूसरा–यह भी हो सक्ता है कि शतपथ के "परोक्षकामा हि देवाः" का और गोपथ के "परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः" का एक ही आशय होने से दोनों पुस्तक जिन स्वामी जी ने पढ़े थे उन की वाणी से 'गोपथ' शब्द के स्थान में 'शतपथ' शब्द मौखिक लेखक को लिखाते समय निकल गया हो वा स्वामी जी ने गोपथ शब्द उच्चारा हो परन्तु लेखक से 'गो' के स्थान में 'शत' लिखा गया हो । समस्त सत्यार्थप्र० के सहस्रावधि प्रमाण स्वामी जी ने मौखिक ही लेखकों को लिखाये हैं । यह बात इस से भी पाई जाती है कि सन् १८८४ के प्रयाग में छपे दुबारा सत्यार्थप्रकाश तक में जितने प्रमाण छपे हैं उन में सब ग्रन्थों के नाममात्र ही छपे हैं, विशेष पता नहीं, यदि ग्रन्थ देख २ कर लिखते तो अध्यायादि के पते भी छापते लिखते जैसा कि लोगों के हल्ला मचाने से संवत् १९४८ के अजमेर के छपे सत्यार्थप्रकाश में मनु आदि ग्रन्थों के बहुत से पते पण्डितों से ढूंढवा २ कर छपाये हैं । स्वामी जी महाराज अपने विचार को सत्य, पक्षपातरहित, दृढ़ जानते थे, इस लिये पते ढूंढ कर लिखने लिखाने की देरी करना अपने परोपकारक जीवन में पूर्णता चाहे हुये कामों का विघ्नकारक समझते थे, तीसरे–स्वामी जी ने शतपथ शब्द गोपथ शब्द के स्थान में जानबूझ कर बदल कर कोई स्वार्थ भी सिद्ध नहीं किया । दोनों का तात्पर्य एक होने से उन के सिद्धान्त की पुष्टि के लिये दोनों ही ग्रन्थों के पाठ सहायक हैं ।

केवल गोपथ के पाठ में "भवन्ति" यह क्रियापद अधिक है। जो, यदि न होता तो अध्याहार भी यही होसक्ता था। इस लिये आप का इतना बखेड़ा मचाना उचित नहीं है। और आप ने जो पृ० ५१ पं० ६ में "तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते" इत्यादि पाठ लिखा है सो ग्रन्थ का नाम भी नहीं कि कहां का है? और पं० ११ में जो "गोपथब्राह्मण के प्रपा० में लिखा है कि देवता परोक्षप्रिय हैं प्रत्यक्ष से द्वेष करते हैं इस कारण वरण को वरुण, इत्यादि" यदि यह अर्थ ऊपर के संस्कृत का होने से और गोपथ प्रपा० १ कं० ७ में ढूंढने से हमने मान भी लिया कि यह संस्कृत पाठ गोपथ का है, तो आप ने गोपथ और शतपथ को मिला कर अर्थ क्यों किया? उन का आपस में क्या सम्बन्ध, जब ग्रन्थ ही भिन्न २ हैं॥

द० ति० भा० पृ० ५९ पं० २२—ऊपर लिखी सत्यार्थप्रकाश की बातों का सिद्धान्त यह है कि २५ वर्ष में कन्या, ४८ वर्ष में पुरुष विवाह करे॥

प्रत्युत्तर—यह सिद्धान्त नहीं है किन्तु सिद्धान्त यह है कि १६ वर्ष से २४ तक कन्या तथा २५ से ४८ वर्ष तक पुरुष के विवाह का काल है। इस से पूर्व और पश्चात् नहीं॥

द० ति० भा० पृ० ५९ पं० २६—जिस के भरण पोषण का भार सदैव को शिर पर लिया जाय उस का जो भाव उस को भार्यात्व कहते हैं॥ फिर—

पृ० ६२ पं० २६—इस समय की प्रथा के अनुसार पांच वा तीन वर्ष में द्विरागमन होता है, फिर एक या दो वर्ष में माया जाई खुलती है जिस को (रौना) कहते हैं। इस समय तक स्त्री की अवस्था पन्द्रह वा सोलह वर्ष की हो जाती है। और वर भी २५ वा २६ वर्ष का हो जाता है इत्यादि॥

प्रत्युत्तर—यदि आप सदैव के लिये भरण पोषण का भार लेने से भार्या मानते हैं तो इन द्विरागमन और रौना तक के ५।७ वर्ष तक भरणपोषण का भार पिता पर रहने से आप के मतानुसार वह लड़की इस की क्या कही जाय? उतने काल तक आप के प्रचलित मत में भर्त्ता तो नाम ही का भर्त्ता है। यथार्थ में भरण पोषण तो पिता करता है, उसी के घर में रहती है॥

द० ति० भा० पृ० ५९ पं० २९ (तस्य स्वीकाररूपं ज्ञानं विशेषस्य समवायविषयः तयोर्भेदात् वरकन्ययोः विवाहकर्तृत्वकर्मत्वेति) अर्थात् भार्या का स्वीकार रूप जो विशेष ज्ञान है तिस में समवाय और विषय दो प्रकार के भेद होने से इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-उक्त संस्कृत का भावानुवाद न जाने कौन से व्याकरण से किया है। पं० ज्वालाप्रसाद जी का न्याय भी निराला है जिस में वर कन्या का समवाय सम्बन्ध ज्ञान विशेष है। "ज्ञानम्" और "विशेषस्य" का अर्थ "विशेष ज्ञान है" भी अनोखा ही है॥

द० ति० भा० पृ० ६० पं० ६ (अष्टवर्षा भवेद्गौरी) यही श्लोक लिखा है जो पराशर जी ने लिखा है। यह केवल संज्ञामात्र बान्धी है। यह नहीं कि ८ वर्ष की गौरी ही हो जावे। तुम्हारा नाम दयानन्द था तो आनन्द ही रहना था, दुःख क्यों हुवा इत्यादि॥

प्रत्युत्तर संज्ञा सार्थक और निरर्थक दोनों प्रकार की होती हैं। अस्तु आप ने गौरी आदि संज्ञाओं को निरर्थक मान लिया, अब हम कुछ नहीं कहते। स्वामी दयानन्द सरस्वती जी को यथार्थ में अविद्याग्रस्त लोक पर दया करके ही आनन्द था, अन्यथा लोकोपकार में दुःख क्यों सहते॥

द० ति० भा० पृ० ६० पं० २० से-इसी से ८ वर्ष से १२ वर्ष पर्यन्त कन्या का विवाहकाल है। जैसा मनु जी लिखते हैं:-

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः॥ ९। ९४॥

३० वर्ष का पुरुष १२ वर्ष की कन्या से विवाह करे। जो मनोहर हो। २४ वर्ष का ८ वर्ष की से। इस से शीघ्र करने में धर्म में पीड़ा होती है॥

प्रत्युत्तर-आप ने "धर्मे सीदति सत्वरः" का अर्थ उलटा किया। यथार्थ यह है कि-धर्मेसीदति=धर्म नष्ट होता हो तो। सत्वरः=शीघ्रकारी। अर्थात् यदि कोई विपत्तिकाल हो जैसा कि यवनराज्य में हुवा (जिस को मनु ने भविष्यत् में विपत्काल की सम्भावना से लिखा हो वा अन्य किसी देश काल के ज्ञाता ने लिखा हो) तो शीघ्र विवाह करे अर्थात् ८ वर्ष की से २४ वर्ष का भी विवाह करले। क्योंकि इसी नवमाध्याय के ५६ वें श्लोक में कह आये हैं कि:-

अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि।

अर्थात् इस से आगे आपत्काल का स्त्रीधर्म कहूंगा। तदनुसार ५६ वें श्लोक से इस ९४ वें श्लोक तक नियोग तथा मूल्य देकर कन्या ग्रहण का वर्णन करते करते यहां विवाह की अवस्था भी आपत्काल की ही कही है

और यही "धर्मे सीदति सत्वरः" इस चतुर्थ पाद का तात्पर्य था, जिस को आपने लौट दिया ॥

द० ति० भा० पृ० ६० पं० २१ से—शास्त्रों में ऋतुमती स्त्री के पास न जाने का महादोष कथन किया है। उस का कारण यह है कि वह समय सन्तानोत्पत्ति का होता है और ऋतुदान विना विवाह कहां। यदि विवाह होजाय तो ऋतुसमय में संयोग हो, जिस से कदाचित् सन्तान की उत्पत्ति हो जाती है, इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—आप तो ऊपर लिख आये हैं कि संयोग तो १५ वा १६ वर्ष की अवस्था में ही होता है क्योंकि ५। ७ वर्ष गौना रौना आदि में लगते हैं, सो यहां आकर क्यों चौकड़ी भूल गये कि रजस्वला के पास न जाने से महादोष है, लिखते हो। हमारे मत में तो ठीक है क्योंकि हम विवाह और संयोग के बीच ५। ७ वर्ष का व्यवधान नहीं मानते और शास्त्रानुसार चतुर्थी कर्म में ऋतुदान मानते हैं परन्तु आप तो बीच में कई वर्ष पिता के घर में रहना मानते हैं तब आप को इन प्रश्नों का उत्तर देने को रहाः—

द्विरागमन और रौना तथा आया जाई खुलते समय तक भरण पोषण पिता करता है तो आप के मत में भार्या किस की हुई? भर्ता कौन हुवा? पिता के घर रजस्वला होती रही तब ऋतुगामी किसे होना चाहिये? और ऋतुगामी न होने से महादोषभागी वर होगा उस का प्रायश्चित्त क्या है? अथवा द्विरागमन से पूर्व वर आया करे और चुपके से ऋतुदान दे आया करे वा क्या करे?

दयानन्दतिमिरभास्कर पृष्ठ ६१ पङ्क्ति ३—सुश्रुत अध्याय १० ॥

अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत् ॥

विद्यासम्पन्न पुरुष को जिस की अवस्था २५ वर्ष की हो उस को १२ वर्ष वाली से व्याह करना योग्य है इस से यह सिद्ध होता है कि पुरुष की अवस्था २५ वर्ष से कम न हो तब विवाह करे और कन्या की १० अथवा १२ वर्ष से कम न हो ॥

प्रत्युत्तर—जब कि सुश्रुतकार शारीरस्थान १०। ४७ में यह कहते हैं कि २५ वर्ष का पुरुष १६ वर्ष की स्त्री गर्भाधान योग्य होते हैं और १२ वर्ष की से २५ वर्ष के का विवाह हो तो जब कि स्त्री १६ वें वर्ष में पहुंचे तब तक पुरुष २९ वें में

पहुंचे । तो सुश्रुत के पूर्वापर लेख क्या विरुद्ध हैं ? और सुश्रुत ने १२ वर्ष के लिये लिखा उस से आप १० वा १२ ये दो अर्थ कैसे ले आये ? हम तो यह मानते हैं कि सुश्रुतकार जो वैद्य थे, उन्होंने बङ्गाल आदि देशों को लक्ष्य में रखकर वहां के निर्वाहार्थ यह दूसरा वचन लिखा है । जिस से यह सिद्ध होता है कि जहां जब युवावस्था होती हो वहां तब ही विवाह करे । यही वेद का सिद्धान्त है । देशभेद से वर्षसंख्या चाहे भी भिन्न २ रहे । परन्तु ८ वर्ष की लड़की किसी देश में भी युवति नहीं होती इस लिये आप का लेख जो "अष्टवर्षा भवेद्०" के मण्डन में है, किसी युक्ति अथवा सुश्रुतादि के मत से पुष्ट नहीं होता ॥

द० ति० भा० पृ० ६१ पं० ९-में सहवास लज्जा भय अनुराग और स्नेह यह सब बाल्यावस्थाऽभ्यस्त होने चाहियें, पङ्क्ति १५-इस प्रकार बाल्यावस्थाऽभ्यस्त सहवास स्त्रियों के अच्छेद्य संयोग का मुख्य कारण है ॥

प्रत्युत्तर—आप का तात्पर्य यह है कि पति पत्नी में अनुराग सहवासादि बाल्यावस्था से अभ्यास किये हुये तभी हो सकते हैं जब बाल्यावस्था में विवाह हो । तो क्या यह अभ्यास की युक्ति स्त्रियों को ही अपेक्षित है, पुरुष को क्यों नहीं, क्योंकि पुरुष को तो आप भी २५ वर्ष से पूर्वावस्था में विवाह के लिये कोई प्रमाण नहीं लिखते । धन्य है, जब बाल्यावस्था से ही पति पत्नी का एक दूसरे में अनुराग सहवास का अभ्यास करना हो, यह शिक्षा दी जा रही है तभी तो शास्त्र की उस मर्यादा का भङ्ग होता है कि ब्रह्मचर्याश्रम में विषय की कामना भी नहीं करनी चाहिये । इसी शिक्षा से देश की दुर्दशा हुई ॥

द० ति० भा० पृ० ६१ पं० २१—यदि १६ वर्ष वा २५ वर्ष की अवस्था में विवाह करे तो दुश्चरित्र होने की बड़ी शङ्का है ॥

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्

प्रत्युत्तर—"पत्या च विरहः" का अर्थ यह है कि पति से अलग रहना स्त्रियों को बिगाड़ना है । सो महाराज ! यदि युवावस्था में विवाह हो तो पतिविरह होने की सम्भावना न्यून है । परन्तु आप तो स्वयं कहते हैं कि ५ । ७ वर्ष द्विरागमन पर्यन्त विवाहिता कन्या पिता के घर रहती है । तब पिता के घर रहने और पति से अलग रहने से यह दोष भी आप के मत में ही आता है ॥

द० ति० भा० पृ० ६१ के अन्त और ६२ के आरम्भ में जो बड़ी अवस्था में विवाह के दोष बताये हैं उन का उत्तर इस प्रकार है:—

प्रत्युत्तर—विवाहिता कन्या के मन में विषयवासना अधिक आसकती है क्योंकि वह जानती है कि यदि मेरी कोई कुचेष्टा माता पिता आदि देखेंगे तो शीघ्र द्विरागमन करदेंगे। मुझे दोष नहीं लगेगा। अविवाहिता गुरुकुल में पुरुष का दर्शन श्रवण पर्यन्त वर्जित रहने से विषयासक्त नहीं होवेगी॥

द० ति० भा० पृ० २० पं० २३ में २० वर्ष का पति होना योग्य है वा १५ वर्ष का, इस से कमती किसी प्रकार नहीं॥

प्रत्युत्तर—१५ वर्ष के पुरुष के विवाह में तो आप के लिखे प्रमाणों से भी विरोध है। भला कन्या की बात तो दूसरी है। विवाह तथा संयोग के समय में वर्षों का अन्तर व्यभिचार का हेतु है। इस लिये सुश्रुत के मतानुसार गर्भाधान के योग्यतावाली अवस्था में ही विवाह करना चाहिये। जिस प्रकार विनाभूख भोजन अजीर्ण रोग करता है इसी प्रकार विना सन्तानोत्पत्ति योग्य अवस्था के विवाह करना भी व्यभिचार वैधव्य आदि रोगों का मूल है॥

द० ति० भा० पृ० ६३ पं० ५—ये स्त्री रूप की प्यासी होती है जाने कौनसी जाति के पुरुष को पसन्द करे.........इस से वर्णसङ्कर की उत्पत्ति होती है॥

प्रत्युत्तर—तो क्या कन्या की माता भी स्त्री होने से रूप की प्यासी होगी और वह किसी अन्य वर्ण से विवाह करदेगी तो वहां दोष नहीं आवेगा? स्वयंवर में जो स्वतन्त्रता है वह शास्त्रानुसारिणी वर्णव्यवस्था को तोड़ कर नहीं किन्तु अपने वर्ण में है। तथा विरुद्ध गुण कर्म स्वभाव वाले पुरुष को पसन्द भी नहीं करसकती॥

द० ति० भा० पृ० ६३ पं० १२ से—जब कि कन्यादान शब्द विवाह में कहा जाता है तो कन्या विना पिता की अनुमति कैसे पतिवरण करसकती है॥

प्रत्युत्तर—आप अपनी ही विवाहपद्धितियों को देखते तो ज्ञात होता कि उन में प्रथम यह लिखा है कि—

अथ वरं वृणीते

अर्थात् कन्या वर का वरण करती है। यह नहीं लिखा कि माता पिता कन्या से वर का वरण कराते हैं कि इसे वरण कर। किन्तु—

स्वतन्त्रः कर्त्ता।१।४।५४॥

उस सूत्र के अनुसार "वृणीते" क्रिया का स्वतन्त्र कर्त्ता कन्या है । कन्यादान पीछे होता है, जब कि पहिले कन्या स्वयं वरण करलेवे, जिसे वह वरण कर लेवे, उसी वर के लिये पिता की ओर से कन्या और साथ में वस्त्राभूषणादि देना शिष्टाचार है । उस का तात्पर्य यह नहीं है कि पतिवरण करने में माता पिता अपनी कन्या को परतन्त्र करें कि इसे ही वरो, किन्तु ब्रह्मचर्य पूर्ण करके शास्त्र पढी लिखी द्विजकन्या शास्त्रानुसार अपने वर्ण में से स्वतन्त्रतापूर्वक अनुकूल पति का वरण करे । शास्त्रविरुद्ध स्वतन्त्रता का नाम स्वतन्त्रता नहीं किन्तु स्वेच्छाचार अधर्म है ॥

द० ति० भा० पृ० ६३ पं० १७ से–

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणां भर्त्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥
यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वानुमते पितुः ।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लङ्घयेत् ॥
(मनु अ० ५ श्लोक १४८, १५१)

बाल्यावस्था में पिता के वश में, यौवन में पति के वश में, भर्त्ता के मरने पर पुत्रों के वश में स्त्री रहे, परन्तु स्वतन्त्र कभी न रहे ॥१४८॥ जिसे इस को पिता देदे वा पिता की अनुमति से भ्राता देदे, उसकी यावज्जीवन सेवा करती रहे और मरने पर श्राद्धादि करे, कुल के वशीभूत रहै, मर्यादा को न लङ्घन करे ॥ १५१ ॥ इत्यादि प्रमाणों से स्त्री स्वयं पति वरण नहीं कर–सकती स्वयंवर राजों में होता है ॥

प्रत्युत्तर–प्रथम श्लोक का तात्पर्य तो यह है कि बाल्यावस्था में पिता का, यौवन में भर्त्ता का, वृद्धावस्था में पुत्रों का कहना माने, उन के विरुद्ध न चले । यह कहां से निकल आया कि शास्त्रानुकूल अपने वर्ण के पति को स्वयं वरण न करे । पिता भ्राता आदि उस के स्वयं पतिवरण के विरोधी भी क्यों होने लगे हैं जब कि वह पतिवरण के शास्त्र पढ़ कर तदनुकूल पति वरण करेगी । द्वितीय श्लोक की यह ध्वनि निकालना पक्षपात है कि जिसे देदे उस की सेवा करती रहे, किन्तु स्वयंवरपूर्वक पिता वा भ्राता की दान की हुई अपने पति की शुश्रूषा में श्रद्धापूर्वक तत्पर रहे तथा मरने पर जो मर्यादा जीते पति ने बांधी हों उन का उल्लङ्घन न करे । श्राद्ध का मूल

श्लोक में पता भी नहीं, परन्तु आप को आह्वान ऐसा मुंह लगा है कि सर्वत्र वही दृष्टि पड़ता है और राजों में स्वयंवर होता है, अन्यों में नहीं। इस का कहीं धर्मशास्त्र में विधान भी है?वा आपका कहना ही प्रमाण है और यदि स्वयंवर से स्त्री को स्वतन्त्रता होती है और आप के विचार में स्त्रियों को स्वतन्त्रता अधर्म है तो यह तो बतलाइये कि स्वतन्त्रता के रोकने वाले धर्मशास्त्र के वे वचन जिन के आधार से आप स्त्रियों की स्वतन्त्रता बुरी समझते हैं, उन श्लोकों में कहीं क्षत्रिया कन्याओं को वर्ज दिया है? क्या वे श्लोक चातुर्वर्ण्य के लिये नहीं हैं। क्या आप उन श्लोकों को क्षत्रियों पर नहीं लगने में कोई प्रमाण रखते हैं? यदि वे श्लोक स्वतन्त्रता को रोकते हैं तो राजों की कन्याओं के स्वातन्त्र्य को भी रोकेंगे। इस लिये मन माना सिद्धान्त नहीं बन सकता कि राजकन्या स्वयंवर करें और अन्य कन्या न करें। शास्त्र में राजकन्या और अन्य कन्याओं के पतिवरण में भेद नहीं प्रतिपादित किया, न आप ने कोई ऐसा प्रमाण दिया॥

द० ति० भा० पृ० ६३ पं० २२ से-

रामचन्द्र महाराज का १५ वर्ष की अवस्था में विवाह हुवा था यह वाल्मीकि से सिद्ध है और अभिमन्यु का भी थोड़ी ही अर्थात् १४ वर्ष की अवस्था में हुवा था इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-प्रथम तो आप ने वे श्लोक भी नहीं लिखे जिन से रामचन्द्र और अभिमन्यु का १५। १४ वर्षों में विवाह पाया जाय। द्वितीय आप १५। १४ वर्ष की अवस्था में पुरुष के विवाह का कोई मनु धर्मशास्त्र का प्रमाण बताइये। यदि आप के लिखे अनुसार भी ब्रह्मचर्य का समय मानें तो भी १७ वर्ष से पूर्व नहीं हो सकता। आप पृष्ठ ६० में ३० वर्ष के पुरुष को १२ वर्ष की, २४ वर्ष के को आठ वर्ष की कन्या बता चुके हैं, तथा पृष्ठ ६१ में सुश्रुत के मत से २५ वर्ष के को १२ वर्ष की बता चुके हैं तो क्या रामचन्द्र और अभिमन्यु ने धार्मिक होकर स्वामी दयानन्द सरस्वती के अभिमत ब्रह्मचर्य काल को न माना सो न सही, परन्तु आप के अभिमत को भी नहीं माना? और रामचन्द्र जी ऐसा धर्मशास्त्र के विरुद्धाचरण करने पर भी मर्यादापुरुषोत्तम कहलाते रहे? और क्या १५ वर्ष के रामचन्द्र को ५ वर्ष की ही सीता विवाही गई थी? यदि नहीं तो फिर अवस्था का २४। ८ वा ३०। १२। वा २५। १२ में जो अन्तर आप के मत में भी पुरुष और स्त्री में

रहना चाहिये, वह भी रामचन्द्र जी ने न माना ? और बाल्मीकीयरामायण में जो सीता और रामचन्द्र के युवति और युवा होने के चिह्न नीचे के श्लोकों में वर्णित हैं, वे क्या किसी आर्यसमाजी ने मिला दिये हैं ॥

बाल्मीकीयरामायण बालकाण्ड सर्ग ७२ श्लोक ७ कल्पतरुयन्त्रालय छापा मुम्बई सन् १८८९ में, वशिष्ठ व विश्वामित्र ने रामचन्द्र के वंशवर्णन (शाखोच्चार) के पश्चात् विवाह के पूर्व कहा है कि:—

पुत्रा दशरथस्येमे रूपयौवनशालिन: ।

अर्थात् ये दशरथ के पुत्र रूप और यौवन से युक्त हैं ॥ यदि १५ वर्ष की अवस्था रामचन्द्र जी की थी तो लक्ष्मण उन से भी छोटे थे, अतः उन की भी न्यून अवस्था थी । और चारों भाइयों का विवाह जनकपुरी में साथ ही हुआ था और इस श्लोक में दशरथ के चारों पुत्र राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न को यौवनशाली लिखा है तो विचारना चाहिये कि यौवन किस अवस्था का नाम है । सुश्रुत के मतानुसार-

आपञ्चविंशतेर्यौवनम् ॥ आषोडशाद्वृद्धि: । सूत्रस्थानअ०३५

१६ वें वर्ष तक वृद्धि अवस्था तथा २५ वें तक यौवन होता है । फिर क्या वशिष्ठ विश्वामित्र अज्ञानी थे ? जो १५ वें वर्ष में रामचन्द्र को यौवनशाली कहते । और लक्ष्मण तो रामचन्द्र जी से भी छोटे थे फिर उन को यौवनशाली कैसे कहा जा सकता था ॥

और जिन सीता आदि ४ कन्याओं का राम आदि ४ वरों से विवाह हुआ, उन की अवस्था का वर्णन सुनिये और देखिये कि आप की लिखी व्यवस्थानुसार विवाह से १ । ३ । ५ वा ७ वर्ष पश्चात् द्विरागमन पर्यन्त वे पिता के घर नहीं रहीं किन्तु उसी रामायण बालकाण्ड सर्ग ७७ श्लोक १४ में लिखा है कि:—

रेमिरे मुदिता: सर्वा भर्तृभिर्मुदिता रह: ॥

अर्थात् भर्त्ताओं के साथ एकान्त देश में मुदित हुई वे सब रमण करती भई । फिर क्या रामचन्द्र १५ वर्ष के ही एकान्त रमण करने लगे और लक्ष्मण यती इस से भी पूर्व ? और हम आप के हिसाब से लक्ष्मण की स्त्री ८ । १० वर्ष की वय में ही ? । धन्य महाराज ! चाहिये तो यह था कि श्रीरामचन्द्र आदि शिष्टों के मार्ग पर आप चलते, औरों को चलाते, उलटे आप

रामचन्द्र जी को ही इन कलियुगी बालविवाह पर चलाने लगे । अथवा आजकल के लोगों की भांति रामलक्ष्मणादि की स्त्रियां भी-

बहू बड़ी, घर छोटे लाला

के समान थीं ? हम वाल्मीकीय रामायण का ही प्रमाण देते हैं वा किन्हीं आर्यसमाजियों ने ये ऊपर लिखे श्लोक रामायण में मिला दिये वा क्या हुआ ? अब आप के लिखे १५ वर्ष कहां गये ॥

वाल्मीकीय रामायण अयोध्या-काण्ड

पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता ।
चिन्तामभ्यगमद्दीनो वित्तनाशादिवाऽधनः ॥

सर्ग ११८ श्लोक ३४ ॥

अत्रि ऋषि की स्त्री अनसूया के प्रति सीता अपना पूर्व वृत्तान्त सुनाती है कि पतिसंयोग सुलभ मेरी आयु को देख मेरा पिता चिन्ता को प्राप्त हुवा, जैसे धननाश से निर्धन । पतिसंयोग सुलभ आयु ऋतु से पूर्व नहीं होती ॥

और इसी प्रकार क्या अभिमन्यु ने भी धर्मशास्त्रों पर हरताल लगाकर १४ वर्ष की अवस्था में विवाह कर लिया था ?

द० ति० भा० पृ० ६४ पं० १ से-इस समय सब लोग जो चारों वर्ण के हैं बहुधा बालकों को फ़ारसी पढ़ाते हैं और इस फ़ारसी ने ऐसी दुर्दशा करदी है कि थोड़ी अवस्था में ही बालक फ़ारसी के शेर ग़ज़ल दीवान आदि पढ़ कर कामचेष्टा में अधिक मन लगाते हैं इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-यह तो लोगों का अपराध है कि बालकों को ऐसे शेर ग़ज़ल दीवान पढ़ा कर बिगाड़ते हैं । शास्त्र का अपराध नहीं । आप से यह तो न बन पड़ा कि उपदेश और पुस्तक द्वारा इस कुशिक्षा को रोकते किन्तु इस से यह फल निकालने लगे । एक तो कुशिक्षा ही बालकों की दुर्दशा कर रही है, तिस पर बालविवाह का तुर्रा ॥

द० ति० भा० पृ० ६४ पं० ११ से—

जब ४८ वर्ष में (जो क्षीण अवस्था होती है) जैसा कि लिखा है कि-

"चतस्रोऽवस्थाःशरीरस्य वृद्धिर्यौवनं संपूर्णता किंचित्परिहाणिश्चेति । आषोडशाद्वृद्धिः आपंचविंशतेर्यौवनं, आचत्वारिंशतः सम्पूर्णता, ततः किंचित्परि-

हानिश्चेति" अर्थ—इस शरीर की चार व्यवस्था हैं वृद्धि यौवन सम्पूर्णता और किञ्चित्परिहाणि । जन्म से लेकर १६ वर्ष तक वृद्धि अवस्था कहाती है अर्थात् बढ़ती है और २५ से लेकर ४० वर्ष पर्यन्त सम्पूर्णता अवस्था कहाती है, पुनः ४० वर्ष से उपरान्त कुछ कुछ घटने लगती है ब्याह किया तो दो तीन वर्ष उपरान्त ही पूर्ण जराग्रस्त पुरुष और पूर्ण युवावस्था युक्त स्त्री होती है तो बस 'वृद्धस्य तरुणी विषम्" बुड्ढे को तरुणी विष है, उन को तो बहुत प्रसङ्ग भाता ही नहीं, बस वे किसी और नवयुवा की खोज करके धर्मच्युत होती हैं और जो यह कहो कि ब्रह्मचर्य से आयु बढ़ती है सो यह भी नहीं देखा जाता क्योंकि स्वामी जी ने तो पूर्णता से ब्रह्मचर्य धारण किया था, परन्तु अट्ठावन वर्ष की अवस्था में ही शरीर छूट गया यदि स्वामी जी का ४८ वर्ष में किसी बीस वर्ष की अवस्था युक्त स्त्री से विवाह होता तो वह बिचारी अब शिर पटकती या नहीं । हां प्राणायाम सदाचार तपादि करने से निश्चय आयु वृद्धि को प्राप्त होती है केवल वेद वेद वाणी से कहने तथा श्रुतियें पढ़ने ही से धर्मात्मा नहीं होता ॥

प्रत्युत्तर—यह लेख इस लिये व्यर्थ है कि जो कोई ब्रह्मचर्य ४८ वर्ष रक्खेगा वह शीघ्र वृद्ध नहीं हो सकता । ४० वर्ष के ऊपर क्षीणता का वर्णन सामान्य २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य रखने वालों के लिये है । प्रत्यक्ष है कि स्वामी जी महाराज ५९ वर्ष की आयु तक साधारण पहलवानों से अधिक बलिष्ठ जितेन्द्रिय रहे । आप ने इसी पुस्तक के ११ वें समुल्लास पृष्ठ २९५ में स्वामी जी को विष दिया जाना लिखा है । तब क्या आप कह सकते हैं कि वे ५९ वें वर्ष में वृद्धावस्था के कारण समाप्त हुवे ? कदापि नहीं, वे १०० वर्ष पर्यन्त जीते और जगत् का उपकार करते परन्तु शेष ४१ वर्ष के होने वाले जगदुपकारविरोधी किसी दुष्ट ने प्राण ले जगत् की हानि का अपराध शिर पर ले अपना काला मुंह किया, इस में ब्रह्मचर्य का क्या दोष है ? और उन की वृद्धता किसी प्रकार सिद्ध नहीं और आप ने १६ से २५ तक यौवन अवस्था को अर्थ में छिपा दिया ॥

द० ति० भा० पृ० ६४ पं० २६ से—

अग्निहोत्रं च वेदाश्च राक्षसानां गृहे गृहे ।
क्षमा सत्यं दयाशौचतपस्तेषां न विद्यते ॥ वाल्मी० ॥

राक्षसों के घर में भी अग्निहोत्र और वेद थे परन्तु उन में क्षमा सत्य

दया और पवित्रता और ज्ञान युक्त तप नहीं था इस से वे राक्षसत्व से मुक्त नहीं थे और यदि ब्रह्मचर्य ही आयु का वृद्धि करनेवाला होता तो स्वामी जी की आयु ४०० वर्ष की होती क्योंकि वे अपने को योगी भी तो मानते थे अथवा पूरे सौ ही वर्ष की होती जो ब्रह्मचर्य से ही आयु बढ़ती है तो आप का ब्रह्मचर्य ठीक नहीं और जो ब्रह्मचर्य ठीक तो आयु क्यों नहीं बढ़ी ब्रह्मचर्य से तो वीर्य की अधिकता होती है जिस से शरीर में पूर्ण बल होता है जैसा योगशास्त्र में लेख है (ब्रह्मचर्याद्वीर्यलाभः) अर्थात् ब्रह्मचर्य से वीर्य का लाभ होता है हां योगाभ्यास प्राणायाम समाधी से आयु की वृद्धि होती है अन्यथा आयु पूर्वकर्मानुसार निर्णीत होती है जैसे नीति में लिखा है कि:—

आयु: कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च ।
पंचैतानीह सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिन: ॥

आयु कर्म धन विद्या मरण यह पांच वस्तु देही के गर्भ में ही नियत हो जाती हैं सब ही बात कर्मानुसार होती है इसी प्रकार जिस के कर्म में वैधव्य है क्या उसे कोई मेटने को समर्थ है यदि कर्म मिथ्या हो जाय तो जगत की व्यवस्था ही मिट जाय यह मरण जीवन सब ही कर्मानुसार है। यदि बड़े हुवे विवाह हो तो क्या बड़ी उम्र में कोई विधवा नहीं होतीं क्या बड़ी उम्र में विवाह करके कोई कर्म को मेट सकता है इस समय के विवाह और संयोग की रीति वाग्भट्ट के अनुसार होनी चाहिये क्योंकि कलियुग के वास्ते यही अधिकांश में प्रमाण है ॥

अत्रि: कृतयुगे चैव त्रेतायां चरको मत: ।
द्वापरे सुश्रुत: प्रोक्त: कलौ वाग्भटसंहिता ॥

सतयुग में अत्रिसंहिता, त्रेता में चरकसंहिता, द्वापर में सुश्रुत और कलियुग के लिये वाग्भट्ट संहिता है अब देखना चाहिये कि वाग्भट्ट किस समय में स्त्री पुरुष का संयोग कथन करता है ॥

पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन सङ्गता ।
शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि ॥१॥
वीर्यवन्तं सुतं सूते ततोन्यूनाब्दत: पुन: ।
रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा ॥२॥

पूर्ण सोलह वर्ष की स्त्री बीस वर्ष की अवस्था वाले पुरुष के साथ संग करने से शुद्ध गर्भाशय और गर्भाशय का मार्ग तथा रुधिर वीर्य और पवन हृदय में होने से स्त्री सामर्थ्यवान् पुत्र को प्रगट करे इस से न्यून अवस्था वाले पुरुष और स्त्री के संयोग होने से रोगी और अल्पायु और दुष्ट बालक होता है॥

प्रत्युत्तर–अग्निहोत्र और वेद राक्षसों के घर में दम्भपूर्वक दिखाने को हो सकते हैं, श्रद्धापूर्वक नहीं। क्योंकि उन में श्रद्धा होवे तो उन के लेखानुसार क्षमा सत्य दया शौच और तप का भी धारण करें। तथा आपके पुराणों में तो रावण का भी उग्र तप करना और हिरण्यकशिपु राक्षस का तप करना तप करके मृत्यु न होने के लिये दिन रात्रि, देव मनुष्य पशु आदि से मृत्यु न होना, वर मांग कर अमर रहने का उद्योग करना, लिखा है। फिर आप किस प्रकार कहते हैं? और रामायण के श्लोक को कैसे मान सकते हैं? यदि स्वामी जी के पितृ पितामह भी ब्रह्मचर्य योगाभ्यासादि युक्त होते तो निस्सन्देह उन की अवस्था ४०० वर्ष वा ३०० की होती और विष न दिया जाता तो अब भी वे १०० वर्ष में वृद्ध होते। परन्तु ब्रह्मचारिवध से अपना काला मुख करने वाले को परलोक में नरकयातना जो भोगनी थी। (ब्रह्मचर्याद्वीर्यलाभः।) इस प्रकार योग में कोई सूत्र नहीं है किन्तु–

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। योगशा० साधनपाद २ सूत्र ३८

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठा में वीर्य का लाभ होता है। वीर्य बल पराक्रम शौर्यादि को बढ़ाता है। जिस से आयु बढ़ती है। यदि ब्रह्मचर्य से नहीं बढ़ती किन्तु पूर्वजन्म के ही कर्मानुसार होती है तो आप ने पृष्ठ ६५ पं० २४ में क्यों लिखा है कि—

"प्राणायाम सदाचार तप आदि के करने से निश्चय आयु वृद्धि को प्राप्त होती है"॥

फिर आप "आयुः कर्म च०" इत्यादि श्लोकका यह तात्पर्य कैसे निकालते हैं कि आयु पूर्वजन्म के ही अनुसार हो सकती है। और ब्रह्मचर्य से बढ़ नहीं सकती। यदि नहीं बढ़ सकती तो आप के लिखे प्राणायामादि से भी नहीं बढ़ सकती। इस लिये इस श्लोक का यह तात्पर्य समझना चाहिये कि पूर्वजन्म के कर्मानुसार आयु, कर्म, धन, और विद्या और मृत्यु नियत तो होती हैं, परन्तु उस के वर्त्तमान अति उग्र पुण्य वा पाप हो जावे तो वे नियत आयु आदि घट बढ़कर परमात्मा की ओर से फिर २ नियत होती रहती हैं॥

अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते ।

जिस प्रकार एक पुरुष को एक वर्ष के कारागार का दण्ड नियत किया जावे और वह कारागार में रहता हुवा कोई अन्य अपराध कर बैठे तो दण्ड की अवधि बढ़ा दी जाती है और अच्छेप्रकार रहने से घटा भी दी जाती है। किन्तु सदा उस समय तक किये कर्मानुसार नियत अवश्य रहती है। यदि आप आयु का बढ़ना असम्भव मानेंगे तो आप के मत में उन सब कथाओं से विरोध आवेगा जिन में अनेकों ने तप करके अपनी आयुर्वृद्धि मांगी है, तथा अमर होना तक आप के मतस्थ पुस्तक प्रतिपादन करते हैं, तथा वैद्यक के समस्त 'आयुष्य' नाम के योग (नुसख़े) और धर्मशास्त्र के समस्त 'आयुष्य' धर्मानुष्ठान व्यर्थ हो जावेंगे। और जितनी हिंसा होती हैं उन सब में कोई दोष ही न रहेगा क्योंकि आयु प्राणिमात्र की नियत है, उस से पूर्व कोई किसी को नहीं मार सकेगा और जो मारेगा, वह मानों आप के मत में परमेश्वर का भेजा (जल्लाद) है। जो परमेश्वर की नियत की हुई अवधि पर उसे मारता है। और-

"नहीदृशमनायुष्यम्"

इत्यादि वाक्य व्यर्थ हो जायंगे जिन में आयु घटने के दुष्कर्मों को "अनायुष्य" कहा है॥ कर्म को कोई नहीं मेट सकता तो-

"अकालमृत्युहरणम्"

कहकर जो मन्दिरों में चरणामृत दिया जाता है सो भी असत्य है? यदि सत्य है और अकालमृत्यु से बचा सकता है तो आप का कहना ठीक नहीं कि आयु घट बढ़ नहीं सकती और क्या ब्रह्मचर्यरूप दुष्कर तपश्चर्या चुल्लू भर जल और तुलसीपत्र की बराबर भी नहीं जो आयु को बढ़ासके? बहुत से पुजारी दूसरों को अकालमृत्युहरण कहते २ स्वयं शीघ्र मर जाते हैं। और बड़ी उमर में विवाह होने से विधवा अवश्य न्यून होती हैं। मृत्यु के रजिस्टर से प्रमाण मिल सकता है कि बालक और वृद्ध अधिक मरते हैं, और युवा न्यून॥

आप का लिखा ".अत्रिःकृतयुगे" इत्यादि श्लोक कौन से आर्षग्रन्थ का है जिस के अनुसार कलियुग में वाग्भट ही का वैद्यक माना जावे;और सुश्रुतादि का नहीं। तथा "कलियुगे"का अर्थ " कलियुग के लिये " कैसे हुवा। किन्तु

" कलियुग में " होना चाहिये । हमारी समझ में तो उक्त श्लोक यदि माना जाय तो उस का अक्षरार्थ भी यह है कि सत्ययुग में अत्रिऋषि और त्रेता में चरक तथा द्वापर में सुश्रुत हुवे और कलियुग में वाग्भटसंहिता बनी । इस लिये यह कलियुगी संहिता उन ऋषियों के ग्रन्थों का विरोध करके नहीं माननी चाहिये जो प्राचीन युगों में हुवे हैं । और यदि थोड़ी देर को वाग्भट को ही माना जाय तो भी इन श्लोकों में १६ वर्ष की स्त्री और २० वर्ष का पुरुष कहा है । 'अष्टवर्षा भवेद्गौरी' तो इस से भी उड़ा ही जाता है । और यदि कलियुग में वाग्भट के अतिरिक्त सुश्रुतादि के प्रमाण नहीं मानने चाहियें तो आप ने जो इस पोथे में सुश्रुत और चरक के प्रमाण दिये हैं वे सब आप का श्रम और पुरुषार्थ कलियुगार्थ होने से सारे व्यर्थ हैं ?

द० ति० भा० पृ० ६५ पं० २८ से—" द्वादशाद्वत्सरादूर्ध्वमापंचाशत्समाः स्त्रियः मासि मासि भगद्वारा प्रकृत्यैवार्त्तवं स्रवेत् " बारह वर्ष से लेकर ५० वर्ष की अवस्था पर्यन्त महीने २ स्त्री रजोवती होती हैं अब इस सब कथन का तात्पर्य यह है कि १० वर्ष से ऊपर तो कन्या का विवाह करे और १६ बीस वर्ष की अवस्था में पुरुष का विवाह करना इस से जानती कमी न करे यह सिद्धान्त है इस में भी सोलह वर्ष मध्यम और बीस वर्ष का विवाह उत्तम है इसमें विद्या भी पूर्ण हो जायगी और कठिन रोग जो बालावस्था के हैं उन से भी बच जायगा आगे प्रारब्ध तो बलवान् है ही पुनः तीन अथवा पांच वर्ष में द्विरागमन होने तक दोनों की अवस्था वैद्यक के अनुसार पूर्ण हो जायगी और जो १६ । २० में विवाह हों तो द्विरागमन की आवश्यकता नहीं ॥

प्रत्युत्तर—आप के लिखे श्लोक से ज्ञात होता है कि बारहवें वर्ष से ऊपर स्त्री रजस्वला होती है । यदि इसे माना जाय तो शीघ्रबोध का—

दशवर्षा भवेत्कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला

यह श्लोक असत्य मानना पड़ेगा । क्योंकि इस में १० वर्ष के उपरान्त ही रजस्वला लिखा है । फिर इस सब का तात्पर्य यह कैसे निकला कि १० वर्ष से ऊपर कन्या का विवाह करे । किन्तु ऊपर लिखे श्लोक में तो १२ वर्ष उपरान्त तो रजस्वला होना ही लिखा है फिर—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् । मनु० ९ । ९०

अर्थ-ऋतुमती (रजस्वला) होने पर कुमारी ३ वर्ष पर्यन्त उदीक्षा करे तत्पश्चात् सदृश पति से विवाह करे । अब बारह १२ और ३=१५ के पश्चात् वही स्वामी जी का लिखा सोलहवां वर्ष आगया । एक बात और भी है कि इस ऊपर लिखे श्लोक में "विन्देत" का कर्त्ता कुमारी है । कर्त्ता स्वतन्त्र होता है अर्थात् कुमारी स्वतन्त्र कर्त्तृभूत अपने सदृश पति को प्राप्त हो जावे इस में यह नहीं कहा कि जिस कुवे खत्ती में पिता डाले उसी में जा पड़े । इस में "सदृशं" पद भी है जिस से आप का कटाक्ष कटता है कि स्वामीजी ने गुण कर्म स्वभाव मिलाना व्यर्थ लिखा है । स्वामी जी ने जो कुछ लिखा है उस में बहुशः मनु के प्रमाण लिखे हैं इस लिये स्वामी जी ने स्वयं नहीं लिखा किन्तु मनु का मत लिखा है । आप जो सिद्धान्त करते हैं कि १०वर्ष से ऊपर स्त्री और १६ वा २० वर्ष में पुरुष का विवाह करे इस में कोई शास्त्र प्रमाण नहीं । और जो युक्ति दी हैं कि इस में बाल्यावस्था के कठिन रोग भी बच जायंगे और विद्या भी पूर्ण हो जायगी । सो भी ठीक नहीं । क्योंकि शीतलादि रोगों का समय सामान्यतया जन्म से १५ वर्ष तक देखा जाता है । और प्रायः बालकों के मृत्यु १५ वर्ष तक इन रोगों से होते हैं । और सोलहवें वर्ष में पुरुष की विद्या क्या पूर्ण हो सकती है ? तब तक तो बुद्धि परिपक्व भी नहीं होती । आप विवाह की अवस्था को घटा कर विद्या का भी लोप करते हैं, अविद्या में धूर्त्तों की धूर्तता खूब चलती है, जिस से अविद्वान् गृहस्थों को बड़े कष्ट होते हैं । और आप के अभिमत उत्तमकोटि के विवाह में द्विरागमन की आवश्यकता नहीं तो द्विरागमन का मुहूर्त्त बताने वाले शीघ्रबोधादि व्यर्थ होंगे वा नहीं ? जो यथार्थ में वेद और धर्मशास्त्रों से बढ़कर एक नया संस्कार घड़े बैठे हैं । द्विरागमन का कहीं मनुधर्मशास्त्र भर में लेख ही नहीं फिर आप उस के सहारे व्यवस्था क्यों बांधते हैं ॥

द० ति० भा० पृ० ६६ पं० ८ से-

अब वर कन्या के फ़ोटोग्राफ़ (अर्थात् तसवीर वा प्रतिबिम्ब) की लीला सुनिये भला इस में कौन सी श्रुति प्रमाण है कि वर की तसवीर कन्या और कन्या की वर के अध्यापकों के पास जाय जब वर की तसवीर

कन्या के पास गई तो यह सूरत के सिवाय और क्या देख सकती हैं और जीवनचरित्र कहां से आवे जब कि दोनों ही अध्यापकों के पास पढ़ते हैं और उस समय जीवनचरित्र की आवश्यकता क्या है क्योंकि केवल विद्या अध्ययन के सिवाय और उन का जीवनचरित्र क्या होगा यही कि अमुक २ ग्रन्थ पढ़े हैं वा और कुछ यदि और कुछ हो तो वोह क्या हो और उन में कौन से चरित्र लिखे जांय यही प्रयोजन होगा कि जिस दिन से जन्म लिया आठ वर्ष तक खेला फिर पढ़ने लगा इस के सिवाय और क्या होगा और उस जीवनचरित्र का लेखक और साक्षी कौन होगा आप या आप के चेले और यदि अध्यापक लिखें तो एक दो अध्यापक के पास ५० शिष्य हों और वह एक २ का २५ वर्ष का जीवनचरित्र बनावे तो विद्यार्थियों को कौन पढ़ावे और फिर बिना लाभ २५ वर्ष का इतिहास लिखने कौन बैठेगा ? और एक पुस्तक हो तो लिख भी दें। जहां पचास वा ६० हों वहां की क्या ठीक, क्योंकि जब अध्यापकों के पास विद्यार्थी रहे तो उन की व्यवस्था वे ही ठीक जानते हैं, जब वे धन लेकर पुस्तकें बनावेंगे तो यह भी हो सकता है कि अधिक धन देने वाले के औगुणों को छिपा कर गुण ही लिखेंगे क्योंकि वे तो यह जानते ही हैं कि यदि औगुण लिखेंगे तो विवाह नहीं होने का और इसी प्रकार लड़की भी कर सकती हैं कि जो कुछ घर से ख़र्च आवे कुछ जीवनचरित्र लिखने वाले के भी भेंट करेंगी क्योंकि जब ४०० रुपये तक के नौकर भी बहुधा घूंस खाते हैं तो जीवनचरित्र लिखने वाले की क्या कथा है "जेहि मारुत गिरिमेरु उड़ाहीं। कहो तूल केहि लेखे माहीं" यदि कहो कि सब ऐसे नहीं होते हैं तो और सुनिये, यदि उन्हों ने लड़के लड़की के औगुणों का जीवनचरित्र लिखा तो अब उन से कौन विवाह करे वे किस की जान को रोवें विधवा का तो आप ने वियोग भी लिखा और ग्यारहभर्त्ता करने लिखे परन्तु वे क्वारी क्या करें वे पति करें या नहीं वा कुछ ग्यारह से अधिक करें यह कुछ स्वामी जी ने लिखा नहीं क्योंकि जो औगुण-युक्त हैं उन से विवाह कौन करे और तसवीर देखकर पसन्द करने उपरान्त उस से अधिक रूप गुण मिलने से वे स्त्री दूसरे के सङ्ग करने की इच्छा कर सकती हैं इस से तसवीर मिलाना ठीक नहीं शोक की बात है कि जन्मपत्र जिस से रूप, रङ्ग, स्वभाव, विद्या, आयु आदि सब कुछ विदित हो जाय, वह तो निकम्मा और यह तसवीर मिलाना ठीक। धन्य है इस बुद्धि पर, इस कारण

यही उत्तर है कि माता पिता को पुत्र का अधिक स्नेह होने से वे चित्त लगा कर कुल गुण सम्पन्न पुरुष को आप ही देखें तथा उस के व्यवहार की परीक्षा स्वयं अपने सम्बन्धियों के द्वारा करावें जैसा कि अब भी होता है हां, नाई आदि के भरोसे सम्बन्ध कर देना महामूर्खता है, स्वयं देखना चाहिये और बालकपन से आठवें वा दशवें वर्ष तक का इतिहास क्या कार्य देगा, क्या धूरि में लोटना, पड़े २ मूत्रादि करना, भोजन कू हव्वा पानी कू मम्मा कहना यह भी उस में लिखा जायगा, जब कि यज्ञोपवीत हो कर गुरु के विद्या पढ़ने गये तो सिवाय पढ़ने के और क्या जीवनचरित्र होगा। यह जीवनवृत्तान्त आप ने जन्मपत्र के स्थान में चलाने का विचार किया है। (जिस जन्मपत्र से कुल, गोत्र, जन्म दिन आदि सब कुछ विदित हो जाता है)॥

प्रत्युत्तर-ऊपर हम मनु के श्लोक में "सदृश" शब्द दिखा चुके हैं, इस लिये देह के बाहरी अङ्गों की तुल्यता फ़ोटो * से भले प्रकार विदित हो सकती है और आन्तरिक गुण दोषों की तुल्यता जीवनचरित्र से ज्ञात हो सकती है। जीवनचरित्र कुछ बहुत बड़ा पुस्तक नहीं होता, किन्तु विद्यार्थी के चाल चलन, विद्या, योग्यता, स्वभाव आदि का परिचय गुरु को अवश्य हो जाता है। जब कि सर्वथा गुरुकुल में विद्यार्थी रहें तब का तो कहना ही क्या है, किन्तु आजकल स्कूल और कालिजों में ६ वा ४ घण्टे पढ़ने को जाने वाले विद्यार्थियों के सर्टीफ़िकेट में भी हेडमास्टर वा प्रिंसिपल लोग उस विद्यार्थिगण के समस्त संक्षिप्त मुख्य २ चरित्र को लिख देते हैं। दुष्ट पुरुष अध्यापक होने के ही योग्य नहीं, स्वामी जी ने आप्त विद्वान् धर्मात्मा स्त्री पुरुषों को आचार्य बनाना लिखा है फिर वे घूंस खाकर बुरे को भला और भले को बुरा नहीं लिख सकते और स्वयं धर्मात्मा स्वामी जी ने धर्मात्मा आचार्यों का नियत करना लिखा है। इतने पर भी यदि कोई अधर्मपूर्वक असत्य जीवनचरित्र लिख दे तो यह उस का दोष है, स्वामी जी का नहीं। आप के मतानुसार जो जन्मपत्र मिलाया जाता है, उस को भी कोई ग्रहदानलिप्सु लालची ज्योतिषी जैसे कि प्रायः हैं, असत्य कल्पित मङ्गली का अमङ्गली और निकृष्ट समय नक्षत्रादि में जन्मे को अच्छे नक्षत्रादि और अच्छे को बुरे करके लिख दें और जैसा कि कोई २ लिख देते हैं, तब क्या वही आपत्ति आप के मत में नहीं आती? आप की समझ में खेलने और पढ़ने के सिवाय कुछ चाल चलन ही विद्यार्थी का नहीं हो सकता? जिस से आपका

* भागवत में चित्रलेखा ने श्रीकृष्ण जी के पुत्र की तसवीर ऊषा को दिखाई है तब विवाह हुवा है। उस पर हरताल धर दीजिये॥

लोक वा शास्त्र में कितना परिचय है, यह भले प्रकार पाठक समझ लेंगे, साक्षी अन्य कौन होता, आप विद्वान् धर्मात्मा प्रधानाध्यापक ही साक्षी होंगे। आप के जन्मपत्र बनावटी नहीं हैं। इस को कौन साक्षी देता है? यह तो बताइये। केवल अवगुण का ही जीवनचरित्र कोई नहीं हो सकता क्यों कि न्यूनाधिकगुण अवगुण दोनों सभी में होते हैं, बस तारतम्य सब का किसी न किसी से मिल ही जावेगा और भला जिस के जन्मपत्र में बुरे योग पड़े हों उस पुरुष वा कन्या का आप के मत में क्या परिणाम होगा? क्या वे दहेज़ के अभाव के समान माता पिता को जन्म भर शाप न देंगी? और पुरुष व्यभिचारादि न करेंगे? ११ पति की तान बार बार क्यों तोड़ते हो नियोग प्रकरण में पुराणों के व्यभिचारप्राय चरित्रों का ख़ूब ही नमूना दिखाया जायगा, धैर्य रखिये। जिन कन्या और कुमारों को स्वामी जी के लिखे अनुसार गुरुकुल में समावर्त्तन से पूर्व कुमारों और कन्याओं का मुख तक न दिखाया जाय और अष्ट प्रकार के मैथुनों से वर्जित रक्खा जावेगा, वे अन्य का पसन्द करना तो क्या? जिन स्त्री वा पुरुष में भी (गृहाश्रम के पवित्र धर्म के अतिरिक्त केवल कामचेष्टा पूर्ति के निमित्त) आसक्त न होंगी। परन्तु इस गहन पवित्र ब्रह्मचर्य के माहात्म्य को स्वामी दयानन्द सा अनुभवी बालब्रह्मचारी ही जान सक्ता था। आप क्या जाने। जन्मपत्र जो फलितज्योतिष के समीक्षणानुसार सत्य ही नहीं वह रूप रंग स्वभाव विद्या आदि का परिचय क्या देसक्ता है? अच्छे रहे प्रत्यक्ष रूप, रङ्ग, स्वभाव, विद्या, आयु आदि की जांच तो न की जावे और जन्मपत्र के ढकोसले से ये रूप रङ्ग आदि सब बातें मिलाई जावें। क्यों न हो, जिस में ज्योतिषियों की ठगई जारी रहे॥

द० ति० भा० पृ० ६७ पं० १३ से—

अब स्वामी जी को यह पूछते हैं कि तुम्हारे माता पिता और तुम्हारा जीवनचरित्र ४० वर्ष तक का कहां है? यदि कोई चेला कहे कि दयानन्ददिग्विजयार्क दयानन्द जी का जीवनचरित्र है सो यह तो किसी ब्राह्मपरिश्रमी ने उन की मृत्यु के उपरान्त रचा है और जो कहो स्वामी जी बनाकर रख गये हैं तो बिना साक्षी स्वयं लिखित प्रमाण नहीं क्योंकि अपना चरित्र आप ही कोई लिखे तो वोह अवगुण नहीं लिखता बड़ाई की इच्छा से इस कारण वोह जीवनचरित्र प्रमाण नहीं॥

प्रत्युत्तर-विवाहार्थियों के जीवनचरित्र विषय में आमरण ब्रह्मचारी

स्वामी दयानन्द के जीवनचरित्र का उलाहना देना प्रकरणान्तर है । तथा सत्यार्थप्रकाशस्थ विषयों के उत्तर में स्वामी जी के निजचरित्र पर आक्षेप करना भी प्रकरणान्तर है । आप को स्वामी जी के जीवनचरित्र का विश्वास होना द्वेष के कारण असम्भव है । परन्तु पं० लेखराम जी ने जितना श्रम करके देशान्तर में भ्रमण करके और जहां २ स्वामी जी गये वहां २ जाकर जो कुछ शक्ति भर छान किया उस में स्वामी जी के बतलाये हुवे से विरुद्ध कुछ भी नहीं मिला और इसी से पं० लेखरामसंगृहीत जीवनचरित्र प्रामाणिक समझा जाता है । आप को अब स्वर्गवासी महात्मा के जीवनचरित्र को खोजने से विवाहार्थी चरित्र के प्रकरण में क्या प्रयोजन है, सो तो बतलाइये ?

द० ति० भा० पृ० ६७ पं० १९ से—और पढ़ाने वालों के सामने विवाह करने को कहते हैं पर थोड़ी सी ओलट से कहते हो प्रत्यक्ष ही क्यों नहीं कह देते कि ईसाई हो जाओ क्योंकि ईसाइयों में यह प्रथा प्रचलित है कि पादरी साहब स्कूलों में विवाह करा देते हैं जिसे गिरजा घर कहते हैं प्राचीन समय से तो आज तक पिता माता भाई सम्बन्धियों के सन्मुख कन्या के ही घर विवाह होता चला आया है फिर आप ने यह भी ख़ूब ही लिखा है (कि कन्या और वर की सम्मति लेकर पश्चात् पिता से अध्यापक लोग कहैं) वाह मुलाक़ात कराकर पिता से ख़बर करना यही रीति संशोधक की उच्चश्रेणी का नियम है जब कन्या के सामने बीस पुरुषों का फ़ोटो आया तो सब में कोई न कोई लटक अन्दाज़ निराली होगी पसन्द किसे करैं लोकानुसार—एक को स्वीकार करना पड़ेगा परन्तु चित्त में वोह और पुरुषों का भी कटाक्ष समाया रहेगा और यही व्यभिचार का लक्षण है क्योंकि सब अपने से उत्तम ही को चाहते हैं स्वामी जी ने गुणकर्म मिलाने लिखे कन्या की इच्छा विशेष में हुई वे अध्यापक गुण मिलाने लगे और कहने लगे कि इस में से कोई पसन्द करलो तो अब चाहैं लाचारी से वे अङ्गीकार करलें पर मन में तो और ही पुरुष रहा और यही दशा पुरुषों की है तो अब कहिये वोह पति का अचल प्रेम और परस्पर की सम्मति कहां रही यह तो बड़ी पराधीनी होगई और गुण कर्म क्या मिलावैं कर्म तो सब का पढ़ना ही ठहरा फिर मिलावैं क्या यही कि जो पुस्तक लड़का पढ़ता हो वही लड़की और आप ने अध्ययन के सिवाय सीना रसोई आदि सिखाना तो लिखा ही नहीं बस ब्याह होने पर दोनों पुस्तकें आदि पढैं गृहस्थी का कार्य आप के शिष्यवर्ग कर आया करैंगे

और कदाचित् कोई कन्या रूमाल काढ़ना जानती हो तो उस को पति भी रूमाल काढ़ने वाला होना चाहिये नहीं तो कर्म कैसे मिलेगा और गुण कौन से मिलाये जांय यदि किसी में तमोगुण होतो दूसरा भी तमोगुणी होना चाहिये जो रातदिन लड़ाई हो और यह कैसी बात कही गुणकर्म न मिलें तो क्वारी रहो विधवा की तो कामाग्नि बुझाने को यह दया करी कि ११ पति तक करने में दोष नहीं और कुमारी पर यह कोप कि व्याह हो न करो भला उस की सन्तान उत्पत्ति की इच्छा और कामबाधा को कौन पूर्ण करैगा खूब ही भङ्ग पीकर लिखा है और निर्धन से तो आपकी रीति का विवाह बन ही नहीं सक्ता क्योंकि जब पूर्ण विदुषी स्त्री आई तब रसोई कौन करै लाचार किसी को नौकर रखना पड़ेगा उन के पास इतना द्रव्य है नहीं अब लगा क्लेश होने सब पढ़े अब रसोई कौन करे शायद् शूद्र मिलजाय तो आश्चर्य नहीं मेरे कहने का यह आशय नहीं कि कन्या को मत पढ़ाओ पढ़ाना बेशक चाहिये परन्तु गृहस्थ के कार्य भी प्रबलता से सिखाने चाहिये जिन का प्रतिक्षण प्रयोजन पड़ता है जिन के जाने बिना भी क्लेश होता और स्त्री फूहर कहाती है ॥

प्रत्युत्तर-पढ़ाने वाले के सामने विवाह करना आप ईसाई रीति समझते हैं सो भूल है। ईसाइयों को पादरी विवाह कराता है, स्कूल के मास्टर और प्रिन्सिपिल नहीं। स्कूलों को गिरजाघर लिखना भी असत्य है। और अपने सत्यार्थप्रकाशस्थ युवावस्था के विवाहपरक वेदमन्त्रों का उत्तर क्या दिया? चुप लगा गये। देखो सत्यार्थप्रकाश चतुर्थसमुल्लास-

युवा॑ सु॒वासाः॒ परि॑वीत॒ आगा॑त्। इत्यादि ऋ० ३।८।४

यही मन्त्र आप की विवाहपद्धतियों में वर को वस्त्र पहरने का लिखा है। जिस में स्पष्ट "युवा" पद पड़ा है ॥ तथा-

आ धे॒नवो॑ धुनयन्ता॒मशि॑श्वीः शबर्दुघाः॒ शश॒या अप्र॑दु-ग्धाः। नव्या॑ नव्या यु॒वत॒यो॑० इत्यादि ॥

इस मन्त्र में भी "युवतयः" शब्द आया है। और युवावस्था आप के ही लिखे प्रमाणों द्वारा स्त्री और पुरुष की १६ और २५ वर्ष में पूरी होती है

कन्या वा वर की शास्त्रानुसार 'सदृश' में इच्छा होना धर्म है। असदृश वा विरुद्धवर्ण में होना अधर्म है। यदि लोक वा शास्त्र की मर्यादा का त्याग करके कोई कन्या वा वर इच्छा करने लगे तो यह स्वामी जी की सत्यार्थ-

प्रकाशरूप शिक्षा का दोष नहीं किन्तु अधर्मियों का है। यों तो आप की प्रचरित परिपाटी का उल्लङ्घन करके भी वहुत से व्यभिचार होते हैं, क्या उन में आप का दोष बताया जा सक्ता है? आप जिस प्रकार की अनेक आशङ्का करते हैं वे ब्रह्मचर्य के स्वाद न जानने वालों में सम्भव हैं परन्तु स्वामीजी लिखित ऋषिपरिपाटी में नहीं। रूमाल को हो लिये फिरते हो, स्वामीजी ने समस्त शिल्पकला कौशल भी शिक्षा में मिलाया है, फिर आप का रूमाल काढ़ना किस में रहा। स्वामी जी ने नहीं लिखा कि गृहकृत्य न सिखाया जाय, फिर आप का विदुषी स्त्रियों को फूहर लिखना आप की समझ रही, स्वामी जी तो इस मनुवचन को मानते और उपदेश करते थे कि—

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया

स्त्री को गृहकार्य में चतुर और प्रसन्न होना चाहिये। बाल्यावस्था में विवाह करके स्त्री पुरुषों को विद्याहीन फूहर और निखट्टू रखना आपकी शिक्षा है। और गुरु की सम्मति से विवाह करना मनु के इस प्रमाण से स्वामी जी ने माना है जो सत्यार्थप्रकाश में स्पष्ट लिखा है कि—

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ॥ मनु ३। ४

फिर आप गुरु की अनुमतिपूर्वक विवाह को ईसाई रीति कैसे बताते हैं?

द० ति० भा० पृ० ६८ पं० १८ से—स्वामी जी ने वह गुप्त बात न लिखी क्या पूछे यही कि उपदंश नपुंसकतादि रोग तो नहीं हैं वा आकर्षण स्थापन आता है या नहीं सो यह बात विना परीक्षा किये कैसे विदित हो सकती है जो गुप्त बात है उसे अध्यापक कैसे देखें क्या वे भी किसी प्रकार उन से निर्लज्जता युक्त भाषण करें शोक! गुप्त बात को खोल ही कर लिखदेते कि विवाह से प्रथम एक बार संयोग भी हो जाय तो सब भेद खुल जाय यदि पुष्टता आदिक हो तो वरण करें नहीं तो दूसरे की फिक्र करें अन्यथा निज-दोष देखने कहने वाले बहुत थोड़े हैं पर कन्या की परीक्षा कि यह वन्ध्या तो नहीं है किसी अच्छे डाक्टर से करानी चाहिये क्योंकि बांझ हुई तो सन्तान कहां अथवा दो चार मास विवाह से प्रथम संयोग होता रहे जो गर्भस्थिति हो जाय तो विवाह करलें नहीं तो त्यागन करदें इस प्रकार करने से कोई विवाहित पुरुष निर्वंश न होगा और स्वामीजी की इष्टसिद्धि भी होगी और जिन के पास धन आदि का प्रबन्ध न होवे क्या वे बैठे हुए गाल को आशी-

वाद दें बहुत तो ऐसे हैं जो रोज़ लाते और गुज़रान करते हैं वे भला खान पान का प्रबन्ध (इक़रारनामा) कैसे लिख सक्ते हैं बस धनी थोड़े निर्धन बहुत विवाहित थोड़े क्वारे क्वारी अधिक होने से कामाग्नि से पीड़ित हो कुमार्ग में ही पदार्पण करैंगे और ४८ वर्ष का कृश शरीर दश बीस दिन उत्तम भोजन करने से कैसे यथेच्छ पुष्ट होजायगा वाह स्वामीजी की वैद्यक तो पूर्ण है और इस जरामुख अवस्थाका फ़ोटो भी मनोहर होगा विवाह का समय भी कैसा अद्भुत रक्खा है जब रजस्वला से शुद्ध हो उस दिन विवाहकरै और आप की बनाई संस्कारविधि के अनुसार ब्याह करावै, यह तो बड़ी ही अलौकिक बात कही जब आप की संस्कारविधि नहीं थी, तो काहे के अनुसार विवाह होता था, भला अब तो आप कहते हो ब्राह्मणों ने ग्रन्थ कल्पना कर लिये पूर्व ऋषि मुनि विवाहक्रिया कौन से ग्रन्थ के अनुसार करते थे क्योंकि यह आप की पुस्तक तो अबतक बनी ही नहीं थी, तो उन के विवाहादिक भी अशुद्ध ही हुए और स्वामी जी ने उसमें बनाया ही क्या है वेदमन्त्र तो पूर्वकाल से ही थे, आप ने उस में भाषा लिखदी है और पठनपाठविधि में सब भाषाग्रन्थ त्याज्य मानने से यह भी भाषा मिश्रित होने से त्याज्य ही है कार्य मन्त्रोंद्वारा होता है भाषा से कुछ प्रयोजन ही नहीं फिर दयानन्द जी ने उस में क्या बनाया और जहां अब भी यह संस्कारविधि नहीं है वहां के लड़का लड़की क्या क्वारे ही रहैं और संस्कारविधि की शिक्षा कैसी उत्तम है "पुरुष स्त्री की छाती पर हाथ धरके स्त्री पुरुष के हृदय पर हाथ धरकै कहे तुम मेरे मन में सदावस्ते रहो" जहां कुटुम्बी वृद्ध बैठे हों वहां नारियों की यह ढीठता, यह आप का कन्या का अधिक अवस्था का विवाह और नियोग यह दो लज्जानाशक व्यभिचार के खंभ हैं ॥

प्रत्युत्तर–विवाह करने की इच्छा, प्रयोजन, तथा अन्य सर्वसाधारण के सामने न पूछने योग्य कई बातें सम्भव हैं, क्या वे निर्लज्जता से सब के सामने पूछी जातीं, तब सनातनधर्म पूरा होता ? क्या रोगादि की परीक्षा करना कराना आदि भी आप अधर्म समझते हैं ? यदि वर, वधू के पोषणादि का पण न करे तो क्या—

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः ।

अर्थात् मुझे इस (वधू) का पोषण करना योग्य होगा, मुझे तुझे परमात्मा ने दिया है ॥

इत्यादि विवाहमन्त्रों को भी आप न मानते होंगे ? फिर आप शास्त्र को उल्लङ्घन करके कैसे लिखते हैं कि निर्धन पुरुष खान पान का प्रबन्ध न कर सकेंगे । क्या निर्धन वा अल्पधनी लोग गृहस्थ का निर्वाह नहीं करते ? अड़तालीस वर्ष के ब्रह्मचारियों का दर्शन आप को नहीं हुवा, नहीं तोः—

ब्रह्मचार्य्येति समिधा समिद्धः
कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः ॥

ब्रह्मचारी जो अग्निवत् देदीप्यमान, कृष्णाजिनधारी, दीक्षित, लम्बी मूंछों वाले, सिंह तुल्य पुरुषों को जरामुख न बतलाते ॥

संस्कारविधि का अर्थ क्या आप वैदिकप्रेस के छपे पुस्तक विशेष ही को समझते हैं । जिस में संस्कारों का विधान हो, उसी पुस्तक से तात्पर्य है । जब कि आप स्वयं स्वीकार करते हैं कि " वेदमन्त्र तो पूर्वकाल से ही थे, आप ने उस में भाषा लिख दी है " तो फिर उन्हीं मन्त्रों से पूर्व काल में विवाह होता था । अब समस्त लोग वेदभाषा को नहीं समझते इस लिये समझाने को भाषा लिखनी पड़ी, तो स्वामी जी की भाषा वेदमन्त्रों की भाषाविवृति हुई और उन आलग्रन्थों में नहीं आसक्ती, जो विहारी की सतसई जैसे वेदविरोधी पुस्तक हैं ॥

" पुरुष स्त्री की छाती पर हाथ धरके स्त्री पुरुष के हृदय पर हाथ धर के कहे तुम मेरे मन में सदा बसते रहो "

इस इबारत पर आप का क्या कटाक्ष हो सक्ता है जब कि विवाह में मन्त्र ही है कि—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु । इत्यादि

इसी का अर्थ स्वामी जी ने लिख दिया । आप ने इतनी विशेषता अपनी ओर से करदी कि "हृदय पर" के स्थान में "छाती पर" लिख दिया । तनक अपनी विवाहपद्धति को भी देख लेना था । उस में भी तो—

मम व्रते ते हृदयं दधामि ।

यह मन्त्र लिखा है । और लिखा है कि—

बध्वा दक्षिणस्कन्धस्योपरि स्वदक्षिण-
हस्तं नीत्वा तस्या हृदयमालभते ॥

अर्थ-वधू के दहने कन्धे पर अपना दहना हाथ लेजाकर उस का हृदय छूता है । फिर उसी में देखिये–

वध्वाः सीमन्ते वरः सिन्दूरं ददाति ॥

अर्थ-वधू की मांग में वर सिन्दूर देता है । फिर–

ततोऽग्नेः प्राच्यां दिश्युदीच्यां वा अनुत्तप्त आगारे आनुडुहे चर्मणि० ॥ इत्यादि ॥

अर्थ-अग्नि से पूर्व वा उत्तर दिशा के ठण्डे कमरे में बैल के चर्म पर वधू को लेटावे ॥

ज़रा बतलाइये तो यह क्या होता है । फिरः–

विवाहादारभ्य त्रिरात्रमक्षारलवणाशिनौ स्यातां जायापती इत्यादि ॥

विवाह से ३ रात्रि तक क्षारलवणवर्जित भोजन करें स्त्री और पुरुष । इतना ही नहीं आगे और भी देखियेः–

"एकपात्रे सहाश्नीतः"

एक पात्र में साथ दोनों खावें । थोड़ा और देखियेः–

अथ खट्वादिरहिते भूभागे कटादिना स्वास्तृते त्रिरात्रमेव शयीयातां समग्रं संवत्सरं विवाहादारभ्य न मिथुनमुपेयाताम् । द्वादशरात्रं च त्रिरात्रं चेति ॥

अर्थ–फिर खाट वाट कुछ न हो, किन्तु चटाई बिछाकर पृथिवी पर केवल ३ रात्रि तक दोनों सोवें । फिर १ वर्ष तक मैथुन को न प्राप्त होवें । वा १२ रात्रि तक वा ३ रात्रि तक ही ॥

महात्मा जी ! यह तो स्पष्ट विदित होता है कि आप की विवाहपद्धतियों पर अब तक "अष्टवर्षा भवेद्गौरी" का प्रभाव नहीं पड़ा है । तभी तो उन में ऐसे व्यवहार लिखे हुवे हैं जो ऋतुमती ही के विवाह में घट सकते हैं ॥ अब आप का द्विरागमन किधर रिल गया ? भले मानुषो ! ज़रा समझ कर क़लम उठाया करो ॥

द० ति० भा० पृ० ६९ पं० १६ से पृ० ७० पं० २३ तक सत्यार्थप्रकाश के गार्हस्थ्य विषयक लेख को बड़ी निर्लज्जता से लिखा है। स्वामीजी का तात्पर्य तो समयनिर्धारण से था कि जो २ व्यवहार स्त्री पुरुषों में होते तो हैं ही किन्तु ठीक समय पर हों। इस लिये उन का लेख कर दिया है। अस्तु स्वामी जी का तात्पर्य तो समय पर दाम्पत्यव्यवहार के प्रचार का था, जिस के कुसमय होने से दीन हीन आर्यजाति इस दुरवस्था को प्राप्त हुई। परन्तु आप टुक महाभारत को तो देखें जो पुराणों का बाबा है !!! आदि पर्व अध्याय १०४ में। उतथ्य की स्त्री ममता थी। उतथ्य से गर्भवती हो को छोटे भाई बृहस्पति ने जा घेरा। एक गर्भ तो स्थित है दूसरे की तैयारी! और भीतर वाला एडी लगा कर रोकता है! धन्य है महाभारत से वेदों का धर्म यही फैलाया जाता है?

अथोतथ्य इतिख्यात आसीद्धीमानृषिः पुरा। ममता नाम तस्यासीद्भार्या परमसम्मता ॥ ८ ॥ उतथ्यस्य यवीयांस्तु पुरोधास्त्रिदिवौकसाम्। बृहस्पतिर्बृहत्तेजा ममतामन्वपद्यत ॥ ९ ॥ उवाच ममता तन्तु देवरं वदतांवरम्। अन्तर्वत्नी त्वहं भ्रात्रा ज्येष्ठेनारम्यतामिति ॥ १० ॥ अयं च मे महाभाग कुक्षावेव बृहस्पते। औतथ्यो वेदमत्रापि षडङ्गं प्रत्यधीयत ११ अमोघरेतास्त्वं चाऽपि द्वयोर्नास्त्यत्र संभवः। तस्मादेवं गते न त्वद्य उपारमितुमर्हसि ॥ १२ ॥ एवमुक्तस्तया सम्यग्बृहस्पतिरुदारधीः। कामात्मानं तदात्मानं न शशाक नियच्छितुम् १३ स बभूव ततः कामी तया सार्धमकामया। उत्सृजन्तं तु तं रेतः सगर्भस्थोऽभ्यभाषत ॥ १४ ॥ भोस्तात मा गमः कामं द्वयोर्नास्तीह संभवः। अल्पावकाशो भगवन्पूर्वं चाहमिहागतः ॥ १५ ॥ अमोघरेताश्च भवान्न पीडां कर्त्तुमर्हसि। अश्रुत्वैव तु तद्वाक्यं गर्भस्थस्य बृहस्पतिः ॥ १६ ॥ जगाम मैथुनायैव

ममतां चारुलोचनाम्। शुक्रोत्सर्गं ततोबुध्वा तस्या गर्भगतो मुनिः ॥ पद्भ्यामरोधयन्मार्गं शुक्रस्य च बृहस्पतेः ॥ १७ ॥

अर्थात् प्राचीनकाल में एक उतथ्यनाम ऋषि होगा भया, ममता नाम्नी बड़ी अच्छी उस की स्त्री थी ॥ ८ ॥ उतथ्य का छोटा भाई देवतों का पुरोहित महातेजस्वी बृहस्पति ममता के पास गया ॥ ९ ॥ उस बड़े मधुरभाषी देवर से ममता बोली कि मैं तो आप के बड़े भाई से गर्भवती हूं इस लिये आप रहने दीजिये ॥ १० ॥ और हे बड़भागी ! यह उतथ्य का पुत्र मेरी कुक्षि में है । हे बृहस्पते ! इस ने यहां भी छः अङ्गवाला वेद पढ़ा है ॥ ११ ॥ और आप का वीर्य भी व्यर्थ नहीं जा सक्ता और यहां दो की गुञ्जायश नहीं इस लिये आज तो मेरे पास आना योग्य नहीं है ॥ १२ ॥ इस प्रकार उस बड़ी बुद्धि वाले बृहस्पति से उस (ममता) ने कहा भी परन्तु वह अपने काम को न रोक सका ॥ १३ ॥ निदान वह कामी उस कामरहिता को शिर झुका और जब...........करने लगा तो वह गर्भस्थ बोला कि ॥ १४ ॥ चचा ! काम के वशीभूत न हूजिये । यहां दो की गुंजायश नहीं है, जगह थोड़ी है और मैं पहले आ पहुंचा हूं (इस लिये मेरा क़ब्ज़ा है) ॥ १५ ॥ और आप का शुक्र भी वृथा नहीं जा सकता । इस लिये तकलीफ़ न दीजिये ॥ परन्तु बृहस्पति ने उस गर्भस्थ की एक न सुनी ॥ १६ ॥ और उस से मैथुन के लिये पहुंच ही गया । क्योंकि उस की आंखें बड़ी अच्छी थीं ॥ जब गर्भगत मुनि ने शुक्रपात होते जाना तो बृहस्पति के शुक्र का मार्ग दोनों पैरों की एड़ियों से रोक दिया ॥ १७ ॥ यदि ऐसी घिनौनी शिक्षा से भी (जिस में वेदवेत्ता ऋषियों की इस प्रकार निन्दा है) आप को घृणा नहीं आती और उसे छोड़ आप वेदोक्त धर्म के अनुयायी बनना नहीं चाहते, तो भाग्य !!

द० ति० भा० पृ० ७० पं० २४ से—

"अनुपनीतं शूद्रमध्यापयेत्" विना यज्ञोपवीत शूद्र को वेद पढ़ावे । तो संस्कार की क्या आवश्यकता है । जब ४८ वर्ष उपरान्त ब्रह्मचर्य हो चुकेगा तब वर्णों में योग्यता से कर दिया जायगा । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—सत्यार्थप्रकाश में आप का लिखा ऐसा संस्कृत और ऐसी भाषा कहीं नहीं, आप रचना करते हैं । किन्तु वहां सुश्रुत का प्रमाण है कि—

"शूद्रमपिकुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके"

"और जो शूद्र कुलीन शुभलक्षणयुक्त हो तो उस को मन्त्रसंहिता छोड़ के सब शास्त्र पढ़ावे" ॥

इस में "वेद पढ़ावे" नहीं है। किन्तु वेद छोड़ के सब शास्त्र पढ़ावे, यह लिखा है। इस लिये आप का अनुवाद ठीक नहीं और आप के लिखे प्रमाण संस्कृत पाठ भी ठीक नहीं है। रही यह शङ्का कि गुण कर्म स्वभावानुसार वर्णव्यवस्था में छोटे बालकों के वर्ण की व्यवस्था नहीं हो सकेगी इस का उत्तर यह है कि प्रत्येक मनुष्य में प्रत्येक अवस्था में कुछ गुण कर्म स्वभाव अवश्य होते हैं। क्या बालकों में कोई भी गुण कर्म स्वभाव नहीं होते? प्रायः अपने माता पिता के तुल्य ही गुण कर्म स्वभावों का बीज बालकों के हृदय में होता है और यदि उन्हें उपयुक्त शिक्षा मिले तो उसी की वृद्धि हो कर पूर्ण द्विजत्व को प्राप्त हो सकता है। इस लिये द्विजों के बालकों में भावी द्विजत्व और शूद्र के बालक में भावी शूद्रत्व की संभावना रहती है। इस लिये जब तक कि कोई सन्तान अपने आप को अपने पिता आदि से गुण कर्म स्वभाव से विरुद्ध प्रमाणित न कर दे, तब तक अन्य वर्ण नहीं माना जा सकता। परन्तु यदि शूद्र को कुछ भी न पढ़ाया जावे तो उस की उन्नति का द्वार ही बन्द हो जावे। इस लिये स्वामी जी सुश्रुत के प्रमाण से उन को भी प्रथम अन्य शास्त्रों के पढ़ाने को मार्ग दिखाते हैं॥

द० ति० भा० पृ० ८० पं० २९ से "हे बालक मैं तुझे मधु घृत का भोजन देता हूं। तुझे मैं वेद का ज्ञान देता हूं। हे बालक भूलोक अन्तरिक्ष लोक स्वर्गलोक का ऐश्वर्य तुझ में धारण करता हूं" विचारने की बात है क्या यह स्वामी जी का तन्त्र नहीं है। इत्यादि॥

प्रत्युत्तर—आप सत्यार्थप्रकाश छोड़ संस्कारविधि में पहुंचे। वहां भी आप की लिखी इबारत कहीं नहीं लिखी। आप स्वामी जी पर आक्षेप करते हैं और उन के ग्रन्थ के विरुद्ध कल्पना करते हैं। हां उन्होंने:—

प्र ते ददामि मधुनो घृतस्य। इत्यादि

मन्त्र लिखा है सो क्या आप की सम्मति में स्वामी जी ने रच लिया है? क्या आप की माननीय पद्धतियों में—भूस्त्वयि दधामि। इत्यादि नहीं है? देखो दशकर्मपद्धति जातकर्म। यथार्थ में बालक में ज्ञानशक्ति और ग्रहणशक्ति जन्म से ही नहीं किन्तु जब से जीवात्मा प्रवेश करता है तभी से होती है। किन्तु उसी शक्तिद्वारा उस का अनुभव जैसे २ बढ़ता जाता

है वैसे २ यह ज्ञान होता जाता है ॥

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ मनु० ४ । २०

यथार्थ में संसार में किसी प्राणी को कोई ज्ञान एक साथ बड़ी अवस्था ही में प्राप्त नहीं हो जाता, ज्ञानदृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक बालक जन्म से ही कुछ न कुछ सीखता है । कुछ न कुछ जानता है । तदनुसार जन्मते ही उसे परमेश्वर और वेद के समर्पण करना बालक के कुछ न कुछ सुधार का कारण अवश्य है । तथा माता पिता का विशेष चेष्टित होना और वैदिक श्रद्धालु होना भी सन्तान और मा बाप दोनों का संस्कारक है । आप संस्कार को मानें वा न मानें परन्तु उस मन्त्र को तो मानते ही होंगे, जिसका यह अर्थ है॥

और ऐश्वर्य की इच्छा मनुष्य में स्वाभाविक है और सब से अधिक मनुष्य अपना ऐश्वर्य चाहता है, यदि संसार में अपने से अधिक ऐश्वर्य कोई किसी का चाहता है तो वह अपनी सन्तान का चाहता है । वही स्वाभाविक इच्छा मन्त्र से प्रकट होती है ॥

द० ति० भा० पृ० ९१ पं० १३ से—(त्रीणि वर्षा०) इस श्लोक का अर्थ यह किया है कि—"जिस कन्या के पिता मातादि न हों वह ऋतुमती होने पर तीन वर्ष तक (उदीक्षेत) अपने कुटुम्बियों की प्रतीक्षा करे कि यह विवाह करदें जब यह समय भी बीत जाय तो अपनी जाति के पुरुष को जो अपने कुल गोत्र के सदृश हो उसे वरण करे यह आपद्धर्म है । अन्यथा स्त्री को स्वयं वरण का नृपकुल छोड़ कर अधिकार नहीं है" । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—हम आप के अनर्थ को हटाने के लिये एक श्लोक इस के पूर्व का भी लिखे देते हैं:—

काममामरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
न चैवेनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ ९ । ८९
त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ मनु: ९।९०॥

अर्थ-(कन्या) पुत्री (ऋतुमती) रजस्वला हुई (कामम्) चाहे (आमरणात्) मृत्युपर्यन्त (अपि) भी (तिष्ठेत्) रहे (तु) परन्तु (एनाम्) इस

को (गुणहीनाय) गुणरहित के लिये (न चैव) नहीं (प्रयच्छेत्) देवे ॥८९॥ (कुमारी) क्वारी कन्या (ऋतुमती) रजस्वला (सती) होती हुई (त्रीणिवर्षाणि) तीन वर्ष (उदीक्षेत) खोज करे (तु) और (एतस्मात् कालात्) इस समय से (ऊर्ध्वम्) ऊपर (सदृशम्) तुल्य (पतिम्) पति को (विन्देत) प्राप्त हो ९०

इस में 'पिता माता न हों' और कुटुम्बियों की प्रतीक्षा की अनुवृत्ति कहां से आई ? और क्षत्रियकन्याओं के पतिवरण स्वयं करने और अन्य वर्णों को न करने के विधिनिषेध का कोई वाक्य किसी पुराण का ही दिया होता । या अपनी ही चलाते हो । धाय के गुण दोष जानने को सुश्रुत उपस्थित है । क्या सत्यार्थप्रकाश ही में सब बातें लिखी जातीं ? जो दरिद्र हैं उन को धायी का नियम स्वयं स्वामी जी ने नहीं किया । क्या आप ने सत्यार्थप्रकाश में नहीं देखा कि—

"जो कोई दरिद्र हों धायी को न रख सकें तो वे गाय वा बकरी के दूध में उत्तम ओषधि जो कि बुद्धि पराक्रम आरोग्य करने हारी हों उनको शुद्ध जल में भिजा औटा छान के दूध के समान जल मिलाके बालक को पिलावें ।" देखते तो आप ऐसा न लिखते कि " एक सा सब को कथन करना वृथा है" इत्यादि ॥

द० ति० भा० पृ० ७१ पं० २५ से-विद्याआनुसार कन्या से वर दूना होना उत्तम है ड्योढ़ा मध्यम है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-आप तो "त्र्यष्टवर्षोऽष्ट०" प्रमाण से तिगुणा वर कह चुके हैं अब फिर यहीं जागये कि ८ वर्ष की कन्या से ड्योढ़ा १२ वर्ष का वर और ड्योढ़े ही का नियम है तो २ दिन की कन्या से ३ दिन का वर भी ड्योढ़ा होता है । परन्तु यह ड्योढ़ आगे नहीं रहती । ८ वर्ष की कन्या से १२ वर्ष का वर ड्योढ़ा हुआ, परन्तु वही कन्या जब १६ वर्ष की होगी तब वर २० वर्ष का होगा तो ड्योढ़े का सवाया ही रह जायगा और आगे २ सवाया भी न रहेगा । क्या विवाह समय की ड्योढ़ लगाई जायगी वा युवावस्था की ?

वर्णव्यवस्थाप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० ७२ पं० २१ से-

किं गोत्रोनुसौम्यासीति सहोवाचनाहमेतद्वेदभोयद्गोत्रोहमस्म्यपृच्छं

मातरꣳ सा मां प्रत्यब्रवीदहं चरंती—परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति सोऽहꣳ सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति । तꣳ होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधꣳ सोम्याहरेति । छान्दोग्ये० ॥

कि हे सौम्य तेरा क्या गोत्र है । जाबालि बोले यह मैं नहीं जानता मैंने माता से यह पूछा था उस ने कहा मैं घर के कामकाज में फंसीरहूं थी युवावस्था में तेरा जन्म हुआ पिता परलोक सिधारे मुझे गोत्र की ख़बर नहीं तुम्हारा नाम सत्यकाम मेरा नाम जाबाला है । यह बात सुन गौतम जी ने जाना कि ब्राह्मण बिना सत्ययुक्त छलरहित ऐसे वाक्य और कोई नहीं कह सकता क्योंकि " ऋजवो हि ब्राह्मणाः " ब्राह्मण स्वभाव से सरल होते हैं, इससे उसे निश्चय ब्राह्मण जान कर कहा कि समिधा लेआ और विधिपूर्वक उपनयन कराकर विद्या पढ़ाई " ॥

प्रत्युत्तर—स्वामी जी ने तो जाबालि का नाम ही लिखा था । आप ने प्रमाणसहित ब्यौरा लिख दिया । जाबालि की माता के इन कहने से कि न जाने तू किस से पैदा हुआ, मैं नहीं जानती और ऐसा ही जाबालि ने गोतम जी से स्वीकार किया तो सत्यवादित्व और सरलत्व जो ब्राह्मण के गुण हैं उन्हीं से तो गोतम ने उसे ब्राह्मण मान लिया और कह दिया कि समिधा ले आ । बस ठीक है, जो ऐसा सत्यवादी और सरलस्वभाव तू है तो फिर चाहे जिस गोत्र में उत्पन्न हुआ है, गुण कर्म स्वभाव से ब्राह्मण ही है ॥ आप यदि जाबालि के वीर्यदाता पिता का पता लगा देते कि वह ब्राह्मणकुलोत्पन्न था तो आप का पक्ष सधता । जिसे आप नहीं साध सके ॥

और गोत्र शब्द की ध्वनि यहां वर्णपरक है । गोत्र के ऋषिपरक नहीं । क्योंकि गोतम का तात्पर्य वर्ण बूझने से था, तभी तो ब्राह्मणत्व का निश्चय करके प्रश्न समाप्त हो गया ॥

विश्वामित्र का तप करके ब्रह्मा द्वारा ब्राह्मण बनाया जाना आप स्वयं भी लिखते हैं । यही हम कहते हैं कि यदि कोई नीचा वर्ण तप आदि शुभ गुण कर्म स्वभाव युक्त हो जावे तो चतुर्वेदविद् ब्रह्मा (संज्ञक) विद्वान् की दी हुई व्यवस्था से वह ब्राह्मण हो जाना चाहिये । उत्तम विद्या वाला ब्राह्मण के योग्य होता है, इस से यह नहीं निकलता कि क्षत्रिय वैश्य विद्याहीन होते हैं । विश्वामित्र विद्वान् थे परन्तु क्षत्रिय पद योग्य विद्वान् थे । फिर

ब्राह्मण पद योग्य तप करने से ब्राह्मण कहलाये ॥ केवल विद्या पढ़ने से ब्राह्मण होना सत्यार्थप्रकाश में भी नहीं लिखा किन्तु शम दमादि सर्व लक्षण संपन्न होने से माना है ॥ तप करने का तात्पर्य भी यह होता है कि "स्वाध्यायस्तपः शमस्तपो दमस्तपः" शम दम स्वाध्यायादि तप कहाते हैं । स्वामी जी ने भी:-

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैः । इत्यादि मनु० २ । २८ ॥

चतुर्थ समुल्लास में स्वाध्यायादि सब गुण कर्म स्वभावों से ब्राह्मणत्व माना है, न केवल पढ़ने से ॥

यदि आप के कथनानुसार सहस्रों वर्ष का तप सत्य माना जाय तो आप ही के कथनानुसार उस युग में अधिक अवस्था थी तब सहस्रों वर्ष के तप की आवश्यकता थी, अब अल्प आयु में अल्प तप से ब्राह्मणत्व होजाना चाहिये ॥ तब ही उच्च वर्ण को प्राप्त हो सकते हैं, यह तो स्वामी जी ने भी नहीं माना । परन्तु कोई भी नहीं हो सकता, ऐसा भी नहीं । किन्तु जो जो उन उन लक्षणों से युक्त हों वे २ अवश्य पूर्व भी हुवे और अब भी होने चाहियें ॥

द० ति० भा० पृ० ७५ पं० १४ से—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ अ० २ श्लो० १५७ ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति ॥ तस्मै हव्यं न दातव्यं नहि भस्मनि हूयते ॥ अ० ३ श्लो० १६८

जैसे काठ के हाथी चमड़े के मृग नाम मात्र होते हैं इसी प्रकार बेपढ़ा ब्राह्मण केवल नाम का ब्राह्मण है ॥ १५७ ॥ बेपढ़ा ब्राह्मण तृणकी की अग्नि की तरह से शान्त हो जाता है उसे हव्य कव्य न देनी चाहिये उसे देना राख में होम करना है ॥ १६० ॥

प्रत्युत्तर-ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने से जिस का नाम प्रथम उपनयनादि के समय ब्राह्मण था वह चमड़े का मृग और काठ के हाथी के समान लड़कों के खिलौने रूप ब्राह्मण है । अर्थात् बालकों के समान अज्ञानी पौराणिक लोग उसे ब्राह्मण ही मानते रहते हैं, परन्तु वह तृण की अग्नि के समान जन्मते समय तो भावी आशा पर ब्राह्मण कहाया, पर गुण कर्म स्वभाव हीन होते ही जैसे तृणाग्नि से भस्म हो जाती है । वैसे वह ब्राह्मण से भस्म हो जाता है । जैसे तृणाग्नि फिर अग्नि नहीं रहता किन्तु भस्म

निस्तेज हो जाता है, ऐसे ही निस्तेज हो जाता है। जैसे भस्म को अग्नि मान कर उस में होम करना वृथा है ऐसे ही उस जन्म के ब्राह्मण और पीछे से अब्राह्मण को ब्राह्मण मान कर हव्य दानादि देना वृथा है। इस से न देना चाहिये ॥

द० ति० भा० पृ० ७४ पं० २९ और पृ० ७५ पं० २ में—

अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे। आत्मासि पुत्रमा मृथाः सजीवशरदः शतम् ॥ ० ॥ आत्मावैजायते पुत्रः ॥

इन दो वाक्यों के प्रमाण से यह सिद्ध करना चाहा है कि जब अङ्ग २ से पिता के पुत्र उत्पन्न होता है तब ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण ही होगा इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—यह ठीक है कि पिता माता के अङ्ग २ से सन्तान उत्पन्न होता है। परन्तु सन्तान का देहमात्र उत्पन्न होता है। आत्मा नहीं। इस लिये आप यदि कोई ऐसा प्रमाण देते जिस में देह का नाम ब्राह्मण होता तो ब्राह्मण देह से दूसरे ब्राह्मण देह की उत्पत्ति माननीय होती। जिस प्रकार आम के बीज से आम ही उपजता है इसी प्रकार मनुष्य के वीर्य से मनुष्य ही उपजेगा। यह नियम तो ठीक है। परन्तु ब्राह्मण से ब्राह्मण ही उपजे यह अधिक संभव तो है किन्तु इस के विरुद्ध कभी न हो सके, यह नियम नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० ७६ पं० १० से—

यत्पुरुषंव्यदधुः कतिधाव्यकल्पयन् मुखङ्किमस्यासीत्किम्बाहू किमूरूपा-दाउच्येते। यजु० अ० ३१ मं० १०

(प्रश्न) जिस परमेश्वर का यजन किया उस की कितने प्रकारों से कल्पना हुई उस का मुख भुजा ऊरू कौन हुए, और कौन पाद कहे जाते हैं, इस के उत्तर में (ब्राह्मणोऽस्येति) यह मन्त्र है जिस का भाष्य दयानन्द जी अशुद्ध करते हैं इस का अर्थ यह है कि (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (अस्य) इस परमेश्वर का (मुखम्) मुख (आसीत्) हुआ (राजन्यः) क्षत्री (बाहुःकृतः) बाहुरूप से निष्पादित हुआ (अस्य यत् ऊरू तत् वैश्यः) इस की जो ऊरू हैं तद्रूप वैश्य हुआ (पद्भ्यां) चरणों से (शूद्रः) शूद्र (अजायत) उत्पन्न हुआ। इस प्रकार से इस मन्त्र का अर्थ है ॥

प्रत्युत्तर—और तो आपने सब अर्थ ठीक किया परन्तु (पद्भ्याम्) चरणों से यह पञ्चमी का अर्थ ही ठीक नहीं क्योंकि आप ही पूर्व मन्त्र में (पादा उच्येते) प्रथमा विभक्ति का अर्थ कर चुके हैं कि "कौन पद कहे जाते हैं" तो इस उत्तर देने वाले मन्त्र में भी पञ्चमी विभक्ति नहीं किन्तु—

व्यत्ययो बहुलम्

इस पाणिनि के सूत्रानुसार यही अर्थ करना चाहिये कि "शूद्र पाद कहा जाता है" न यह कि "चरणों से शूद्र उत्पन्न हुआ"

और जब कि आप स्वयं लिखते हैं कि "उस को कितने प्रकारों से कल्पना हुई" तो यह स्पष्ट है कि स्वामी जी के लिखने अनुसार ब्राह्मणादि ४ वर्ण मुखादि के तुल्य कर्म करने से पुरुष के मुखादि कल्पना किये जाने चाहियें। इस के अतिरिक्त मन्त्र में भी कल्पनावाचक (व्यकल्पयत्) पद वर्त्तमान है। इस से यह समझना अयुक्त है कि परमेश्वर के यथार्थ में मुखादि अवयव हैं वा उस के मुखादि उपादान कारण से ब्राह्मणादि वर्ण उत्पन्न हुवे। यही कल्पना (चन्द्रमा मनसो जातः) इत्यादि में भी समझनी चाहिये। यों तो ब्राह्मणादि सभी वर्ण मुखादि सब अङ्गों से काम करते हैं परन्तु इतने से वर्णसङ्कर नहीं होता। किन्तु प्रधानता से जो जिस काम को करता है वह काम वर्णव्यवस्था के कारण होते हैं। जैसे दुष्टों को दण्ड देने आदि प्रबन्ध करना मैजिस्ट्रेट का काम है तो क्या अपने बालकों को थोड़ा दण्ड देने से मा बाप आदि वा (मास्टर) अध्यापक लोगों की मैजिस्ट्रेट संज्ञा हो सकती है? कदापि नहीं॥

इसी प्रकार व्यापारादि निमित्त वा अन्य कार्यार्थ इधर उधर जाने आने मात्र से सब की वैश्य संज्ञा नहीं होती॥

यह कहना कैसी अज्ञानता की बात है कि निराकार परमेश्वर होता तो उन से निराकार ही सृष्टि होती, साकार नहीं॥

क्या कुम्हार मृण्मय नहीं है तो मृण्मय पात्र नहीं बना सकता? क्या स्वर्णमय आभूषण बनाने वाला सुनार भी स्वर्णमय ही होता है? क्या आप परमात्मा को जगत् का उपादानकारण समझते हैं?

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते। श्वेताश्वतर

उस परमात्मा का कोई कार्य नहीं। अर्थात् वह किसी का उपादान

कारण नहीं। फिर यह शङ्का कब रह सक्ती है। मनुष्यादि प्राणियों को परमात्मा ने अव्यक्त प्रकृति को व्यक्त करके उसी से बनाया और वेदों का प्रकाश ऋषियों के हृदय में किया इस से आप का साकारवाद निर्मूल है ॥

आप ही के पृ० १८ पं० २ में कहे (अपाणिपादो जव०) इत्यादि प्रमाण से सिद्ध है कि वह व्यापकता से विना हस्त पादादि की सहायता के ही सब काम कर सकता है ॥

लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः । मनु

इस का भी आशय वही है जो ऊपर (ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) इत्यादि मन्त्र से वर्णन किया गया ॥

क्या योनि से उत्पत्ति में योनि उपादानकारण है? जो तत्तुल्य मन्तान की अशङ्का करते हो। नहीं २ योनि केवल उत्पत्ति द्वार है और उपादान कारण तो अङ्ग २ है जैसा कि ऊपर आप ही लिख चुके हैं कि:—

अङ्गादङ्गात्संभवसि ॥ इत्यादि

द० ति० भा० पृ० ७९ पं० ९ से:—

दयानन्द जी ब्राह्मी का अर्थ यह करते हैं कि "ब्राह्मण का शरीर बनता है" यह अशुद्ध है क्योंकि ब्राह्मण का शरीर तो माता पिता से बनता है ॥

प्रत्युत्तर—महात्मा जी! ब्राह्मी का अर्थ "ब्रह्मप्राप्ति के योग्य" है तो फिर ब्रह्मप्राप्ति के योग्य क्या कोई अब्राह्मण हो सकता है? और यहां "तनु" पद भी है फिर शरीर सहित आत्मा ब्राह्मण बनता है, यही भाव हुआ और आप के लिखने अनुसार पाठ भी सत्यार्थप्रकाश में नहीं है किन्तु "(इयम्) यह (तनुः) शरीर (ब्राह्मी) ब्राह्मण का (क्रियते) किया जाता है" ऐसा पाठ है जिस की ध्वनि स्पष्ट है कि शरीर भी अभिप्राय में है ॥

द० ति० भा० पृ० ७९ पं० १२ से—गृह्योक्त मन्त्रों से सुवर्ण की शलाका से मधु घृत चटावे ॥

प्रत्युत्तर—आप तो पूर्व संस्कारविधिस्थ मधु घृत प्राशन का खण्डन कर चुके थे। अब मनु के श्लोक का अर्थ करते कैसे बकार उठे?

जन्म से संस्कार करने का प्रयोजन पूर्व बता चुके हैं ॥

द० ति० भा० पृ० ८० में जो वाक्य ब्राह्मणादि के भिन्न २ यज्ञोपवीतादि विषय में लिखे हैं वे सब जन्म से ब्राह्मणादि के पुत्रों के विषय में हैं। जिस

प्रकार दीवार चिनने वाला पहली ईंट रखते समय भी यही व्यवहार करता है कि मकान चिनता हूं। यद्यपि पहिली ईंट का नाम मकान नहीं। इसी प्रकार भावी ब्राह्मणत्वादि जो अनुमान में हैं उन्हीं के अनुसार सब व्यवस्था गुणकर्मानुसार मानने में भी ठीक रहती है। आप के समान ही संस्कार-विधि के नोट में ये सब बातें लिखी हैं॥

द० ति० भा० पृ० ८२ पं० ११ और जो पढ़ावे तो प्रायश्चित्त लगे॥

प्रत्युत्तर-भला (संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः) इस में प्रायश्चित्त का अर्थ कहां से आ गया? किन्तु संस्कार की विशेषता से अन्य वर्णों का ब्राह्मण गुरु है। इतना ही अर्थ है॥ जब कि आप-

वैश्यकर्मस्वभावजम्॥ गीता०॥

शूद्रस्याऽपिस्वभावजम्॥ गीता०॥

क्षात्रकर्मस्वभावजम्॥ गीता०॥

ब्रह्मकर्मस्वभावजम्॥ गीता०॥

इन चारों वाक्यों को स्वयं लिख चुके हैं और इन में कर्म और स्वभाव शब्द स्पष्ट आये हैं तो स्वामी जी के गुण कर्म स्वभावानुसार वर्ण लिखने पर क्यों आक्षेप करते हैं। जो जिस का स्वाभाविक काम है वह उस के विपरीत नहीं हो सकता। अब जो लोग जिन वर्ण में उत्पन्न हुये हैं वे यदि उन २ पितृवर्ण का काम न करें तो जानना चाहिये कि यह इन का स्वाभाविक कर्म नहीं है, स्वाभाविक होता तो उस के विपरीत न कर सकते। इस लिये जो स्वाभाविक रीति पर प्रधानता से जिस कार्य में रत हैं उन का वही वर्ण समझना चाहिये॥

ब्राह्मण ही के छः कामों को सब नहीं कर सकते। और तो क्या! स्वयं ब्राह्मणकुलोत्पन्न ही सब नहीं कर सकते, न करते हैं। फिर यह कहना कितना निर्मूल है कि ब्रह्मा बनना सब चाहते हैं। इस लिये सब ब्राह्मण ही बन जायेंगे। ब्राह्मण होना तो बहुत कठिन है किन्तु छोटा मोटा राजा बनना उतना कठिन नहीं है, क्योंकि विषयों के ग्रहण से विषयों का त्याग अत्यन्त कठिन है और प्रायः प्रत्येक मनुष्य संसार का यह चाहता है कि मैं राजा हो जाऊँ, परन्तु क्या इच्छामात्र से कोई बन सकता है? यदि

विषयग्राही राजा ही नहीं बन सकता तो विषयत्यागी ब्राह्मण बनना कितना कठिन है ॥

पढ़ेमात्र का नाम ब्राह्मण स्वामी जी ने भी कहीं नहीं लिखा इस लिये यह कहना व्यर्थ है कि यदि पढ़े का नाम ब्राह्मण हो तो क्षत्रिय वैश्य भी ब्राह्मण ही हो जाते ॥

परशुराम को ब्राह्मण कहने का कारण यही था कि उन्होंने राज्य-प्रबन्ध कभी नहीं किया । क्या क्रोध में भर कर बहुतों के प्राण लेने मात्र से क्षत्रिय हो सक्ता है ? द्रोणाचार्य अस्त्रविद्या के प्रधान आचार्य थे । इसी से वे भी पढ़ाने आदि प्रधान गुण कर्म स्वभावानुसार ब्राह्मण माने गये ॥

कर्ण जब परशुराम से पढ़ने गया तब उस ने इस लिये नहीं पढ़ाया होगा कि उन्हें क्षत्रियों के अनर्थ के कारण उन पर क्रोध था और त्रेता के परशुराम जी से द्वापरान्त के कर्ण का पढ़ने जाना भी चिन्त्य है । यदि पुराणों के अनुसार त्रेता के पुरुषों की १०००० वर्ष की आयु भी मानें तब भी द्वापर के अंत तक परशुराम जी की स्थिति असम्भव है । जब आप कहते हैं कि "कर्ण में कौन से गुण क्षत्री के नहीं थे सब ही थे" तो सिद्ध हुआ कि क्षत्रिय गुणों से परशुराम जी ने उसे क्षत्रिय जान ब्राह्मण बताने के झूंठ बोलने पर नहीं पढ़ाया । कर्ण को द्रौपदी आदि ने क्षत्रिय नहीं माना तब यदि कर्ण में पूर्ण क्षत्रियत्व होता तो पौरुष दिखाता । उस ने लज्जित हो धनुष रख दिया इस से उस की निर्बलता स्पष्ट है तभी तो द्रौपदी ने नहीं वरण किया । गरुड़ के कण्ठ में ब्राह्मण न पचना आदि साध्य हैं। सिद्ध का दृष्टान्त होना चाहिये । विद्यापढ़ाने से आरम्भ में वर्ण उस के पिता के गुण कर्म स्वभावानुसार पुत्र का भी अनुमान किया जाता है । पश्चात् जैसा हो । यदि वर्ण अटल हो तो जो लोग म्लेच्छादि संपर्क वा म्लेच्छ मत ग्रहण कर लेवें वे भी पूर्व के आर्य वंशानुसारी वर्ण में बने रहें ॥

शूद्रोब्राह्मणतामेति

इत्यादि अखण्डनीय प्रमाण को देख कर द० ति० भा० पृ० ८५ पं० १८ से कहते हैं कि—

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसाचेत्प्रजायते । अश्रेयाञ्श्रेयसींजातिं गच्छ-त्यासप्तमाद्युगात् । मनु १० । ६४

शूद्रा में ब्राह्मण से पारशवाख्य वर्ण उत्पन्न होता है जो स्त्री उत्पन्न हो

और वह ब्राह्मण से विवाही जाय और उस से कन्या हो वह ब्राह्मण से विवाही जाय तो वह पारशवाख्य वर्ण सातवें जन्म में ब्राह्मणता को प्राप्त होता है। इत्यादि। फिर पं० २७ में यहां (ता) प्रत्यय सदृश अर्थ में है। इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-अच्छे रहे! जो बात एक जन्म में न मानी वह सात जन्म में मानी। यह पारशवाख्य अनोखावर्ण जब शूद्रा को ब्राह्मणों से सात वार तक विवाह कर ७ ब्राह्मण शूद्रा से विवाह करने से भ्रष्ट बने तब एक ब्राह्मण सातवें जन्म में बने। ७ ब्राह्मण अपना ब्राह्मणत्व खोवें शूद्रा को घर में डालें तब यह आप की वर्णोन्नति हो। और जातः अश्रेयान् इन पुंल्लिङ्ग पदों से कन्या अर्थ वा स्त्री जन्म कर ७ वें तक ब्राह्मण से विवाही जाय। यह अर्थ कहां से आया। तथा "आसप्तमात्" का अर्थ "सातवें जन्म में" कैसे हुवा आङ् के अर्थ मर्यादा और अभिविधि हैं। तो यह अर्थ होगा कि सात तक (अश्रेयान्) नीचा वर्ण (श्रेयसीं जातिम्) उच्च जाति को प्राप्त होता रहता है, न यह कि पहले छः नीच रहें और सातवां उच्च बने। इस लिये यह श्लोक ब्राह्मणों के विगाड़ने का है। और ब्राह्मणता में (ता) भाव अर्थ में है सदृश अर्थ में कोई व्याकरण का नियम "ता" का नहीं। यदि हो तो बतावें। भाव अर्थ में "ब्राह्मणतामेति" का अर्थ यह होगा कि "ब्राह्मण भाव को पाता है" अर्थात् ब्राह्मण हो जाता है। खेंचातानी वृथा है॥

द० ति० भा० पृ० ८६ पं० ३ से-

भाष्यभूमिका में आप ने लिखा है कि कुचर्या अधर्माचरण निर्बुद्धि मूर्खता पराधीनता परसेवादि दोष दूषित विद्या ग्रहण धारण में असमर्थ हो वो ही शूद्र है यथाहि यत्र शूद्रोनाध्यापनीयो न श्रावणीयश्चेत्युक्तं तत्रायमभिप्रायः शूद्रस्यप्रज्ञाविरहित्वाद्विद्यापठनधारणविचारासमर्थत्वात्तस्याध्यापनं श्रावणं व्यर्थमेवास्तिनिष्फलत्वाच्च" यह स्वामी जी की संस्कृत है कि शूद्र प्रज्ञा (बुद्धि) न होने से विद्या पठन धारण विचार में असमर्थ होने से पढ़ना सुनना निष्फल ही है॥

इस लेख से स्पष्ट है कि शूद्र उस को कहते हैं जिस पर पढ़ाये से कुछ न आवे और उस का पढ़ाना भी निष्फल है फिर आप ही वेद पढ़ने की आज्ञा देते हो जैसा लिखा है कि (शूद्रायावदानि-शूद्र को भी यह वेद पढ़ावे) तो भला जो अध्ययन के योग्य ही नहीं वोह कैसे वेद पढ़े अब

यह मन्त्र (यथेमां वाचं) इस में शूद्रपद कर्मानुसार है या जन्म से जाति मानी है यदि कर्म से जाति मानते हो तो शूद्र कैसे वेद पढ़ सकता है, जन्म से जाति मानते ही नहीं अब आप के लेख में कौन बात सत्य मानी जावे जो शूद्र को पढ़ाना माने तो जाति जन्म से हुई जाती है जो कर्म से माने तो शूद्र को वेद पढ़ना बनता नहीं (प्रज्ञाविरहितत्वात्) क्योंकि जो पढ़ने के योग्य न हो उस को पढ़ाने की आज्ञा देने वाला मूर्ख ही गिना जायगा और शूद्र महामूर्ख को मानते हो तो (शूद्रो ब्रा०) (और अधर्मचर्यादि) मनु और आपस्तंब के वचनों के आप ही के किये अर्थ मिथ्या हुए जाते हैं क्योंकि जब शूद्र में धारण ही नहीं तो पढ़ेगा कैसे और उत्तम वर्ण को बिना पढ़े कैसे प्राप्त होगा इस से शूद्र पद सदा जन्म से ही लिया है और आपस्तंब सूत्र के भी यही अर्थ हैं कि यह पुरुष उत्तम कर्म करे तो पुनर्जन्म में कर्मानुसार श्रेष्ठ वर्ण को प्राप्त होजाता है और जो उत्तम वर्ण अधम कर्म करे तो पुनर्जन्म में नीच वर्ण होजाता है और एक आदर का भी शब्द है जैसे कोई धर्मात्मा को कह देते हैं कि यह तो धर्म के अवतार हैं इसी प्रकार जाति में उत्तम कर्म करने वालों को आदरपूर्वक उच्च नाम से उच्चारण करने लगते हैं परन्तु वह जाति में अपनी ही रहते हैं और अपनी जाति में बड़े गिने जाते हैं ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी के इस लक्षण से कि जिसे पढ़ाने से भी कुछ न आसके, यह शूद्र का लक्षण है, कोई दोष नहीं आता। क्योंकि पढ़ाने से ही तो यह विदित होगा कि यह पढ़ाने से भी नहीं पढ़ सकता । यदि पढ़ाया ही न जावे तो यह कैसे जाना जावे कि यह पढ़ाने से भी नहीं पढ़ सकता। बस (यथेमां वाचम्०) के अनुसार शूद्र के पुत्र को भी पढ़ा कर देखा जाय यही उस की चरितार्थता है ॥

अधर्मचर्यया जघ०

इस का तात्पर्य दूसरे जन्म में नीच होने का है तो जो लोग इसी जन्म में ईसाई मुसल्मान हो जाते हैं वे पतित न होने चाहिये क्योंकि आप तो अधर्म वा धर्म को अगले जन्म में फलप्रद मानते हैं ॥

द० ति० भा० पृ० ८६ पं० २७ से-

धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः ।
तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥ मनु० ८ । १७२

प्रत्युत्तर–तात्पर्य तो यह है कि जो शूद्र होने से अज्ञानी पुरुष ज्ञानियों का उपदेशश्रवण करते हैं और घमण्ड करके अधर्म का उपदेश करे तो राजा उसे दण्ड दे । इस से यह तो नहीं सिद्ध होता कि वह शूद्र जन्म से होता है वा कर्मादि से ॥

द० ति० भा० पृ० ८७ पं० २ से–

अतएव शतपथे । स वै न सर्वेण संवदे, देवान्वा एष उपावर्त्तते, यो दीक्षते स देवानामेको भवति, न वै देवाः सर्वेणैव संवदन्ते, ब्राह्मणेन वैव राजन्येन वा वैश्येन वा, ते हि यज्ञियास्तस्माद्यद्येनं शूद्रेण संवादो विन्देदेतेषा-मेवैकं ब्रूयादिमम् ॥

प्रत्युत्तर–इस का अक्षरार्थ यह है कि–"वह सब से संवाद न करे, क्यों कि वह देवों के पास में है जो कि दीक्षित होकर यज्ञ करता है, वह अकेला देवतों का हो जाता है और देवता सब से संवाद नहीं करते, किन्तु ब्राह्मण वा क्षत्रिय वा वैश्य से ही करते हैं क्योंकि (ये ३) यज्ञ वाले हैं । शूद्र से संवाद नहीं प्राप्त होवे किन्तु इस (ब्राह्मणादि ३) में से ही किसी एक से बोले ॥

इस में भी जन्म से वा कर्म से कुछ नहीं लिखा, इस लिये आप के पक्ष का पोषक नहीं और शतपथ का पता भी नहीं लिखा ॥

द० ति० भा० पृ० ८७ पं० १३ में–जैसे दीवार तसवीरों सहित दीवार ही रहती है परन्तु वोह अच्छी कही जाती है ॥

प्रत्युत्तर–जैसे दीवार लिपी पुती तसवीर टङ्गी उत्तम होती है, वैसे ही पढ़ा लिखा सुभूषित मनुष्य मनुष्य ही रहता है, परन्तु अच्छा अर्थात् ब्राह्म-णादि उत्तमपद को प्राप्त हो जाता है और ढई फूटी विकृत दीवार भी दीवार तो कहाती है, परन्तु वह ढुंढल, खण्डल आदि दुर्नामों से पुकारी जाती है । ऐसे ही कुपढ़ मनुष्य भी शूद्रादि नामों से ॥

द० ति० भा० पृ० ८७ पं० १७ से—

बार्हद्गिरं ब्राह्मणस्य ब्रह्मसाम कुर्यात्, पार्थूरश्मंराजन्यस्य, रायोवाजीयं वैश्यस्य ॥

प्रत्युत्तर–ये सामवेद के स्थल नहीं हैं, किन्तु इस २ नाम के साम हैं जो सामवेद की संहितास्थ ऋचाओं में से निकले हैं । तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण यज्ञ करे तो उसे "बार्हद्गिर" नामक साम पढ़ावे, क्षत्रिय को पार्थूरश्म, वैश्यको रायोवाजीय, शूद्र को इस लिये नहीं कहा कि वह अयोग्य होने से यज्ञकर्त्ता

ही नहीं होता । इस में भी जन्म वा कर्म कुछ नहीं कहा और आप ने यह पता भी नहीं दिया कि यह किस ब्राह्मण के किस स्थल का पाठ है । संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् । वेदे निर्देशात् । इत्यादि का उत्तर देने की आवश्यकता ही नहीं क्योंकि न ग्रन्थ का नाम, न उन में जन्म वा कर्म का वर्णन ॥

द० ति० भा० पृ० ८७ पं० २४ से–

'यद्युहवा एतत् श्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रे नाध्येतव्यम्" ॥

प्रत्युत्तर–यह भी बे पते प्रमाण है और शूद्र के समीप बैठ कर वेद न पढ़े इस का तात्पर्य यह है कि क्लास भिन्न २ रहनी चाहिये, शूद्र शूद्रों में बैठे, ब्राह्मणादि ब्राह्मणादिकों के साथ अपनी क्लास (कक्षा) में बैठ कर पढ़े' यह पढ़ने का क्रम है । जाति वा वर्ण का जन्म वा कर्मादि से होना इस में नहीं कहा ॥

शूद्राणामनिरवसितानाम् । प्रत्यभिवादे शूद्रे ॥
शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः ।

इन सूत्र वार्त्तिकों में शूद्र का प्रयोग है । परन्तु शूद्रत्व जन्म से है वा कर्म से, यह कुछ भी नहीं लिखा, अतः आप का पक्षपोषक नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० ८८ पं० १३ से–

"तेनतुल्यंक्रियाचेद्वतिः" सर्वं एते शब्दा गुणसमुदायेषु वर्तन्ते ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्र इति अतश्च गुणसमुदाये एवंह्याह ॥

तपः श्रुतं च योनिश्चएतद्ब्राह्मणकारणम् । तपः श्रुताभ्यांयोहीनोजातिब्राह्मणएवसः १ तथागौरः शुच्याचारः पिङ्गलःकपिलकेश इति ॥

सब यह शब्द गुण समुदायों में वर्तते है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इति तप करना वेद पढ़ना श्रेष्ठ कुल यह ब्राह्मण का (कारणम्) लक्षण है जो ब्राह्मण इन करके हीन है केवल (योनिः) ब्राह्मणकुल में जन्म मात्र है वोह जाति से ब्राह्मण है लक्षण उस में नहीं है क्योंकि गौर वर्ण पवित्राचरण पिङ्गलकपिलकेश यह भी ब्राह्मण के लक्षण हैं यदि यह न हों और वोह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न है तो वह जाति से बाहर है यह भाष्यकार मानते हैं "जातिहीने सन्देहाद्गुरूपदेशाच्च ब्राह्मणशब्दोवर्तते" और जातिहीन गुणहीन में भी सन्देह से ब्राह्मण शब्द वर्तता है । गुणहीने यथा "अब्राह्मणोयं यस्तिष्ठन्मूत्रयति" यह अब्राह्मण है जो खड़ा होकर मूत रहा है । संदेह में ऐसे कि गौर वर्ण पवित्राचार पिङ्गलकपिलकेश पुरुष देखकर बोध होता है

कि यह क्या ब्राह्मण है पीछे मानने से यदि वोह जाति ब्राह्मण हो तो अब्राह्मणोयमिति ऐसा कहा जाता है यदि भाष्यकार को जाति शूद्र का मानना इष्ट न होता तो शुचि आचारादि युक्त पुरुष को यह ब्राह्मण है या नहीं ऐसा क्यों लिखते ॥

प्रत्युत्तर-इस में ब्राह्मण के लक्षण और कारण बताये हैं कि विद्या तप और जन्म (ब्राह्मणकुल में) ये ३ बातें ब्राह्मण होने का कारण है । परन्तु यह नियामक नहीं कि विद्या और तप न भी हों तब भी ब्राह्मण ही पूर्ण कहावे । जैसे जल अग्नि मृत्तिका ये घड़े के कारण हैं । परन्तु यह नियम नहीं कि मृत्तिका से घड़ा बने ही बने । किन्तु बनाना चाहें तो बन सकता है । अर्थात ब्राह्मणकुल में जन्म लेना भी ब्राह्मण बनने के कारणों में एक कारण है क्योंकि संस्कारपूर्वक शरीर बनता है । परन्तु मिट्टी से घट बन सक्ता है किन्तु ईंट भी बन सक्ती है, ठीकरे भी बन सकते हैं । इसी प्रकार ब्राह्मणकुल में जन्म लेने से ब्राह्मण भी बन सक्ता है और क्षत्रिय वैश्य वा शूद्र भी बन सक्ता है । और उस को जाति ब्राह्मण कहना ऐसा ही है जैसे कोई ब्राह्मण वा राजपुत्र ईसाई होवे तब भी उसे जाति का ब्राह्मण वा राजपुत्र कहते हैं किन्तु उस के साथ सहभोजनादि काम नहीं करते । ऐसे ही जन्म मात्र के ब्राह्मण जातिब्राह्मण हैं अर्थात् दानाध्यापनादि कार्यंयोग्य नहीं । अर्थात् जन्ममात्र व्यर्थ है । जन अकेले से कोई काम नहीं । और जो जन्म तप विद्यादि सब गुणों से युक्त हो केवल रङ्ग उस का काला हो, क्या उसे आप ब्राह्मण नहीं कहते वा मानते ? हमारी समझ में तो गौर वर्ण होना इत्यादि बाह्य गौण चिह्न हैं, मुख्य नहीं । क्योंकि यदि रङ्गत पर ही वर्णव्यवस्था हो तो किसी देश में सर्वथा काले ही और किसी में गोरे ही होते हैं, तो फिर देशमात्र में एकही वर्ण होना और मानना चाहिये क्या ?

द० ति० भा० पृ० ८९ पं० २से-

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः ।

तस्यैवात्राधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयोनान्यस्य कस्यचित् ॥ अ० १

प्रत्युत्तर-तृतीयपाद का पाठ ऐसा है कि "तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन्" आप का पाठ ठीक नहीं । और इसमें भी जन्म वा कर्मादि का वर्णन नहीं है किन्तु मनु जी अपने पुस्तक मनुस्मृति के पढ़ने का अधिकारी उस पुरुष को ठहराते हैं कि जिस के गर्भाधान से अन्त्येष्टिपर्यन्त संस्कार होते हों

अन्य ऐरे ग़ैरे को नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० ८९ पं० ८ से—

पुनः गोपथब्राह्मणे पूर्वभागे २३ ब्राह्मणम्

सान्तपनाइदंइविरित्येषहवै सान्तपनोऽग्निर्यद्ब्राह्मणो यस्य गर्भाधानपुंसवन सीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणनिष्क्रमणान्नप्राशनगोदानचूडाकरणोपनयना-प्लवनाग्निहोत्रव्रतचर्यादीनिकृतानिभवन्तिससान्तपनोऽथ योयमनग्निकः स कुम्भेलोष्टः (तद्यथा) कुम्भेलोष्टः प्रक्षिप्तो नैवशौचार्थायकल्पते नैवशस्यंनिर्वर्तयति एवमेवायं ब्राह्मणोऽनग्निकस्तस्यब्राह्मणस्यानग्निकस्यनैवदैवं दद्यान्न पित्र्यं न चास्य स्वाध्यायाऽशिषो नयज्ञआशिषः स्वर्गङ्गमाभवन्ति ॥

अर्थ—जिस ब्राह्मण के जन्म से गर्भाधान पुंसवन सीमन्तोन्नयन जातकर्म नामकरण निष्क्रमण (बाहर निकलना तीसरे दिन) अन्नप्राशन गोदान चूडाकरण उपवीत अग्निहोत्र ब्रह्मचर्यादि संस्कार हुवे हैं वो ब्राह्मणजाति और गुण कर्म से यथार्थ है उसी को सान्तपन कहते हैं जिस ब्राह्मण के ये संस्कार नहीं हुवे वह ऐसा ही है जैसा घड़े में मिट्टी का ढेला, क्योंकि वह फेंका हुआ ढेला पवित्रता नहीं करता न कुछ (शस्य) खेतों का कार्य बनाता है इसी प्रकार से अग्निरहित और संस्कार रहित ब्राह्मण है ऐसे ब्राह्मण को देवता और पितृसंबन्ध में कुछ भी न देना न वेद आशिष न यज्ञ आशिष इस को स्वर्ग ले जाने वाली होती हैं ॥

प्रत्युत्तर—इस में केवल ब्राह्मण पिता से जन्मने वाले की निन्दा है। अर्थात् जो ब्राह्मणकुल में जन्म लेकर भी गर्भाधानादि संस्कारों से रहित है उसे ब्राह्मण मान कर दानादि नहीं देना चाहिये। यदि ब्राह्मण जन्म से ही होता तो ऐसे लोग भी दानादि लेने के अधिकारी होते जैसे कि आज कल गया के पण्डे आदि हो रहे हैं ॥

द० ति० भा० पृ० ९० में यह आक्षेप है कि गुण कर्म स्वभावानुसार वर्ण व्यवस्था मानने में यह अनर्थ होगा कि पिता के धनादि पदार्थों का दाय-भाग छूट जायगा ॥ इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—अब भी तो ईसाई मुसलमानादि होने से दायभाग छूटता ही है। राजव्यवस्था हो जाने पर कुछ अनर्थ नहीं हो सकता ॥

द० ति० भा० पृ० ९० पं० २४ से—

ज्येष्ठ एवतु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-क्या किसी के दो पुत्र हों और बड़ा बेटा धर्म त्याग दे तो वह पिता के धन का अधिकारी हो सकता है ? कदापि नहीं । इसी प्रकार राजकीय व्यवस्था हो जाने पर वर्ण त्यागने पर भी दायभागादि सब काम ठीक चल सकते हैं ॥

द० ति० भा० पृ० ९१ पं० १७ से २५ तक में (स्वाध्यायेनव्रतैः०) इस श्लोक का यह तात्पर्य निकाला है कि स्वाध्यायादि कर्मों से ब्राह्मण नहीं होता किन्तु मुक्तिप्राप्ति के योग्य होता है ॥

प्रत्युत्तर-मुक्तियोग्य होना तो ब्राह्मण होने से भी ऊँचा है । क्योंकि ब्राह्मणों में भी सहस्रों में कोई ही मुक्ति का अधिकारी होता है । भला जो मुक्तियोग्य हो गया वह ब्राह्मण वा संन्यास के योग्य क्यों नहीं हुआ ॥

द० ति० भा० पृ० ९२-९३ में यह आशय है कि-"येनाऽस्य पितरो याताः" इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि बाप दादे के मत को न छोड़े । जो ब्राह्मणादि ईसाई मुसलमान हो जाते हैं वे भी जाति के ब्राह्मणादि ही कहाते और रहते हैं, किन्तु नीचों के साथ भोजनादि करने से पतित कहाते हैं ॥

प्रत्युत्तर-यदि बाप दादे का मत न छोड़ना अर्थ है तो ५० वर्ष ठहरे रहो, जो लोग आर्यसमाज में आ गये फिर उन की सन्तान को कभी मत कहना कि अपना मत छोड़ दो । आजकल जिस थियोसाफ़िकलसोसाइटी से भूत प्रेतादि हिन्दूपने के अन्ध विश्वासों को मानने के कारण धर्मसभाओं का बड़ा मेल जोल है और समस्त हिन्दू शिक्षित लोग मिसेस एनीबेसेन्ट को हिन्दू क्या ब्राह्मणों से भी अधिक मानते हैं । आप की क्या राय है ?

निन्दास्तुतिप्रकरणम्-

द० ति० भा० पृ० ९३-९४ में लिखा है कि यदि दोषों को दोष कहना भी स्तुति है तो (सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् । मनु०) से विरोध आवेगा । क्योंकि अप्रिय दोषों का सत्य कहना भी बुरा है । इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-सत्यंब्रूयात्० इत्यादि श्लोक सभ्यतामात्र धर्म का प्रतिपादक है । अर्थात् ऐसा करने वाले साधारण भलेमानुष कहाते हैं । परन्तु यथार्थ तो यही है कि "शत्रोरपि गुणावाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि" शत्रु के गुणों की प्रशंसा और गुरु के भी दोषों का कथन करना । परीवादात्खरो भवति० इत्यादि श्लोक असत्य दोषाऽरोपण का फल कहता है । इति ॥

द० ति० भा० पृ० ९५ पं० १५ से—

समीक्षा-अब यहां से स्वामी जी लापलीला चलाते हैं यहां पितर देवता ऋषि सब एक ही प्रकार और एक ही अर्थ में घटाते हैं इन श्लोकों में यह सब पृथक् २ हैं इस लिये देव ऋषि पितरों को एक ही कहना युक्त नहीं है क्योंकि ऋषियज्ञ देवयज्ञ भूतयज्ञ नृयज्ञ पितृयज्ञ इन को यथाशक्ति न जाने दे, पढ़ना पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ, तर्पण श्राद्ध पितृयज्ञ, होमादि देवयज्ञ और भूतबलि भूतयज्ञ और मनुष्ययज्ञ अतिथिभोजनादिक यह पांच हैं, वेदाध्ययन से ऋषियों का पूजन करें, होम से देवताओं का, श्राद्ध से पितरों का, अन्न से मनुष्यों का और भूतों को बलि कर्म कर पूजन करे ॥

" कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेनवा । पयोमूलफलैर्वापिपितृभ्यःप्रीतिमावहन् अ० ३ श्लो० ८२ मनु० ॥ एकमप्याशयेद्विप्रंपित्रर्थेपांचयज्ञिके "

पितरों से प्रीति चाहनेवाला तिल यव इन करके और पय मूल फल फल इन से श्राद्ध करे पितर के अर्थ एक ब्राह्मण भोजन करावे जब कि वेदाध्ययन से ऋषि, होम से देवता श्राद्ध से प्रसन्न से मनुष्यों का पूजन करे, यदि यह सब एक ही होते तो पृथक् २ वस्तुओं से पृथक् प्रसन्न होने वाले कैसे होते यदि देवता विद्वानों ही को कहते हैं तो क्या वोह हवन से प्रसन्न होते हैं तो उन की प्रसन्नता के वास्ते हवन कर देना चाहिये यदि विद्वान् भूखे आवें तो थोड़ासा होम करदेना वे झट प्रसन्न हो जायंगे इस से विद्वान् तृप्त होते देखे नहीं जाते इसकारण विद्वानों का ही देवता नाम और कोई पृथक् जाति नहीं है यह कहना स्वामी जी का झूंठ है वेदों में देवजाति पृथक् लिखी है यथा हि "अग्निर्देवता वातोदेवता सूर्योदेवता चन्द्रमादेवता" इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी ने ऋषि देवता पितर का एक ही अर्थ नहीं किया किन्तु देवता=सामान्य विद्वान्, पितर=माता पिता आदि ज्ञानी पालक, ऋषि= पढ़ानेहारे। यह तीनों भिन्न २ लिखे हैं। आप का एक समझना भूल है ॥

आप पढ़ने वालों को भ्रम में डालते हैं कि स्वामी जी ने ऋषियज्ञ देवयज्ञ पितृयज्ञादि को एक कर दिया। स्वामी जी ने (ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा०) इस श्लोक के भिन्न २ पांच यज्ञों के ५ यजनीयों की गिनती वहां नहीं की है किन्तु एकले पितृयज्ञार्थ तर्पण में जो देव ऋषि पितरों का तर्पण है, उस तर्पण के ३ अङ्गों के वर्णन में तीन प्रकार के पुरुषों का तर्पण लिखा है। इसी लिये-

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयज्ञिके

इस श्लोक का अर्थ यह हुवा कि पञ्च महायज्ञों में जो तीसरा पितृयज्ञ है और पितृयज्ञ के अन्तर्गत माता पिता आदि वृद्धज्ञानियों के अतिरिक्त देव और ऋषितर्पण भी सम्मिलित है। उस पितृयज्ञान्तर्गत देवतर्पण वा ऋषितर्पण में एक ही विद्वान् को भी तृप्त कर देना पर्याप्त है ॥

देवता विद्वानों ही को कहते हैं यह स्वामी जी ने नहीं लिखा, किन्तु पितृयज्ञ के अन्तर्गत जो देव ऋषि पितर इन तीनों में देव शब्द है, उस का तात्पर्य विद्वान् लोगों से है और देवयज्ञ जो होम से किया जाता है, उस के देवता तो अग्नि, वायु, जल, मेघ, सूर्य, चन्द्र, वनस्पति आदि ३३ देवान्तर्गत स्वामी जी ने भी माने ही हैं। इस लिये पितृयज्ञान्तर्गत देवशब्द से "अग्निर्देवता वातोदेवता" को लगाना बड़ी अज्ञान की बात है ॥

स्वामीजी ने ऋ० भूमिका में स्वयं ३३ देवों का व्याख्यान किया है, विद्वान् लोगों को देवता कहने से स्वामी जी का तात्पर्य शतपथ ब्राह्मणानुसार यह नहीं है कि विद्वानों से पृथक् कोई देवता नहीं हैं, किन्तु अपने २ प्रकरण होमादि में वायु आदि देवता हैं, परन्तु पितृयज्ञ में विद्वान् भी देवता हैं, यह तात्पर्य है ॥

इसीसे "वाग्वैब्रह्म" का उत्तर होगया कि वाणी को ब्रह्म कहने का भी यह तात्पर्य नहीं है कि ब्रह्म शब्द से वाणी ही का ग्रहण किया जाय। किन्तु वाणी के प्रकरण में ब्रह्मशब्द से वाणी का ग्रहण इष्ट है ॥

देवतों का व्याख्यान विस्तारपूर्वक देखना चाहें तो हमारे बनाये वैदिक "देवपूजा" नामक पुस्तक को देखें, यहां ग्रन्थ बढ़ेगा ॥

देवतों को ३३ करोड़ मानना भूल है। समस्त वेद शास्त्रों के शब्द भी ३३ करोड़ गिनती में नहीं, फिर इतने देवतों के नाम कहां? किन्तु ३३ देवों की ३३ कोटि अर्थात् समुदाय हैं। इसी कोटि शब्द का अर्थ अज्ञान से करोड़ समझ लिया है। शत और सहस्र शब्द निघण्टु ३।१ में बहुत के अर्थ में कहे हैं। तदनुसार ३३ शत वा ३३ सहस्र का अर्थ भी गणनापरक नहीं, किन्तु ३३ की संख्या को शक्तिपरक बहुत होना बताया गया है ॥

ऋ०भूमिका में शतपथ ब्राह्मण के प्रमाण से अग्न्यादि ८ वसु, १२ आदित्य चैत्रादि, ११ रुद्र प्राणादि, अशनि, अध्वर्य, ये ३३ वा ३ वा २ वा १ देवता हैं। सब की व्याख्या स्पष्ट लिखी है, तब कौन भ्रम कर सकता है कि स्वामीजी

ने विद्वान् के अतिरिक्त देवता नहीं माने ॥

आत्मैवैषां रथोभवत्यात्मा श्व आत्मायुधमात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य । निरु० ७ । ४ ॥

इस निरुक्त का अर्थ यह है कि वायु आदि भौतिक देवों का परमात्मा ही रथ, घोड़ा, आयुध, बाण आदि सब कुछ है अर्थात् परमात्मारूप सवारी में ही ये वायु आदि चलते फिरते हैं, परमात्मा के दिये सामर्थ्य से बलधारण करते हैं, किन्तु इन में स्वतन्त्र देवतापना नहीं है। सो ठीक ही है क्योंकि—

न तत्र सूर्योभाति न चन्द्रतारकं नेमाविद्युतोभान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ कठोप० ॥ ५ । १५ ॥

उस परमेश्वर के सामने सूर्य का प्रकाश कुछ वस्तु है, न चन्द्रमा, न तारे, न बिजुलियां, फिर इस अग्नि का तो कहना ही क्या है । प्रत्युत उसी के प्रकाशित होने से यह सूर्यादि देवगण प्रकाशित है और उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित हैं ॥

द० ति० भा० पृ० ९७ पं० २८ से-रूपं रूपं मघवा इत्यादि ॥ ऋ० और पृ० ९८ पं० ३ यद्यद्रूपं कामयते इत्यादि निरु० ॥

प्रत्युत्तर—ऊपर लिखे निरुक्त का यह तात्पर्य नहीं है कि परमेश्वर स्वयं भिन्न २ रूपों को धारण करता है और न यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मा वा इन्द्रदेवता उस के अंश हैं । यदि ऐसा हो तो परमात्मा एकरस भी न रहा तथा उसको एकरस, निर्विकार, निराकार प्रतिपादन करने वाले मन्त्रों और उपनिषदों का क्या अर्थ करोगे ? यथार्थ निरुक्त के उद्धृत ऋग्वेद के मन्त्र का अर्थ यह है । यथा—

यद्यद्रूपं कामयते तत्तद्देवता भवति । रूपं रूपं मघवा बोभवीति इत्यपि निगमोभवति । निरु० अ० १० खं०१७ ॥

अर्थ जिस २ रूप को परमात्मा बनाने की इच्छा करते हैं वह वह देवता होता है अर्थात् परमात्मा जिस २ देवता को जिस २ रूप में बनाना चाहते हैं, बनाते हैं । उन की कामनामात्र से यह विचित्र सृष्टि सूर्यादि ३३ देवतों से युक्त बनी है । इस विषय में निरुक्तकार नीचे लिखे ऋग्वेद के मन्त्र का प्रमाण देते हैं । यथा—

रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्।
त्रिर्यद्दिवः परि मुहूर्तमागात्स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा ॥
ऋ० ३ सू० ५३ मं० ८ ॥

अन्वयः-यत् अनृतुपा ऋतावा स्वां तन्वं परि मायाः कृण्वानः सन् मघवा स्वैर्मन्त्रैर्मुहूर्त्तं दिवस्त्रिः पर्यागात् रूपं रूपं बोभवीति ॥

(यत्) जो कि (अनृतुपाः) किसी विशेष ऋतु में ही नहीं किन्तु सदा सोमादि ओषधिरसों का पीने वाला (ऋतावा) ऋत नाम उदक वा जल वाला [सोमादि ओषधियों का रस रूप जल जिस के किरणों में पृथ्वी से उड़ कर जाता है । ऋतम्=उदकम् निघं० १।१२] (स्वां तन्वं परि) अपने पिण्ड देह के चारोंओर को (मायाः कृण्वानः) बुद्धियों को करता हुवा [प्रकाश से तम निवृत्त होकर बोध बुद्धि वा जागरण होता है, रात्रि में अन्धकाररूप तमोगुण से निद्रा उत्पन्न होती है, निद्रा में बुद्धि तिरोभूत हो जाती है, सूर्य अपने उदय से फिर बुद्धियों को प्रादुर्भूत करता है । माया= प्रज्ञा=बुद्धि निघं० ३ । १०] (मघवा) इन्द्र=सूर्य (स्वैर्मन्त्रैः) इन्द्र देवता वाले मन्त्रों से (दिवः) सूर्य लोक और जहां तक उस का प्रकाश जाता है वहां से (मुहूर्त्तम्) क्षण मात्र में (त्रिः) प्रातः सवन माध्यन्दिनसवन और सायंसवन इन यज्ञ के तीनों सवनों में तीनों वार (परिआ अगात्) व्याप्त होता है (रूपं रूपम्) प्रत्येक रूप को (बोभवीति) अतिशयता से हुवाता है अर्थात् बनाता है [सूर्य आग्नेय है, अग्नि की तन्मात्रा रूप है, इस लिये प्रत्येक रूप सूर्य से उद्भूत होता, सूर्य के विना रूपोत्पत्ति नहीं हो सकती, आंख से रूप ही देखते हैं । आंख का भी इन्द्र देवता है तथा इन्द्रकी सहायतासे ही आंख देख सकती हैं । इन्द्र उस देवता का नाम है जो सूर्य अग्नि दीपकादि समस्त चमकवाले पदार्थों में चमक है] आशय यह है कि परमात्मा अपनी इच्छा से इन्द्र देवता अर्थात् चमक को बनाते हैं वह चमक मुख्यकर अधिकता से सूर्य में रहती है अतः सूर्य को भी विशेष कर इन्द्र कहते हैं । वही इन्द्र हर एक रूपवान् पदार्थ में रूप का कारण है, उस के विना कोई रूप नहीं हो सकता । इस लिये वही सब रूपों को बनाता है यह कहा

गया । अब बुद्धिमानों को विचारना चाहिये कि इस से किसी देवता का सुवर्णमयादि मूर्ति में आना सिद्ध नहीं होता । किन्तु मूर्त्त हो क्या सभी रूपवान् पदार्थों में इन्द्र देवता जिस का नाम चमक है विराजमान है । परन्तु ध्यान रहे कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने वेदभाष्यभूमिका में इन्द्रादि ३३ देवता अवश्य माने हैं परन्तु वे परमात्मा के तुल्य वा कुछ न्यून भी उपास्य देव नहीं हो सकते, क्योंकि जड़ हैं ॥

द० ति० भा० पृ० ९८ पं० १४ से-पुनः केन उपनिषद् में देवताओं का परस्पर संवाद है-ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥ केन उप० ॥

ईश्वर ने देवताओं को जय दी उस की कटाक्ष कृपा से सब देवता महिमा को प्राप्त होते हुवे और फिर यह जाना कि यह सब जगत् हमारा ही जय किया है और हमारी ही महिमा है तब ईश्वर यक्षरूप अवतार से प्रकट हुवे और वे देवता परस्पर उन का वृत्तान्त पूछने लगे (तेऽग्निमब्रुवन्) इत्यादि वाक्य हैं कि उन्हों ने अग्नि वायु आदि से पूछा तुम इन को जानते हो ? उन्हों ने कहा नहीं इसी प्रकार देवता अनेक विधि से सूचित होते हैं और देवताओं का लोक पृथक् प्रतीत होता है जैसे इन्द्र का स्वर्ग से आना लिखा है ॥

यत्र ब्रह्म च क्षत्रञ्च सम्यञ्चौ चरतः सह ॥
तंल्लोकम्पुण्यम्प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥ यजु० अ० २० मंत्र २५ ॥

जहां ब्राह्मण जाति और क्षत्रिय जाति संग मिले रहते हैं और जहां देवता अग्नि के साथ वास करते हैं उस पवित्र लोक को मैं देखूं यजमान का वाक्य है ॥

"यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्चौ चरतः सह । तंल्लोकम्पुण्यम्प्रज्ञेषं यत्र सेदिर्न विद्यते य० अ०२० मं०२६" जिस लोक में इन्द्र वायु देवता मिले हुए विचरते हैं जिस लोक में दुःख नहीं है उस लोक को मैं प्राप्त करूँ ॥

प्रत्युत्तर-इस में देवतों का संवाद नहीं है, प्रत्युत यह दिखाया गया है कि कभी २ अज्ञानवश ऐसा प्रतीत होने लगता है कि अग्नि, वायु, सूर्यादि देवतों की ही महिमा दृष्टि पड़ती है ब्रह्म तो विषय में ही नहीं आता, बस देवतों का ही जय है । परन्तु इन देवतों का भी सामर्थ्य परमात्मा के अधिकार में है, उस के विना ये कुछ नहीं कर सक्ते और आप

ही स्वयं "अग्निर्देवता" इत्यादि लिख चुके हैं फिर भला वायु अग्नि आदि देवता बात चीत संवाद कैसे कर सक्ते हैं ?

(यत्र ब्रह्म) इस मन्त्र का अर्थ आप का किया ही ठीक है कि जिस लोक अर्थात् देश में ब्राह्मण और क्षत्रिय परस्पर विरोध नहीं करते, मिले रहते हैं उस पवित्रलोक को मैं देखूं। इस से तो यही ब्राह्मण क्षत्रियों का लोक सिद्ध होता है, न कि अन्य कोई ॥ क्योंकि यहां अग्नि सहित देवता भी वास करते हैं और ब्राह्मण क्षत्रिय भी रहते हैं। यजमान की प्रार्थना यह है कि अग्निहोत्रादि देश में होते रहें और विद्याबल तथा बाहुबल में मेल रहे। निरुक्त में स्पष्ट लिखा है कि-

अग्निः पृथिवीस्थानः ॥ निरु० ७। ५ ॥

अग्नि देवता का स्थान पृथिवी है। फिर आप पृथिवी को देवलोक क्यों नहीं मानते ? जब कि आप भी अग्नि को देवता लिख चुके हैं। हां सूर्यादि अन्य देवों के अन्य लोक भी हैं, परन्तु पृथिवी भी देवलोक है, और पृथिवी स्वयं देवता है जैसा कि आठ वसुओं में पृथिवी को दूसरा वसु शतपथ १४। १६। ४ में लिखा है कि-

कतमे वसव इति। अग्निश्च पृथिवी च० ॥

(यत्रेन्द्रश्च वायुश्च) का भी यही तात्पर्य है कि यजमान चाहता है कि यज्ञ से मुझे ऐसा फल मिले कि इन्द्र बिजुली वा सूर्य वायु का जहां भला प्रभाव हो, वहां मुझे वास मिले। जहां मेघ, सूर्य, वायु, आदि की अनुकूलता से दुःख न हो, सुख हो। (अत्र और यत्र) दोनों प्रयोग इस लोक के लिये आते हैं। जैसे-

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः ॥

क्या यहां भी (यत्र) पद का अर्थ अन्य लोक करोगे ?

द० ति० भा० पृ० ९९ पं० ९ से २४ तक १-देवादि की पूजा प्रातः समय करे। २-देवतों वा ब्राह्मणों का दर्शन करे। ३-देवता काम सिद्ध करते हैं। ४-ऋषि सूक्ष्मदर्शी को कहते हैं। ५ देवता स्वर्ग में रहते हैं ॥ ये ५ बातें कही हैं ॥

प्रत्युत्तर-ठीक है भोजनादि से पूर्व ही पूज्यों की पूजा करे। २ देवता सूर्यादि वा विद्वान् लोगों और ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ताओं का दर्शन करे। देव

दर्शन का तात्पर्य यज्ञशाला में जाना यज्ञ करना भी है, क्योंकि आप भी लिख चुके हैं कि "होमोदैवोबलिर्भौतः" होम करना देवयज्ञ है । ३-सूर्य जल वायु आदि देवता ज्ञानी लोगों से काम प्रत्यक्ष रेल तार बिमान चक्की आदि में कर रहे हैं ॥ ४-ऋषि ठीक सूक्ष्मदर्शी को कहते हैं । ५-स्वर्ग सुख वा द्युलोक का नाम है, सो विद्वान् पुरुष सुख में रहते और सूर्यादि भौतिक देव द्युलोक अर्थात् स्वर्गलोक में रहते हैं। इससे हमारी सिद्धान्त हानि नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० ९९ पं० २५ से-

स्वामी जी ने जो सत्यार्थप्रकाश पृ० ९९ पं० २८ में "विद्वांसोहिदेवाः" यह लिखा है कि विद्वानों का नाम देवता है (यहां यह भी रहस्य लिखा है) साङ्गोपाङ्ग चारों वेदों को जानने वाले हों उन का नाम ब्रह्मा और उस से न्यून हों उनका भी नाम देव विद्वान् है ऐसा लिखा है यह लेख बुद्धिमान् विचारेंगे कितना निर्मूल है देवता शब्द और वे किस प्रकार के होके रहते हैं यह सब कुछ हम पूर्व कथन कर चुके हैं पर यह लक्षण देवता का नहीं देखा कि चारों वेदों को उपाङ्ग सहित जानने से ब्रह्मा होता है यह तो कहिये कि आप वेदों के उपाङ्ग ऋषिकृत और वेद के पश्चात् बने बताते हो जिस समय तक कि वेदाङ्ग नहीं बने थे संहितामात्र वेद था तो उस समय ब्रह्मा संज्ञा ही न होनी चाहिये थी फिर अथर्ववेद में लिखा है (भूतानां प्रथमोब्रह्मा ह जज्ञे) सृष्टि में सब से पहले ब्रह्मा जी उत्पन्न हुवे बिना उपाङ्ग उन्हें ब्रह्मा किस ने बना दिया जो आप का ही नियम होता तो वेदाङ्ग बनाने वालों का नाम महाब्रह्मा होता, क्योंकि पढ़ने वालों से ग्रन्थकर्त्ता बड़े होते हैं और जो साङ्गवेद जानने से ही ब्रह्मा कहावे तो रावण को ब्रह्मा वा देवता क्यों नहीं कहते मालूम तो ऐसा होता है आप ने यह ढङ्ग अपने को ब्रह्मा और देवता कहलाने का निकाला था परन्तु सिद्ध न हुवा कोई भी ऐसा भक्त चेला न हुआ जो आप को ब्रह्मा नाम से पुकारता यदि वेदाङ्ग जानने से ब्रह्मा होते तो वसिष्ठ, गौतम, नारदादि सब ही ब्रह्मा हो जाते परन्तु आज तक एक ही ब्रह्मा सुने हैं । ऋषि अध्ययन से देवता हवन से पितर श्राद्ध और हवन से प्रसन्न होते हैं यह तीनों पृथक् हैं । देवता आहुति से तृप्त होते हैं विद्वान् भोजन से । देवताओं के आकार और मूर्त्ति तथा निवासस्थान वर्णन ११ वें समुल्लास में सिद्ध करेंगे यहां तो केवल उनका होना ही सिद्ध किया है ॥

प्रत्युत्तर-तो क्या आप (विद्वांꣳसो हि देवाः) इस शतपथ को नहीं मानते ? ब्रह्मा वही पुरुष हो सकता है जो चारों वेद जानता हो । क्योंकि यज्ञ में जब किसी विद्वान् को ब्रह्मा वरण किया जाता है तो उसे चारों वेदों के जानने की आवश्यकता पड़ती है । जैसा कि आपस्तम्बीयश्रौतसूत्र में लिखा है:—

ऋग्वेदेन होता करोति ॥ १९ ॥ सामवेदेनोद्गाता ॥ २० ॥ यजुर्वेदेनाऽध्वर्युः ॥ २१ ॥ सर्वैर्ब्रह्मा ॥ २२ ॥

अर्थात् ऋग्वेद से होता काम करे सामवेद से उद्गाता, यजुर्वेद से अध्वर्यु और सब (चारों) वेदों से ब्रह्मा । इस लिये स्वामी जी का लिखना ठीक है ॥

ऋषियों ने वेदों में मूलमात्र सब विषयों का पाया, उसी को अङ्गउपाङ्गों में विस्तारपूर्वक लिखा । ब्रह्मा और उसका यज्ञ में काम नीचे लिखे ऋग्वेद के मन्त्र में वर्णित है और निरुक्तकार ने भी इस ऋचा को होता अध्वर्यु उद्गाता ब्रह्मा इन चारों ऋत्विजों के कामों के विनियोग में माना है और कहा है कि:-

इत्यृत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे । इत्यादि । निरु० १ । ८ ॥

फिर निरुक्तकार ने ही यह नीचे लिखा मन्त्र दिया है जो अर्थ सहित हम लिखते हैं:—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां, यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः ॥
(ऋ० १० । ७१ । ११)

अन्वितव्याख्यानम्-[त्व शब्दः सर्वनामसु पठित एकशब्दपर्यायः] एको होता (पुपुष्वान् ऋचां पोषमास्ते) स्वकर्माधिकृतस्सन् यत्र तत्र पठिता ऋचो यथा विनियोगविन्यासेन पोषयति सार्थकाः करोति (त्वः शक्वरीषु गायत्रं गायति) एक उद्गाता शक्वर्युपलक्षितासु छन्दोविशेषयुक्तास्वृक्षु गायत्रं गायत्रादिनामकं साम

गायति (त्वो ब्रह्मा जातविद्यां वदति) एको ब्रह्मा, अपराधे जाते तत्प्रतीकाररूपां विद्यां वदति (त्वो यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ) एकोऽध्वर्युर्यज्ञस्य मात्रामियत्तां विमिमीते विशिष्टतया परिच्छिनत्ति॥

अर्थात् एक होता ऋचाओं को विनियोगानुसार सङ्कलित करता है, एक उद्गाता शक्वर्यादिछन्दोयुक्त गायत्र गान करता है, एक ब्रह्मा यज्ञ में कुछ अपराध वा भूल चूक होने पर उस का प्रतीकार करता है और एक अध्वर्यु यज्ञ के परिमाण वा इयत्ता को निर्धारित करता है ॥

ऊपर लिखे ४ ऋत्विज् ४ वेदों के ज्ञाता यज्ञ को पूर्ण करते हैं । इनमें से १-" होता " है जिस का यह काम है कि मन्त्रसंहिता में यथास्थान पठितमन्त्रों को उस यज्ञविशेष में विनियोग के अनुसार ठीक हाक करे । जैसे पाणिनि मुनि ने अष्टाध्यायी में स्थानियत प्रकरणानुकूल सूत्र पढ़े हैं उन से वैयाकरण लोग जब कोई प्रयोग सिद्ध करते हैं तब विद्यार्थी को सिखलाते समय स्लेट आदि पर विग्रह (असिद्धरूप) लिख कर फिर जिन२ सूत्रों की उस प्रयोग के सिद्ध करने में आवश्यकता होती है उन २ सूत्रों का उच्चारण करते हुवे उन २ सूत्रों के अर्थानुसार कार्य करके प्रयोग सिद्ध करते हैं इसी प्रकार किसी यज्ञविशेष को सिद्ध करने के लिये होता नाम ऋत्विज् चाहिये जो यज्ञ को ठीक २ सिद्ध करे । २-" उद्गाता" है जो शक्वरी आदि वेद के छन्दोयुक्त सामादि का गान जहां २ अपेक्षित है वहां २ ठीक २ करे, ३-" अध्वर्यु " है जो यज्ञ की मात्रा (जैसे औषधि की मात्रा ठीक हो तो आरोग्य करती है) का परिमाण निर्धारित करे । ४-"ब्रह्मा" है जो पहिले ३ ऋत्विजों के कार्यों में कृताकृतावेक्षण कर्म करे अर्थात् यज्ञ में कोई करणीय कर्म छूट न जावे तथा अकरणीय किया न जावे । यह दृष्टि रक्खे और जब कभी कुछ अन्यथा कर्म हो जावे तब उस का प्रतीकार वा प्रायश्चित करे करावे ब्रह्मा के कार्य को ऊपर लिखे वेदमन्त्र में देखकर ऋषियों ने अपने २ ग्रन्थों में और विशेष स्पष्टता से निरूपण किया है । यथाहि छन्दोगा आमनन्ति-

यज्ञस्य हैष भिषक् यद्ब्रह्मा यज्ञायैव तद्भेषजं कृत्वा हरति

अर्थात् यज्ञ का यह वैद्य है जो कि ब्रह्मा है वह यज्ञ के लिये ही औषध बना के पहुंचाता है ॥ तथा-

यज्ञस्य विरिष्टं सन्दधाति भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति ॥ कौथुमशाखीय छान्दोग्य प्र० ४ खं० १७

अर्थात् ब्रह्मा यज्ञ को निर्दोष सन्धान करता है क्योंकि यज्ञ औषध रूप है जिस में ऐसा विद्वान् ब्रह्मा होता है ॥

यद्यृक्तो रिष्येत् भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयात्

कौथु० शा० छा० प्र० ४ खं० १७

जब किसी ऋचा का अपराध होने से दोष उत्पन्न हो तो ब्रह्मा " ओं भूः स्वाहा " इस मन्त्र से गार्हपत्य अग्नि में आहुति देकर उस का प्रतीकार वा प्रायश्चित्त करे ॥

आज कल वैदिककर्मकाण्ड के अश्रद्धालु पुरुष शङ्का करेंगे कि किसी ऋचा के पाठमात्र में कोई भूल चूक हो जाना कितनी बड़ी बात है जिस के लिये ब्रह्मा को प्रायश्चित्त की आवश्यकता पड़े ?

विचार करके देखा जावे तो किसी वेदमन्त्र के पाठ में भेद पड़ना बड़ा भारी अपराध है । क्या वे अश्रद्धालु पुरुष नहीं जानते हैं कि सम्प्रति राजकीय निर्धारित नीति (क़ानून) वा किसी उच्चाधिकारी (गवर्नरादि) वा राजा के व्याख्यान (स्पीच) का अनुवाद करते हुवे प्रयोजनीय विषय में भूल वा अज्ञान से कोई अन्यथा बोले लिखे, समझे, समझावे और तदनुसार भूल का काम करे, वा करावे, तो अवश्य अपराधी है ॥

अब यह सिद्ध हो चुका कि वेदानुसार ही श्रौतसूत्रादि में ब्रह्मा संज्ञा और उन के काम नियत किये गये हैं ॥

अथर्ववेद के (भूतानां ब्रह्म०) वाक्य में ब्रह्मा पुरुष विशेष नहीं किन्तु परमात्मा का पर्याय है । जब कि परमात्मा जगत् रचता है तो प्रकृति को विकृत करके भूतों को उत्पन्न करने से स्वयं भी प्रगट सा होता है । तब उस की ब्रह्मासंज्ञा होती है । रावण वेदविरुद्धाचार से राक्षस होगया । जो वेद पढ़कर तदनुकूलाचरण न करे वह पढ़ा बेपढ़े से भी नीच है । वसिष्ठ गौतम आदि भी किसी के यज्ञ में ब्रह्मा हुए होंगे । ११ वें समुल्लास में जहां आप देवतों की मूर्त्ति सिद्ध करेंगे तभी उत्तर भी वहीं दिया जायगा ॥

अथ श्राद्धप्रकरणम्

स्मरण रहे कि स्वामी जी वा आर्यसमाज से जो कुछ श्राद्धविषय में विवाद है वह यह है कि ब्राह्मणादि के भोजन कराने से मृत पितरों की तृप्ति हो सकती है वा नहीं ? स्वामी जी का पक्ष है कि नहीं हो सकती और अन्य पौराणिक भाइयों का पक्ष है कि हो सकी है। इस लिये जब तक कोई मन्त्र मृतपितरों के श्राद्धभोजी लोग ऐसा न दिखलावें जिस में उन का भोजन करना मृतपितरों की तृप्ति का हेतु वर्णन किया गया हो, तब तक इस विवाद में पौराणिक पक्ष सिद्ध नहीं हो सकता। स्वामी जी और हम लोग जीवों का वास समस्त लोकों में जहां चेतन सृष्टि हो मानते हैं, यदि कोई प्राणी मर कर चन्द्र, सूर्यादि लोकान्तर में कर्मानुसार जाकर जन्म लेते हैं तो इस से मृतकश्राद्ध सिद्ध नहीं होता, किन्तु हमारे भोजन कराये श्राद्ध वस्तुओं से उन की तृप्ति होना जब तक सिद्ध न हो, तब तक इस विवाद का कुछ फल नहीं ॥

पितृ शब्द निघण्टु ४।१ में पिता पद आया है। 'पितरः' यह बहुवचनान्त पद निघण्टु ५।५ में और उन की व्याख्या निरुक्त ११।१९ में है। निरुक्तानुसार वही मध्यस्थान देवता "पितर" कहाते हैं। निरुक्त ४।२१ में पिता पद के व्याख्यान में नीचे लिखा मन्त्र ऋग्वेद १।१६४।३३ का प्रमाण दिया है कि—

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र । इत्यादि ॥

फिर निरुक्तकार इसके अर्थ करते हुये पिता पद का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि—

पिता पाता वा पालयिता वा

अर्थात् पिता पालने वा रक्षा करने से कहा जाता है। (द्यौर्मे पिता) मन्त्र में पिताशब्द सूर्य का वाचक है। ऐसा ही स्वामी जी ऋग्वेदभाष्य में लिखते हैं और ऐसा ही निरुक्तकार मानते हैं। तात्पर्य यह है कि रक्षा वा पालने वाले जनकादि मनुष्यवर्ग, राजा, सूर्य, चन्द्रकिरणें, वायुभेद, जिनका राजा यम कहाता है। इत्यादि रक्षकों और पालन करने वालों का नाम पितर है, वेदों में बहुत स्थानों में यम पितरों का राजा लिखा है। जैसे मनुष्यों का राजा मनुष्य, मृगों का राजा मृगराज सिंह, ओषधियों का राजा सोम नामक ओषधि, ऋतुओं का राजा ऋतुराज, वसन्त है, इसी प्रकार

वायुभेद जो हमारे रक्षक और पालक हैं, उन का राजा यम भी वायु ही है, आप ने भी पृ० १०१ पं० १२ में लिखा है कि—

माध्यमिकोयम इत्याहुर्नैरुक्ताः तस्मात्पितॄन्माध्यमिकान्मन्यन्ते स हि तेषां राजेति ॥

अर्थात् यम मध्यस्थान देवता है, यह नैरुक्तों का मत है । इस लिये पितरों को भी मध्यस्थान देवता मानते हैं क्योंकि वह (यम) उन पितरों का राजा है । फिर निरुक्त ७ । ५

वायुर्वेन्द्रोवान्तरिक्षस्थानः ॥

वायु अन्तरिक्षस्थान अर्थात् मध्यस्थान देवता है । ऐसा ही आशय ऋग्वेद १० । १४ । १३ में—

यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतः ॥

अग्नि जिस का दूत लेजाने वाला है, वह यज्ञ वायु को प्राप्त होता है, यहां यम का अर्थ वायु है । और यजुः ८ । ५७

यमः सूयमानो विष्णुः संभ्रियमाणो वायुः पूयमानः ॥

यहां भी यम नाम वायु का है ॥

स्तुहीन्द्रं व्यश्ववदनूर्मिं वाजिनं यमम् ऋ० ८ । २४ । २२

यहां भी यम नाम वायु का है क्योंकि इस मन्त्र का देवता इन्द्र है और इन्द्र ऊपर लिखे निरुक्त ७ । ५

वायुर्वा इन्द्रोवा अन्तरिक्षस्थानः ॥

के अनुसार वायु का भी नाम है ॥

बस जितने वेदमन्त्र द० ति० भा० में दिये हैं । उन में प्रायः, अग्नि, हव्य हवन आदि का सङ्केत है इस लिये वे वायुगत भेदभिन्न ऊपर लिखे पदार्थ की तृप्ति अर्थात् अनुकूलता के लिये होम करने के तात्पर्य में हैं ॥

इस के अतिरिक्त यह भी वेद की शिक्षा है कि प्रत्येक लिङ्गशरीर जीवात्मा स्थूलशरीर छोड़ कर आकाश में १२ दिन तक १२ आकाशी पदार्थों से आप्यायित (डवेलप) होता है तब उसे किसी लोक में कर्मानुसार जन्म मिलता है । हां, जिन का लिङ्गशरीर भी छूट जाता है, उन मुक्तपुरुषों की यह अवस्था नहीं है ॥

सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीय आदित्यश्चतुर्थे
चन्द्रमाः पञ्चम ऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे
मित्रो नवमे वरुणो दशम इन्द्र एकादशे विश्वे देवा द्वादशे ॥

(यजुः ३९ । ६)

हे मनुष्यो ! इस जीव को (प्रथमे) पहले (अहन्) दिन (सविता) सूर्य (द्वितीय) दूसरे दिन (अग्निः) अग्नि, तीसरे वायु, चौथे महीना, पांचवें चन्द्रमा, छठे वसन्तादि ऋतु, सातवें मरुत, आठवें सूत्रात्मा, नवें प्राण, दशवें उदान, बारहवें बिजुली, और ग्यारहवें दिन, सब दिव्य गुण प्राप्त होते हैं ३९।६

अब इस से यह भी जाना जाता है कि सूर्य, अग्नि, वायु, चन्द्र, प्राण, उदान, बिजुली और आकाशगत अन्य सब दिव्य पदार्थों का (जो देवता कहाते हैं) हवन करने से सुधार होता है इसी को तृप्ति और अनुकूलता भी कह सक्ते हैं और इन देवतों से आप्यायित होने वाले लिङ्गशरीरी जीवात्माओं का भी आप्यायित होना सम्भव है । इस से अग्नि में होम द्वारा पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक इन तीनों स्थानों की शुद्धि, वृद्धि और तृप्ति, होने से आकाशगत लिङ्गशरीरी आत्माओं का भी उपकार सम्भव है । परन्तु वे किसी प्रकार परमात्मा की व्यवस्थानुकूल १२ दिन में भिन्न भिन्न नियत पदार्थों को छोड़ अन्यत्र कहीं नहीं जासक्ते और इस के अनन्तर स्थूलशरीर पाय जन्म लेकर भी एक लोक से दूसरे लोक में नहीं आ जा सक्ते । इसलिये वर्त्तमान प्रचलित श्राद्धदानादि कार्यों के पदार्थों की प्राप्ति ब्राह्मणों द्वारा पितरों को सर्वथा नहीं हो सक्ती । हां, अग्निहोत्र तीनों लोक का उपकारक है ॥

इस व्यवस्था से सोचा जावे तो जो २ प्रमाण पं० ज्वालाप्रसाद जी ने पेद के दिये हैं, वे इस अग्निद्वारा आकाशगत आत्माओं के आप्यायन से आगे अंशमात्र भी नहीं बढ़ते । और ब्राह्मणों के भोजनादि कराने से मृत पितरों की तृप्ति सिद्ध करना मन के लड्डू ही रहजाते हैं । क्योंकि उन के दिये किसी वेद मन्त्र में उन्हीं के किये अर्थानुसार भी ब्रह्मभोज पितृतृप्ति का कारण नहीं बताया गया है ॥

और इन्हीं आकाशगत पदार्थों का तात्पर्य संस्कारविधिस्थ अन्त्येष्टि-प्रकरणगत समस्त मन्त्रों में भी लग जायगा ॥

द० ति० भा० पृ० १०२ में मन्त्र ३ यजुर्वेद अध्याय १९ मन्त्र ४५ । ४६ । ४७

दिये हैं जिन का अक्षरार्थ यह है--

ये संमानाः सर्मनसः पितरो यमराज्ये तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम् ॥ अ० ॥ १९ मं० ४५ ॥

(ये) जो (समानाः) सदृश (समनसः) तुल्यविद्यायुक्त (पितरः) प्रजा के रक्षक लोग (यमराज्ये) न्यायकारी राजा के राज्य में हैं (तेषाम्) उन का (लोकः) स्थान (स्वधा) अन्न (नमः) सत्कार और (यज्ञः) प्राप्त होने योग्य न्याय (देवेषु) विद्वानों में (कल्पताम्) समर्थ हो ॥४५॥

ये संमानाः सर्मनसो जीवा जीवेषु मामकाः ।
तेषांश्रीर्मयि कल्पताम॒स्मिँल्लोके शतᳬसमाः ॥ ४६ ॥

(ये) जो (अस्मिन्) इस (लोके) लोक में (जीवेषु) जीवते हुवों में (समानाः) समान गुण कर्म स्वभाव वाले (समनसः) समान धर्म में मन रखने वाले (मामकाः) मेरे (जीवाः) जीते पितर हैं (तेषाम्) उन की (श्रीः) लक्ष्मी (मयि) मेरे समीप (शतम्) सौ (समाः) वर्ष तक (कल्पताम्) समर्थ होवे ॥ ४६ ॥

द्वे सृती अंशृणवम्पितॄणाम॒हन्देवानाम॒त मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरम्मातरञ्च ॥ ४७ ॥

हे मनुष्यो ! (अहम्) मैं (पितॄणाम्) पिता आदि (मर्त्यानाम्) मनुष्यों (च) और (देवानाम्) विद्वानों के (द्वे) दो (सृती) मार्गों को (अशृणवम्) सुनता हूं (ताभ्याम्) उन दोनों मार्गों से (इदम्) यह (विश्वम्) जगत् (एजत्) चेष्टित हुवा (समेति) अच्छे प्रकार प्राप्त होता है (उत) और (यत्) जो (पितरम्) पिता और (मातरम्) माता को (अन्तरा) छोड़ कर अन्य माता पिता को प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

द० ति० भा० पृ० १०२ पं० २१ में लिखे ऋग्वेदमन्त्र का अर्थ--

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥

ऋ० १० । १५ । १ ॥

बहुत मन्त्रों का अर्थ करना है इस लिये संस्कृत और भाषा दोनों में

लिखने से ग्रन्थ बहुत बढ़ेगा इस कारण संक्षिप्त पदार्थमात्र ही लिखेंगे ॥

(ये) जो (पितरः) पिता आदि रक्षक जन (परासः) बड़े (अवरे) छोटे (मध्यमाः) मध्यावस्था वाले हैं (ते) वे (पितरः) पालक रक्षक लोग (नः) हम को (उत् ईरताम्) उन्नत करें। (सोम्यासः) वे सौम्य लोग (असुम्) जीवन को (उत् ईयुः) उच्च (अधिक) प्राप्त हों। (अवृकाः) जो किसी से शत्रुता नहीं करते और (ऋतज्ञाः) सत्यज्ञानी हैं, वे (हवेषु) जब २ हम पुकारें तब २ (उत अवन्तु) उच्चभाव से रक्षा करें ॥ इसमें मृतश्राद्ध का वर्णन भी नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० १०३ पं० १४ और २५ में लिखा है कि (वैवस्वतं संगमन जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य) ॥ ऋ० १० । १४ । १

यमको पितृराज होने में यह मन्त्र प्रमाण है ॥

प्रत्युत्तर—हां, यम वायुओं का राजा है, उसे हविष् से सेवन कर । इस से हवन सिद्ध होता है । मृतश्राद्ध नहीं ।

द० ति० भा० पृ० १०३ से १०५ में यजुर्वेद अध्याय १९ के ७ मन्त्र हैं उन का अर्थ ठीक यह है—

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥
यजु० अ० १९ मं० ५१

(ये) जो (नः) हमारे (सोम्यासः) शान्त्यादि गुणों के योगसे योग्य (वसिष्ठाः) अत्यन्तधनी (पूर्वे) पूर्वज (पितरः) पालन करने हारे ज्ञानी पिता आदि (सोमपीथम्) सोमपान को (अनूहिरे) प्राप्त होते और कराते हैं (तेभिः) उन (उशद्भिः) हमारे पालन की कामना करनेहारे पितरों के साथ (हवींषि) लेने देने योग्य पदार्थों की (उशन्) कामना करने हारा (संरराणः) अच्छे प्रकार सुखों का दाता (यमः) न्याय और योगयुक्त सन्तान (प्रतिकामम्) प्रत्येक काम को (अत्तु) भोगे ।

भावार्थ—पिता आदि पुत्रों के साथ और पुत्र पिता आदि के साथ सब सुख दुःखों के भोग करें और सदा सुख की वृद्धि और दुःख का नाश किया करें ॥ ५१ ॥

त्वया हि नः पितरः सोमपूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः ।
वन्वन्नवातः परिधीँ२ रपोर्णु वीरेभिरश्वैर्मघवा भवा नः ॥५३॥

हे (पवमान) पवित्र स्वरूप पवित्र कर्मकर्त्ता और पवित्र करने हारे (सोम) ऐश्वर्ययुक्त सन्तान! (त्वया) तेरे साथ (नः) हमारे (पूर्वे) पूर्वज (धीराः) बुद्धिमान् (पितरः) पितादि ज्ञानी लोग जिन धर्मयुक्त (कर्माणि) कर्मों को (चक्रुः) करने वाले हुए (हि) उन्हीं का सेवन हमलोग भी करें (अवातः) हिंसाकर्मरहित (वन्वन्) धर्म का सेवन करतेहुए सन्तान! तू (वीरेभिः) वीरपुरुष और (अश्वैः) घोड़े आदि के साथ (नः) हमारे शत्रुओं को (परिधीन्) परिधि अर्थात् जिनमें चारोंओर से पदार्थों का धारण कियाजाय उन मार्गों को (अपोर्णुहि) आच्छादन कर और हमारे मध्य में (मघवा) धनवान् (भव) हूजिये।

भावार्थ- मनुष्य लोग अपने धार्मिक पिता आदि का अनुकरण कर और शत्रुओं को निवारण करके अपनी सेना के अङ्गों की प्रशंसा से युक्त हुए सुखी होवें॥ ५३॥

बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।
तऽआगताऽवसा शन्तमेनाथा नः शंयोररपो दधात॥ ५९॥

हे (बर्हिषदः) उत्तम सभा में बैठने हारे (पितरः) न्याय से पालना करने वाले पितर लोगो! हम (अर्वाक्) पश्चात् जिन (वः) तुम्हारे लिये (ऊती) रक्षणादि क्रिया से (इमा) इन (हव्या) भोजन के योग्य पदार्थों का (चकृम) संस्कार करते हैं उन का आप लोग (जुषध्वम्) सेवन करें और (शन्तमेन) अत्यन्त कल्याण कारक (अवसा) रक्षणादि कर्म के साथ (आ,गत) आयें (अथ) इसके अनन्तर (नः) हमारे लिये (शंयोः) सुख तथा (अरपः) सत्याचरण को (दधात) धारण करें और दुःख को सदा हम से पृथक् रक्खें॥ ५५॥

आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः।
अस्मिन्यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥५८॥

जो (सोम्यासः) चन्द्रमा के तुल्य शान्त शमनादि गुणयुक्त (अग्निष्वात्ताः) अग्न्यादि पदार्थविद्या में निपुण (नः) हमारे (पितरः) अन्न और विद्या के दान से रक्षक जनक अध्यापक और उपदेशक लोग हैं (ते) वे (देवयानैः) आप्तलोगों के जाने आने योग्य (पथिभिः) धर्मयुक्त मार्गों से (आ, यन्तु) आवें (अस्मिन्) इस (यज्ञे) पढ़ाने उपदेश करने

रूप व्यवहार में वर्त्तमान होके (स्वधया) अन्नादि से (मदन्त) आनन्द को प्राप्त हुए (अस्मान्) हम को (अधि, ब्रुवन्तु) अधिष्ठाता होकर उपदेश करें और पढ़ावें और हमारी (अवन्तु) रक्षा करें ॥ ५८ ॥

ये अ॒ग्निष्वा॒त्ता ये अन॑ग्निष्वात्ता॒ मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते।
तेभ्यः॑ स्व॒राडसु॑नीतिमे॒तां य॑थाव॒शं त॒न्वं᳖ कल्पयाति ॥ ६० ॥

(ये) जो (अग्निष्वात्ताः) अच्छे प्रकार अग्निविद्या को ग्रहण करने तथा (ये) जो (अनग्निष्वात्ताः) अग्नि से भिन्न अन्य पदार्थविद्या को जानने हारे वा ज्ञानी पितृ लोग (दिवः) विज्ञानादि प्रकाश के (मध्ये) बीच (स्वधया) अपने पदार्थ के धारण करने रूप क्रिया वा सुन्दर भोजन से (मादयन्ते) आनन्द को प्राप्त होते हैं (तेभ्यः) उन पितरों के लिये (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमानपरमात्मा (एताम्) इस (असुनीतिम्) प्राणों को प्राप्त होने वाले (तन्वम्) शरीर को (यथावशम्) कामना के अनुकूल (कल्पयाति) समर्थन करे ॥ ६० ॥

भावार्थ—मनुष्यों को परमेश्वर से ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये कि हे परमेश्वर! जो अग्नि आदि पदार्थविद्या को यथार्थ जानके प्रवृत्त करते और जो ज्ञान में तत्पर विद्वान् अपने ही पदार्थ के भोग से सन्तुष्ट रहते हैं उन के शरीरों को दीर्घायु कीजिये ॥ ६० ॥

और यदि अग्नि में डाले गये अर्थ को भी आप के कथनानुसार मान लें तो भी यह अर्थ होगा कि—"जो अग्नि में डाले गये और जो न डाले गये और आकाश के मध्य वर्त्तमान हैं, उन्हें स्वराट् परमात्मा शरीर दे देता है और वे अपने अन्नादि से (जहां जन्म होता है) आनन्दित होते हैं ॥

आच्या॒ जानु॑ दक्षिण॒तो नि॒षद्ये॒मं य॒ज्ञम॒भि गृ॑णीत॒ विश्वे॑ ।
मा हिं॑सिष्ट पितरः॒ केन॑चिन्नो॒ यद्व॒ आगः॑ पुरु॒षता॒ करा॑म ॥ ६२ ॥

हे (विश्वे) सब (पितरः) पितृ लोगो ! तुम (केनचित्) किसी हेतु से (नः) हमारी जो (पुरुषता) पुरुषार्थता है उस को (मा हिंसिष्ट) मत नष्ट करो जिस से हम लोग सुख को (कराम) प्राप्त करें (यत्) जो (वः) तुम्हारा (आगः) अपराध हमने किया है उस को हम छोड़ें तुम लोग (इमम्) इस (यज्ञम्) सत्काररूप व्यवहार को (अभि, गृणीत) हमारे सम्मुख प्रशंसित करो हम (जानु) जानु अवयव को (आच्य) नीचे टेकके

(दक्षिणतः) तुम्हारे दक्षिण पार्श्व में (निषद्य) बैठ के तुम्हारा निरन्तर सत्कार करें ॥ ६२ ॥

जिन के पितृ लोग जब समीप आवें अथवा सन्तान लोग इन के समीप जावें तब भूमि में घुटने टिका नमस्कार कर इन को प्रसन्न करें, पितर लोग भी आशीर्वाद विद्या और अच्छी शिक्षा के उपदेश से अपनी सन्तानों को प्रसन्न करके सदा रक्षा किया करें ॥ ६२ ॥

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिन्धत्त दाशुषे मर्त्याय ।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत तदिहोर्जन्दधात ॥६३॥

हे (पितरः) पितृ लोगो ! तुम (इह) इस गृहाश्रम में (अरुणीनाम्) गौरवर्णयुक्त स्त्रियों के (उपस्थे) समीप में (आसीनासः) बैठे हुवे (पुत्रेभ्यः) पुत्रों के लिये और (दाशुषे) दाता (मर्त्याय) मनुष्य के लिये (रयिम्) धन को (धत्त) धरो (तस्य) उस (वस्वः) धन के भागों को (प्रयच्छत) दिया करो जिस से (ते) वे स्त्री आदि सब लोग (ऊर्जम्) पराक्रम को (दधात) धारण करें ॥ ६३ ॥ ऐसे ही मन्त्र दायभाग का मूल हैं ॥

वे ही वृद्ध हैं जो अपनी ही स्त्री के साथ प्रसन्न अपनी पत्नियों का सत्कार करने हारे सन्तानों के लिये यथायोग्य दायभाग और सत्पात्रों को सदा दान देते हैं और वे सन्तानों को सत्कार करने योग्य होते हैं ॥ ६३ ॥

द० ति० भा० पृ० १०५ पं० ११

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै । अ०१९ म०३७

सोम के योग्य पितर पूर्णायु के दाता पवित्रता से मुझ को शुद्ध करो. पितामह मुझको पवित्र करो प्रपितामह पवित्र करो पितामह पूर्णायु के दाता पवित्रता से मुझ को शुद्ध करो प्रपितामह शुद्ध करो पूर्ण आयु को प्राप्त करूं

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुषो सत् ॥

यजु० अ० २ मं० ३३

प्रत्युत्तर—पूर्वमन्त्र में तो पिता पितामह प्रपितामह से प्रार्थना है कि हमें पवित्रता का उपदेश और आचरण करावें। दूसरे का यह अर्थ है बड़ों को चाहिये

कि (यथा) जिस प्रकार (इह) इस कुल में (पुरुषः) पुरुष (असत्) होवे उस प्रकार (पितरः) पिता लोग (गर्भम्) गर्भ का (आधत्त) आधान करें और (पुष्करस्रजम्) सुन्दर (कुमारम्) पुत्र को उत्पन्न करें ॥

इस में भी मृत पितरों के श्राद्धादि का कुछ भी वर्णन नहीं पाया जाता

द० ति० भा० पृ० १०५ पं० २३ से-(ये च जीवा ये च मृता) इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—मन्त्र और उस का अर्थ इस प्रकार है:—

ये च॑ जी॒वा ये च॑ मृ॒ता ये जा॒ता ये च॑ य॒ज्ञियाः॑ ।
तेभ्यो॑ घृ॒तस्य॑ कु॒ल्यै॑तु॒ मधु॑धारा व्यु॒न्दती ॥
(अथर्व १८ । ४ । ५७)

इस मन्त्र में यह कहा गया है कि मृतक को फूंकते समय जो घृत की धारावत् आहुति है, वह जीवते प्राणियों और मरे हुवे शवों (लाशों) की सुरक्षा करती है, अर्थात् जीवतों को रोगादि से बचाती और मरों को सड़ने आदि दुर्गति से रोकती है । पदार्थ-(ये जीवाः) जो जीते हैं (ये च मृताः) और जो मरे शरीर हैं (ये जाताः) जो बच्चे हैं जन्मे हैं (ये च यज्ञियाः) और जो यज्ञ के उपयोगी हैं (तेभ्यः) उन सब की भलाई के लिये (घृतस्य) घृत की (व्युन्दती) टपकती (मधुधारा) मधुरादियुक्त (कुल्या) धारा (एतु) प्राप्त होवे ॥

इस में यह कहीं भी नहीं आया कि मृतकनिमित्त ब्राह्मणादि भोजन से मृतक की तृप्ति होती है ॥

द० ति० भा० पृ० १०६ पं० १ से-(प्रेहि प्रेहि पथिभिः०) इत्यादि ०

प्रत्युत्तर—मन्त्र सार्थ यह है कि--

प्रेहि॒ प्रेहि॑ प॒थिभिः॑ पू॒र्याणै॒र्येना॑ ते॒ पूर्वे॑ पि॒तरः॑ परे॑ताः ।
उ॒भा राजा॑नौ स्व॒धया॒ मद॑न्तौ य॒मं प॑श्यासि॒ वरु॑णं च दे॒वम् ॥
(अथर्व १८ । १ । ५४)

अर्थात् मृतशरीर को फूंकते हुवे लोग इस मन्त्र को पढ़ते हैं कि जहां इस से पूर्व मरे हुवे शरीर पूर्वजों के गये, वहां ही, और जिन मार्गों में शरीर के सूक्ष्म अवयव ही यान (सवारी) हैं, उन मार्गों से यह भी जाता है और * यम तथा * वरुण नामक आकाश में विराजने वाले भौतिक देवतों में

* देखो निघण्टु ५ । ४ और निरुक्त १० । १९-२१ अन्तरिक्षदेवताप्रकरण है

मिल जाता है। पदार्थ (प्रेहि प्रेहि) जा जा (पूर्व्येभिः पथिभिः) पुरशरीर हो जहां यान=सवारी है, उन मार्गों से जा। (येन) जिन मार्गों से (ते पूर्वे) तुझ से पहिले (पितरः) बाप दादे (परेताः) मरे हुवे गये और वहां आकाश में (यमं देवम्) वायुविशेष देव को (च) और (वरुणम्) जल के दिव्यस्वरूप को (उभा) इन दोनों (राजानौ) प्रकाशमान देवोंकी जो कि (स्वधया) इमशानाहुति जो स्वधा है उस से (मदन्तौ) सुधरे हुवे हैं उन्हें (पश्यासि देखता=प्राप्त होता है तू ॥

अर्थात् मृतशरीर की दुर्गति नहीं होती, किन्तु स्वधा जो उत्तम द्रव्यों की पितृयज्ञ में आहुति है, उस से आकाश में के (यम) वायु (वरुण) जल बिगड़ते नहीं किन्तु (मदन्तौ) अच्छे प्रसन्न उत्तम रहते हैं और उन्हीं में मृतशरीर मिल जाता है अर्थात् शरीर का गीला अंश वरुण में और शुष्क अंश यम में मिल जाता है। इस में भी मृतनिमित्त ब्राह्मणादि भोजन की सिद्धि नहीं पाई जाती ॥

द० ति० भा० पृ० १०६ पं० ६ और १० से-ये निखाताः। इत्यादि दो मन्त्र हैं ॥

प्रत्युत्तर-दोनों मन्त्र अर्थसहित इस प्रकार हैंः--

ये निखा॑ता॒ ये परो॑प्ता॒ ये द॒ग्धा ये चोद्धि॑ताः ।
सर्वां॒स्तान॑ग्न॒ आ व॑ह पि॒तॄन्ह॒विषे॒ अत्त॑वे ॥
ये अ॑ग्निद॒ग्धा ये अन॑ग्निदग्धा॒ मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते ।
त्वं तान्वे॑त्थ॒ यदि॒ ते जा॑तवेदः स्व॒धया॑ य॒ज्ञं स्वधि॑तिं जुषन्ताम् ॥
(अथर्व १८ । २ । ३४-३५)

इन दोनों मन्त्रों में यह कहा गया है कि जिन लोगों के शरीर किन्हीं कारणों से भूमि में दब गये, जिन के देह ऊपर पड़े रह गये, जो बिना घृतादि फुंक गये, जो वायु में उड़ गये, अग्नि में नहीं फूंकने पाये वा फुंकने पाये, अग्नि में किया हुआ होम उन सब आकाशगत मृतप्राणिशरीरावयवों को प्राप्त होकर उन की सद्गति=अच्छी दशा करता है।

पदार्थ-(ये निखाताः) जो दब गये (ये परोप्ताः) जो इधर उधर पड़े रह गये (ये दग्धाः) जो केवल फुंक गये (ये च) और जो (उद्धिताः) ऊपर उड़ गये (अग्ने) अग्नि (तान् सर्वान्) उन सब को (हविषे) होम के पदार्थ (अत्तवे) खाने के लिये (आवह) प्राप्त करता है वा करावे ॥३४॥

(ये अग्निदग्धाः) जो केवल अग्नि में फुंके (अनग्निदग्धाः) और जो अग्नि में भी नहीं फुंके (दिवः मध्ये) आकाश के मध्य में हैं (जातवेदः) अग्ने ! (तान्) उन को (यदि) जब (त्वम्) तू (वेत्थ) जानता प्राप्त होता है तब वे (स्वधया) स्वधा कह कर दी हुई आहुति से (मादयन्ते) प्रसन्न होते अर्थात् सड़न को छोड़ कर अच्छी दशा को प्राप्त होते हैं, अतः वे (स्वधया) उसी आहुति से (स्वधितिम्) पैतृक (यज्ञम्) यज्ञ का (जुषन्ताम्) सेवन करें ॥

इन में भी अग्निदाह का माहात्म्य ही वर्णित है । अधिक कुछ नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० १०६ पं० १५ से—ये नः पितुरित्यादि ॥

प्रत्युत्तर—

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम् ।
य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥

(अथर्व १८ । २ । ४९)

अर्थ-(ये) जो (नः) हमारे (पितुः पितरः) बाप के बाप हैं, अत एव (ये) जो हमारे (पितामहाः) बाबा हैं (ये) जो कि (उरु अन्तरिक्षम्) इस बड़े आकाश को (आविविशुः) प्रवेश कर गये हैं (ये) जो कि (पृथिवीम्) पृथिवी को (उत) और (द्याम्) आकाश को (आक्षियन्ति) छाय रहे हैं (तेभ्यः) उन (पितृभ्यः) मृतशरीरों के लिये (नमसा विधेम) हम आहुति करते हैं ॥

अर्थात् पुत्रादि का कर्त्तव्य है कि पिता वा पितामहादि पूर्वजों की अन्त्येष्टि श्रद्धापूर्वक करें, ऐसा करने से पृथिवी और अन्तरिक्ष लोक में जो मृतपूर्वज लोगों के शरीरावयव वायु आदि में हैं वे विगड़ते नहीं, किन्तु सुधर कर मनुष्यादि प्राणियों को दुःख नहीं देते, प्रत्युत सुख देते हैं । अन्यथा वायु जल को विकृत करके रोगादि उत्पन्न करते हैं ॥

द० ति० भा० पृ० १०६ में—यो ममार० यास्ते धाना० आरभस्व० इत्यादि ३ मन्त्र और हैं जिन से वे समझते हैं कि मृतकश्राद्धादि सिद्ध होता है ॥

प्रत्युत्तर—इन मन्त्रों में भी मृतक निमित्त ब्राह्मणादि जिमाने से उस की तृप्ति का वर्णन नहीं है । अर्थसहित मन्त्र सुनिये—

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥

(अथर्व १८ । ३ । १३)

(यः) जो (मर्त्यानाम्) मनुष्यों में (प्रथमः ममार) पूर्व मरता है (यः) जो (एतम्) इस अन्तरिक्ष (लोकम्) लोक को (प्रथमः प्रेयाय) पूर्व जाता है । हे उस के पुत्रादिको ! तुम (वैवस्वतम्) सूर्य से उत्पन्न हुए (जनानां संगमनम्) प्राणियों के संगत रखने वाले (राजानम्) प्रकाशमान (यमम्) यम नामक वायु को (हविषा) हवन सामग्री से (सपर्यत) सत्कृत करो ॥

अर्थात् मनुष्यों में जो कोई पूर्व मरे, चाहे छोटा पुत्रादि हो, चाहे बड़ा पिता आदि हो, उसके शव की ठीक गति के लिये वायु के सुधार निमित्त हव्य पदार्थों से होम करना चाहिये ॥ इसमें यह आप का लिखा अर्थ लेश-मात्र भी नहीं कि मार के ले जाते हैं ॥ इत्यादि ॥

यास्ते॑ धा॒ना अ॑नुकि॒रामि॑ ति॒लमि॑श्राः स्व॒धाव॑तीः ॥
तास्ते॑ सन्तु वि॒भ्वीः॑ प्र॒भ्वीस्तास्ते॑ य॒मो राजाऽनु॑मन्यताम् ॥

(अथर्व १८ । ३ । ६९)

अर्थ-(तिलमिश्राः) तिलमिश्र (स्वधावतीः) स्वधा शब्द युक्त (याः) जो (धानाः) धान (ते) तेरी चिता में (अनुकिरामि) छोड़ता हूं (ताः) वे (विभ्वीः) फैलने वाली (प्रभ्वीः) सड़ने को रोकने में समर्थ (ते) तेरे लिये (सन्तु) होवें और (ताः) उन्हें (ते) तेरे लिये (राजा यमः) प्रकाशमान वायु (अनुमन्यताम्) स्वीकार करे ॥

जड़ मृतक को वा और पदार्थों को सम्बोधन करना वेद की शैली है जैसा कि हम (अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना) निरुक्त ७ । १ के अनुसार अनेक स्थलों में बतला चुके हैं कि प्रत्येक पदार्थ के वर्णन में वेदों में मध्यम पुरुष की क्रिया और त्वम् अर्थात् युष्मद् शब्द सर्वनाम से प्रयोग हुआ करता है । वेदों में केवल मृतक ही नहीं, अग्ने ! सूर्य ! पृथिवी ! स्रुव ! क्षर ! उलुखल ! मुसल ! इत्यादि सम्बोधन भरेपड़े हैं, जिन में कोई पुरुष चेतनता नहीं मानता ॥

और इस से अगला मन्त्र ७० जो आप ने लिखने से छोड़ दिया, उस में स्पष्ट है कि (पुनर्देहि वनस्पते य एष निहितस्त्वयि) जो वनस्पति अर्थात् काष्ठमय चिता में रक्खा गया है । इत्यादि । इसलिये वे तिल धान स्वधा कहकर अग्नि की चिता में छोड़ने के लिये वर्णित हैं, दान वा जल में छोड़ने को नहीं ॥ तीसरा मन्त्र यह है:--

आरंभस्व जातवेदुस्तेजस्वद्धरो अस्तु ते । शरीरमस्य
संदहाथैनं धेहि सुकृतामु लोके ॥ ७१ ॥

इस से भी स्पष्ट है कि दाहप्रकरण है, श्राद्धप्रकरण नहीं अर्थात् (जातवेदः) अग्ने ! (आरभस्व) आरम्भ कर (ते हरः) तेरी लपट तेजस्वत् अस्तु) तीव्र हो । (अस्य शरीरं संदह) इस के शरीर को भस्म कर (अथ) और (एनम्) इसको (सुकृताम्) अच्छा करने वालों के (लोके) स्थान में (उ) अवश्य (धेहि) धारण कर ॥

इसका भी तात्पर्य यही है कि पूर्वोक्त तिल धान (घी डाल कर अग्नि तीव्र किया जाय जिस से शव भस्म हो और उसके परमाणु आकाश में सुकृतों की जगह रहें, किसी को कुछ हानि न पहुंचावें ॥

द० ति० भा० पृ० १०७ में ३ मन्त्र हैं जो ग्रन्थकार ने मृतकश्राद्धप्रकरण में लगाये हैं ॥

प्रत्युत्तर- यथार्थ मन्त्र यह है-

ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये । तेभ्यो
घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती ॥ अथर्व १८ । ३ । ७२

परमेश्वर का उपदेश है कि हे मनुष्य ! (ये) जो (ते) तेरे (पूर्वे) पूर्वले (पितरः) पिता आदि (च) और (अपरे) अन्य बान्धवादि (ये) जो (परागताः) मरगये हों (तेभ्यः) उनके दाहार्थ (घृतस्य) घृत की (कुल्या) धारा (व्युन्दती) टपकती हुई (शतधारा) अनेक धार युक्त (एतु) प्राप्त हो, ऐसा कर ॥

पूर्वमन्त्र में अग्निदाह का वर्णन था इसलिये यही यहां जानना चाहिये ॥ फिर-

स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः । स्वधा पितृभ्यो
अन्तरिक्षसद्भ्यः । अथर्व ॥

इस का पता प्रथमवार छपे में तो है ही नहीं और द्वितीय वार के में १८ । ४ । १८-१९ है । सो इस पते पर ये मन्त्र नहीं पाये जाते किन्तु इस पते पर तो-

अपूपवान्द्रप्सवांश्चरुरेह० १८

अपूपवांन्घृतवांश्चरुरेह० ११

ये दो मन्त्र हैं। परन्तु हमको पते से विवाद नहीं, किसी पते पर हों उनका अर्थ यह है कि "आकाश में स्थित पितृशरीर के लिये जिससे वह हानिकारक न हो) आहुति हो" ॥ इस से ब्राह्मण आदि का भोजन सिद्ध नहीं होता ॥

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ ताभ्यामेनं परिदेहि राजन्स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि

ऋ० १० । १४ । ११

अर्थ—(यम) हे अन्तर्यामिन् ! (राजन्) हे प्रकाशमान ! परमेश्वर ! (ते) आप की व्यवस्था में (यौ) जो दो (रक्षितारौ) रक्षा करनेवाले (चतुरक्षौ) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, रूप चार पांव वाले (पथिरक्षी) संसार परमार्थ दो मार्गों के रक्षक (नृचक्षसौ) मनुष्यों को फल दिखाने वाले (श्वानौ) दो बढ़े हुए सकाम निष्काम भेद से कर्म हैं (ताभ्याम्) उन (दोनों से (एनम्) इस मरने के समीप पुरुष को (परिदेहि) रक्षित कीजिये (च) और (अस्मै) इसके लिये सकाम कर्म से (अनमीवम्) नीरोगता आदि सुख (च) और निष्काम कर्म से (स्वस्ति) परमानन्द (धेहि) धारण कीजिये ।

अर्थात् जब मनुष्यों का अन्त समय हो तो विद्वान् उपदेशकों को बुला कर इस सूक्त का पाठ सुने और परमेश्वर का ध्यान करते हुए प्राण परित्याग करें ॥

द० ति० भा० पृ० १०८ । १०९ में यजुर्वेद अध्याय १९ के मन्त्र ६४ से ७० तक ७ मन्त्र मृतकश्राद्ध पर लगाये हैं ।

प्रत्युत्तर—इन मन्त्रों का अर्थ स्वामीजी महाराज के वेदभाष्य में देख लीजिये और आप के अर्थों में ६४ । ६५ । ६६ का अर्थ जो आप ने किया है उस में भी अग्नि के द्वारा मृतक का होम ही पाया जाता है अन्य कुछ नहीं ६७ वें में (ये चेह ये नेह का अर्थ आप इस लोक और स्वर्गलोक में करते परन्तु स्वामी जी ने जो प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष वा जीवित दूरस्थ और समीपस्थों का ग्रहण किया है वह संभव है आपका असंभव है । ६८ वे में (ईयुः) का अर्थ तो यह है "आवे" उन जीवतों को

जन्म हो और आप (ईयुः) "ईश्वर को प्राप्त हुवे" लिखते हैं (पार्थिवे रजसि) का अर्थ स्पष्ट "पृथिवी लोक में" है और आप (स्वर्गादि लोक में) करते हैं, यही असंभव है । ६९ में आप के किये अर्थ से भी मृतकश्राद्ध की कोई बात नहीं निकलती । यही दशा ७० वें मन्त्र के आप के किये अर्थ की है ॥

द० ति० भा० पृ० ११० में जो (यमाय सोमः०) यह अथर्व १८ । २ । १ का प्रमाण दिया है वह तो स्पष्ट ही यमशब्द से वायु के ग्रहण करने में प्रमाण है, जब कि उस में यम के लिये होम करना लिखा है और बलि दानादि कुछ नहीं है ॥

द० ति० भा० पृ० ११० पं० ५ से-इत्यादि मन्त्रों से अग्नि का श्राद्ध में हवि लेजाना सिद्ध है ॥

प्रत्युत्तर-हां, अग्नि में मृतकशरीरों को फूंकना और पश्चात् भी हवन करते रहने का स्वामी जी ने भी कहां निषेध किया है? प्रत्युत विधान किया है । परन्तु आप को महाब्राह्मणादि के दानादि सिद्ध करने थे, सो आप ने कोई प्रमाण न दिया ॥

द० ति० भा० पृ० ११० में मनु अध्याय ३ के श्लोक २१४ और २१६ से यह दिखलाया है कि पितृकर्म अपसव्य से करे ॥

प्रत्युत्तर-प्रथम तो मनु के इस अध्याय में श्राद्धार्थ ख़ूबही हरिण, बकरे भैंसे, सूवर आदि का विधान किया है और वाममार्गीपने की घिनौनि रीति दर्शाई है । उन सब को यहां लिखा जावे तो उस के मेल में मेल मिलाकर फिर अपसव्य सव्य का भेद भी खुलजावे परन्तु ग्रन्थ बढ़ाने के अतिरिक्त फल कुछ नहीं । वर्त्तमान मनुस्मृति का मृतकश्राद्ध अत्यन्त प्रसिद्ध है । और उसके प्रक्षेपादिहेतुपूर्वक खण्डन भी प्रायः हो चुके हैं । और केवल सव्य वा अपसव्य के कर्मभेद से चिन्हभेदमात्र तो मृतकश्राद्ध का साधक भी नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० ११३ पं० २१ से-यह सिद्ध करने को (कि ब्रह्मा ४ वेद जानने वाले विद्वान् का नाम नहीं किन्तु सृष्टि का स्रष्टा चतुर्मुख ब्रह्मा था उसी का तर्पण किया जाता है) ३ प्रमाण दिये हैं । एक-(यो वै ब्रह्माणं०) दूसरा (तस्मिन्नण्डे०) तीसरा (हिरण्यगर्भः सम) इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-क्या आप को यह भी ज्ञात नहीं कि यज्ञ में ब्रह्मा होता उद्गाता अध्वर्यु नाम के ४ ऋत्विज् अब भी होते हैं और सब पद्धतियों में इन का वर्णन है और ऋग्वेद से होता, यजुः से अध्वर्यु, साम से उद्गाता और सब वेदों से ब्रह्मा ॥ जैसा कि--

ऋग्वेदेन होता करोति ॥ १९ ॥ सामवेदेनोद्गाता ॥२०॥
यजुर्वेदेनाध्वर्युः ॥ २१ ॥ सर्वैर्ब्रह्मा ॥ २२ ॥

आपस्तम्बयज्ञपरिभाषासूत्राणि । और आप के लिखे वाक्यों का यदि यही अर्थ भी मानलें जो आपने लिखा है तो भी पूर्वकाल में किसी का ब्रह्मा होना, वर्त्तमानकाल में दूसरों को उक्तसूत्रों के अनुसार ब्रह्मा होने से नहीं रोकता । अर्थात् पूर्व भी एक विशेष ऋषि का नाम ब्रह्मा था अब भी हो सकता है । परन्तु आप के अर्थ से वेदों का नवीनत्व पायाजायगा ॥

द० ति० भा० पृ० ११४ पं० २ में (विरूपा०) मन्त्र केवल लिखकर उस के अर्थ में लिखा है कि "ऋषि लोग जो अङ्गिरा के पुत्र अग्नि से उत्पन्न हुवे" इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-जो अग्नि से उत्पन्न हुवे वे अग्नि के पुत्र हो सकते हैं, भला उत्पन्न अग्नि से हों, पुत्र अङ्गिरा के कहावें, यह कैसे बनसकता है ? क्या अग्नि अङ्गिरा की स्त्री था ? अग्नि तो पुरुष है, स्त्री नहीं है। अब यथार्थ अर्थ सुनियेः-

विरूपास इदृषयस्त इद्गम्भीरवेपसः ।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे ॥

(ऋषयः) वेदमन्त्र (विरूपासः) भिन्न रूप अर्थात् विलक्षण शब्दार्थ सम्बन्धयुक्त हैं (इत्) और (ते) वे (इत) निश्चय (गम्भीरवेपसः) गम्भीरकर्म जिन में हैं ऐसे हैं (ते] वे [अङ्गिरसः] मेधावीपरमात्मा के [सूनवः] पुत्र हैं क्योंकि [ते] वे [अग्नेः] ज्ञानस्वरूपपरमात्मा से (परिजज्ञिरे) उत्पन्न हुवे हैं ॥

द० ति० भा० पृ० ११५ पं० १४ से- (मरीच्यादय ऋषयस्तुच्यन्तात्) इस में "वत्" आपने कहां से निकाला इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-जब किसी पद में अर्थ की असंभावना होती है तब लक्षणा की जाती है । जैसे [मञ्चाः क्रोशन्ति] को मञ्चस्थ पुरुष में लक्षणा करते हैं इसी प्रकार पूर्वज मरीचि आदि की अविद्यमानता में उन के तुल्य पुरुषों का तात्पर्य लक्षणा से निकालने को स्वामीजी ने "वत्" लगाया है ॥

द० ति० भा० पृ० ११४ पं २० से १२५ पृष्ठ तक का आशय यह है कि यदि सोमसद् अग्निष्वात्त आदि का अर्थ स्वामी जी के मन्तव्यानुसार मानें

भी अङ्गरेज़, कृस्तान, देस आदि के अधिकारी पितर कहावेंगे । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-धर्मसभा के लोग अङ्गरेज़भोज नहीं करते ? और क्या मृतपितरों का नाम लेकर आजकल श्राद्धों में हकीमजी और बाबूजी और पुजारीजी और रसोइयाजी नहीं जिमाये जाते ? और आप जो डाक्टरों के सत्कार के निषेध में मनु का प्रमाण देते हैं कि—

"चिकित्सकान्देवलकान्मांसविक्रयिणस्तथा ।
विपणेन च जीवन्तो वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्ययोः ॥३।१५२॥

वैद्य, पुजारी, मांसबेचने वाला, वाणिज्यकरने वाला; ये सब श्राद्धकर्म और देवकर्म में वर्जित हैं ॥ "

प्रत्युत्तर-हम तो हम मनु के मृतकश्राद्ध और मांसपिण्डादि को मानते ही नहीं परन्तु आप क्यों पुराने ब्राह्मणों को मांसबेचनेवाले तक सिद्ध करते हुवे ब्रह्मकुल को कलङ्कित करते हैं । इस श्लोक से जानाजाता है कि जब यह श्लोक बनाया गया उस समय नाममात्र के ब्राह्मण वैद्यता पुजारीपना मांसविक्रेतापना आदि नीचकर्म करने लगे थे । तब उन को यह श्राद्धादि से बाहर करने के लिये श्लोक बनाया गया । और हाकिम तो क्या हाकिमों के अर्दली ब्राह्मण भी छांट २ कर श्राद्ध में जिमाये जाते हैं ॥

द० ति० भा० पृ० ११ पं० ५ से-शतपथ के प्रमाणद्वारा पितरों के आगे जलती लकड़ी धरना लिखा है, फिर यदि जीवतों को पितर मानें तो उन के आगे जलती लकड़ी धरना पड़ेगी । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-आप के मतानुसार मृतकों के श्राद्धनिमित्त भी तो जीवते ब्राह्मण ही जिमाये जाते हैं, फिर आपको भी तो उन के सामने धूनी सिलगानी पड़ेगी । यथार्थ में वहां जलती लकड़ी से तात्पर्य नहीं किन्तु जीवितपितरों को भोजन कराते समय अन्धियारा हो तो जलते दीपकादि के प्रकाश से उसे देख लिया जावे और यदि कुछ अपद्रव्य पड़ा हो तो निकाल दिया जावे । यह तात्पर्य है । अब भी जो चतुर सेवक होते हैं वे अपने सेव्य स्वामी को जलादि देते हैं तो प्रकाश में देखकर देते हैं ॥

द० ति० भा० पृ० ११६ पं० १३ से मनु १ । ६६ के अनुसार पितरों का रात्रिदिन मनुष्यों के एक मास के बराबर होना लिखकर शङ्का की है कि क्या दयानन्दियों के पण्डित और सब १५ दिन सोते हैं । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—यहां पितृलोक से चन्द्रलोक का तात्पर्य है । चन्द्रमा में १५ दिन का दिन और १५ की रात्रि होती है और यदि हम आप के मृत पितरों की कोई जगह मानलें तो नित्यश्राद्ध जो पञ्चमहायज्ञों में होता है सो नहीं बनेगा । क्योंकि एकपक्ष पितरों का रात्रि और एकपक्ष दिन है। इस लिये १५ दिन तक पञ्चयज्ञ बन्द करना पड़ेगा और शेष १५ दिन में भी एक दो बार पञ्चयज्ञ होगा, अन्यथा पितरों को १५ दिन के १ दिन में १५ बार भोजन कुपथ्य हो जायगा ॥

द० ति० भा० पृ० ११६ पं० २० से (श्राद्धे शरदः) यह अष्टाध्यायी का सूत्र है कि शरद् ऋतु में श्राद्ध करे । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—धन्य हो ! व्याकरण को भी स्मृति ही बना दिया । इस सूत्र का अर्थ तो यह है कि " शरद् प्रातिपदिक से ठञ् प्रत्यय हो, श्राद्ध वाच्य हो तो" आप कहते हैं कि "शरद् ऋतु में श्राद्ध करे" । तब तो आप—

ऐकागारिकट् चौरे ५ । १ । ११३

इस सूत्र का भी यह अर्थ करते होंगे कि एक महल में चोरी करे। क्या कहने हैं ! ! ! और [श्राद्धे शरदः] सूत्र से अगले सूत्र—

विभाषा रोगातपयोः ४ । ३ । १३ ॥

इस का भी यह अर्थ करते होंगे कि शरद् ऋतु में विकल्प से बीमार पड़े और धूप में बैठे । बस तो सारे सनातनधर्मी शरद् ऋतु में श्राद्ध किया करें, रोगी बनाकरें और धूप में बैठा करें और केवल एक महल में चोरी किया करेंगे और पकड़े जाकर जेल में जायंगे तो आप का स्मरण किया करेंगे !!! सूत्रों का ठीक आशय तो यह है कि जो श्राद्ध शरद् ऋतु में हो वह "शारदिक" है । जिस प्रकार प्रतिदिन किया जाय वह "दैनिक" वा "प्रात्यहिक" वा "आह्निक" कहाता है । इसी प्रकार शरद् ऋतु की धूप वा रोग को भी "शारदिक" कहते हैं । यहां ठञ् प्रत्यय विकल्प से होकर पक्ष में अण् प्रत्यय होकर "शारदः" बनता है ॥

द० ति० भा० पृ० ११६ पं० २६ से (मनोर्हैरण्य०) इत्यादि मनु के इसी तीसरे गड़बड़ाऽध्याय के श्लोक १९५ से २०२ तक लिखकर इस प्रकार अर्थ किया है—

"स्वायंभू मनु के जो मरीचि आदि, उन ऋषियों के पुत्र पितृगणों को

मनु जी ने कहा है विराट् के पुत्र सोमसद्नाम वाले वे साध्यों के पितर ऐसे कहे हैं अग्निष्वात्तादि मरीचि के पुत्र हैं वे लोगों में विख्यात हैं और देवताओं के पितर कहाते हैं दैत्यों के पितर बर्हिषद् नामवाले अत्रि के पुत्र हैं। वे दैत्य दानव यक्ष गन्धर्व उरग राक्षस सुपर्ण किन्नर इन भेदों के हैं। ॥ १९६ ॥ सोमपा ब्राह्मणों के हविर्भुज क्षत्रियों के आज्यपा वैश्यों के सुकालिन शूद्रों के पितर हैं ॥ १९७ ॥ भृगु के पुत्र सोमपादि अङ्गिरा के पुत्र हविष्मन्त, पुलस्त्य के पुत्र आज्यपादि, और वशिष्ठ के पुत्र सुकालिन हैं, यह पितर इन ऋषियों से हुए ॥ १९८ ॥ अग्निदग्ध अनग्निदग्ध और काव्यों के तथा बर्हिषदों को भी और अग्निष्वात्त तथा सौम्य यह सब ब्राह्मणों के पितर जानने ॥ १९९ ॥ यह इतने पितरों के गण मुख्य कहे हैं उन के इस जगत् में पुत्र पौत्र अनन्त हैं। सो जानना ॥ २०० ॥ चांदी के पात्र करके या चांदी के लगे पात्र से पितरों के श्राद्ध करके दिया पानी अक्षय सुख का हेतु होता है ॥ २०२ ॥

प्रत्युत्तर-तो सोमसदों का श्राद्ध तो साध्यों को करना चाहिये। मनुष्यों से कुछ काम नहीं क्योंकि सारे संसार का ठेका थोड़ा ही लिया है। अपने अपने पितरों का तर्पण चाहिये। "अग्निष्वात्ताः" देवतों के पितर हैं, उन का तर्पण आप की पाषाणशिलायें करेंगी क्योंकि वे आपकी देवता हैं। अत्रि जो ब्राह्मण था, उस के पुत्र बर्हिषद् हैं और वे दैत्य दानव यक्ष गन्धर्व उरग राक्षस सुपर्ण और किन्नरों के पितर हैं, उनका तर्पण येही राक्षसादि करें। सुकालिन् बेचारे शूद्रों के पितर हैं, इस लिये जब कोई सनातनधर्मी ब्राह्मण "सुकालिनस्तृप्यन्ताम्" कहेगा तब शूद्रों के पितर ब्राह्मण के भी पितर हो जायंगे। और सब पितरों का जन्म तो इन श्लोकों के अनुसार ब्राह्मणों से हुआ और राक्षसों के पितर तक न जाने किस कर्म का फल होने से होगये ॥

द० ति० भा० पृ० ११८। ११९। १२० में वाल्मीकीय रामायणानुसार दशरथ का श्राद्ध और मनु के श्लोकों से भी मृतक श्राद्ध लिखा है जिस का उत्तर रामायण और मनु के प्रक्षेप में स्वयं आगया ॥

द० ति० भा० पृ० १२० पं० २३ से (आविरभून्म०) इस मन्त्र में श्राद्धादि पद अपनी ओर से जोड़कर अनर्थ किया है ॥

प्रत्युत्तर-मन्त्र का अर्थ सुनिये-

आविरभून्महि माघोनमेषां विश्वं जीवं तमसो निरमोचि ।
महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागादुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि ॥
ऋ० १० । १०७ । १ ॥

जो (विश्वम्) सब (जीवम्) जीवमात्र को (तमसः) अज्ञानान्धकार से (निरमोचि) छुड़ाते हैं (एषाम्) उन की (माघोनं महि) इन्द्र पद की बड़ाई=महिमा (आविः) प्रकट (अभूत्) होती है क्योंकि (पितृभिः) ज्ञानदाता पितरों से (दत्तम्) दी हुई (महिज्योतिः) बड़ीभारी ज्योति (आगात्) प्राप्त होती है जिस से (दक्षिणायाः) धनादि लाभ का (उरुः पन्थाः) बड़ा मार्ग (अदर्शि) दीखता है ॥

अर्थात् जो गुरु पिता आदि अपने शिष्य पुत्रादि को अज्ञानान्धकार से बचाते और ज्ञान की ज्योति देकर धनादि के लाभ का मार्ग दिखाते हैं, उन की बड़ी भारी महिमा और कीर्त्ति होती है । इस में कोई पद ऐसा नहीं जिस से मृत पितरों की ध्वनि भी निकलती हो ॥

धन्वन्तरि वैद्य का नाम है । वैद्य के लिये अर्थात् वैद्यक के अनुसार लोग नित्य हुतभोजी रहें । यहां आरोग्य चाहनेवालेके लिये होम करना तात्पर्य है । पूर्णिमा और पृथिवी आकाश ३३ देवों में हैं, इन के लिये होम से भी नैरोग्यादि सुख होते हैं । वनस्पति का भी होम से सुधार होता है । लक्ष्मी भी होम करने वालों को प्राप्त होती है । यम शब्द से परमात्मा वा वायु का ग्रहण है, डाकिनों का नहीं । मनुस्मृति में जो बलिवैश्वदेव के स्थान विशेष लिखे हैं उन में भी गूढ़ तात्पर्य है । जैसे कि (मरुद्भ्यइति तु द्वारि) वायुओं के आने का मार्ग द्वार होते हैं इस से वायुओं की बलि के लिये द्वार का स्मरण किया । (क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि) " अद्भ्योनमः " की आहुति के साथ अप्-जल का स्मरण है । वनस्पतियों से मुसल उलूखल इत्यादि पात्र साधन बनते हैं, इस लिये " वनस्पतिभ्यो नमः " के साथ मुसलादि का स्मरण है । इत्यादि सभी सार्थक हैं, व्यर्थ नहीं । और जिस विषय में आप का मत विरुद्ध न हो उस विषय में भी आप विरोध वृथा करते हैं, प्रत्युपकार से पाप का क्षय नहीं किन्तु पाप के पश्चात् धर्मानुष्ठान में उद्यम करना पाप से बचने की भीतरी वासना को उत्पन्न करता है जिससे उत्तरोत्तर अन्तःकरण की शुद्धि होती है इस लिये अग्निहोत्र बलिवैश्वदेवादि

कर्मकाण्ड अन्तःकरण का भी पवित्र करने वाला है ॥

मनु के यह कहने का कि (ब्राह्मीपुत्र पुण्य करने वाला १० अगले १० पिछले १ आप इन २१ को पाप से छुड़ाता है) तात्पर्य यह है कि उन्हों ने जो पाप किये हैं उन का उन्हें फल न होगा किन्तु यह तात्पर्य है कि जिस कुल में ऐसा उत्तम पुरुष होता है वह पुरुष के यश में पिछले अगलों के अपयशरूप पाप हों तो भी उन्हें ढक लेता है। अर्थात् उस पुण्यात्मा से कुल की ख्याति होती है और सारे दोष दब जाते हैं ॥

अथ नियोगप्रकरणम् ॥

द० ति० भा० पृ० १२५ पं० १२ से-

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ९ । १७५
सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापि वा ।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ९ । १७६

जो स्त्री पति ने त्यागन कर दी हो या विधवा हो वा अपनी इच्छा से किसी दूसरे की स्त्री हो कर पुत्र उत्पन्न करे, तो उस पुत्र को पौनर्भव कहते हैं १ वह उत्पन्न करने वाला पौनर्भव पुत्र कहलाता है १७५ वोही स्त्री यदि अक्षतयोनि होय जो कि घर से निकल गई वा पति ने त्यागन कर दी है फिर अपने पति के पास चली आवे तो उस को पुनः संस्कार कर के ग्रहण करना यदि शुद्ध होय तो, यह परिपाटी प्रशंसित नहीं है, अथवा वोह जिस के पास जाय वोह स्त्री का संस्कार कर ग्रहण करे, परन्तु इस के जो सन्तान होगी वह पौनर्भव कहलावेगी ॥

प्रत्युत्तर-धन्य हो, पूर्व श्लोक में "विधवा वा स्वयेच्छया" होते हुवे भी यह धींगाधींगी कि पूर्व पति को पुनः प्राप्त होजाय तो पुनः संस्कार करे, भला अब दूसरे की स्त्री हो जावे और आप के अर्थानुसार हो पुत्र दूसरे से उत्पन्न कर लेवे तब घर आकर फिर क्या मृत पति की लाश (शव) पड़ी रक्खे जो उस से पुनः संस्कार करे!!! यह कहते लज्जा नहीं आती कि स्वामी जी ने अर्थ फेर दिये ॥

द० ति० भा० पृ० १२७ पं० १२ से-

नियुक्त पुरुष से उत्पन्न हुए बालक का मृत पुरुष से कुछ भी सम्बन्ध नहीं और दायभाग तो गोद लिये पुत्र का होता है, जिसे मृत सन्तति से स्त्री पुरुष गोद लेते हैं "प्रत्यक्ष में देखा जाता है कि कैसा ही गोत्र क्यों न हो परन्तु जानने वाले तो जो जिससे उत्पन्न होता है वही नाम से पुकारते हैं यथा वायुतनय भीम इन्द्रतनय अर्जुन धर्मपुत्र युधिष्ठिरादि" और जब कि वह नियुक्त पुरुष से उत्पन्न पुत्र मृत के धन का अधिकारी हुआ तो तो स्वामी जी का वोह कहना कि (यदि पुनर्विवाह होगा तो धन दूसरों के हाथ लग जायगा) मिथ्या ही हुआ क्योंकि अब भी उस मृत का धन दूसरों के हाथ लगा, अपना पुत्र तो जभी होगा जब अपने से उत्पन्न होगा वोह नियुक्त मृतक के गोत्र से सम्बन्धी नहीं होता देखिये ऋग्वेद में लिखा है जिस की व्याख्या कलकत्ते के छपे हुए निरुक्त के २५४ पृष्ठ में की है।

परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम।
न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो वि दुक्षः॥ ७।४।७

(निरुक्तभाष्यम्) परिहर्तव्यं हि नोपसर्तव्यमरणस्य रेक्णोऽरणोऽपार्णो भवति रेक्ण इति धननाम रिच्यते प्रयतो नित्यस्य रायः पतयः स्याम पित्र्यस्येव धनस्य न शेषो अग्ने अन्यजातमस्ति शेष इत्यपत्यनाम शिष्यते प्रयतोऽचेतयमानस्य तत्प्रमत्तस्य भवति मा नः पथो विदूदुष इति तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय—

भावार्थ—एक समय हतपुत्र वशिष्ठ ने अग्नि की स्तुति याचना करी कि मुझे पुत्र दे तब अग्निदेव बोले कि क्रीतक दत्तक कृत्रिम आदि पुत्रों में कोई एक पुत्र बनालो यह बात सुन वशिष्ठजी और से उत्पन्न हुए पुत्रों की निन्दा करते हुए और निज वीर्य से पुत्र चाहते हुए यह वेद मन्त्र बोले।

(परिषद्यं) त्याग देने योग्य है वोह पुत्ररूपी धन जो कि (अरणस्य रेक्णः) पर कुल में उत्पन्न है, जिस में उदक सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वोह परकीय होने से पुत्रकार्य में समर्थ नहीं होता, चाहे उस की पुत्रकार्य में कल्पना कर लो, इस कारण [नित्यस्य रायः पतयः स्याम) पित्र्यस्येव धनस्य जैसे पिता का धन पुत्रत्व में होता है, इसी से वोह उस के धन का स्वामी होता है, क्योंकि वोह स्वयं अपने से उत्पन्न होता है (अपत्यम-होता है) इसी से मुख्य होता है क्षेत्रज क्रीतक ऐसे नहीं, इसी से कहते हैं

कि जो नित्य आत्मीय अर्थात् अपने से उत्पन्न जो पुत्ररूपी (रायः) धन तिसी के हम (पतयः) मालिक पालने वाले हों परकीय के नहीं, जिस से कि न शेषोअग्ने अन्यजातमस्ति) और से उत्पन्न हुआ अपत्य नहीं होता है जो उत्पन्न करता है वह उसी का होता है दूसरे का नहीं जो (अचेतय-मानस्य) अचेतयमान अर्थात् अविद्वान् प्रमादी जो शास्त्र से रहित हो वोह भी धर्म से परितोष प्राप्त होता ही है कि यह मेरा पुत्र है इससे कहते हैं (मा पथोविदुक्षः) कि हम को पितृ पितामह प्रपितामह की अनुमन्तति के (पथः) मार्ग से (विदूदुषः) तू औरस पुत्र दे, यह आशय है जो अपने वीर्य से अपनी सवर्णा स्त्री में उत्पन्न हो वह औरस पुत्र कहाता है ॥

प्रत्युत्तर– यदि वेदमन्त्र का यह आशय है कि अन्य का उत्पन्न किया पुत्र, पुत्र नहीं हो सकता तो गोद लिया भी नहीं होसकता, यदि गोद लिया इस लिये होजाता है कि बहुत से स्त्री पुरुषों से सम्मति करके लेते हैं तो नियोग भी पञ्चों की सम्मति से, जैसी कि कुन्ती ने बहुतों से सम्मति और शास्त्रार्थ करके कराया था, होने से दायभाग में बाधक न होगा । आपने अर्जुनादि को इन्द्रादि पर पुरुषों से उत्पन्न होने का स्वीकार और प्रसिद्धि को मान कर और यह भी दिखाकर कि ये दूसरों से उत्पन्न थे, दूसरों के नाम से प्रसिद्ध भी थे और फिर भी "पाण्डव" पाण्डु की सन्तति कहलाये और पाण्डु के दायभागी भी रहे । अपने पक्ष का कैसा अपने ही मुख से नाश किया है । अगाड़ी पिछाड़ी भूल गये । निरुक्त में वसिष्ठ की वार्त्ता तक भी यहां नहीं लिखी, न जाने आप को यह साहस कहां से आगया कि ऊपर निरुक्त का पाठ सामने रख कर भी वसिष्ट की कथा लगा दी । मन्त्र और निरुक्त का अर्थ यह है—

(अरणोऽपार्णो भवति) जिस ने ऋण चुका दिया उसे अरण कहते हैं (रेक्ण इति धननाम०) रेक्ण धन का नाम है । उस (अरणस्य रेक्णः) जिस ने ऋण चुका दिया उस का धन (परिहर्त्तव्यं हि) दूर से छोड़ देना चाहिये (नोपसर्त्तव्यम्) उस के पास भी न जाना चाहिये । नित्यस्य रायः पतयः स्याम) हम नित्य–अपने धन के स्वामी होवें (पित्र्यस्येव धनस्य) जैसे पिता के धन के होते हैं । शेष इत्यपत्यनाम शिष्यते०) शेष सन्तान का नाम है (अग्ने) परमात्मन् ! (अन्यजातम्) अन्य से उत्पन्न (शेष न०) सन्तान नहीं होती, इत्यादि ॥

तात्पर्य यह है कि अन्य का धन यदि उस पर अपना ऋण न हो तो बेईमानी से न लेना चाहिये क्योंकि वह उस ने कमाया है, उसी का है। जैसे कि अन्यों ने उत्पन्न की हुई सन्तान अन्यों की ही होती है, अपनी नहीं, परन्तु अन्य शब्द से यहां उस का ग्रहण है जो विवाह वा नियोगादि करके विधिपूर्वक अपनाया नहीं गया। अन्यथा निज पति से शरीरमात्र के भेद से अन्य मानोगे तो उस की उत्पादित सन्तान भी अपनी न होगी अतः अन्य का अर्थ यहां ऊपरी है, जिस से विवाह नियोगादि कुछ नहीं हुआ। अब मन्त्रार्थ सुनिये—

(अरणस्य) जिस पर अपना चाहिये नहीं उस का (रेक्णः) धन (परिषद्यं हि) त्याज्य ही है, ग्राह्य नहीं। (नित्यस्य रायः पतयः स्याम) हम सदा अपने धन के स्वामी हों (अग्ने) हे परमेश्वर! (अन्यजातम्) अन्यों से उत्पन्न (शेषः न अस्ति) सन्तान नहीं है। (अचेतानस्य) प्रमादी के (पथः) मार्गों को (मा विदुक्षः) न दूषें॥

अर्थात् यह प्रमादी लोगों का मार्ग है कि जिस पर अपना धनादि न चाहिये उस से मांगना वा झूठी नालिश करना वा अन्यों की सन्तान पर अपनी होने का दावा करना। इस से विवाहित वा नियुक्त पति को अन्य नहीं मान सकते, वह विधिपूर्वक अपना बनाया जाता है। जैसे कि गोद लेने में अन्य का सन्तान अपना बनाया जाता है और उस के जनक की उस में सम्मति होती है वा विवाह में अन्यों के सन्तान सम्बन्धी बन जाते हैं॥

द० ति० भा० पृ० १२८-१२९ में (नहि ग्रभाय०) यह दूसरा मन्त्र भी निरुक्तसहित पूर्वोक्त पक्ष ही के सिद्ध करने में लिखा है॥

प्रत्युत्तर- धन्य है। निरुक्त को समझने वाले हों तो ऐसे हों जैसे आप हैं। मन्त्र और निरुक्त का अर्थ यह है——

नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।
अधा चिदोकः पुनरित्स एत्या वाज्यभीषाळेतु नव्यः॥

(ऋग्वेद)

नहि ग्रहीतव्योऽरणः सुसुखतमोऽप्यन्योदर्यो मनसाऽपि न मन्तव्यो ममायं पुत्र इत्यथ स ओकः पुनरेव तदेति यत

आगतो भवत्योक इति निवासनामोच्यते । ऐतु नो वाजी वेजनवानभिषहमाणः सपत्नान्नवजातः स एव पुत्र इति ॥

(सुसुखतमोऽपि अरणः) भले प्रकार सुखदायक भी पराया धन (नहि ग्रहीतव्यः) नहीं लेना चाहिये । और (अन्योदर्यः) जो अन्य के पेट में उत्पन्न हुआ है उसे (मनसाऽपि न मन्तव्यः) मन से भी नहीं मानना कि (ममायं पुत्र इति) यह मेरा पुत्र है । क्योंकि (अथ सः ओकः पुनरेव तदेति) फिर वह उसी घर को चला जाता है (यत आगतो भवति) जहां से कि आया है । (ओक इति निवासनामोच्यते) ओकस् नाम घर का है । इस लिये (वाजी वेजनवान्) बलवान् (सपत्नान् अभिषहमाणः) शत्रुओं को दबाने वाला (नवजातः) नया उत्पन्न (नः ऐतु हमें प्राप्त हो (स एव पुत्र इति) वही पुत्र है ॥

इस से यह पाया जाता है कि कोई स्त्री मन से भी अन्य के पेट से उत्पन्न पुत्र को अपना पुत्र न माने, किन्तु जहांतक होसके विवाह वा नियोग से अपनी कुक्षि से पुत्रोत्पादन करके उसे पुत्र माने । इस में विवाह नियोगादि का कुछ विधिनिषेध नहीं केवल सन्तान का अभिलाष और अन्यों के धन सन्तान को न छीनना मात्र पाया जाता है ॥

द० ति० भा० पृ० १३१ पं० १३ से-(इमां त्वमिन्द्र०) इस मन्त्र का अर्थ यह किया है कि—

हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्त देव (मीढ्वः) सर्वसुखकारीपदार्थों की वृष्टि करने वाले इस स्त्री को भी पुत्रवती धनवती करो, और दश इस में पुत्रों को धारण करो, भाव यह है कि दशपुत्र पैदा करने के अङ्कुर इन स्त्री में स्थित करो, और ग्यारहवां पति को करो अर्थात् जीवितपुत्र और जीवितपति इस को करो, यह इसका अर्थ है जो स्वामी जी ने कुछ का कुछ लिख दिया है और यह स्वामी जी ने न सोचा कि यदि एकादशपति पर्यन्त नियोग करने की ईश्वर की आज्ञा है, तो ईश्वर तो सत्यसंकल्प है तबतो सब स्त्रियों के दश २ पुत्र से कमती होने ही नहीं चाहियें, यदि दश २ से कमती होंगे तो परमेश्वर का संकल्प निष्फल होगा, इस से स्वामी जी का किया अर्थ अशुद्ध है

प्रत्युत्तर—आङ्पूर्वक धा धातु का अर्थ आधान करना होता है जो विशेषकर गर्भाधान में रूढ़ है । इसलिये (आधेहि) का अर्थ इन्द्रदेवता से प्रार्थना

में ठीक नहीं घटता, क्योंकि इन्द्र देव आकर आधान थोड़ा ही करेगा। इस का ठीक अर्थ यही है कि—

(इन्द्र) हे सौभाग्यदाता ! (मीढ्वः) वीर्यसेचक पुरुष ! (त्वम्) तू (इमाम्) इस स्त्री को (सुपुत्राम्) सुन्दर पुत्रवती (सुभगाम्) और सौभाग्यवती (कृणु) कर (अस्याम्) इस स्त्री में (दश पुत्रान्) दश पुत्रों का (आधेहि) आधान कर (अब स्त्री से कहते हैं कि) (एकादशं पतिं कृधि) ११ वां पति कर ॥

आप जो यह शङ्का करते हैं कि परमेश्वर की आज्ञा होती तो सत्य ही होती और किसी के १० से कम पुत्र वा ११ से कम पति न होते। सो क्या यह नियम है कि जो २ परमेश्वर की आज्ञा है ठीक वैसा ही मनुष्य करें। यदि ऐसा होता तो परमेश्वर ने वेदद्वारा समस्त कुकर्मों का निषेध और सुकर्मों का विधान किया है सब सारे मनुष्य सुकर्म ही करते, कुकर्म कोई न करता, पाप का नाम तक न होता (संगच्छध्वम्) इत्यादि परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार सब मनुष्य सदा संगति रखते, विरोध न करते, और सब परमेश्वर की आज्ञानुकूल रहते तो कोई दुःख भी न भोगता, सब सुखी होते। इस लिये आप का तर्क व्यर्थ है। और यही बात है तो आप के मत में भी नियोग न सही, विवाह ही सही तौ भी दश पुत्रों की प्रार्थना तो वेद में है और वेदोक्तप्रार्थना पूरीही होती हों तो सब के दश २ पुत्र होने चाहियें तब ११ वां पति हो। और यदि पुत्र दो ही हों तो पति तीसरा रहे, ४ हों तो पति पांचवां रहे। ८ पुत्र हों तो ९ वां रहेगा। आप की कल्पना का ठिकाना न लगेगा। इस लिये यही ठीक है कि यह मन्त्र विवाह समय का है और विवाहित स्त्री पुरुषों को परमेश्वर की आज्ञानुसार दश से अधिक सन्तानों का आधान न करना चाहिये। और स्त्री वा पुरुष के मृत्यु आदि अकस्मात् कारण उपस्थित हों तो पुरुष वा स्त्री को ११ से अधिक पुनः नियोग न करने चाहियें। दूसरे पतिविधान में नीचे के मन्त्र भी विचारणीय हैं:—

या पूर्वं पतिं वित्त्वाऽथाऽन्यं विन्दतेऽपरम्॥ अथर्व ९।५।२७ तथा—

समानलोको भवति पुनर्भुवा परः पतिः॥ २८॥ तथा—

उत यत्पतयो दश स्त्रियाः। अथर्व. ५।१७।८॥

क्या इन मन्त्रों से जो दूसरे पति का वर्णन, द्वितीय पति की महोत्ता और १० पतियों के विधान को खेंचातानी से डाल सकियेगा ? और ११ वां पति दोनों प्रकार से गिना जा सकता है । अर्थात् १० पुत्र, ११ वां पति, वा १० पतियों के पीछे ११ वां पति । और स्वामी जी ने दोनों अर्थ किये हैं, एक नहीं । क्योंकि दोनों अर्थ सम्भव और अन्यत्रविधान किये सन्तान और नियोग की मर्यादा नियत करने से उपकारक भी हैं ॥

द० ति० भा० पृ० १३४ पं० २२—अप्रिय बोलने वाली स्त्री हो तो उसी समय दूसरा विवाह करे ॥

प्रत्युत्तर-यहां तो आप भी स्वामी जी की शिक्षा मानने लगे । भला अधिवेदन का अर्थ दूसरा विवाह ही किस प्रकार हुवा । क्या नियोग से अधिवेदन नहीं हो सकता ?

द० ति० भा० पृ० १३४ में-(कुहस्विद्दोषा०) मन्त्र लिखकर पृ० १३६ में अश्विनीकुमार देवताविषयक अर्थ करते हैं कि—

भावार्थः-हे अश्विनी तुम दोनों रात्रि में कहां थे और (वस्तोः) नाम दिन में कहां थे जिस से न रात्रि में न दिन में तुम्हारा दर्शन हुवे भिक्षा स्नान भोजनादि की प्राप्ति कहां की कहां निवास करा सर्वथा तुम्हारी आगमन प्रवृत्ति नहीं जानी जाती (को वां शयुत्रा विधवा इव देवरम्) शयन में देवर को विधवावत् कौन यजमान तुम को परिचरण करता हुआ क्योंकि परकीय पति होने से दुराराध्य देवर को मृतभर्तृका यत्न से आराधन करती है (इस कर्म को निन्दित जान छिप कर बड़े यत्न से उस से मिलती है) तद्वत् तुम को किस यजमान ने आराधन करा, यथा एकान्तस्थान में मृतभर्तृकानारी मनुष्य को अपने शरीर के साथ सम्बन्ध कर परिचरण करती है तद्वत् तुम्हारी किस ने सेवा की जो इमें दर्शन नहीं प्राप्त हुवे इस मन्त्र में अल्प देवर कर महान्त अश्विनीकुमार उपमेय होते हैं और विधवा शब्द से यजमान उपमेय होता है । इस स्थल में (सहि परकीयत्वात् नात्यर्थं दुराराध्यतरो भवति) जब कि देवर को परकीयत्व कहा तो दूसरी का पतित्व हो गया, स्वामीजी स्त्री रहित का नियोग मानते हैं तो इस मन्त्र में नियोग का कुछ भी आशय नहीं प्रतीत होता, प्रत्युत मृतभर्तृका का देवर के पास जाना भी शङ्कायुक्त इस दृष्टान्त से विदित होता है, आप के नियोग में निःशङ्क आज्ञा है उस पुरुष को जिस के स्त्री न हो वोह बात इस मन्त्र से

तनक भी नहीं प्रतीत होती यह मन्त्र प्रातःकाल अश्विनीकुमारों की स्तुति का है, और (देवरः कस्मा०) इस के अर्थ भी गड़बड़ लिखे हैं और यह निरुक्तकार का वाक्य भी नहीं है निरुक्तग्रन्थ के छापने वालों ने लिखा है कि यह वाक्य प्राचीन तीन पुस्तकों में नहीं है इसी कारण इस को उन्होंने कोष्ठ में बन्द कर दिया है, और दुर्गाचार्य ने इस पर भाष्य भी नहीं किया इस से यह क्षेपक है। यास्क जी ने इस का अर्थ यों लिखा है कि देवरो दीव्यतिकर्मा भार्य्ये सहि भर्त्तुर्भ्राता नित्यमेव तया भ्रातृभार्यया देवनार्थं व्रियत इति देवर इत्युच्यते यह इस का अर्थ है कि भाई की स्त्री की शुश्रूषा करने से इस का नाम देवर है यदि यह पाठ यास्कमुनिकृत होता तो पुनः देवर शब्द का क्यों अर्थ करते इससे वोह प्रक्षिप्त ही है सारे ग्रन्थों में स्वामीजी को प्रक्षिप्तता सूझी, और यहां लिखी हुई भी न सूझी, और फिर इस वाक्य में तो प्रश्न है कि देवर को दूसरा वर क्यों कहते हैं, इस का उत्तर नहीं लिखा, और प्रक्षिप्त भी नहीं यहां इसे मान भी लें तौ भी स्वामी जी का अर्थ नहीं बन सकता, मनुजी ने इस का अर्थ लिखा है (यस्या म्रियेत०) श्लोक यह आगे लिखेंगे, अर्थ यह है कि वाग्दान के उपरान्त जिस कन्या का पति मर जाय उसे देवर अर्थात् उस के छोटे भाई से ब्याह दे। इसी कारण देवर को दूसरा वर कहते हैं परन्तु नियोग यहां भी सिद्ध नहीं होता, और (विधावनात्) भर्त्ता के मरने से स्त्री रोकी जाती है, कहीं आने जाने नहीं पाती इस कारण उसे विधवा कहते हैं, स्वामी जी उसे ऐसा स्वतन्त्र करते हैं कि कुछ बूझिये मत, आप को बता ही चुके हैं आप ने सब ही जातवालों को देवर बना दिया, जो नियोग करे वोह देवर ॥

प्रत्युत्तर—जब इस में (विधवा शयुत्रा देवरम् सधस्थे आकृणुते) "विधवा शयनस्थान में देवर को सहवास में बुलाती है" यह स्पष्ट लिखा है। और आप भी इन पदों का अन्य अर्थ नहीं करते। और निरुक्तकार इसी मन्त्र के निरुक्त में लिखते हैं कि (देवरः कस्मात् उच्यते) देवर संज्ञा किस कारण कही है कि (द्वितीयो वरः) दूसरा वर देवर कहाता है अर्थात् मृतपति का छोटा भाई ही देवर कहावे सो नहीं, किन्तु जो द्वितीय वर हो। और अश्विनी पद से चाहे आप स्त्री पुरुषों का अर्थ न लें, देवतों का अर्थ लेते रहें तथापि (विधवेव देवरं०) इत्यादि उत्तरार्द्ध स्पष्ट है। और सायणाचार्य भी तो इसका यही अर्थ करते हैं। इसी से आप ने अगले (उदीर्ष्व०) मन्त्र

का तो सायण भाष्य लिखा, परन्तु इसका नहीं लिखा। और निरुक्त में (देवरः कस्मा०) पाठ को आप प्रक्षिप्त मानते हैं। स्वामी जी जब कभी किसी आर्ष ग्रन्थ में कुछ प्रक्षिप्त बताते हैं तो आप नास्तिक कहने लगते हैं और (देवरः कस्मा०) यह निरुक्त का पाठ तो सायणाचार्य ने भी अपने भाष्य में उद्धृत किया है और प्रक्षिप्त नहीं माना सायणाचार्य के समय में जो निरुक्त था उस में यह पाठ न होता तो वे उद्धृत न करते और किसी पुस्तक में होता किसी में न होता तो वे प्रक्षिप्त बताते वा कुछ लिखते। देवराज यज्वा के भाष्य में कुछ सभी पदों की व्याख्या नहीं होती। तीन पुस्तकों में पाठ न होना, शतशः पुस्तकों में प्राचीन पाठ होते हुए कुछ प्रमाण नहीं॥ विधवा पद का निरुक्त यह है--

विधवा विधातृका भवति॥ विधवनाद्वा विधावनाद्वेति। चर्मशिरा अपि वा। धव इति मनुष्य नाम तद्वियोगाद्वा विधवा॥ निरु० ३॥ १५॥

(विधातृका) जिसका धाता धारण पोषण करने वाला न हो अर्थात् जीवता भी हो, पर संन्यासी होगया हो, असाध्य रोगी वा धर्मभ्रष्ट होगया हो वा जिस का कम्पन चेष्टा पतिरक्षणादि रुक गया हो। वा जिसने शिर मुंडाया हुवा हो। वा धव पुरुष का नाम है, जिसका पुरुष न हो वह विधवा इस मन्त्र में वर्णित है। वही देवर द्वितीय वर को शयनस्थान में बुलाती, यह इस मन्त्र का भाव आप के लेख और सायणभाष्य तथा अन्य किसी प्रकार से भी दूर नहीं होता॥

मनुस्मृति (पाणिग्रहणिका मन्त्राः०) ८। २२६ पर कुल्लूकभट्ट टीकाकार ने लिखा है कि—

न तु क्षतयोनेर्वैवाहिकमन्त्रहोमादि निषेधकमिदम्— "या गर्भिणी संस्क्रियते" तथा "वोढुः कन्यासमुद्भवम्" इति मनुनैव क्षतयोनेरपि विवाहसंस्कारस्य वक्ष्यमाणत्वात्। देवलेन तु "गान्धर्वेषु विवाहेषु पुनर्वैवाहिको विधिः कर्त्तव्यश्च त्रिभिर्वर्णैः समयेनाग्निसाक्षिकः"। इति

अर्थात् यह वचन क्षतयोनि के विवाह मन्त्रहोमादि का निषेधक नहीं है। क्योंकि मनु ने स्वयं (पाणिग्र०) और [वोढुः कन्या:०] आगे क्षतयोनि का भी विवाहसंस्कार कहा है। और देवल ने तो " गान्धर्वेषु विवाहेषु पुनर्वैवाहिको विधिः ३ वर्णों को अग्नि की साक्षी से करनी कही है॥

इस से कुल्लूक के मत में तो मनु देवल आदि के अनुसार गर्भ प्रथम रहजाय फिर विवाह करलेना भी वर्जित नहीं। क्षतयोनि का भी विवाह विहित है॥

नियोग की अधिक विधि देखनी हो तो हमारे प्रकाशित " नियोग-निर्णय" में देखिये, परन्तु थोड़ा सा यहां भी लिखते हैं-

यथा भूमिस्तथा नारी तस्मात्तां न तु दूषयेत्।

पाराशरी स्मृति अध्याय ॥ १० ॥ श्लो० २५ ॥

जैसी पृथिवी वैसी नारी इस कारण उसे दोष न धरें॥ (जिस राजा का राज्य उसी की वही पृथिवी होजाती है) और अध्याय ७ श्लोक ४ में

"रजसा शुध्यते नारी विकलं या न गच्छति"

नारी रजस्वला होने पर शुद्ध होजाती है॥ आगे अ० ११ में श्लोक २४। २५

क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां समुत्पन्नस्तु यः सुतः॥

स गोपाल इति ख्यातो भोज्यो विप्रैर्न संशयः २४ इत्यादि

अर्थात् क्षत्रिय से शूद्र की कन्या में उत्पन्न सन्तान गोपाल कहाती और निःसन्देह ब्राह्मणों के सहभोज्य की अधिकारी है॥

पराशर को सभी सनातनधर्मी कलियुग में महामान्य मानते हैं। जैसा कि उसी के अध्याय १ में:—

कृते तु मानवा धर्मास्त्रेतायां गौतमाः स्मृताः।

द्वापरे शङ्खलिखिताः कलौ पाराशराः स्मृताः॥ २५॥

सत्ययुग में मनुस्मृति के धर्म, त्रेता में गौतम स्मृति के, द्वापर में शङ्ख-लिखित स्मृति और कलियुग में पाराशरस्मृति के धर्म मान्य हैं॥

अमीमांस्यानि शौचानि स्त्रीणां च व्याधितस्य च।

न स्त्री दुष्यति जारेण ब्राह्मणो वेदकर्मणा॥ १८९॥

नापोमूत्रपुरीषाभ्यां नाग्निर्दहति कर्मणा ॥
पूर्वं स्त्रियः सुरैर्भुक्ताः सोमगन्धर्ववह्निभिः ॥ १९० ॥
भुञ्जते मानवाः पश्चान्न ता दुष्यन्ति कर्हिचित् ।
असवर्णस्तु यो गर्भः स्त्रीणां योनौ निषिच्यते ।१९१
अशुद्धा सा भवेन्नारी यावद्गर्भं न मुञ्चति ।
विमुक्ते तु ततः शल्ये रजश्चापि प्रदृश्यते ॥ १९२ ।
तदा सा शुध्यते नारी विमलं काञ्चनं यथा ।

फिर–

प्रारब्धदीर्घतपसां नारीणां यद्रजो भवेत् १९९
न तेन तद्व्रतं तासां विनश्यति कदाचन ॥

अर्थ–रोगी पुरुष और स्त्रियों की शुद्धि मीमांसा के योग्य नहीं। स्त्री जारकर्म से दूषित नहीं होती, ब्राह्मण वेदकर्म से ॥ १८९ ॥ जल विष्ठ मूत्र से, अग्नि दाहकर्म से अशुद्ध नहीं होता। प्रथम स्त्रियां सोम, गन्धर्व, अग्नि देवों ने भोगी हैं पीछे मनुष्य भोगते हैं इस लिये वह दूषित नहीं होतीं ॥ १९० ॥ असवर्ण का गर्भ स्त्रियों की योनि में जाने से जब तक गर्भ न छोड़े तब तक वह नारी भ्रष्ट रहती है। गर्भ निकलने पर जब रजस्वला हो जावे–॥ १९२ ॥ तब तपे सोने के समान शुद्ध हो जाती है। बड़ी भारी तपस्या का फल है कि जो स्त्रियों के रज होता है। इस से इन का व्रतभङ्ग नहीं होता ॥ १९९ ॥ जब स्त्री अशुद्ध होकर भी प्रतिमास शुद्ध हो जाती है तो फिर वह कैसे पतित हो सक्ती है?

परन्तु हमारे मत में यह लेख नहीं माने हैं। हां, मनु जी की आज्ञा तो शिरोधार्य ही है। क्योंकि–

यद्वै किञ्चन मनुरवदत्तद्भेषजं भेषजतायाः ॥

जो कुछ मनु ने कहा है वह औषध का औषध है। मनु जी कहते हैं कि–

सा चेदक्षतयोनिःस्याद्गतप्रत्यागतापि वा ।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥
(मनु ९ । १७६)

जो स्त्री अक्षतयोनि है वह चाहे पति के घर गई चाहे भी हो, वह पौनर्भव भर्त्ता के साथ फिर संस्कार के योग्य है ॥

नारद स्मृति का सिद्धान्त "अक्षता भूयः संस्कृता पुनर्भूः" अक्षतयोनि स्त्री का यदि पुनर्बार संस्कार हो तो उसे पुनर्भू कहते हैं ॥

याज्ञवल्क्य जी कहते हैं कि:-

अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः ॥

अक्षतयोनि हो चाहे क्षतयोनि हो, फिर विवाह होने से स्त्री पुनर्भू कहाती है ॥

वसिष्ठ जी कहते हैं कि:-

या च क्लीबं पतितमुन्मत्तं वा भर्त्तारमुत्सृज्यान्यंपतिं
विन्दते मृतेवा सा पुनर्भूर्भवति ॥

जो स्त्री नपुंसक, पतित (जातिबाह्य वा धर्मपतित), या पागल पति को त्याग अथवा मरे पति पीछे अन्य पति को करे, वह पुनर्भू कहाती है ॥

नारद जी कहते हैं कि:-

उद्वाहितापि सा कन्या न चेत्संप्राप्तमैथुना ।
पुनः संस्कारमर्हति यथा कन्या तथैव सा ॥

विवाही हुई भी कन्या यदि मैथुन को प्राप्त नहीं हुई है तो वह फिर विवाह संस्कार के योग्य है, जैसी कन्या वैसी ही वह है ॥

कात्यायन कहते हैं कि:-

वरयित्वा तु यः कश्चित्प्रणश्येत्पुरुषो यदा ।
ऋत्वागमांस्त्रीनतीत्य कन्याऽन्यं वरयेद्वरम् ॥

अर्थ—जो कोई पुरुष कन्या से विवाह करके नष्ट हो जाय, तो कन्या आने वाले तीन ऋतुओं के पश्चात् अन्य वर को वरले ॥

कात्यायन स्मृतिकार कहते हैं:-

वरो यद्यन्यजातीयः पतितः क्लीब एव वा ।
विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोऽपि वा ॥
ऊढापि देया साऽन्यस्मै सहाभरणभूषिता ।

अर्थात्- यदि वर अन्य जाति का हो, पतित हो, नपुंसक हो, कुकर्मी हो, सगोत्री हो, दास हो, महारोगी हो, तो विवाही हुई भी वस्त्र भूषण सहित पुत्री अन्य वर को देदेवे ॥

यद्यपि हम इन पुराणप्राय स्मृतियों के व्यभिचारसिद्धान्त को नहीं मानते परन्तु आप को दर्पण दिखाने के लिये ऊपर के वचन लिख दिये हैं ॥

द० ति० भा० पृ० १३७ । १३८ में (उदीर्ष्व ना०) इस मन्त्र के अर्थ में सायण की देखा देखी गड़बड़ी की है ।

प्रत्युत्तर-महात्मा जी ! मन्त्र का सूधा अक्षरार्थ यह है कि (नारी) हे नारी ! (एतं गतासुम् उपशेषे) तू इस मृतक के समीप सोती है [इहि] आ (जीवलोकम् अभि) जीवती दुनिया में (तव हस्तग्राभस्य दिधिषोः पत्युः) तेरा हाथ पकड़ने वाले दूसरे पति की (जनित्वम् अभि संबभूथ) स्त्री होने को नियम स्वीकार कर ॥

यदि आप स्वामी जी का किया अर्थ न भी माने तो अपने अमरकोष में ही दिधिषु पद का अर्थ देख लें 'दिधिषोः' पद इस मन्त्र में स्पष्ट आया है॥

अमरकोष द्वितीयकाण्ड मनुष्यवर्ग श्लोक २३-

पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्विस्तथा दिधिषुः पतिः ॥

और इसी का महेश्वरकृत अमरविवेक टीका देखिये-

पुनर्भूः दिधिषूः दिधिषुरित्यपि द्वे । पूर्वमेकस्य भूत्वा पुनरन्यस्य भवतीति पुनर्भूः "अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः" इत्युक्तम् । तस्याद्विरूढायाः पतिर्दिधिषुरित्युच्यते एकम् ॥

अर्थात्-पुनर्भू और दधिषु ये दो नाम उस क्षतयोनि वा अक्षतयोनि स्त्री के हैं जो एक की स्त्री होकर फिर दूसरे की हो। और "दिधिषु" यह उस पुरुष का एक नाम है जो द्वितीय वार विवाही हुई स्त्री का दूसरा पति है॥

द० ति० भा० पृ० १३८ । १३९ में (अदेवृघ्न्यपतिघ्नी०) इस अथर्व १४ । २ । १८ मन्त्र का अपनी ओर से अर्थ करके स्वामी जी को कहा है कि उन्हों ने विवाह के मन्त्र को नियोग में लगा दिया । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-अन्य पदों के अर्थ में बहुत विवाद नहीं है । आप का और

स्वामी जी का लिखा अर्थ देखने से एक पद के अर्थ में झगड़ा है; वह यह है कि स्वामी जी (देवृकामा) का अर्थ देवर की कामना करने वाली" लिखते हैं और आप "देवर के होने की प्रार्थना करने वाली या आनन्द चाहने वाली" लिखते हैं। सो यदि (देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते) निरुक्तानुसार देवर पद का अर्थ लें तो आप के लिखे अर्थ से भी नियोग वा पुनर्विवाह दूर नहीं होता। और स्वामी जी ने "कमु कान्तौ" धातु का का यौगिक अर्थ कामना (इच्छा) लिया सो ही है भी ठीक। विवाह के मन्त्र को नियोग में लगाना उस दशा में बुरा नहीं है जब कि मूलमन्त्र में द्वितीय वर का भी वर्णन हो। क्योंकि नियोग भी तो एक प्रकार से विवाह है। और सन्तानोत्पत्ति रूप प्रयोजन उस का भी विवाह के सदृश है। और मनु ने स्पष्ट कहा है कि-

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया।
प्रजेप्सिताऽधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥ ९। ५९
विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथं चन ॥ ९। ६० ॥
द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु तद्विदः।
अनिर्वृत्तं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्तयोः ॥ ९। ६१॥
विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्त्तेयातां परस्परम् ॥ ९। ६२ ॥
नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्त्तेयातां परस्परम्।
तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ ॥ ९। ६३ ॥

अर्थात् देवर वा सपिण्ड से नियोग करके स्त्री को मन चाही सन्तान उत्पन्न कर लेनी, जब कि कुलक्षय होता हो ॥५९॥ जो पुरुष विधवा से नियोग करे वह रात्रि में मौन धारण कर, शरीर पर घृत मलके (जिस से कामासक्ति न हो) एक पुत्र उत्पन्न करे, दूसरा किसी प्रकार नहीं ॥६०॥ कोई आचार्य धर्म के जानने वाले स्त्रियों में नियोग के लिये दूसरा प्रजन मानते हैं ॥६१॥ विधवा से नियोग करने में विधिपूर्वक (वीर्यदान) का काम निपटने पर

फिर वे स्त्री पुरुष आपस में गुरु और पुत्रवधू के सदृश रहें। (कामभोगार्थ क्रीड़ा न करें) ॥ ६२ ॥ और जो स्त्री पुरुष नियोग की विधि का उल्लङ्घन करके आपस में व्यवहार करें वे दोनों पुत्रवधूसमागमी और गुरुगामिनी के तुल्य पतित हों, अर्थात् सन्तानसोत्पत्ति के अतिरिक्त कामक्रीड़ा सर्वथा वर्जित है ॥ ६३ ॥

बात यह है कि जिस प्रकार वेद को छोड़ अन्य सब पुस्तक मृतकश्राद्ध से ख़ाली नहीं हैं इसी प्रकार वेद और प्राचीन नवीन स्मृति, पुराण उप पुराण आदि कोई प्रसिद्ध ग्रन्थ नियोग से रहित नहीं है। इस विषय में सब ओर से आप का पल्ला ही उघड़ेगा। आप यह न समझें कि इसका लोक में इस समय प्रचार न होने और इसको लज्जा की बात मानने से आप सर्वदा नियोग को ही सामने रखकर जीत जायगे। जितना ही आजकल इसकी लज्जा का वर्णन करेंगे उतना ही पूर्वकाल में आप के पुराणों तक से इसकी निर्लज्जता का वर्णन दिखाया जा सकेगा। परन्तु हम वा स्वामी जी पुराणों के समान व्यभिचारप्राय नियोगों के समर्थक नहीं, किन्तु वेदोक्त शास्त्रोक्त मर्यादापूर्वक नियोग के समर्थक हैं। श्वशुरादि को सुख देना और बात है, और देवर की कामना करनी और बात है। इस में भेद है ॥ द० ति० भा० पृ० १४१ में—

> यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।
> तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥ मनु० ९। ६९॥

इसका अर्थ सगाई कोई के पति मरनेपर देवरसे विवाह करना बताते हैं॥

प्रत्युत्तर-(वाचा सत्ये कृते) का अर्थ सगाई नहीं हो सकता। किसी गृह्यसूत्र में सगाई (वाग्दान) का संस्कार विवाह से पृथक् नहीं लिखा। न कोई सगाई संस्कार की पद्धति आजतक बनी है। ये सगाई और द्विरागमन तो बालविवाह की कुरीति के बच्चे हैं, वा पिछलगू हैं। शास्त्रोक्त नहीं हैं। (वाचा सत्ये कृते) का अर्थ परस्पर विवाह के मन्त्रों में लिखी प्रतिज्ञा ही है। यदि आप नहीं मानते तो इस से पूर्व का श्लोक अनुवृत्ति के लिये देख लीजिये जिसे आप मानते हैं। यथा—

> ततः प्रभृति यो मोहात् प्रमीतपतिकां स्त्रियम्।
> नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः मनु० ९। ६८॥

अर्थ-(ततः प्रभृति) वेन राजा के अत्याचार के पश्चात् (यः) जो कोई (मोहात्) मोहवश (प्रमीतपतिकां स्त्रियम्) विधवा स्त्री का (अपत्यार्थम्) सन्तानार्थ (नियोजयति) नियोग करता है (तं साधवः विगर्हन्ति) उस की भले लोग निन्दा करते हैं ॥

इस से जाना जाता है कि राजा वेन जो स्वायंभुव मनु से बहुत काल पीछे हुआ, उस ने वेदोक्त नियोग की आड़ में निर्मर्यादा करी, तब किसी ने नियोगनिन्दा के श्लोक बनाये और तभी से नियोग की भले लोग निन्दा करने लगे। इससे पूर्व निन्दा न थी और आप के मतानुसार भी यह नियोग ही का प्रकरण है। सगाई का नहीं ॥

सोमः प्रथमो० सोमोदद्द्० इत्यादि दो मन्त्रों को हम आप के समान विवाह के ही मानलें, नियोग में न मानें, तब भी क्या शेष मन्त्रों और अगणित प्रमाणों से सिद्ध नियोग को आप अप्रमाण कर सक्ते हैं ?

द० ति भा० पृ० १४२ में देवराद्वा सपिण्डाद्वा० इत्यादि मनु के श्लोक लिख कर कहा है कि देखो मनु से भी ११ नियोग नहीं सिद्ध होते। परन्तु हां, नियोग है ॥

प्रत्युत्तर-अस्तु, आप ने मनुप्रोक्त नियोग स्वीकार तो किया। अब रहा ११ का विवाद, सो स्वामीजी ने (पतिमेकादशं कृधि) से और हम ने (उत यत्पतयो दश स्त्रियाः) से पूर्व १० वा ११ तक की मर्यादा सिद्ध की है। आप ने नियोग माना और उस की मर्यादा न मानी तो आप के मत में ११ से अधिक तक भी बे प्रमाण नियोग हो सकेंगे ॥

द० ति० भा० पृ० १४३ में मनुस्मृति अध्याय ९ के श्लोक ६४ से ६८ तक ५ श्लोक लिख कर यह सिद्ध किया है कि मनु जी ने प्रथम नियोग का विधान करके फिर अपनी सम्मति प्रकाशित की है कि यह पशुधर्म राजा वेन ने चलाया है। इस से मनुजी इसको अच्छा नहीं मानते। यह आशय है ॥

प्रत्युत्तर-यद्यपि ये श्लोक मनु जी के बनाये नहीं क्योंकि मनु (स्वायम्भुव) सृष्टि के आरम्भ में हुवे और वेन राजा वह था, जिस से पृथु हुवा, तो पृथु के वैवस्वत मन्वन्तरगत जन्म को स्वायम्भुव मनु यह कैसे कह सक्ते हैं कि भूतकाल में राजा वेन के राज्य से यह रीति नियोग की चलगई ॥ इस लिये निश्चय यह श्लोक प्रक्षिप्त हैं। परन्तु इन से भी नियोग की बुराई नहीं निकलती, किन्तु यह आशय निकलता है कि राजा वेन ने नियोग

को वर्णानुसार परिपाटी तोड़ कर वर्णसंकर कर दिया, तब से नियोग निन्दित समझा जाने लगा। अर्थ सहित श्लोक भी सुन लीजिये——

नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः।
अन्यस्मिन्हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम् ॥ ९।६४॥

(द्विजातिभिः) द्विजों ने (विधवा नारी) द्विज विधवा स्त्री (अन्यस्मिन्) द्विजों से अन्य में (न नियोक्तव्या) नहीं नियोजित करानी। (अन्यस्मिन् नियुञ्जाना हि) क्योंकि द्विज स्त्री अपने सवर्ण से अन्य किसी में नियोग को हुई (सनातनं धर्मं हन्युः) सनातन धर्म का नाश करती हैं।

इस में नियोग का निषेध नहीं, किन्तु द्विज स्त्री, द्विजभिन्न से नियोग न करे। यह आशय है॥

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ ९।६५ ॥

विवाह के मन्त्रों में नियोग नहीं कहा, न विवाह की विधि में विधवा-विवाह का विधान है ॥ ६५ ॥

इस का भी यह तात्पर्य है कि विवाह और नियोग भिन्न हैं, एक नहीं हैं, क्योंकि विवाह के मन्त्रों में नियोग नहीं कहा है (किन्तु विवाह से भिन्न प्रकरण के मन्त्रों में नियोग कहा हो तो उस का निषेध यह वाक्य नहीं करता) विधवा का पुनर्विवाह नहीं होता। इस कहने का तात्पर्य भी स्वामी जी की इस सम्मति के विरुद्ध नहीं, जहां उन्हों ने द्विजों को पुनर्विवाह का निषेध किया है। अर्थात् द्विजों के ही साथ नियोग हो, अन्य के साथ नहीं, और द्विजों का द्विजों में भी पुनर्विवाह न हो, यह दोनों श्लोकों का तात्पर्य है॥

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥९।६६॥

(वेने राज्यं प्रशासति) जब वेन राज्य करता था तब आकर के (विद्वद्भिः द्विजैः) विद्वान् द्विजों ने (प्रोक्तः) कहा कि (अयं पशुधर्मः हि) यह पशुओं का ही धर्म है । (अपि) निश्चय करके (मनुष्याणां विगर्हितः) मनुष्यों में निन्दित है ॥ ६६ ॥

अर्थात् द्विजों का द्विजों में नियोग चला आता था, परन्तु राजा वेन के राज्य से आरम्भ करके यह द्विजों में निन्दित और पशुधर्म गिना जाने लगा। अगले श्लोक में इस का कारण भी बताया है कि वेन के राज्य से इस कर्म की क्यों निन्दा होने लगी॥ यथा-

स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा।
वर्णानां सङ्करं चक्रे कामोपहतचेतसः॥ ९। ६७॥

वह सारी पृथिवी को भोगता था, राजों में बड़ा था, उस ने काम से बुद्धि नष्ट होने से वर्णों का संकर (वर्णसंकरता) कर दिया॥ ६७॥

अर्थात्-उस ने सनातनद्विजों की मर्यादापूर्वक नियोग को तोड़ अनाप सनाप सब का सब से नियोग कराया, वर्णसंकरता फैला दी। तब-

ततःप्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम्।
नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः॥ ९। ६८॥

(ततः प्रभृति) तब से लेकर (यः मोहात्) जो कोई मोह से (प्रमीतपतिकाम्) जिस का पति मर गया उस (स्त्रियम्) स्त्री को (अपत्यार्थम्) सन्तानार्थ (नियोजयति) नियोग कराता है (तं साधवः विगर्हन्ति) उस को भले मानस बुरा कहते हैं॥ ६८॥

इस मन्त के श्लोक से अत्यन्त स्पष्ट है कि राजा वेन के समय से नियोग नहीं चला, किन्तु सनातन से द्विजों का द्विजों में चला आता था, जब से वेन राजा ने सब का सब से चला कर वर्णसंकरता करदी, तब से यह निन्दित समझा जाने लगा। आप का अर्थ इन श्लोकों से किसी प्रकार नहीं निकलता कि वेन ने नियोग चलाया, पूर्व न था॥

जब वेन राजा से नियोग निन्दा का प्रचार हुआ तो आप उस की निन्दा के प्रचारक होने से आप और आप के साथी हो राजा वेन के चेले वा गुरु, जो चाहो हों। स्वामी जी को वेन का दादा गुरु बताना ठीक नहीं, क्योंकि वे तो वेन से पूर्वप्रचरित द्विजमर्यादायुक्त नियोगरीति के प्रचारक थे॥

द० ति० भा० पृ० १४४-१४५ में (अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्) इस वेदमन्त्र के विषय में लिखा है कि यदि स्वामी जी इस मन्त्र को पूरा लिखते तो क़लई खुल जाती, सब सारा नियोग उड़ जाता॥

प्रत्युत्तर-सारा मन्त्र लिखना आवश्यक न था, इस लिये स्वामी जी ने

चतुर्थपाद लिख दिया, परन्तु सारा मन्त्र लिखने से भी नियोग उड़ नहीं सकता और थोड़ी देर को हम यही मान लें कि इस मन्त्र से नियोग नहीं निकलता, तब भी क्या स्वामी जी या हमारे दिये अन्य अनेक प्रमाणों के रहते और पुराणों में नियोगों की शतशः कथाओं के होते हुवे कभी आप नियोग को उड़ा सकते हैं ? कभी नहीं । आप ने निरुक्त के साथ अन्य संस्कृत जोड़ कर अर्थ में गड़बड़ी कर दी । कृपया नीचे लिखा पूरा मन्त्र और उस का पूरा निरुक्त पढ़िये—

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।
पउबर्बृहि वृषभाय बाहु मन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥

ऋ० १० । १० । १० अथर्व १८ । १ । ११ में भी ॥

आगमिष्यन्ति तान्युत्तराणि युगानि, यत्र जामयः करिष्यन्त्यजामिकर्माणि । जाम्यतिरेकनाम बालिशस्य वा समानजातीयस्य । वोपजन· उपधेहि वृषभाय बाहु-मन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मदिति व्याख्यातम् ॥ निरु० ४।२०॥

अर्थ-"आवेंगे वे अगले समय, जिन में जामि करेंगी अजामियों के काम फैलाव तू सेचन में समर्थ पुरुष के लिये बाहु को, सुभगे ! मेरे सिवाय अन्य पति को चाह । जामि एक नाम है, निर्बुद्धि वा समान जाति का" ॥

इस में सन्देह नहीं कि इस सूक्त में यमयमी संवाद है और यह मन्त्र यम की ओर से यमी को उत्तर है । यमयमी क्या वस्तु हैं इस का विचार करना है । निघण्टु १ । ७ में यम्या नाम रात्रि का है । निघण्टु ५ । ५ में यमी पद नाम है । जिस का उदाहरण इसी सूक्त का (अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वा० इत्यादि) मन्त्र निरुक्त ११ । ३४ में दिया है । इस लिये यह सूक्त रात्रि दिन के संवाद से यह सिखाता है कि विषम स्त्री पुरुषों का संयोग नहीं हो सकता, समों का होना चाहिये । जिस प्रकार रात्रि तमोगुणयुक्त और दिन प्रकाशवान् है ये दोनो एक साथ नहीं होते यदि प्रातःसायं की सन्ध्या में रात्रि दिन से मिलने को आती है तो उस समय विषमस्वरूप रात्रि से मिलने को दिन असमर्थ होता है और पृथक् होता हुआ मानो कहता है कि तू अन्य वीर्यसेचन में समर्थ पुरुष को प्राप्त हो, अर्थात् मैं अपना प्रकाश तुझ (रात्रि) में स्थापित नहीं कर सकता ॥

बस इस दिनरात्रि के संवादरूप अलंकार से मनुष्यों को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि जब कोई स्त्री वन्ध्यात्वादि दोषों से स्वयं सन्तानोत्पादन में असमर्थ हो तो पुरुष को अनुज्ञा दे कि वह अन्य स्त्री द्वारा वंश चलावे और इसी प्रकार पुरुष जब सन्तानोत्पादन में असमर्थ हो तब स्त्री को अनुज्ञा देवे कि अन्य पुरुष से ऋतुदान शास्त्रानुसार लेकर वंश चलावे यदि मनुष्य इस संवाद से स्वयं शिक्षा न लें तो फिर यह कहानी क्या वेद में वृथा मनबहलाव को लिखी है? और "आगे के समय में जामि अजामि का काम करेंगी" इस कथन के साथ निरुक्तानुसार "सजातीय" अर्थ "जामि" पद से लेकर यह आशय निकलता है कि आगे विजातीय अर्थात् विषमगुणकर्म स्वभाव वाले स्त्री पुरुष भी योग चाहेंगे, परन्तु यह असंभव है। समानगुण कर्म स्वभाव वाले ही संयुक्त हो सकते हैं। इस लिये समर्थाऽसमर्थरूप विषमता वाले स्त्री पुरुषों को चाहिये कि अन्य समर्थों से वंशानुक्रम को प्रचलित करें॥

स्वामी जी ने जो पति के विदेश गये पीछे नियोग की व्यवस्था मनु। अध्याय ९ श्लोक ७६ के अनुसार लिखी है, उस का खण्डन करते हुवे द० ति० भा० पृ० १४६ में उस से पिछले प्रकरण के ७४। ७५ दो श्लोक लिखे हैं और कहा है कि—

[जब कोई पुरुष परदेश को जाय तो प्रथम स्त्री के खान पान का प्रबन्ध करता जाय, क्योंकि बिना प्रबन्ध क्षुधा के कारण कुलीन स्त्री भी दूसरे पुरुष की इच्छा करेगी ॥ ७४ ॥ खान पान करके विदेश जाने के अनन्तर उस पुरुष की स्त्री नियम अर्थात् पतिव्रत से रहकर अपना समय व्यतीत करे। और जब भोजन को न रहे वा पुरुष कुछ बन्दोबस्त न कर गया होय तो पति के परदेश जाने में शिल्पकर्म जो निन्दित न हों अर्थात् सूत कातना हस्त से काढ़ना आदि कर्मों से गुज़ारा करे ॥ ७५ ॥ यदि वोह धर्मकार्य को परदेश गया हो तो ८ वर्ष, विद्या पढ़ने गया हो तो ६ वर्ष, धन यश को गया हो तो ३ वर्ष तक बाट देखे "पश्चात् पति के पास जहां हो वहां चली जावे"। यह वशिष्ठ भी कहते हैं]॥

प्रत्युत्तर—यह तो ठीक है कि विदेश जावे तो भोजनादि का प्रबन्ध कर जावे। परन्तु यह मनु के किसी अक्षर का अर्थ नहीं कि "फिर स्त्री पति के पास चली जावे" क्योंकि यदि पति भोजनादि का प्रबन्ध भी न कर जावे और अपने रहने की सूचना भी न दे कि मैं कहां हूं? तब उस के पास

कहां चली जावे ? मनुस्मृति के श्लोकों का अर्थ करने में वसिष्ठस्मृति का वचन जोड़ कर अर्थ करना, अन्याय की बात है और ऋतुकालादि में स्त्री को भी छोड़ कर पुरुष दूसरा विवाह तत्काल कर लेवे, इसे तो आप मानते हैं और ऋतुघाती पुरुष को छोड़ स्त्री भी दूसरे से नियोग करे, इस न्याय-संगत बात को हंसी की बतलाते हैं। क्या आप को विदित नहीं है कि स्त्रियों की दुर्गति करने का समय अब ईश्वर की कृपा और गवर्नमेंट के प्रताप से दूर गया ॥

द० ति० भा० पृ० १४७ पं० २० से [अङ्का०] यह सामवेद का वचन नहीं।

प्रत्युत्तर- निरुक्त ३।५ में—तदेतदृक्श्लोकाभ्यामुक्तम्- अर्थात् यह बात ऋचा और श्लोक में कही है। इस से आगे (अङ्गादङ्ग इत्यादि) यह ऋचा लिखी है जो निरुक्त की आप को और स्वामी जी को भी माननीय है ॥

द० ति० भा० पृ० १४७ पं० १२ से—अब एक और बात सुनिये जो कि कैसे ही बुद्धिभ्रष्ट क्यों न हो, कैसे ही नशे में चूर क्यों न हो, पर ऐसी बे शिर पैर की बात नहीं कह सक्ता। स० पृ० १२० पं० २५ "गर्भवती स्त्री से एक वर्ष समागम न करने के विषय में पुरुष वा स्त्री से न रहा जाय तो किसी से नियोग करके उन के लिये पुत्रोत्पत्ति कर दें" समीक्षा—देखिये इस अन्धेरको गर्भवती स्त्री से न रहा जाय तो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर दे कहिये अब महात्मा जी का सृष्टिक्रम कहां चला गया ? एक बालक तो उत्पन्न हुवा ही नहीं दूसरा कैसे उत्पन्न हो सक्ता है। (इत्यादि)

प्रत्युत्तर—यह ठीक है कि ऐसी बात कोई भ्रष्टबुद्धि वा नशेबाज भी नहीं कह सक्ता, फिर स्वामी जी तो पूर्ण जितेन्द्रिय, बुद्धिमान्, नशों के निषेधक और भांग तक न पीने वाले थे, भला वे कैसे यह ऊटपटांग बात लिखते। निश्चय यह पुराने छपे सत्यार्थप्रकाश में छापे की अशुद्धि थी और शुद्ध पाठ स्वामी जी का लिखाया इस प्रकार था, जो अब संवत १९५४ के पांचवीं वार मुद्रित सत्यार्थप्रकाश पृ० १२५ पं २ से है। यथा—

"गर्भवती स्त्री से एक वर्ष समागम न करने के समय में पुरुष से, वा दीर्घरोगी पुरुष की स्त्री से न रहा जाय तो किसी से नियोग करके उस के लिये पुत्रोत्पत्ति करदे, परन्तु वेश्यागमन वा व्यभिचार कभी न करे"

इस पाठ में पूर्वोक्त दोष नहीं आसक्ता और स्त्री को व्यभिचार तथा पुरुष को वेश्यागमन की अपेक्षा इस कार्य को अच्छा बताया है। कुछ

आवश्यक भी नहीं बताया। एक स्थान में हितोपदेश में नीतिका वचन है कि:-

"वरं वेश्या पत्नीनपुनरवनीता कुलवधुः

अर्थात्-अविनीत कुलवधू से वेश्या अच्छी"

जिस प्रकार इस का यह तात्पर्य नहीं है कि वेश्या को पत्नी बनाना अच्छा है। किन्तु अविनीत स्त्री की निन्दामात्र में तात्पर्य है। इसी प्रकार स्वामी जी का भी वेश्यागमन वा व्यभिचार की निन्दामात्र में तात्पर्य है॥

द० ति० भा० पृ० १५० पं० ४ में-न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोप-दिश्यते। मनु ५।१५२॥

प्रत्युत्तर-यह तो हम भी मानते हैं कि पतिव्रता का भर्ता दूसरा नहीं होता। परन्तु भरणपोषणादि करने से विवाहित पति को भर्ता कहते हैं सो द्विजस्त्रियों को पुनर्विवाह न करने से दूसरा भर्ता (विवाहित पति) निषिद्ध है। नियुक्त का निषेध इस से नहीं हो सक्ता॥

द० ति० भा० पृ० १५० पं० १७ में (सकृत्कन्या प्रदीयते) कन्यादान एक ही बार किया जाता है॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी भी नियोग में कन्यादान की विधि नहीं बताते॥

द० ति० भा० पृ० १५० पं० १ (इयं नारी०) के अर्थ में लिखा है कि कन्द मूल फल को भोजन करती हुई उत्तम गति को प्राप्त होती है, और धनपुत्रादिक प्राप्त करती है, इन सब बातों का सिद्धान्त यह है कि नियोग कभी नहीं करना॥

प्रत्युत्तर-इस मन्त्र में कन्द मूल फल का नाम तक नहीं, और कन्द मूल फल खाकर विधवा अपना पतिव्रत निभावे तो आप के लिखे धन सन्तान उसे विना नियोग कहां से प्राप्त हों? इस मन्त्र से अगला मन्त्र (उदीर्ष्व नारि०) नियोग प्रकरण का है जिस का अर्थ कर चुके हैं। अब इस का अर्थ सुनियेः-

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥

(अथर्व १८।३।१)

(इयं नारी) यह स्त्री (प्रेतम् अनु) पति मरने पश्चात् (पतिलोकं-वृणाना) पति के दर्शन चाहती हुई (पुराणं धर्मं पालयन्ती) सनातन नि-

योग धर्म का पालन करती हुई (मर्त्य) हे मनुष्य ! (एषा उप निपद्यते) तेरे समीप प्राप्त होती है (तस्यै) इस विधवा के लिये (प्रजां द्रविणं च) सन्तान और धन (इह) इस लोक में (धेहि) धारण कर ॥

इस में (इह) पद से अत्यन्त स्पष्ट होगया है कि इसी लोक का वर्णन है । यह वर्णन नहीं कि जो स्त्री पति मरने पर मृतपति के लोक की कामना करती हुई कन्द मूल फल से निर्वाह करे, वह दूसरे जन्म में धन सन्तान को पावे ॥

इस प्रकार स्वामी जी की लिखी नियोगव्यवस्था वेदशास्त्रानुकूल, वंशप्रवर्त्तक और व्यभिचार को कम करने वाली और लोकोपकारक तथा स्त्रियों पर प्रवृत्त अन्याय को हटा कर न्याय का प्रकाश करती है ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते भास्करप्रकाशे
चतुर्थ समुल्लासमण्डनम् ॥ ४ ॥

——:*():*:०:*():*——

ओ३म्

अथ पञ्चमसमुल्लासमण्डनम्

द० ति० भा० पृ० १५१-१५२ में सत्यार्थप्रकाश के संन्यासप्रकरण के श्लोक लिखकर उनका खण्डन मण्डन तो नहीं किया किन्तु स्वामी जी के निज संन्यासव्यवहार पर दोष लगाये हैं।

प्रत्युत्तर—स्वामी जी ने गृहस्थादि न करके जो संन्यास ग्रहण किया, सो वहीं देखलीजिये कि—

यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्।

अर्थात् जिस दिन वैराग्य हो उसी दिन त्यागदे, चाहे ब्रह्मचर्य से चाहे गृहस्थ से, और चाहे वानप्रस्थ से संन्यस्त होजावे और सनातनधर्मी साधु तो सब तीन आश्रमों को पूरा करके ही संन्यासी बनते होंगे ? रहे भोग, सो स्वामीजी ने जो अनायास प्राप्त हुआ उस शाल दुशाले पलंग तकिये आदि का ग्रहण किया और जब न हुआ तब नग्न लंगोटमात्र रहना लुका और माघ मास के शीत को भी बड़े आनन्द में सहन किया। लाखों की प्राप्ति का प्रबन्ध जगत् के उपकारार्थ किया, अपने स्वार्थ को नहीं। अपने विरुद्ध कहने वालों का उत्तर देने में अशान्ति कारण न थी, किन्तु उत्तर न देने से अधर्म का प्रचार बलवान् न हो जावे, इस कारण उत्तर झट देते थे। राजा शिवप्रसाद् जी को वा सत्यार्थप्रकाश ११ वें समुल्लास में जो कुछ लिखा है वह अपने मान प्रतिष्ठा और घमण्ड से नहीं किन्तु सत्य के प्रकाशार्थ कहा है और निज स्वामी जी को तो सहस्रशः अभागियों ने अनेक कुवाच्यादि कहे और उन के शिष्यों ने उन कुवाच्यादि कहने वालोंको दण्ड दिलानेका उद्योग किया, तब भी स्वामी जी ने स्वयं कहकर छुड़ादिये। इस के अनेक दृष्टान्त हैं। यह चित्त की स्थिरता का ही फल है कि जो जब सत्य प्रतीत हुआ तब उसी का प्रकाश किया, पिछले भ्रम और अज्ञान का पक्षपात न किया। खण्डन मण्डन पाण्डित्याभिमान में नहीं किया, किन्तु धर्म के प्रचारार्थ किया। यदि आप खण्डन को पाण्डित्या-

निमान मानेंगे तो जैनमतखण्डन से स्वामी शङ्कराचार्य में भी उक्त दोष आवेगा ॥

मुक्ति से पुनरावृत्ति की समीक्षा जब आप आगे करेंगे वहां ही उसका उत्तर दिया जायगा ॥

यदि हम काशी के संन्यासदाता परिव्राजकाचार्यों के चरित्रों की समालोचना करें तो आप जानें कि क्या २ लीलायें होती हैं। परन्तु हमको इन बातों से क्या लेना है ॥

"सर्ववेदसम्" का अर्थ "यज्ञोपवीतादि चिन्ह" स्वामी ने नहीं किया है किन्तु प्राजापत्य इष्टि में यज्ञोपवीतादि का त्याग भी संन्यासी के लिये एक कार्य है, उसी को उन्होंने लिखा है श्लोक का पदार्थ नहीं लिखा है। तात्पर्य मात्र लिखदिया है। उन्होंने परस्पर विरुद्ध शास्त्रप्रतिकूल और युक्तिरहित कुछ नहीं लिखा। जहां २ आप को भ्रान्ति हुई है उसका समाधान इस ग्रन्थ में यथावसर कियाही गया है (सम्यङ् नित्यमास्तेयस्मिन्) जिस में नित्य भले प्रकार रहैं वह "ब्रह्म" संन्यास पद का वाच्य है (यद्वा सम्यङ् न्यस्यन्ति दुष्टानि कर्माणि ये न स संन्यासः) अथवा जिस से भले प्रकार सब दुष्ट कर्मों का त्याग किया जाय वह संन्यास कहाता है। संन्यास वाला संन्यासी हुआ। इस स्वामीजी के लिखे अर्थ को आपने समझा नहीं। आप जो वस्तु मात्र का त्याग संन्यास बताते हैं सो शरीर रहने तक वह नहीं हो सक्ता। जिस में स्वामी जी ने छान्दोग्य का प्रमाणभी दियाहै

न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति । छां० ८।१२

परन्तु आपने इस पर दृष्टि नहीं दी ॥

द० ति० भा० पृ० १५४ पं० ३० से पृ० १५५ पं० १० तक ॥

नानाविधानि रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत् मनु०

नाना प्रकार के रत्न सुवर्णादि धन विविक्त अर्थात् संन्यासियों को देवे ॥

समीक्षा— यह और भी द्रव्य लेनेको कपट जाल प्रकट कर मनु के नाम से श्लोक कल्पना किया है, सारी मनुस्मृति देखिये कहीं भी यह श्लोक नहीं लिखा है, यतियों को धन देने से महापाप होता है, कोई दयानन्दी इस के उत्तर में यह श्लोक देते हैं कि स्वामी जी ने इस श्लोक के आशय से यह श्लोक बनाया है ॥

धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् ।
वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते । अ० ११ श्लो० ६

जो विद्वान् लोग इस के अर्थ को विचारें इस में संन्यासियों को द्रव्य देने का कोई भी पद नहीं है, किन्तु इस श्लोक का यह अर्थ है कि अनेक प्रकार से धन यथाशक्ति ब्राह्मणों को देने चाहियें, जो कि वेद पढ़े हैं और (विविक्तेषु पुत्रकलत्राद्यासक्तेषु) कुटुम्बी हैं ऐसे ब्राह्मणों को देने से शरीर त्यागने उपरान्त स्वर्ग होता है ॥

प्रत्युत्तर–हम भी कहते हैं कि सत्यार्थप्रकाश में (नानाविधानि रत्नानि) पाठ कहीं नहीं, आप ने बनावट बनाई है, किन्तु (विविधानि च रत्नानि) पाठ छपा है । यदि कहो कि इस में हम से पाठभेद होगया है, अर्थ भेद नहीं । तो हम भी कह सक्ते हैं कि मनु ११ । ६ के पाठ से सत्यार्थप्रकाशस्थ पाठ में भी अर्थभेद नहीं है । आप जो (विविक्तेषु) का अर्थ "पुत्र स्त्री आदि में फंसे कुटुम्बी" करते हैं सो "विचिर पृथग्भावे" धात्वर्थ से उलटा है । उस का अर्थ पुत्रादि से पृथक् संन्यस्त है, आप पुत्रादि से फंसे गृहस्थ कुटुम्बी का अर्थ करते हैं ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते भास्करप्रकाशे

पञ्चमसमुल्लासखण्डनम् ॥ ५ ॥

——:*:——

ओ३म्

अथ षष्ठसमुल्लासमण्डनम् ॥

द०ति०भा०पृ० १५६ में कई स्थान पर राजकार्यों में कुलीन लोगों के ग्रहण पर यह शङ्का की है कि यहां तो स्वामी जी जन्मानुसार वर्णव्यवस्था मान गये

प्रत्युत्तर—राजकार्य में वर्णव्यवस्था से तात्पर्य नहीं है। किन्तु एक ही ब्राह्मण वा क्षत्रिय वा वैश्यादि वर्ण में भी कई प्रकार के पुरुष होते हैं। कोई लौकिक प्रतिष्ठादि में न्यून, कोई बड़े। इस लिये प्रतिष्ठित कुल से तात्पर्य है। सभी वर्णों में प्रतिष्ठित और न्यूनप्रतिष्ठित वा अप्रतिष्ठित भी मनुष्य होते हैं। पृथ्वी के सिवाय अन्यत्र जीव जन्म नहीं लेते। यह स्वामी जी ने कहीं नहीं लिखा। परन्तु आप के पौराणिक पितृलोकादि इस से नहीं सिद्ध होते क्योंकि स्वामी जी का मानना यह है कि पृथ्वी आदि जिस लोक में जो जन्म लेता है वह यावज्जीवन सशरीर अन्य लोक में नहीं जा सकता और आप पित्रादि का आना जाना मानते हैं। इस लिये इस में भेद है॥

वेदानुसार का तात्पर्य यह नहीं है कि साक्षात् वेद में देखा ही जाय वही वेदानुसार माने, किन्तु जो २ वेद से विरुद्ध न हो, वह चाहे वेद में साक्षात् हमारे देखने में न भी आवे तब भी उसे मान सक्ते हैं। तदनुसार आवश्यकतानुसार नये २ राजनियम वेद से अविरुद्ध मानना हानिकारक नहीं, ऐसा ही जैमिनि जी मानते हैं—

विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम् ॥ मी०१।३।३ ॥

अर्थात् वेद से साक्षात् विरोध हो तो त्याज्य है अन्यथा वेदानुकूलता का अनुमान करना चाहिये॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते भास्करप्रकाशे

षष्ठसमुल्लासमण्डनम् ॥ ६ ॥

ओ३म्

अथ सप्तमसमुल्लासमण्डनम्

द० ति० भा० पृ० १५१ से–

यद्यपि देवता पूर्व प्रतिपादन कर आये हैं परन्तु स्वामी जी ने जो यह पुनः लेख किया उस से अब फिर कुछ थोड़ा सा लिखते हैं, कहीं तो स्वामी जी के विद्वान् देवता हो जाते हैं, कहीं इन्द्र ईश्वर हो जाते हैं, परन्तु कहीं मिट्टी पानी लकड़ी देवता हो जाते हैं, इन्द्र जी बिजली बन जाते हैं (त्रयस्त्रिंशत्त्रिंशता) जिस के अर्थ ३० ३३ देवताओं के हैं, स्वामी जी ने ३३ ही के किये हैं, यह अर्थ तो बदले ही पर हिसाब में भी गड़बड़ी, क्या आप को तेंतीस से अधिक गिन्ती नहीं आती जो ३०३३ के ३३ ही रहगये देखिये देवता तो अनेक हैं जिन के नाम जपने से पाप दूर होता है ॥

यजुर्वेद अ० ३९ मं० ६ प्रायश्चित्ताहुति० धर्म के भेद होने में

सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीय आदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः पञ्चमऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे मित्रो नवमे वरुणो दशमऽइन्द्र एकादशे विश्वेदेवा द्वादशे ६

प्रथम दिन का सविता देवता है, दूसरे दिन का अग्नि, तीसरे दिन का वायु, चौथे दिन का आदित्य देव, पांचवें का चन्द्रमा, छठे का ऋतु, सातवें का मरुत, आठवें का बृहस्पति, नवमें का मित्र, दशमें का वरुण, ग्यारहवें दिन का इन्द्र, बारहवें का विश्वेदेवा देवता है, इन देवताओं के निमित्त १२ दिन तक प्रायश्चित्त के अर्थ आहुती दी जाती है अब स्वामी जी बतावें इस में यह देवता कहां से आगये ॥

प्रत्युत्तर–(त्रयस्त्रिंशत्त्रिंशता) में पाठऽशुद्धि छप गई है । शुद्ध पाठ (त्रयस्त्रिंशता) यजुर्वेद अ० १४ मन्त्र ३१ का देखिये जिस में ३३ से अधिक का वर्णन नहीं । तथा–

ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासः । ऋ० ६ । २ । ३५ । १

इस में भी ३३ ही देवता लिखे हैं । और

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिम् अथर्व १० । ७ । २३ तथा

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे० । अथर्व १० । ७ । २७

इत्यादि अनेक प्रमाणों से देवतों की ३३ संख्या प्रमाणित होती है और शतपथ ब्राह्मण के अनुसार भी ३३ ही सिद्ध होते हैं और विद्वानों को देवता मानना सूर्यादि के देवता मानने का बाधक नहीं हो सकता । क्या १ प्रकरण में एक पदार्थ को देवता मान कर दूसरे प्रकरण में दूसरे पदार्थ को देवता मानना कोई विरोध की बात है ? देखिये निरुक्तकार क्या लिखते हैं:-

देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा ॥ निरुक्त अध्याय ७ खण्ड १५

दान, दीपन, द्योतन और द्युस्थान [प्रकाशस्थान] होने से " देवता " होता है, (होती है,) यद्यपि पूर्णदान, पूर्ण प्रकाश, पूर्ण द्योतन (जताना) का स्थान तो अचिन्तनीय ज्योतिष्मान् सच्चिदानन्द परमात्मा ही है और इस कारण ये सब अर्थ असीमभाव से उसी में मुख्य करके घटते हैं, तथापि सांसारिक सुखभोग के अभिलाषी मध्यम अधिकारियों के लिये उन को अभीष्ट इन्द्रियोपभोग्य स्वादु रस सुगन्धादि से होने वाले सुखों की प्राप्ति के अर्थ सूर्यादि भौतिक पदार्थ भी (जो ब्रह्मबुद्धि से उपास्य नहीं हैं) ससीम प्रकाशादि दिव्यगुणों के धारण करने वाले होने से गौण भाव से " देवता " हैं। जिन का वर्णन वेद में इस प्रकार है:-

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवता आदित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥ यजुः १४ । २० ॥

वसवोऽष्टौ, रुद्रा एकादश, आदित्या द्वादश, मरुतश्चत्विजः-मरुत इत्यृत्विङ्नामसु निघण्टौ पठितम् ३ । १८, विश्वेदेवाः सर्वे ब्रह्मादयस्या दिव्याः पदार्था समुच्चयाश्च, इन्द्रो विद्युत्, वरुणोजलं वरगुणाख्योर्थोन्यो वा । अन्यत् स्पष्टम् एते देवता भवन्ति इतिशेषः । यथोक्तं शतपथे कां० १४ प्रपा० ६ क० ३ । १०॥

सहोवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति । कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ॥ ३ ॥ कतमे वसव इति । अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्चनक्षत्राणि चैते वसव एतेषुहीदंसर्वं वसु हितमेते हीदंसर्वं वासयन्ते तद्यदिदंसर्वंवासयन्ते तस्माद्वसव इति ॥४॥ कतमेरुद्राइति दशमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथरोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्राइति ॥ ५ ॥ कतम आदित्या इति, द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एतेहीदंसर्वमाददाना यन्ति तद्यदिदंसर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्याइति ॥६॥ कतमइन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति । स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति, कतमः स्तनयित्नु रित्यशनिरिति कतमो यज्ञइति पशवइति ॥ ७ ॥

ऊपर लिखे यजु मन्त्र में इस प्रकार देवतों के नाम बातये हैं कि-अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा ८ वसु (अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्र और नक्षत्र) ११ रुद्र (प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय)। १२ आदित्य (वर्ष के १२ नाम) मरुत् ऋत्वज् लोग, विश्वेदेवाः-संसार भर के दिव्यगुणयुक्त पदार्थ और मनुष्य, बृहस्पति-परमात्मा, इन्द्र-बिजुली और वरुण-जल वा अन्य पदार्थ जो वरणीय गुणों से युक्त हों। ये सब पदार्थ देवता हैं। पूर्वोक्त ८ पदार्थ वसु इस लिये हैं कि (एतेषु हीदंसर्वं वसुहितम्) इन में ही यह सब सुवर्णादि धन रक्खा है (एतेहीदंसर्वंवासयन्ते) ये ही इस सब [जगत्] को बसाते हैं। इस से यह भी सूचित होता है कि सूर्यादि लोकों में भी बस्तियां हैं। पूर्वोक्त ११ पदार्थ रुद्र इस लिये हैं कि-(यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रा-

सम्पत्य रोदयन्ति तद्रुद्रो०) जब मनुष्यदेह से ये प्राणादि ११ रुद्र निकलते हैं तब इष्ट मित्र सम्बन्धियों को रोदन कराते हैं । बस रोदन कराने से रुद्र नाम पड़ा । पूर्वोक्तसंवत्सर के १२ मास आदित्य इस लिये हैं कि (एतेहीदᳬ सर्वमाददाना यन्ति०) ये चैत्रादि द्वादश मास ही सब जगत् को लिये हुवे जाते हैं, इस से आदित्य नाम पड़ा ॥

मरुत्—यह निघण्टु ३ । १८ में ऋत्विजों का नाम है । विश्वेदेवाः-सब ब्रह्माण्डस्थ दिव्य पदार्थ और मनुष्य, बृहस्पति-देवतों का भी राजा परमात्मा, इन्द्र—बिजली और वरुण—जल वा अन्यवरणीय पदार्थ ये सब देवता हैं अर्थात प्रकाशादि दिव्यगुणयुक्त पदार्थ हैं । यह यजुर्मन्त्रार्थ हुवा ॥

अब ऊपर लिखे शतपथब्राह्मण का अर्थ सुनिये—शाकल्य ऋषि से याज्ञवल्क्य जी कहते हैं कि ३३ देवता कौन से हैं । ८ वसु ११, रुद्र १२ आदित्य ये ३१ हुवे । इन्द्र और प्रजापति ये मिलकर ३३ हुवे । इन्द्र किसे कहते हैं ? स्तनयित्नु अर्थात् विजुली को । प्रजापति कौन सा है ? यज्ञ प्रजापति है । प्रजापति क्या है ? पशु ही प्रजापति हैं क्योंकि प्रजा का पालन इन से होता है ॥

भला स्वामी जी तो आप की समझ में हिसाब भूल गये । परन्तु शतपथब्राह्मण भी हिसाब भूल गया ? जिस ने आपके मतानुसार ३०३३ देवता नहीं गिनाये और ३३ का व्याख्यान स्पष्ट किया ॥

द० ति० भा० पृ० १५८ पं० ४ से सविता प्रथमे० इत्यादि मन्त्रस्थ देवतों को पूछा है कि ये कहां से आगये ?

प्रत्युत्तर—सविता, अग्नि, वायु, चन्द्रमा आदि १२ देवता इन्हीं लोकों तत्वों और ३३ पदार्थों के अन्तर्गत तो हैं, इन से बाहर क्या है ? ॥

अथ ईश्वरविषय प्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० १५९ में ईश्वर अपराध क्षमा करता है । इस के सिद्ध करने के लिये नीचे का मन्त्र और अर्थ लिखा है—

सनो॒बन्धु॑र्जनि॒तासवि॑धा॒ता धामा॑निवेद॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑ ।
यत्र॑ दे॒वा अ॒मृत॑मानशा॒नास्तृ॒तीये॒धाम॑न्न॒ध्यैर॑यन्त ॥ यजुः ३२ । १०

(सः) वोह परमेश्वर (नः) हमारा (बन्धुः) विविध प्रकार की सहायता रक्षा करने से बन्धु है (जनिता) उत्पन्न करता है (सः) वोह (विधाता) विधाता मालिक पिता है (सः) वोह (विश्वा) सब (भुवनानि) प्राणी (धामानि) स्थानों को (वेद) जानता है (देवाः) देवता (यत्र) जिस ईश्वर में (अमृतम्) मोक्षव्यापक ज्ञान को (आनशानः) प्राप्त करते (तृतीये धामन्) स्वर्ग में (अध्यैरयन्त) स्वेच्छानुसार वर्तते हैं आनन्द करते हैं ॥

प्रत्युत्तर—भला आप के किये अर्थ से भी अपराधों को क्षमा करके दण्ड न देना और दया करना कहां पाया जाता है ? हां वैसे परमात्मा की दया, वत्सलता, प्यार, बन्धुत्व, पितृत्व सब के साथ है ॥

द० ति० भा० पृ० १६० पं० ५ से—

शन्नो॒ वातः॑ पवता॒ᳬ शन्न॑स्तपतु॒ सूर्यः॑ । शन्नः॒ कनि॑क्रदद्दे॒वः प॒र्जन्यो॑ अ॒भि व॑र्षतु ॥

शवातः शᳬ᳚हिते घृणिः शन्तेँ भवन्त्विष्टकाः ।
शन्तेँभवन्त्वग्नयः पार्थिवासोमात्वाभिशुशुचन् । यजुः ३५ मं० ८

भावार्थ यह है कि ईश्वर दयादृष्टि से कहता है हे यजमान! भक्त वायु तेरा सुखरूप हो, सूर्य किरण तुझे सुखरूप हो मध्य में और दिशाओं में स्थापित इष्टिका तेरे लिये सुख स्वरूप हों तुझे तापित नहीं करें ॥१॥ अब विचारना चाहिये कि यह वाक्य दयारूप हैं वा नहीं, इस कारण न्याय दया पृथक् हैं, ईश्वर में सर्वशक्तिमानता होने से दोनों बातें बनती हैं ॥

प्रत्युत्तर—इस में भी आप के किये अर्थ से ही " अपराधों को मैं क्षमा करता हूं " यह परमेश्वर ने नहीं कहा ॥

निराकारप्रकरणम्—

द० ति० भा० पृ० १६० पं० २२ से

समीक्षा—ऐसा विदित होता है कि दयानन्द जी ने ईश्वर को मनुष्यवत् समझ लिया है यदि वोह साकार हो जाय तौ व्यापक न रहे, उस का कोई बनाने वाला हो जाय । जब कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, तौ वह आकार वाला होकर शक्ति वा ज्ञान से रहित नहीं हो सकता । जिस समय प्रलय होती है उस समय वोह निराकार, जब उस में सृष्टि रचना की इच्छा होती है तभी उस को सगुण वा साकार कहते हैं, यह न्याय दयालु आदि नाम साकार में ही घटते हैं यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है ॥

उभयं वा एतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चाऽनिरुक्तश्च परिमितश्चाप-रिमितश्च तद्यद्यजुषा करोति यदेवास्यनिरुक्तंपरिमितꣳरूपंतद-स्य तेन संस्करोत्यथ यत्तूष्णीं यदेवास्यानिरुक्तमपरिमितꣳरूपं तदस्य तेनसंस्करोतीति ब्राह्मणम् श.का. १४अ० १ ब्रा. २मं १८

परमेश्वर दो प्रकार का है परिमित अपरिमित निरुक्त और अनिरुक्त इस कारण जो कर्म यजुर्वेद के मन्त्रों से करता है उस के द्वारा परमेश्वर के उस रूप का संस्कार करता है जो निरुक्त और परिमित नाम है और जो तूष्णीं भाव सम्पन्न है अर्थात् अध्यात्म मन्त्र का ही मनन करता है उस से परमेश्वर के उस रूप का संस्कार करता है जो अनिरुक्त और अपरिमित नाम है इस से प्रत्यक्ष परमेश्वर में निराकारता साकारता पाई जाती है ॥

प्रत्युत्तर—यहां प्रथम तो प्रजापति शब्द से यज्ञ का ग्रहण है क्योंकि (यज्ञो वै प्रजापतिः) यज्ञ प्रजा का पालन करता है और कर्मकाण्ड सांसा-रिक अग्नि वायु आदि देवतों के लिये होता है तथा ज्ञानकाण्ड वा उपा-सनाकाण्ड ईश्वरविषयक होता है इस लिये यहां कर्मकाण्ड के प्रकरण में भौतिक पदार्थों का यज्ञ ही प्रजापति समझना चाहिये और ऐसा मानने पर यह अर्थ होगा कि—

(उभयं वै एतत् प्रजापतिः) यज्ञ निश्चय दो प्रकार का है (निरुक्तश्चा-ऽनिरुक्तश्च) निरुक्त जिस का निर्वचन किया जाय और अनिरुक्त जिस का निर्वचन न किया जाय तथा (परिमितश्चाऽपरिमितश्च) परिमाणयुक्त और परिमाणरहित (तद्यद्यजुषा करोति) सो जो कि यजुर्वेद से करता है तब (यदेवास्य निरुक्तं परिमितꣳ रूपम्) जो इस यज्ञ का निरुक्त और परिमित स्वरूप है (तदस्य तेन संस्करोति) इस के उस स्वरूप का उस यजुः से संस्कार करता है (अथ यत्तूष्णीम्) और जो कि चुप होकर होमादि करता है तब (यदेवास्याऽनिरुक्तमऽपरिमितꣳरूपम्) जोही इस का अनि-रुक्त और अपरिमित रूप है (तदस्य तेन संस्करोति) उस स्वरूप का इस चुप होकर कर्म से संस्कार करता है (इतिब्राह्मणम्) यह ब्राह्मण पूरा हुआ ॥

अर्थात् यज्ञ का थोड़ा वर्णन मनुष्य कर सक्ता है समस्त नहीं, यज्ञ के थोड़े स्वरूप का मनुष्य परिमाण जान सक्ता है सब को नहीं। बस जहां तक

जान सक्ता है, वहां तक वर्णन कर सक्ता है, जहां तक वर्णन कर सक्ता है, वहां तक परिमाण जान सक्ता है। जहां तक वर्णन और परिमाण जानता है वहां तक यजुर्वेद के मन्त्रों से वर्णन करता हुवा अग्निहोत्रादि करे। और क्योंकि कुछ यज्ञ का स्वरूप वर्णन और परिमाण से बाहर है इसलिये कुछ चुप हो कर भी करना चाहिये॥

और यदि थोड़ी देर के लिये यह भी मान लें कि ईश्वर का ही वर्णन है तौ भी उसका साकार निराकार होना इस से नहीं पाया जाता। परमेश्वर भी समस्त भाव से निर्वचन में नहीं आता अनन्त होने से परन्तु थोड़ा सा निर्वचन उस का शास्त्र द्वारा हो सक्ता है, बस जितना कि परमात्मा का हम वर्णन कर सक्ते हैं उस अंश में वह निरुक्त और शेष में अनिरुक्त और वर्णन करने तक परिमित और वर्णन से बाहर अपरिमित है जैसा कि—

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ यजु। ४०। २

वह सब जगत् के भीतर और जगत् से बाहर भी है बस जगत् के भीतर जितना परमेश्वर है उतना कथञ्चित् अनिरुक्त और अपरिमित तथा जो अनन्त जगत् के बाहर है उतना अनिरुक्त और अपरिमित है। परन्तु साकार और निराकार इस से भी नहीं पाया जाता॥

द० ति० भा० पृ० १९१—द्वा वाव ब्रह्मणोरूपे मूर्तं चामूर्तं चेति० ईश्वर के दो रूप हैं एक मूर्त्तिमान् एक अमूर्तिमान् (एकं रूपं बहुधा यः करोति) और एक रूप को जो बहुत प्रकार का करता है। इस मन्त्र से तथा औरों से ही सर्व कारण बीजस्थापक परमात्मा में साकारता इस प्रकार से प्रगट है॥

प्रत्युत्तर-ब्रह्म के दो रूप हैं। इस का यह तात्पर्य नहीं है कि ब्रह्म स्वरूपतः दो प्रकार का है। किन्तु यह तात्पर्य है कि मूर्त्त अमूर्त्त दो प्रकार के पदार्थों का स्वामी ब्रह्म है। यदि लोक में यह कहा जावै कि देवदत्त के दो गौ हैं एक लाल एक काली। तो क्या इस से कोई यह समझ सकता है कि देवदत्त स्वयं काली और लाल गौ के आकार का है? कभी नहीं। और आपने एक आरम्भ का टुकड़ा लिख दिया। यदि इस से अगला पाठ भी आप लिखते तो स्पष्ट प्रतीत हो जाता कि ब्रह्म के निज के दो रूप नहीं हैं किन्तु दो रूपों का स्वामी ब्रह्म है। जैसा कि ठीक पाठ यह है:-

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवाऽमूर्त्तं च

आगे चल कर इसे स्पष्ट किया है कि—

तदेतन्मूर्त्तं यादन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्च

बृहदारण्यक उप० प्रपाठक ४ ब्राह्मण ३ का० २ ॥

अर्थात् यह मूर्त है जो वायु और अन्तरिक्ष से अन्य पदार्थ हैं। अर्थात् पृथिवी जल अग्नि मूर्त्त अर्थात् दृश्य हैं ॥ फिर आगे—

अथाऽमूर्त्तं वायुश्चान्तरिक्षं च ॥ कां० ३

और वायु तथा अन्तरिक्ष अमूर्त्त हैं। अब विचारिये कि पांच तत्वों में २ अमूर्त्त ३ मूर्त्त स्पष्ट गिनाये हैं वा निज के ब्रह्म दो प्रकार के बताये हैं?

अथ अवतारप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० १६२ पं० १३ से

समीक्षा–स्वामी जी ईश्वरकू अज अकाय बता कर ईश्वर के अवतार होने में सन्देह करते हैं तो, जीवात्मा भी अज और व्यापक श्रवण कराजाता है, उसका भी जन्म न होना चाहिये ॥

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्नबभूव कश्चित्
अजोनित्यः शाश्वतोयम्पुराणो न हन्यते हन्यमानेशरीरे १८
हन्ता चेन्मन्यते हन्तुᳬहतश्चेन्मन्यते हतम्
उभौ तौ न विजानीतो नायंहन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥
अणोरणीयान्महतोमहीयानात्मास्यजन्तोर्निहतोगुहायाम्
तमक्रतुः पश्यतिवीतशोको धातुःप्रसादान्महिमानमात्मनः२०

कठवल्ली ३ उपनिषद् वल्ली २

(विपश्चित्) सर्व का द्रष्टा जीवात्मा जो कि पूर्ववात्स्यायनभाष्य में लिखा है (सर्वस्य द्रष्टा सर्वस्य भोक्ता सर्वानुभवः) इत्यादि वाक्यों से और (यश्चेतामात्रः प्रतिपुरुषः क्षेत्रज्ञः) इत्यादि मैत्र्युपनिषद् में निर्णीत है सो जन्म मरण से रहित है और यह आप किसी से नहीं उत्पन्न होता और न इससे (कश्चित्) कुछ भी उत्पन्न होता है अज नित्य एकरस वृद्धिरहित है और शरीर के नाश से इस का नाश नहीं होता १८ यदि कोई हनन कर्ता पुरुष ही हनन कर्ता आत्माचिन्तन कर्ता है तैसे यदि कोई हत हुआ

आत्मा को हतचिन्तन करता है, वे दोनों आत्मा के यथावत् स्वरूप को नहीं जानते क्योंकि यह आत्मा न हनन करता है न हनन होता है १९ इस जन्तु की गुहा अर्थात् पंचकोशरूप गुफा में (निहित) स्थित यह आत्मा अणु से भी अणुतर है अर्थात् दुर्लक्ष्य है इस से अणुतर कहा परन्तु बड़े आकाशादि से (महीयान्) महत्तर है (धातुः प्रसादात) ईश्वर की प्रसन्नता से (अक्रतुः) विषय भोग संकल्प रहित पुरुष आत्मा को देखता है तो आत्मा की महिमा को देखकर शोकरहित होता है ॥

प्रत्युत्तर-जीवात्मा केवल स्वरूपतः अज है परन्तु सर्वदेशीय नहीं, यदि सर्वदेशीय हो तो मृत्यु न होना चाहिये। तथा एक देश में होने वाले कामों का वृत्तान्त अन्य देशस्थ जीवात्माओं को ज्ञात भी होना चाहिये। स्वामी जी केवल अज अकाय होने से ही परमात्मा को निराकार अवतार-रहित मानते हों सो नहीं किन्तु वह सर्वव्यापक होने से देहविशेष के बन्धन में नहीं आसकता। यह स्वामीजी का कथन है। आपने जो तीन श्लोक कठोपनिषद् के लिखे हैं उन का अर्थ यह है कि—

(विपश्चित्) ज्ञानी जीवात्मा (न जायते म्रियते वा) न कभी जन्म लेता, न मरता है। क्योंकि (नायं कुतश्चित) न यह किसी अन्य कारण से कार्य होकर बना और (न बभूव कश्चित्) न इसने कोई अन्य कार्य बनता है किन्तु (अजः नित्यः शाश्वतः पुराणः अयम्) अज नित्य सनातन पुराना यह (शरीरे हन्यमाने) शरीर मरने पर (न हन्यते) स्वयं नहीं मारा जाता ॥ १८ ॥ (हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेत्०) यदि कोई मारने वाला यह जानता है कि मैं जीवात्मा को मारता हूं वा कोई मरने वाला यह जानता है कि मैं आत्मा मरता हूं तो वे दोनों अज्ञानी हैं। न जीवात्मा मरता, न उसे कोई मारता है ॥ १९ ॥ (अस्य जन्तोः) इस प्राणी आत्मा के (गुहायाम्) हृदयावकाश में (अणोरणीयान्) सूक्ष्म से अति सूक्ष्म स्वरूप वाला (महतो महीयान्) महान् से महान् सर्वदेशीय सर्वव्यापी परमात्मा (निहितः) स्थित है (तम्) उस (आत्मनः महिमानम्) अपने से अत्यन्त महान् परमात्मा को (वीतशोकः अक्रतुः) शोक रहित बाह्यकर्मों से उपरत जीवात्मा (धातुः प्रसादात्) परमात्मा की कृपा से (पश्यति) अनुभव करता है ॥

इस में स्पष्ट आया है कि (आत्मनः महिमानम्) अपने जीवात्मा के स्वरूप से अत्यन्त महान् परमात्मा को । जब कि जीवात्मा अल्प और परमात्मा महान् है, तो जीवात्मा देहबन्धन में आसकता है परन्तु परमात्मा नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० १६३ पं० १ से–

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । यो० पा० १ सू० २

चितिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमादर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च व्यास भाष्ये-अर्थ (चितिशक्ति) जीवचेतन अपरिणामी है (अप्रतिसंक्रमा) क्रिया रहित है (दर्शितविषया) सर्व विषयों का द्रष्टा है शुद्ध और अनन्त व्यापक है इस प्रकार व्यास तथा कणाद ऋषि के मत में जीवचेतन व्यापक है और जीव का जन्म वे मानते हैं इससे व्यापक का जन्म नहीं होता यह कथन कैसा होगा, क्योंकि व्यापक का जन्म व्यावहारिक मानते हैं, यदि यह कहो कि "हम तो युक्ति ही मानते हैं जन्म मरण आना जाना परिछिन्न पदार्थ में बन सकता है, इस कारण जीवात्मा का स्वरूप व्यापक नहीं मानते" इसका उत्तर । तब तो यह विचार कर्त्तव्य है । विभूपदार्थ से भिन्न अणुपरिमाणवान् वा मध्यम परिमाणवान् होता है आत्मा अणुपरिमाण है अथवा मध्यम परिमाण है यदि कहो अणुपरिमाणवान् है तो सारे शरीर में शीतल जल संयोग से शीतस्पर्श की प्रतीत न होनी चाहिये, क्योंकि आत्मा अणु है, सो एक देश में स्थित होकर शीत का ज्ञान करसकता है, आत्मा रहित अंगों में शीतस्पर्श का ज्ञान कैसे होगा (प्रश्न) आत्मा यद्यपि एक देश में है, तथापि जैसे कस्तूरी की गंध सर्वत्र विस्तृत होती है तैसे ही आत्मा का ज्ञान गुण सर्वत्र विस्तृत है, इससे शीतस्पर्श की सर्वत्र प्रतीति हो सकती है अथवा जैसे सूर्य प्रभाव वाला द्रव्य है तैसे ही आत्मा भी प्रभावत् द्रव्य है (उत्तर) यह नियम है कि गुण अपने आश्रय को त्याग कर अन्यत्र गमन नहीं करसकता, क्योंकि गुण में क्रिया होती नहीं, और कस्तूरी के दृष्टान्त में भी कस्तूरी के सूक्ष्म अवयव विस्तृत होते हैं, इसी कारण कस्तूरी कर्पूरादि दृढ़परक्षक तिस को बंदकर किसी डिब्बे आदि में रखते हैं और जो वह खुले रक्खे जांय तो वे उड़ जाते हैं, और प्रभा गुण नहीं किन्तु विरल प्रकाश प्रभा है और घन प्रकाश सूर्य है, ऐसे ही आत्मा को मानने से ज्ञान रूप ही सिद्ध होगा, सो ज्ञान एकरस है कहीं सघन

और कहीं विरुद्ध ऐसा कहना बनता नहीं, यदि अनेकरस मानोगे तो अनित्यत्व प्रसक्ति होगी, और सर्वथा अणुवादी के मत में क्रिया तो ज़रूर माननी होगी तो (अचलोयं सनातनः) इत्यादि गीता के वचन से विरोध होगा और आत्मा विनाशी क्रियावत्वात् घटवत् इस अनुमान प्रमाण से विनाशित्व प्रसक्ति तो अवश्य होगी और मध्यम परिमाण पक्ष में स्पष्ट ही जन्यत्व विनाशित्वादि दोष हैं आत्मा जन्यः मध्यम परिमाणवत्वात् आत्मा विनाशी मध्यम परिमाणवत्वात् घटवत् इस कारण अनादि जीवात्मा को जानकर मध्यमपरिमाण कैसे मानोगे क्योंकि मध्यम परिमाण मानने से जन्यत्व की प्रसक्ति होगी इस से विना इच्छा से भी व्यासादि महात्माओं के वचनानुसार आत्मा व्यापक और अज अवश्य मानना पड़ेगा तो जन्मशंका ईश्वरवत् जीव में भी बन सकती है तो फिर जीव को जन्म कैसे हो सकता है जब जीव का जन्म हो तो ईश्वर का भी अवतार होगा॥

प्रत्युत्तर—चिति शक्तिपद से यहां जीवात्मा का ग्रहण करना बड़े अज्ञान की बात है। शक्तिशब्द भाववाचक है इस में भावार्थ क्तिन् प्रत्यय है। तब शक्तिमान् जीवात्मा को शक्ति बताना, द्रव्य को गुण बताने से अज्ञान नहीं तो क्या है ? जो लोग द्रव्य और गुण का भेद नहीं जानते वे आत्मविद्या को क्या समझ सकते हैं यूं किसी के ग्रन्थ से उद्धृत करलेना दूसरी बात है। व्यासभाष्य का अर्थ सुनिये—

(चितिशक्तिः) चेतनता शक्ति (अपरिणामिनी) न बदलने वाली है अर्थात् चेतनता कभी जड़ता नहीं बन जाती (अप्रतिसंक्रमा) एक की चेतनता दूसरे में संक्रमण नहीं कर सकती (दर्शितविषया) वह रूपादि विषयों को दिखाने वाली है। (शुद्धा च) और शुद्ध है उस में कोई मिलावट नहीं (अनन्ता च) और उस का अन्त नहीं अर्थात् कालान्तर में भी चेतनता का नाश नहीं॥

अब बतलाइये इस में जीव को सर्वव्यापक कहां माना है ? और अणुपरिमाण मानने में यह शङ्का नहीं बनती कि शीत स्पर्शादि का ज्ञान देह के एक देश में आत्मा को न हो सके। यद्यपि आत्मा एक देश हृदय में रहे परन्तु आत्मा की समीपता मन से, मन की इन्द्रियों से, इन्द्रियों की विषयों से, इस प्रकार—

"आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेन"

जब त्वचा इन्द्रिय को शीतादि का स्पर्श होता है तब यद्यपि आत्मा त्वचा में व्यापक नहीं परन्तु त्वचा से मन का सम्बन्ध और मन से आत्मा का सम्बन्ध होने से आत्मा को परम्परा से शीतस्पर्शादि का ज्ञान होता है । और आप के मतानुसार आत्मा को सर्वव्यापक मानें तो इन्द्रियों वा मन के बिना भी आत्मा को विषय का अनुभव होना चाहिये । जो प्रत्यक्षविरुद्ध है । क्योंकि जो आत्मा एक मनुष्य में है वही सर्वव्यापक हो तो सब जगह के विषयों का ज्ञान एक साथ आत्मा को होना चाहिये । कस्तूरी के सदृश हम सूक्ष्माऽवयवों के समान आत्मा को अवयव रूप से शरीर में फैला नहीं मानते, न सत्यार्थप्रकाश में लिखा । आपने स्वयं निर्बल पक्ष कल्पित करके खण्डन किया, उस का फल आप को ही हो वा न हो, हम को कुछ नहीं न हम सूर्य के समान जीवात्मा की स्थिति शरीर में मानते हैं । इस लिये अनेकरस की शङ्का और अनित्यत्व की प्रसक्ति नहीं हो सकती । हां, आप परमात्मा को सर्वव्यापक एकरस मानते हुवे भी किसी देहविशेष में अवतार युक्त मानेंगे तो आप के मत में एकरसत्व का भङ्ग होगा और अनित्यत्वादि की प्रसक्ति होगी ॥

अचलोऽयं सनातनः । इस गीता के वचन में अचल शब्द जीवात्मा का विशेषणस्वरूप से अचलत्व का बोधक है । देश से अचलत्व का नहीं । क्योंकि जीवात्मा के निराकार चेतनमात्र स्वरूप में चलता नहीं अर्थात् अदल बदल नहीं । परन्तु देशकृत चलता तो स्पष्ट है कि जीवात्मा एक देह छोड़ दूसरे देह को जाते हैं । और आप भी श्राद्ध सिद्ध करते समय तो उस का शरीर त्यागना, आकाश में घूमना इत्यादि सब कुछ मानने लगते हैं फिर यहां अपने ही विरुद्ध क्यों चल पड़े । इस लिये हमारे मत में—

आत्माऽविनाशी अकार्यत्वात् ।

अजत्वात् । असंयुक्तवस्तुत्वात् ।

आत्मा विनाशी नहीं क्योंकि कार्य न होने, अजन्मा होने और संयोग से बना न होने से ॥

द० ति० भा० पृ० १६४ में—

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् । शा० ३।२।१६

यह सूत्र और इस का भाष्य लिख कर यह तात्पर्य निकाला है कि जिस प्रकार जीवात्मा न मरता न जन्मता परन्तु लोक में उन के (चराऽचर) के मरने जीने के गौण व्यवहार जीव में आरोपित होते हैं और मुख्यता से तो देह मरते जीते हैं । इसी प्रकार परमात्मा में भी अवतार लेने से जन्म मरण वास्तविक नहीं ॥

प्रत्युत्तर—हम यह पूछते हैं कि जिन रामकृष्णादि को आप परमेश्वराऽवतार बताते हैं वे जीवभाव से जैसे और जीव जन्म लेते मरते हैं अर्थात् देहों से संयुक्त वियुक्त होते हैं उसी प्रकार राम कृष्णादि का जीव भी देहों से संयुक्त वियुक्त हुवा तब तो हम को कोई विवाद नहीं । और यदि सर्वव्यापक जगन्नियन्ता का देहबन्धन मानते हैं तो एकरस सर्वव्यापक वस्तु किसी विशेष देह में विशेषता से नहीं रह सकती । विभु पदार्थ जो कि अनन्त सर्वव्यापक है वह अन्तःकरणादि उपाधियों से घिर नहीं सकता । फिर जीवात्मा को एकदेशीय माने विना किसी का निर्वाह नहीं हो सकता । और परमात्मा सर्वदेशीय है, सर्वव्यापक है । तथा जीवात्मा देहकृत भोगों को भोगता है और परमात्मा भोगरहित है । जैसा कि—

अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ ऋ० १ । १६४ । २० ॥

अर्थात् भोगरहित केवल साक्षी है ॥ इसलिये देह के जन्ममरण जीवात्मा में आरोपित होते हैं, परमात्मा में नहीं । यह ठीक है कि जिस पदार्थ का किसी भी रूप से पूर्व अभाव हो उसी का जन्म होता है । जीव विशेष का देहविशेष से सम्बन्ध विशेष का पूर्व अभाव था इस लिये जीवविशेष का देहविशेष से संयुक्त होना जन्म कहाया ॥

द० ति० भा० पृ० १६५ पं० ८ से (प्रश्न) जीव का तो लिङ्गोपाधि विशिष्ट रूप है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—यह पूर्वपक्ष सत्यार्थप्रकाश में नहीं लिखा, न हम लोग मानते हैं इस लिये इस प्रश्न को रख कर आप का उत्तर लिखना व्यर्थ है ॥

द० ति० भा० पृ० १६५ पं० २६ से—रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । इत्यादि ऋग्वेदमन्त्र से अवतार सिद्ध किया है ॥

प्रत्युत्तर—इस का ठीक अर्थ सुनिये । रामकृष्णादि का इस में नाम तक नहीं ॥

रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपं ईयते युक्ताह्यस्य हरयः शता दश ॥
ऋ० ६ । ४७ । १८

अर्थ-(इन्द्रः) इन्द्रियों वाला जीवात्मा (रूपं रूपं प्रतिरूपः) प्रत्येक देहरूप में तदाकार सा (बभूव) होता है परन्तु यह रूप इस जीवात्मा का साक्षात् नहीं किन्तु (तत् अस्य रूपं प्रतिचक्षणाय) वह इस का रूप प्रत्यक्ष कथनमात्र के लिये है । प्र०-फिर क्यों यह रूपवान् जान पड़ता है ? उत्तर-(मायाभिः) बुद्धियों से अर्थात् मन बुद्धि चित्त अहङ्कारादि सहित होने से (पुरुरूप ईयते) अनेकरूप जान पड़ता है । वास्तव में इस का एक ही स्वरूप सच्चिन्मात्र है । प्रश्न-बुद्धियें भी तो साकार नहीं हैं, उन सहित भी क्यों रूपवाला जान पड़ता है ? उत्तर-(अस्य) इस जीवात्मा के (हि) जिस कारण (दश हरयः) दश इन्द्रियरूप घोड़े (युक्ताः) जुड़े हैं और (शता) सैंकड़ों नस नाड़ी जुड़ी हैं । सो उन इन्द्रियों और नाड़ियों आदि के सहित होने से जीवात्मा के अनेक देहरूप जान पड़ते हैं । केवल जीवात्मा के नहीं ॥

यदि आप इस अर्थ को न स्वीकार करें तो सायणाचार्य के अर्थ को देख कर ही अपना अज्ञान दूर करें कि इस मन्त्र में अवतार का वर्णन नहीं है ॥

सायणाचार्य ने निज का अर्थ तो यह किया है कि इन्द्रदेवता अनेक यजमानों के यज्ञों में अनेक देवतों के रूप धार कर आता है और फिर अन्यों की सम्मति से दूसरा अर्थ यह लिया है कि परमात्मा ही मायोपाधि से उपहित जीव भाव को प्राप्त हो रहा है । और अनेक योनियों में जन्मता प्रतीत हो रहा है ॥

सो इन दोनों अर्थों को यद्यपि हम नहीं मानते परन्तु सनातनधर्मियों पर यह भार अवश्य है कि सायणाचार्य के विपरीत रामकृष्ण अवतार की गप्प न हांकें ॥

द० ति० भा० पृ० १६६ पं० १३ से-प्र तद्विष्णुस्त्ववते वीर्येण-इत्यादि से अवतार सिद्ध किया है ॥

प्रत्युत्तर-इस का भी अर्थ सुनिये-

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधि क्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥
ऋ० १ । १५४ । २

अर्थ-(यस्य) जिस सर्वव्यापक विष्णु के रचे (त्रिषु) जन्म स्थान नाम इन ३ (विक्रमणेषु) विविध सृष्टिक्रमों में (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकलोकान्तर (अधिक्षियन्ति) आधार में निवास करते हैं (तत्) [लिङ्गव्यत्ययः] वह (विष्णुः) सर्वव्यापक परमेश्वर (वीर्येण) पराक्रम से (प्रस्तवते) सब लोकों को प्रस्तुत करता है। दृष्टान्त-(न) जैसे (गिरिष्ठाः) पर्वतकन्दराओं में स्थित (भीमः मृगः) भयानक मृग अर्थात् मृगेन्द्र=सिंह ॥

अर्थात् कोई भी पदार्थ ईश्वर और सृष्टि के नियम को नहीं लांघ सका जो परमेश्वर धार्मिकों को मित्रतुल्य आनन्ददाता और दुष्टों को पर्वतचारी भयानक सिंह के तुल्य भयप्रद है । इस में नरसिंह का नाम तक नहीं किन्तु सिंह के दृष्टान्त से परमात्मा का उग्र पराक्रम दिखाया है। देखो ऋग्वेदभाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वति महाराज कृत ॥

परमेश्वर का भय=भीषास्माद्वातःपवते इत्यादि । अथवा ।

यद्भयाद्वाति वातोयं सूर्यस्तपति यद्भयात् ॥

इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में स्पष्ट वर्णित है कि परमेश्वर के भय से सूर्य वायु आदि अपना २ काम कर रहे हैं । यही सायणाचार्य ने भी लिखा है नृसिंह अवतार सायणाचार्य ने भी निरूपित नहीं किया ॥

द० ति० भा० पृ० १६६ पं० २६ में-त्वं स्त्री त्वं पुमानसि । यह मन्त्र अवतारसिद्धि में दिया है ॥

प्रत्युत्तर-मन्त्र का अर्थ सुनिये-

त्वं स्त्री त्वं पुमानसी त्वं कुमारो उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥
अथर्व १० । ४ । २७ ॥

अर्थ-तू कभी स्त्री कभी पुरुष होता है लड़की और लड़का बनता है तू बूढ़ा होकर लठिया के सहारे चलता है । क्योंकि तू विश्वतोमुख अर्थात् सब ओर रुख फेरता है और (जातो भवसि) जन्म लेता है ॥

इस प्रकार अक्षरार्थ से किसी राम कृष्णादि विशेष जीव का वर्णन नहीं किन्तु प्रत्येक जीव स्त्री पुरुष योनियों में घूमता, बाल युवा वृद्ध अवस्थाओं

में जाता है । इस में राम कृष्णादि अवतार का कुछ भी वर्णन नहीं है । सायणाचार्य का इस पर भाष्य ही नहीं है ॥

द० ति० भा० पृ० १६१ पं० ८ से-इदं विष्णुर्विचक्रमे । इस सामवेद मन्त्र से अवतारसिद्धि का प्रयत्न किया है ॥

प्रत्युत्तर-इस का व्याख्यान भी सुनिये-

अथ मन्त्रस्य:-मेधातिथिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता गायत्री छन्दः ॥

२उ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ॥
१ २ ३ २
समूढमस्य पांसुले ॥ ९ ॥ (२२२)

पदपाठः-इदम् २। विष्णुः १ । विचक्रमे क्रि० । त्रेधा अ० । निदधे क्रि० पदम्, समूढम् २ । अस्य ६ । पांसुले ७ ॥

अन्वितपदार्थः-(विष्णुः) यज्ञःपरमेश्वरो वा (इदम्) जगत् (त्रेधा) पृथिवी अन्तरिक्षं द्यौश्चेति त्रिभिः प्रकारैः (विचक्रमे) विक्रमते विक्रान्तवान्वा। तथा (अस्य) जगतः (पांसुले) रजसि प्रतिपरमाणु (समूढम्) अन्तर्हितम् (पदम्) स्वरूपम् (निदधे) नितरां दध्यात् दधाति वा ॥

अनुष्ठीयमानो यज्ञः, परमेश्वरश्च पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि चेति त्रिषु लोकेषु व्याप्नोति। अन्तर्हितमदृश्यं स्वरूपं च अस्य जगतः प्रतिपरमाणु निदधाति इति भावः ॥

यज्ञो वै विष्णुः ॥ अत्र सायणाचार्येण विष्णुशब्देन त्रिविक्रमाऽवतारग्रहणं निर्मूलमेव कृतम् । परमेश्वरस्याऽकायत्वान्निराकारत्वात्क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टत्वात्। न च निरुक्तकारेणाऽपि तादृशव्याख्यानस्यकृतत्वात्। यथा-"यदिदं किं च तद्विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदं त्रेधाभावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः । समारोहणे

विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः । समूढस्य पांसुरेप्यायने ऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यते । अपि वोपमार्थे स्यात्समूढस्य पांसुल इव पदं न दृश्यते इति । पांसवः पादैः सूयन्त इति वा, पन्नाः शेरत इति वा, पंसनीया भवन्तीति वा ।" निरु० १२ । १९ ॥

गयशिरसीत्यत्र गय इत्यपत्यनाम । निघं० २ । १० ॥ प्राणा वै गयाः । शतपथे १४ । ७ । १ । ७ । ऋग्वेदे तु १ । २२ । १७ पांसुरे इति पाठः ॥ यजुर्वेदेऽपि ५ । १५ ॥ पृष्ठे ९ ॥ (२२२)

भावार्थः-(विष्णुः) यज्ञ वा परमेश्वर (इदम्) इस जगत् को [त्रेधा] पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौः इन ३ प्रकार से (विचक्रमे) पुरुषार्थयुक्त करे वा करता है और (अस्य) इस जगत् के (पांसुले) प्रत्येक रज वा परमाणु में (समूढम्) अदृश्य (पदम्) स्वरूपको (निदधे) निरन्तर धारण करे वा करता है॥

भले प्रकार अनुष्ठान किया हुवा यज्ञ, पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक में फैले और अपने अदृश्य स्वरूप को जगत् के रज २ में पहुंचावे । अथवा व्यापक परमात्मा ने पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक को तीन प्रकार से विक्रम=पुरुषार्थयुक्त किया है और जगत् के प्रत्येक परमाणु तक में अपने अदृश्य स्वरूप को अन्तर्यामी रूप से वर्त्तमान कर रक्खा है ॥

इस मन्त्र को सायणाचार्य ने त्रिविक्रमावतार पर लगाया हो सो निर्मूल है । क्योंकि परमेश्वर अकाय होने से निराकार और क्लेश कर्म विपाकाशयों से छुआ हुवा नहीं है । और निरुक्तकार ने भी इस में वामनावतार का ग्रहण नहीं किया । जैसा कि निरुक्त १२ । १९ " व्यापक विष्णु ने इस सब जगत् को तीन प्रकार के होने को विक्रान्त किया है १ पृथिवी, २ अन्तरिक्ष, ३ द्युलोक, यह शाकपूणि आचार्य का मत है । १ समारोहण, २ विष्णुपद, ३ गयशिर, यह और्णवाभ का मत है । उस का पद अदृश्य हो वा उपमा है कि जैसे रेत में पांव नहीं दीखता । पांसु रेणु का नाम है क्योंकि वे पांवों से उत्पन्न होतीं वा पड़ी सोती हैं " इत्यादि ॥ गयशिरसि में गय सन्तान का नाम निघण्टु २ । १० के अनुसार और शतपथ १४ । ७ । १ । ७ के अनुसार प्राण का नाम भी गय है ॥ ऋ० १ । २२ । १७ और यजुः ५ । १५ में " पांसुरे" पाठ है ॥ पृ० ९ ॥ (२२२)

स० सि० भा० १९७ में—

भद्रोभद्रया सचमान आगात् स्वसारञ्जारोअभ्येति पश्चात् ।
सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्नुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात् ॥

यदा (भद्रः) भजनीयः श्रीरामः (भद्रया) भजनीयया श्रीसीतया (सचमानः) सहितः (आगात्) आगच्छति देहे प्रादुर्भवति तदा (जारः) रावणः (स्वसारम्) ऋषीणां रुधिरेणोत्पन्नत्वाद्भगिनीतुल्यां सीतां (अभ्येति) अभिगच्छति (पश्चात्) अन्तकाले (अग्निः) क्रोधेन प्रज्वलितो रावणः (अभितिष्ठन्) युद्धे श्रीरामस्य सन्मुखे तिष्ठन् सन् (सुप्रकेतैः) सुप्रज्ञानैः (उशद्भिः) श्वेतैः (वर्णैः) द्युतिभिः कुम्भकर्णादीनां जीवात्मभिः सह (रामम्) श्रीरामरूपं विष्णुं (अस्थात्) विष्णोः सामीप्यतां प्राप्तवान् ॥

भाषार्थ—भद्र राम भद्रा सीता जी के पास प्रकट हुवे तब जार रावण ने ऋषियों के रुधिर से उत्पन्न होने के कारण भगिनी समान जानकी को हरण किया पीछे अन्तकाल पर क्रोध से प्रज्वलित रावण ने सन्मुख होकर कुम्भकर्ण आदि के जीव आत्माओं के साथ श्रीराम की सामीप्यता को पाया ॥

उत्तर—धन्य हो ! भद्र=राम । भद्रा, स्वसा=सीता । अग्नि=रावण । वर्ण=कुम्भकर्णादि के जीवात्मा । ये जो आपने अर्थ किये, इन में व्याकरण निरुक्त कोष निघण्टु ब्राह्मणग्रन्थादि किसी का भी कुछ प्रमाण है वा आप को आकाशवाणी हुई ? कृपा करके संहिता के पुस्तक में देखिये कि इस मन्त्र का " अग्नि " देवता है । निरुक्त के मतानुसार—

या तेनोच्यते सा देवता

जिस का मन्त्र में वर्णन हो वह देवता उस मन्त्र का होता है । तदनुसार अग्नि देवता का वर्णन इस मन्त्र में है । हम जो अर्थ करेंगे सो तो सामवेदभाष्य (हमारे किये) में देखियेगा ही, परन्तु अभी सायणाचार्य के

भाष्य से ही सन्तोष करिये और जानिये कि इस में राम सीता का वर्णन नहीं है। इस मन्त्र से पूर्वले-

३ १२ ३२ ३ १२

कृष्णां यदेनीमभि-इत्यादि

मन्त्र का भी अग्नि देवता है। और इससे अगले-

१ २ ३

कया ते अग्ने अङ्गिर-इत्यादि

मन्त्र का भी अग्नि देवता है। फिर बीच में रावण कहां से आय कूदपड़ा?

सायणाचार्यभाष्यम्

३२ ३२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २३क ३२ ३ २

भद्रोभद्रया सचमानआगात् स्वसारञ्जारोअभ्येति पश्चात्।

३ १२ २१३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २

सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्नुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात् ॥३।५ ॥

"भद्रः" भजनीयः कल्याणः "भद्रया" भजनीयया सचमानः "आगात्" आगच्छति। ततः पश्चात्" "जारः" जरयिता शत्रूणां "सोऽग्निः" "स्वसारं" स्वयं सारिणीं भगिनीं वा आगतामुषसम् "अभ्येति" अभिगच्छति। तथा "सुप्रकेतैः सुप्रज्ञानैः "द्युभिः" दीप्तिभिस्तेजोभिः सह "वितिष्ठन्" सर्वतोवर्त्तमानः सोऽग्निः "उशद्भिः" श्वेतैः "वर्णैः" वारकैरात्मीयैस्तेजोभिः "रामम्' कृष्णं शार्वरं तमः "अभ्यस्थात्,, सायंहोमकाले अभिभूय तिष्ठति ॥ ३ । ५ ॥

सायणकृत भाष्य का भावार्थ-भजनीय भजनीया के सहित आता है। (किन्तु) शत्रुओं का नाशक वह अग्नि, स्वयं चलने वाली वा भगिनी आई हुई उषा के सामने आता है। तथा भले प्रकार प्रज्ञान=तेजों के साथ सब ओर वर्त्तमान वह अग्नि, श्वेतवर्ण रोकने वाले अपने तेजों से "रामम्" काले रात्रि के अंधियारे को सायं होमकाल में तिरस्कार करके दिपत होता है॥

आप तो 'राम' का अर्थ दाशरथि करते हैं और सायणाचार्य 'राम, का अर्थ "काला अंधियारा" करते हैं, कहिये आप का अर्थ मानें वा आप के माननीय सायणाचार्य का ? आप ने तो "व्यत्यय" के सहारे और बहुल के सहारे वेद का अर्थ करना हंसी ठट्ठा समझ लिया है । हम यह नहीं कहते कि सायणाचार्य का भाष्य सन्देहरहित है परन्तु हां, आप के पक्ष के आचार्य का भाष्य भी आप के अर्थ का पोषक नहीं, इस लिये इसने यह भाष्य उद्धृत किया है ॥

अब तीसरे कृष्णाऽवतारसाधक मन्त्रकी व्यवस्था सुनिये:—

द० ति० भा० पृ० १६८ में मन्त्र और उसका अर्थ इस प्रकार है:—

कृष्णंतएमरुशत: पुरोभाश्चरिष्णवर्चिर्वपुषामिदेकं ।
यदप्रवीतादधतेह गर्भं सद्यश्चिज्जातोभवसीदुदूत: ॥

ऋ० मं० ४ सू० ७ मं० ९ अ० १

पद-कृष्णं ते एम रुशतः पुरः भाः चरिष्णु अर्चिः वपुषाम् इत् एकम् यत् अप्रवीता दधते ह गर्भम् सद्यः चित् जातः भवसि इत् उदूतः ॥

कृष्णंतेएम इति, हे भूमन् ! ते तव रुद्ररूपेणपुरस्तिस्रो रुशतो नाशयतः यद्वा पुरःस्थूलसूक्ष्मकारणदेहान् ग्रसत-स्तुर्यस्वरूपस्य यत्कृष्णं भाः सत्यानन्दचिन्मात्रं रूपं तत् एम प्राप्नुयाम यस्य एकमिति एकमेव अर्चिज्वालावदंश-मात्रं समष्टिजीवं वपुषां देहानांअनेकेषुदेहेषु चरिष्णुभोक्तृ-रूपेण वर्त्तते यत्कृष्णं भाः अप्रवीता नास्ति प्रकर्षेण वीतं गमनं संचारो यस्याः सा अप्रवीता निरुद्धगतिर्निगडे ग्रस्ता देवकीत्यर्थः कृष्णाय देवकीपुत्रायेति-छान्दोग्ये दृत्र क्या एव कृष्णमातृत्वदर्शनात् सा गर्भं स्वगर्भं दधते धार-यति दध धारणे इत्यस्य रूपमह प्रसिद्धं सः त्वं जातः गर्भतो बहिराविर्भूतः सन् सद्य इदुसद्यएव उनिश्चितंदूतः दुनोतीतिदूतःमातु खेदकरोऽतिवियोगदुःखप्रदो भवसीत्यर्थ एतेन देवकीपतेर्वसुदेवस्य गृहे जन्म धृतमिति सूचितम् ॥

भावार्थः—हे भूमन्! आप का जो सत्यानन्दचिन्मात्र रूप है और रुद्र रूप से तीन पुर को नाश करने वाला वा स्थूल सूक्ष्म कारण देह को ग्रसने वाला रूप तुरीयात्मा तिस कृष्णात्मा रूप को हम प्राप्त होवें, जिस आपके स्वरूप की एक ही अर्चि अर्थात् ज्वालावत् अंशमात्र समष्टि जीव अनेक देहों में चरिष्णु अर्थात् भोक्तृ रूप से वर्त्तमान है, और जो कृष्णभा को अप्रवीता अर्थात् निगड़ग्रस्त देव की गर्भ रूप से धारण करती भई। छान्दोग्य में भी कृष्ण की माता देवकी सुनी है, हे भूमन् आप प्रसिद्ध ही गर्भ से प्रादुर्भूत होकर माता के पास से पृथक् हुये, इससे श्री कृष्णचन्द्र का देवकी के गर्भ में जन्म और महेश्वरावतार तथा जीव को पूर्व निरूपित चिद्शत्व बोधन किया

प्रत्युत्तर—कहिये! ये अनर्थ कहां से चढ़ाया है! जिस में—ग्रस्त, जीव, वर्त्तते, इदं, उनिश्चितं, ग्रस्त का अर्थ ग्रसने वाला! धन्य भाष्यकर्त्ता जी! यथार्थ में इस मन्त्र का भी (देखो संहिता चाहे जहां की छपी वा लिखी) अग्नि ही देवता है। जिस से इस में भी अग्नि का वर्णन होना चाहिये। आपने अपने अर्थ में इस को सर्वथा उड़ा दिया। इसका भी सायणभाष्य देखियेः—

"हे अग्ने! रुशतः रोचमानस्य ते तव अत्रैम एमन् शब्देन गमनमार्ग उच्यते, एम वर्त्म कृष्णवर्णं भवति। भाःतत्र सम्बन्धिनी दीप्तिः पुरः पुरस्ताद्भवति। चरिष्णु संचरणशीलम् अर्चिस्त्वदीयं तेजःवपुषां वपुष्मतां रूपवतां तेजस्विनामित्यर्थः। एकमित् मुख्यमेव भवति यत् यं त्वम् अप्रवीता अनुपगता यजमानाः गर्भं त्वज्जननहेतुमरणिं दधते ह धारयन्ति खलु। स त्वं सद्यश्चित्सद्यएव जात उत्पन्नः सन् दूतोभवसीदु यजमानस्य दूतो भवस्येव"

सायणाचार्य कृत भाष्य का भावार्थ-हे अग्ने! तुम्ह प्रकाशमान के गमन का मार्ग कृष्णवर्ण (काला) है। तेरा प्रकाश आगे रहता है। चलने वाला तेरा तेज ही सम्पूर्ण रूपवान् तेजस्वियों में मुख्य है। जिस तेरे समीप न गये हुवे यजमान लोग ज्योंही तेरे गर्भ रूप अरणि को धरते हैं त्योंही तू उत्पन्न होता ही दूत अर्थात् यजमान का दूत बन जाता है॥

तात्पर्य यह है कि अग्नि का मार्ग काला है। जहां होकर आग निकलती है वहां काला पड़ जाता है। आग के साथ २ आगे २ उस का प्रकाश चलता है, प्रकाश का स्वभाव ही चलने का है। अग्नि का ही प्रकाश तत्स्वरूप से प्रत्येक रूपवान् पदार्थ में मुख्य करके है। अग्नि को यज्ञकर्त्ता यजमान लोग जब दो अरणियों के गर्भ से उत्पन्न करते हैं, तत्काल उत्पन्न होकर दूत का काम देने लगता है अर्थात् यजमान के दिये हुवे हविर्भाग, वायु आदि देवों को पहुंचाने लगता है। यही उसका दूतत्व है जो वेदों में बहुधा गायागया है॥

इस अर्थ के अनुसार, जिस के मानने से सनतानी लोग इन्कार नहीं कर सकते क्योंकि हमारा किया अर्थ नहीं है किन्तु सायणाचार्य का किया है इस में कहीं देवकी और कृष्ण का पता नहीं चलता॥

द० ति० भा० पृ० १६८ १६९ में—सपर्यगाच्छुक्रमकायम्० । इस मन्त्र में परमात्मा के देहरहित होने के स्पष्ट वर्णन को छिपाने का उद्योग किया है। परन्तु उस में भी स्वयंप्रकाशस्वरूप माना है। जितने प्रकार के आकारों को सनातनधर्मी आज कल पूजते फिरते हैं उन सब आकारों का और देहों का तो यहां आपने भी निषेध ही स्वीकार किया है। हां, "स्वयम्भूः" पद से ब्रह्मा विष्णु आदि अवतार सिद्ध करने में गीता का प्रमाण दिया है। सब लोग जानते हैं कि स्वयंभू का अर्थ अनादि, स्वयं वर्त्तमान, किसी से जन्म न लेने वाला, है। गीता के श्लोक का अर्थ यह है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ गी०४।६॥

श्री कृष्ण जी कहते हैं कि मैं जीवात्मा (अज हूं) अर्थात् शरीर का जन्म हुआ है, मुझ जीवात्मा का नहीं। और मेरा आत्मा अविनाशी है अर्थात् शरीर का नाश होता है, मैं (अव्ययात्मा) अविनाशी हूं। (और भूतोंकाईश्वर) अर्थात् पञ्चमहाभूतों का स्वामी हूं। मेरे अधीन पाञ्चभौतिक शरीर चलता फिरता है। (अपनी प्रकृति का अधिष्ठाता होकर अपनी प्रकृति के साथ जन्म लेता हूं) अर्थात् प्रकृति और जीवात्मा से मिलकर मेरा जन्म कहाता है॥

सो कृष्णचन्द्र ज्ञानी होने से यह भेद जानते थे कि जीव अमर है। शरीर जन्मते मरते हैं। इस में परमेश्वर का कुछ भी वर्णन नहीं। श्री कृष्ण को परमेश्वर जगत्कर्त्ता मानना अज्ञान और अप्रमाण है॥

द० ति० भा० पृ० १६९ पं० २३ में—" चक्रपाणये स्वाहा।" । इस को मैत्रायणी शाखा का वाक्य लिखकर आकार अवतार दोनों सिद्ध किये हैं ॥

प्रत्युत्तर—चक्रपाणि शब्द आने मात्र से अनकश्रुतिप्रतिपादित परमात्मा के एकरस स्वरूप में बाधा नहीं आती, न उस की साकारता सिद्ध होती है। चक्रं संसारचक्रं पाणौ अधीनतया वर्त्तमानं यस्य स चक्रपाणिः " संसारचक्र जिस परमेश्वर के हाथ में है अर्थात् परमेश्वर के अधीन है। हाथ कहने से अधीन होना ही तात्पर्य है। लोक में भी "हाथ" का अर्थ "तदऽधीन" देखा जाता है। जब कहते हैं कि पढ़ाना गुरु का काम है परन्तु याद करना विद्यार्थी के "हाथ" है। तो क्या "हाथ" से याद किया जाता है? नहीं, यहां हाथ का तात्पर्य अधीन है। अथवा कहा जाता है कि सारी प्रजा राजा की मुट्ठी में वा हाथ में है। तब क्या प्रजा साकार मुट्ठी में बन्द होती समझी जाती है? कभी नहीं। किन्तु अधीन ही समझी जाती है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी कहा है कि—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ॥ ३ ॥ १७ ॥

परमात्मा के कोई इन्द्रिय नहीं परन्तु सब इन्द्रियों से होने वाले काम विना इन्द्रियों के कर सकता है और करता है ॥

द० ति० भा० पृ० १६९ पं० २५ से—प्रजापतिश्चरति गर्भे०। इस मन्त्र से अवतार साधे हैं ॥

प्रत्युत्तर—मन्त्रार्थ सुनिये—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरऽजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिंन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥
यजुः ३१ ॥ १९ ॥

अर्थ—जो (अजायमानः) आप देहयुक्त नहीं होता (प्रजापतिः) प्रजा का रक्षक (गर्भे) गर्भस्थ जीवात्मा में और (अन्तः) सब के हृदय में (चरति) वर्त्तमान है (बहुधा) बहुत प्रकारों से (विजायते) विविध प्रकट है (तस्य) उस के (योनिम्) स्वरूप को (धीराः) भीतर ध्यान करने वाले लोग (परिपश्यन्ति) सब ओर देखते हैं। (तस्मिन् ह) उस ही में (विश्वा भुवनानि) सब लोक लोकान्तर (तस्थुः) ठहरे हैं ॥

भला इस से जन्म धारण करना वा गर्भवास को प्राप्त होना अभिप्राय

होता तो " (परिपश्यन्ति) सब ओर देखते हैं" । क्यों कहा जाता । क्योंकि देहधारी सब जगह नहीं देखा जाता । और " ध्यान करने वाले देखते हैं" । इस का यही तात्पर्य है कि चर्म चक्षु से नहीं दीखता किन्तु आत्मा ही में ध्यान करने से दीखता है । 'और बहुत प्रकार प्रकट है" का तात्पर्य यही है, कि जहां देखो वहां परमेश्वर की महिमा दृष्टि पड़ती है । कोई पदार्थ ऐसा नहीं जिस में उस की अनोखी कारीगरी न दीखती हो ॥

इस मन्त्र के महीधरभाष्य में भी अवतार विशेष का प्रतिपादन नहीं है । हां जीव ब्रह्म को एक मान कर सब जगत् में जितने जीव उत्पन्न होते हैं, कीट पतङ्गादि सब ब्रह्म ही हैं । यह तो अज्ञानवश प्रतिपादित किया है ॥

द० ति० भा० पृ० १७१ पं० ३ से

स॒मु॒द्रो॑ऽसि वि॒श्वव्य॑चा अ॒जो॑ऽस्येक॑पा॒दहि॑रसि बु॒ध्न्यो॒ वाग॑स्यै॒न्द्रम॑सि सदो॑ऽसि ऋ॒तस्य॑ द्वारौ॒ मा मा॒ सन्ता॑प्त॒मध्व॑नामध्वपते॒ प्र मा॑ तिर स्व॒स्ति मे॒ऽस्मिन् प॒थि दे॑व॒याने॑ भूयात् ॥ यजु० । अ० ५ मं० ३३

हे भगवन् आप (विश्वव्यचाः) विश्वं बहुरूपं व्यनक्तीति विश्वव्यचाः अपने में बहुरूपों को प्रगट करनेवाले समुद्रवत् विस्तृत हैं, जैसे समुद्र अपने में तरङ्ग बुद्बुद अपने से अनन्य स्वाभाविक प्रगट करता है, तद्वत आप भी अपने बहुरूप अवतार प्रगट करते हैं (प्रश्न) यदि अनेक अवतार हुवे तो परमात्मा को जन्मवत्व होना चाहिये (उत्तर) " अजोसिएकपात् " एकपादरूप हे भगवन् आप यद्यपि मायासहित हैं तथापि त्रिपाद आप का रूप (अज) सर्वथा जन्मप्रतीत शून्य है सोई श्रुत्यन्तर में कहा भी है:—

पादो॑ऽस्य॒ विश्वा॑ भू॒तानि॑ त्रि॒पाद॑स्या॒मृतं॑ दि॒वि

यह ब्रह्माण्ड एक पाद में स्थित है और त्रिपाद इस ब्रह्म का स्वर्ग में स्थित है और आप अहिर्बुध्नरूप मध्यस्थान देवता हैं इसी कारण नि० दं० अ० ४ ख० ५ में अहिर्बुध्न्यानाम मध्यस्थान देवता कहा है वहां इन्द्र का नाम अहिर्बुध्न है हे भगवन् आप ही १ परा २ पश्यन्ती ३ मध्यमा ४ वैखरी वाग रूप हैं, और इन्द्र की सभा रूप भी आप ही है, हे परमात्मन् (ऋतस्य) धन वा सत्य के द्वारा उपाय मुझकू प्राप्त होवे हे (अध्वपते) देवयानमार्ग के अधिष्ठाता आप शाश्वतम परमात्मरूप (माऽध्वनां प्रतिर) मुझे मार्ग को

प्राप्त कर उत्तीर्ण करो, हे भगवन् ! इस देवयानमार्ग में मुझे कल्याण प्राप्त हो, इत्यादि अवतार बोधक सहस्त्रों ही मन्त्र हैं, जिसे विद्या हो चारों वेदों में देखले, इन मन्त्रों से त्रिपाद्स्थान में अजत्व वा मायाकृत जन्म होने से भी अजत्व सिद्ध होगया ॥

प्रत्युत्तर—यदि आप महीधर को भी मानते होते तो भी यह विरुद्ध अर्थ न करते । महीधर ने इस मन्त्र को यज्ञ में १-ब्रह्मासनम् (समुद्रोसि०) २-शालद्वार्यम् (अजोसि०) । ३-प्राजहितम् (अहिरसि०) । ४-सदोऽभिम-र्शनम् (वागसि०) । ५-द्वार्ये (ऋतस्य०) । ६-सूर्याभिमन्त्रणम् (अदब्धव्रते०) इस प्रकार कात्यायन के (९ । ८ । २२-२३) के प्रमाण से यज्ञाङ्गों पर लगाया है । अर्थात् १-ब्रह्मासन की प्रशंसा । २-शालाद्वार में स्थित अग्नि की प्रशं-सा । ३-पत्नीशाला के पश्चिमकी ओर पुराणा गार्हपत्यनामक अग्नि=प्राजहित कहाता है उसकी प्रशंसा । ४-सदन्की प्रशंसा । ५-द्वारशाखाओं की प्रशंसा और-सूर्यकी प्रशंसा में लगाया है । आप अवतार सिद्ध करते हैं । यह अन्धेर ! (विश्वव्यचाः) का अर्थ प्रत्यक्ष है कि विश्व=जगत् में व्यापने वाला । आप उस में स्वयंसर्वकृपापन्न बताते हैं । समुद्र की उपमा आप बुद्बुदादि वि-कारांश में लेते हैं, ब्रह्म निर्विकार है । (अजोऽसिएकपात्) में आप "पा-दोस्य विश्वाभूतानि०" का प्रमाण उलटा देते हैं । क्योंकि आप के लेखानु-सार भी त्रिपात् अज है और एकपात् सृष्टि में है इस लिये सजन्मा हुआ तो "अजोऽसि एकपात्" की संगति नहीं लग सकती । और "एकपात्" का अर्थ जिस के एक देश में जगत् है "अज" का अर्थ अजन्मा होने से स्वामी जी का पक्ष ठीक रहता है कि वह एकरस होने से किसी देहविशेष में वि-शेष भाव से नहीं रहता, अर्थात् अवतार नहीं लेता । और अहिर्बुध्न्य शब्द से यहां निघण्टु में लिखे मध्यस्थान देवता का ग्रहण करोगे और परमेश्वर विषय में इस मन्त्र को लगाओगे तो तुम्हारे मत में परमात्मा द्युस्थान और पृथिवीस्थान नहीं । केवल मध्यस्थान है । अतः आप का परमात्मा सर्वव्यापक भी नहीं रहा अब इस का ठीक अर्थ सुनिये—

हे परमेश्वर ! आप (समुद्रोसि) ऐसे हैं जिस में सब प्राणियों का गम-नाऽऽगमन है (विश्वव्यचाः) जगत् में व्यापक और (अजः) अजन्मा (असि) हैं (एकपात्) जिस के एक देश में जगत् स्थित है (अहिः) व्या-पक (बुध्न्यः) आकाश में होने वाले (असि) हैं (वाक् असि) आप

जगत् की वाणी हैं, आप के विना कोई बोल नहीं सक्ता। (ऐन्द्रंपदःअसि) ऐश्वर्य का स्थान है। (ऋतस्यद्वारौ) व्यवहार के दो द्वार प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष(मा) मुझे (मा सन्तापम्) दुःख न दें (अध्वपते) हे धर्ममार्ग के पालक ! (मा) मुझे (अध्वनाम्) धर्म और शिल्प के मार्गों को (प्रतिर) पार कीजिये और (मे) मेरे (अस्मिन् देवयाने) इस देवों के चलने योग्य (पथि) मार्ग में (स्वस्ति भूयात्) सुख हो ॥

(य आत्मनि तिष्ठन्) इस में स्पष्ट यह कथन है कि जो परमात्मा, जीवात्मा में व्यापक है (यस्यात्मा शरीरम्) जीवात्मा जिस के शरीरवत् है। शरीर में जीव रहता है, जीव में परमात्मा रहता है ॥

द० ति० भा० पृ० १७० पं० २७ में- (प्रजापतिश्चरति गर्भे) इस श्रुति से प्रत्येक शरीर में प्रविष्ट होने से ईश्वर को एकदेशीय होना चाहिये। व्यापकत्व का भङ्ग होगा ॥

प्रत्युत्तर-आप तो (प्रजापतिश्चर०) का अर्थ यह कर चुके हैं कि राम कृष्णादि होने के लिये गर्भ में आता है। अब भूल कर सब के शरीरों में प्रविष्ट बताने लगे। नहीं २ यह पाठ आप ने किसी साधुसिंहादि से लिया होगा और वह पाठ अन्य किसी से। आपका क्या दोष है। आप का कुछ घर का थोड़ा ही है ॥

भला कोई पूछे कि सब शरीर में एक ही परमात्मा व्यापक है तो व्यापकत्व का भङ्ग और एक देशीयता का प्रसंग कहां आता है ? प्रत्युत राम कृष्णादि के किसी देहविशेष में आने से व्यापकत्व का भङ्ग होता है। सब शरीरों में भोगरहित परमात्मा का मानना दोष नहीं। परन्तु रामकृष्णादि में भोगायतन शरीरधारी मानना इस में दोषारोपण है। आकार शब्द का अर्थ स्वरूप नहीं है किन्तु चक्षुः का विषय है। और यदि आप अपने मनमाना आकार शब्द का अर्थ स्वरूप मानते हैं, तो सच्चिदानन्दस्वरूप मात्र तो हम भी परमात्मा को मानते हैं। शून्य नहीं। परन्तु आप जिस जड़ की पूजा को सिद्ध करना चाहते हैं वह पूजा परमात्मा के ऐसे सूक्ष्मतमस्वरूप में कि जहां आंख आदि इन्द्रियां तो क्या ? मन बुद्धि आदि भी नहीं पहुंचसक्ते हैं, वहां मूर्त्तिपूजा को आप के लेख से क्या सहारा पहुंच सकता है ?

द० ति० भा० पृ० १७१-१७२ में महाभारत और रामायण के श्लोक अवतार विषय में प्रमाण दिये हैं ॥

प्रत्युत्तर-महाभारत के प्रमाणों के विषय में आगे उत्तरार्द्ध, एकादश समुल्लास में भोज के संजीवक ग्रन्थ का प्रकरण देखिये। और रामायण के लिये भी वहीं "अन्नपूर्वं महादेवः" के उत्तर में देखिये॥

द० ति० भा० पृ० १७२ पं० १२ से—

यह उन की भूल है जो कहते हैं कि वेद मन्त्रों में इतिहास नहीं होता बहुत से मन्त्र इतिहाससम्मिश्रित निरुक्त में व्याख्यान किये हैं। यथाहि—

त्रितः कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबभौतत्रब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रगाथामिश्रं भवति नि० अ० ४ पा० १ खं ६

कूप में पड़े हुए त्रित नामक ऋषि को यह अधो लिखित सूक्त प्रतीत हुआ वहां ब्रह्म वेदवाक्य इतिहास मिश्रित ऋचायुक्त हैं और गाथा मिश्रित हैं

त्रितः कूपेऽवहितोदेवान्हवत ऊतये ऋ० मं० १ अ०-१५ सू० १०५ मं० १७

अर्थ कूप में गिरा हुआ त्रितऋषि देवताओं को ऊति नाम रक्षा के वास्ते (हवते) आह्वान करता हुआ, यहां यह इतिहास शाट्यायन शाखा में प्रसिद्ध है एकत् द्वित और त्रित नामक ऋषि थे, वे तीनों एक समय पर मरुभूमि में प्यास से सन्तप्त हुए एक कूप पर पहुंचे तिनतीनों में से त्रित जल पान करने को कूप में प्रवेश कर जल पी उन दोनों के अर्थ भी जल लाया, उन्हों ने जल पी लिया पीछे फिर तीनों कूप के ढिग पानी पीने के बहाने गये, और त्रित को कूप में ढकेल उस के ऊपर रथचक्र धर सब उस का मालमता लेके चल दिये तब त्रित ने देवताओं को स्मरण किया और कूप से निकले यह इतिहास इस मन्त्र में गर्भित है इस से जो कहते हैं वेद में इतिहास नहीं हैं वे अल्पश्रुत है॥

प्रत्युत्तर-(त्रितः कूपे) पाठ निरुक्त में नहीं है किन्तु-

त्रितं कूपेवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबभौ।

तत्रब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मिश्रं गाथा मिश्रं भवति। निरु० ४। ६

अर्थात् निरुक्तकार कहते हैं कि-एक समय त्रित नाम ऋषि कूवे में पड़े थे। उन्हें उस समय (संमातपन्त्यभितः०) इत्यादि सूक्त याद आ गया (तत्र) उस समय-वेद, इतिहास, गाथा मिल गये॥

अर्थात् वेद में अनादि काल से योगरूढ़ त्रितशब्दयुक्त सूक्त वर्त्तमान था

किन्तु इतिहास वा गाथा न थी। परन्तु त्रित को दैवयोग से यह सूक्त याद आया तब उसने अपने ऊपर घटाया। इससे शाखोक्त इतिहास और मूल ऋग्वेद के मन्त्रों का भाव मिलगया। जो गाथा आप त्रित आदि तीन भाइयों की लिखते हैं उसे शाखा में ही आप भी बताते हैं। मूल में नहीं। वेद के व्याख्यान रूप शाखाओं में तो स्वामी जी भी इतिहास मानते हैं, परन्तु मूल वेद में नहीं। अब मन्त्र का अर्थ सुनिये—

त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये० ऋ० १। १०५। १७

(त्रितः) त्रीन्विषयान्विद्याशिक्षाब्रह्मचर्याख्यान् तनोति सः। अत्र ड्युपपदात्तनोतेरौणादिकोडः। "त्रितस्तीर्णतमोमेधया" इत्यादि निरु० ४। ६॥ (कूपे) कूपाकारे गभीरे हृदये। "कुपतेर्वा" निरु० ३। १९॥ यस्माद्धृदयात् क्रोधादय उत्पद्यन्ते तत्र (अवहितः) अवस्थितः (देवान्) दिव्यगुणान्वितान्विदुषो दिव्यान्गुणान्वा (हवते) गृह्णाति॥

अर्थ—(त्रितः) ३ विद्या शिक्षा ब्रह्मचर्य नामक विषयों का विस्तार करने वाला पुरुष (कूपे) गहरे हृदय में (अवहितः) ध्यानाऽवस्थित हुआ (देवान्) विद्वानों वा दिव्य गुणों को (हवते) ग्रहण करता है॥ यथादि-कोप, निरुक्त ४। ६ और ३। १९ के प्रमाण संस्कृत में ऊपर देखिये॥

द० ति० भा० पृ० १९२-९३ में—

"अपां फेनेन०" और "इन्द्रोदधीचः" इन दो मन्त्रों में इतिहास का खन किया है॥

प्रत्युत्तर—इन मन्त्रों का अर्थ सुनिये—

अथाऽष्टभ्याः-गोषूक्त्यश्वसूक्तिनावृषी। इन्द्रो देवता। गायत्री छन्दः॥

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्त्तयः।
३ १र २र ३ १ २
विश्वा यदजयः स्पृधः॥ ८॥ (२११)

पदपाठः—अपाम् ६। फेनेन ३। नमुचेः ६। शिरः २। इन्द्र सं०। उदवर्तयः क्रि०। विश्वाः २। यत् अ०। अजयः क्रि०। स्पृधः २॥

अन्वितपदार्थः-(इन्द्र) परमेश्वर ! वा वृष्टिकर्त्तः ! (अपाम्) जलानाम् (फेनेन) वृद्ध्या सह वर्त्तमानम् (नमुचेः) यदा जलं न मुञ्चति तदा तस्य मेघस्य (शिरः) उन्नताङ्गम् (उदऽवर्त्तयः) छिनत्सि (यत्) यदा हि (विश्वाः) समस्ताः (स्पृधः) स्पर्धमानाः मेघराजीः (अजयः) जयसि पक्षान्तरे पाप्मा वै नमुचिः । शतपथे १२ । ७ । १ । ४ ॥

पूर्वमन्त्रोक्तयज्ञफलमाह-यज्ञेन परमात्मा पापस्य, वृष्टिकृद्विद्युद्विशेषो वा जलममुञ्चतो मेघस्य शिरश्छिनत्ति वर्षाः करोति च ॥

स्फायी वृद्धौ इत्यस्मात्, फेनमीनौ (उणा० ३ । ३) इति फेनशब्दो निपात्यते॥ प्रातरिति-स्वरादि निपातमव्ययम् (१ । १।३७) इत्यन्तोदात्तत्वेन पठितत्वादन्तोदात्तत्वम् तत्र तथाविधगणपाठपाठ एव नियामकः ॥ ऋग्वेदे ८ । १४ । १३ ऽपि ॥ ८ ॥

भावार्थः-(इन्द्र) परमेश्वर ! वा वृष्टिकारक इन्द्र ! (अपाम्) जलों की (फेनेन) वृद्धि के सहित वर्त्तमान (नमुचेः) जल को न छोड़ने वाले मेघ के (शिरः) उन्नताङ्ग को (उदऽवर्त्तयः) छिन्न करता है (यत्) जब कि (विश्वाः) समस्त (स्पृधः) स्पर्धा करने वाली सेना के समान मेघ की पङ्क्तियों को (अजयः) जीतता है ॥

पक्षान्तर गें-शतपथ १२ । ७ । ३ । ४ के अनुसार नमुचि पाप का नाम है । सूर्व मन्त्र में लिखे यज्ञ का फल इस मन्त्र गें वर्षा होना कहा गया है । अष्टाध्यायी१।१ ३७ का प्रमाण संस्कृत भाष्य में देखिये । ऋ० ८।१४। १३ में भी ॥८॥

गोतम ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र

इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः।जघान नवतीर्नव॥

पदपाठः-इन्द्रः १ । दधीचः ६ । अस्थभिः ३ । वृत्राणि २ । अप्रतिष्कुतः १ । जघान क्रि० । नवतीः, नव २ ॥

अन्वितपदार्थः-(अप्रतिष्कुतः) परैरप्रतिशब्दितः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सूर्यइव राजा (दधीचः) "प्रत्यक्तमस्मिन्ध्यानमिति" निरु० १२ । ३३ दध्यङ् तस्य समीचःपदार्थजातस्य (अस्थभिः) अस्यन्ते प्रक्षिप्यन्ते तैः किरणैरिव बाणैः (नव, नवतीः) दशोत्तराण्यष्टशतानि ८१० (वृत्राणि) आवरणकराणि तमांसीव शत्रुसैन्यानि मेघान्वा (जघान) हन्ति ॥

अस्थभिः इत्यत्र-असु क्षेपणे इत्यस्मात्, असिसञ्जिभ्यां क्थिन् (उणा० ३ । १५४) इति क्थिन् ॥

संख्याङ्केषु नवाङ्कोहि सर्वैर्गुणितोऽपि नवभावमापद्यते। यथा-द्वाभ्यां गुणिता नव १८ । तत्र १+८=९ ॥ त्रिभिर्गुणिता नव २७ तत्र २+७=९ ॥ चतुर्भिर्गुणिता नव ३६ । तत्रापि ३+६=९॥ पञ्चभिर्गुणिता नव ४५ । तत्रापि ४+५=९॥ एवमग्रेऽपि सर्वत्र, अतएव इयं नवात्मकैव संख्या पुनः पुनस्तद्भावमापद्यमानासु शत्रुसेनासु मेघावयवेषु वाऽत्युचिता विन्यस्तास्ति । आदौ गुणत्रयभेदभिन्ना त्रिधा सेना, ततः कालभेद भिन्ना नवधा ९, ततः शक्तिभेदभिन्ना सप्तविंशतिधा २७ । प्रभावोत्साहमन्त्रजास्त्रिविधाः शक्तयः । तत्र उत्तमाऽधम मध्यमभेदेन एकाशीतिधा ८१ । तत्रापि दशदिगन्तर्गतत्वाद्दशधात्वे दशोत्तराणि शतान्यष्ट ८१० ॥ एतत्संख्याका मेघप्रकारास्तत्स्थानप्रकारा वा ॥

श्रीसायणाचार्यस्तु

" अत्रशाकटायनिन इतिहासमाचक्षते-आथर्वणस्यदधी-

चो जीवतो दर्शनेन असुराः पराबभूवुः । अथ तस्मिन्स्वर्गते असुरैः पूर्णा पृथिव्यभवत् । अथेन्द्रस्तैरसुरैः सह योद्धुमशक्नुवंस्तमृषिमन्विच्छन्, स्वर्गं गत इति शुश्राव । अथ पप्रच्छ तत्रत्यान्–इह किमस्य किञ्चित् परिशिष्टमङ्गमस्ति ? इति । तस्मा अवोचन्–अस्त्येतदाश्वं शीर्षं, येन शिरसा अश्विभ्यां मधुविद्यां प्राऽब्रवीत्, तत्तु न । विद्मः तद्यत्राभवदिति । पुनरिन्द्रोऽब्रवीत्तदन्विष्यतेति । तद्धा अन्वेषिषुः । तच्छर्यणावत्यनुविद्याजहुः (शर्यणावद्ध वै नाम कुरुक्षेत्रस्य जघनार्धे सरः स्यन्दते) तस्य शिरसोऽस्थिभिरिन्द्रोऽसुरान् जघानेति" इत्याह ॥

ऋग्वेदेऽपि १ । ८४ । १३ तत्र श्री १०८ स्वामी दयानन्दसरस्वती तु—

"पदार्थः–(इन्द्रः) सूर्यलोकः (दधीचः) ये दधीन् वाय्वादीनञ्चन्ति तान् (अस्थभिः) अस्थिरश्चञ्चलैः किरणचलनैः । अत्र, छन्दस्यपि दृश्यते । अ० ७ । १ । ७६ अनेनाऽनङादेशः । (वृत्राणि) वृत्रसम्बन्धिभूतानि जलानि (अप्रतिष्कुतः) असचलितः (जघान) हन्ति (नवतीः) नवतिसंख्याकाः (नव) नव दिशामवयवाः ॥

अन्वयः–हे सेनेश यथाऽप्रतिष्कुतइन्द्रोऽस्थभिर्नवनवतीर्दधीचो वृत्राणि कणीभूतानि जलानि जघान हन्ति तथा शत्रून्हिन्धि ॥

भावार्थः–अत्रवाचकलुप्तो०–मनुष्यैः स एव सेनापतिः कार्योयः सूर्यवच्छत्रूणां हन्ता स्वसेनारक्षकोस्तीति वेद्यम्" इति

सायणोक्तेतिहासादन्यथाविवरणकारमतं सत्यव्रतः सामश्रम्याह । यथा—"कालपञ्जा नाम असुराः । असुरैर्बाध्यमाना देवा ब्रह्माणमुपगम्योक्तवन्तः—भगवन् ! कालपञ्जैरसुरैर्बाध्यामहे । तेषां मारणोपायं विधत्स्वेति । अश्रुत्वा स तानुवाच । दधीचिर्नाम ऋषिस्तमुपगम्य ब्रूत, स मारणोपायं विधास्यति । ते तच्छ्रुत्वा तथेत्यङ्गीकृत्य तं दधीचिमुपगम्य उक्तवन्तः—भगवन् ! अस्मदीयान्यस्त्राणि शुक्रस्तेषां पुरोधा अपहरति, तानि रक्षस्व । ततः स ऋषिस्तानुवाच—मम मुखे प्रक्षिपध्वम् । तत इन्द्रादिभिर्देवैः समरुद्गणैः तस्य मुखे प्रक्षिप्तानि, पुनः कालेन देवासुरसंग्रामे पर्य्युपस्थिते एत्य, देवा ऊचुः--भगवन् ! तान्यस्त्राणि प्रयच्छस्वास्माकम् । ततस्तेनोक्तम्--तानि मे जीर्णानि न तानि पुनः प्राप्तुं शक्यानि । ततः प्रजापतिमुखा देवा ऊचुः—भगवन् ! प्राणत्यागं कुरुष्व । इति श्रुत्वा पुनः कृतश्च तेन प्राणत्यागः तस्य दधीचः स्वभूतैरस्थभिरिन्द्रो वृत्राणि जघान इति ॥"

वेदेष्वितिहासस्याऽपौरुषेयत्वव्याघातकत्वात्, इतिहासस्य परस्परविरुद्धत्वात् मूलविरुद्धत्वाच्चनाऽस्मन्मनोमन्यते॥

भावार्थः–(अप्रतिष्कुतः) जिस के सामने कोई न ठहर सके ऐसा (इन्द्रः) परमेश्वर्यवान् सूर्य के तुल्य राजा (दधीचः) लक्ष्य पर ध्यान पड़ने योग्य पदार्थ के रचित (अस्थभिः) किरणतुल्य बाणों से (नव, नवतीः) नौ नव्वे ८१० (वृत्राणि) रोकने वाले अन्धकार वा मेघतुल्य शत्रुसेना को (जघान) मारता है वा मारे॥

संख्या के अङ्कों में ९ अङ्क ऐसा है जो किसी संख्या के साथ गुणो, योग से ९ ही रहता है। जैसे ९ को २ से गुणो तो १८ हुवे, १८ के १ और ८ मिलाने से फिर ९ ही हुवे। ९ को ३ से गुणा तो २७ हुवे २+७=९ हुवे। ९ को

४ से गुणा तो ३६ हुवे ३+६=९ ही आये। फिर ९ को ५ से गुणिये तो भी ४५ हुवे ४+५=९ ही आये। ऐसा ही आगे जानो। जिस कारण ९ की संख्या दूसरी किसी संख्या से हनन करने पर भी पुनः पुनः उसी अपने स्वरूप में होजाती है इस कारण नव नव्वे के अङ्क से शत्रुसेना को गिना है जो बार बार जुड़ कर उसी स्वरूप से सामने आवे॥

सत्त्व रजः तमः इन तीन गुणों के भेद से तीन प्रकार की सेना होती हैं। फिर भूत भविष्यत् वर्त्तमान इन ३ कालकृत भेद से ९ प्रकार की हुई। फिर प्रभाव उत्साह और मन्त्र इन ३ शक्तियों के भेद से २७ गुणी हुई। फिर उत्तम मध्यम और अधम भेद से ८१ प्रकार की हुई। और दश दिशाओं के भेद से ८१० प्रकार हुए॥

सायणाचार्य इस में इतिहास लिखते हैं कि-"शाकटायनी लोग इस में इतिहास कहते हैं कि जीवते हुवे आथर्वण दधीचि के दर्शन मात्र से असुर हार जाते थे। फिर जब दधीचि स्वर्ग सिधारा तो समस्त पृथिवी असुरों से भर गई। तब इन्द्र ने उन असुरों से युद्ध करने में असमर्थ हो, इस ऋषि (दधीचि) को ढूंढते हुवे सुना कि वह तो स्वर्ग को सिधार गया। तब इन्द्र ने वहां वालों से पूछा कि यहां उस का कुछ शेष अङ्ग कोई है?। उस (इन्द्र) से कहा कि उस का शिर शेष है जिस शिर से उस ने ऋषियों को मधुविद्या कही थी। परन्तु हम यह नहीं जानते कि वह कहां है?। फिर इन्द्र ने कहा कि उसे ढूंढिये। उन्होंने ढूंढा। उसे शर्यणावती में पाय कर ले आये। (शर्यणावत् कुरुक्षेत्र का नाम है) उस के शिर की हड्डियों से इन्द्र ने असुरों को मारा॥"

ऋग्वेद १।८४।१ में भी ऐसी ही ऋचा है और उस पर श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वती जी इस प्रकार भाष्य करते हैं कि—

"पदार्थः-हे सेनापते! जैसे (अप्रतिष्कुतः) सब ओर से स्थिर (इन्द्रः) सूर्य लोक (अस्थभिः) अस्थिर किरणों से (नव नवतीः) निन्नानवे प्रकार के दिशाओं के अवयवों को प्राप्त हुवे (दधीचः) जो धारण करने हारे वायु आदि को प्राप्त होते हैं उन (वृत्राणि) मेघ के सूक्ष्म अवयवरूप जलों का (जघान) हनन करता है वैसे तू अनेक अधर्मी शत्रुओं का हनन कर॥

भावार्थः-अत्र वाचकलु०-वही सेनापति होने के योग्य होता है जो सूर्य के समान दुष्ट शत्रुओं का हन्ता और अपनी सेना का रक्षक है ॥"

सायणाचार्योक्त इतिहास से विरुद्ध विवरणकार का मत सत्यव्रत सामश्रमी जी बताते हैं कि—

"कालखञ्ज नाम असुर थे, उन असुरों से सताये हुये देवताओं ने ब्रह्मा के समीप जाकर कहा। भगवन्! कालखञ्ज असुर सताते हैं। उन के मारने का उपाय कीजिये। यह सुन वह (ब्रह्मा) उन से बोला कि दधीचि नाम ऋषि है, उस से जाकर कहो, वह मारने का उपाय करेगा। वे (देवता) यह सुन, "बहुत अच्छा" कह कर उस दधीचि के समीप गये और कहा कि भगवन्! उन (असुरों) का पुरोहित शुक्राचार्य हमारे अस्त्रों का अपहरण कर लेता है। उन (अस्त्रों) की रक्षा कीजिये। तब उन ऋषि ने उन (देवतों) से कहा कि मेरे मुख में फेंक दो। तब मरुद्गणों सहित इन्द्रादि देवतों ने (अस्त्र) उस के मुख में फेंक दिये। फिर समय पाय देवाऽसुरसङ्ग्राम हुआ तो देवतों ने आकर कहा कि भगवन्! वे हमारे अस्त्र दीजिये। तब उसने कहा कि वे तो मुझे पच गये, अब वे फिर नहीं मिल सक्ते। तब ब्रह्मादि देवतों ने कहा कि भगवन्! प्राणत्याग कीजिये। यह सुन उसने प्राण त्याग दिये। उस दधीचि की अस्थि=हड्डियों से इन्द्र ने वृत्रों को मारा" ॥

वेदों का ऐतिहासिक अर्थ उन की अपौरुषेयता का बाधक, और परस्पर सायण और विवरण का विरोध होने, तथा मूल में इस प्रकार की कथा न होने से, यह अनर्थ हमारे मन को नहीं भाता ॥

निरुक्त १२। ३३ उणादि ३। १५४ वा० ७। १। ७६ तथा सायणाचार्यादि की सम्मतियां संस्कृतभाष्य में ज्यों की त्यों उद्धृत हैं ॥ ५ ॥

द० ति० भा० पृ० १७२ पं० २१ और फिर पृ० १७३ पं० १६ में "शाकटायन" की शाखा को "शाट्यायन" करके लिखा है। छापेखाने की भूल एक जगह होती परन्तु दोनों जगह एक ही सी भूल नहीं हो सक्ती। क्या आप ने सायण के भाष्य में भी शाकटायन शब्द स्पष्ट न देख पाया?

द० ति० भा० पृ० १७३ पं० २९ में—"भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ॥ मनु" लिखकर बतलाया है कि वेद में त्रिकाल की बातें आसक्ती हैं तब इतिहास होना कुछ दोष नहीं ॥

प्रत्युत्तर—इस का तात्पर्य यह है कि प्रवाह से सदा होते रहने वाले

उत्पत्ति स्थिति प्रलयादि का सब वर्णन वेदों में है। और भूत भविष्यत् वर्त्तमान काल में जब कभी कोई ऋषि ने किसी विद्याविषय को प्रकट किया, करता है, वा करेगा, सो सब मूलरूप से वेद में है, उसी से प्रसिद्ध मात्र करता है, नया नहीं। परन्तु रामकृष्णादि के नाम धरने उन के पिताआदि के अधीन थे और जिन रावणवधादि का करना रामादि के स्वतन्त्र अधीन था, उन नामों वा कामों का वर्णन वेद में नहीं आ सकता। क्योंकि यदि ऐसा हो कि लोगों से किये जानेवाले पापपुण्यादि कर्म भी वेद ने प्रथम से ही नियत कर रक्खे हों तो फिर पाप वा पुण्य ही क्या रहे। मनु में पाठ भी "प्रसिध्यति" है। "प्रतिष्ठते" यह आप का अशुद्ध कल्पित पाठ है। विशेष जीव की स्वतन्त्रता का प्रसङ्ग आवेगा तो लिखेंगे॥

इत्यऽवतारप्रकरणम्॥

—○:※:○—

अथ सर्वशक्तिमत्त्वप्रकरणम्

जो लोग सर्वशक्तिमान् का अर्थ यह समझते हैं कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है इस लिये असम्भव देहादिधारणपूर्वक अवतारादि ले सक्ता है। उनपर स्वामी जी का लेख है कि सर्वशक्तिमान् का ऐसा तात्पर्य समझना भूल है। किन्तु जो कुछ वह अपने सर्वज्ञत्वादि अनन्त सामर्थ्य से करता है उस में किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता। और यदि असम्भव और निष्प्रयोजन बातों में सर्वशक्ति को काम में लाना समझा जावे तो अपने आप को क्या मार भी सक्ता है? क्या अनेक ईश्वर अपने सदृश बना सक्ता है? इत्यादि आशय है॥ इस पर द० ति० भा० पृ० १७५ में—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि० इत्यादि प्रमाण गीता मे देकर लिखा कि कट छंट और मर नहीं सकता॥

प्रत्युत्तर—तो फिर भी यह नहीं मान सक्ते हैं कि सर्वशक्तिमान् होनेसे वह असम्भव कर सक्ता है। क्योंकि असंयोगजन्यत्व अनादि कूटस्थ अजर अमर पदार्थ में जन्यत्व सादित्व विकार जरा मरणादि असम्भव हैं। जिस प्रकार इन असम्भव बातों को आप सर्वशक्तिमत्ता से सम्भव नहीं मानते इसी प्रकार आप के पृ० १७५ पं० १ में के (उस की इच्छा मात्र से सब जगत् उत्पन्न होजाता है) अनुसार जिस की इच्छा मात्र से उत्पत्ति हो सक्ती है

उन की इच्छामात्र से स्थिति और प्रलय भी होसक्ता है और फिर किन्हीं रावणादि क्षुद्र राक्षसों के प्रलय का तो कहना ही क्या है जिन के मारने को अवतार की कुछ भी आवश्यकता नहीं। गीता का श्लोक जीवात्मा के विषय में है, परमात्मा के नहीं॥

द० ति० भा० पृ० १७५ पं० १४ से नतं विदाथ० इत्यादि यजु १७। ३१ मन्त्र लिख कर यह शङ्का की है कि इस मन्त्र में कहा है कि (न तं विदाथ) अर्थात् उस परमेश्वर को तुम नहीं जानते। फिर यह स्वामी जी ने कैसे जान लिया कि वह अवतारादि धारण नहीं करसक्ता। परन्तु हम बूझते हैं कि आप ने यह कैसे जान लिया कि अवतार धारण करता है? जब कि कहते हो कि उसे कोई नहीं जानता। हम तो (न तं विदाथ) का यह तात्पर्य समझते हैं कि परमात्मा मन और बुद्धि का विषय नहीं होसकता॥

द० ति० भा० पृ० १७५ पं० २५ से-एतावानस्य महिमा० यजुः ३१। ३ मन्त्र लिखकर तात्पर्य निकाला है कि जितनी महिमा परमेश्वर की सब ब्रह्माण्डों में है वह चतुर्थांश है ३ अंश और विष्णुलोक में है। इत्यादि॥

प्रत्युत्तर- ३ अंश और १ का तात्पर्य संख्या में नहीं। संख्या अविवक्षित है। तात्पर्य यह है कि सब जगत् परमात्मा के एक देश मात्र में है। शेष परमात्मा जगत् के बाहर अनन्त वा त्रिपात् है। वह भी एकरस होने से ऐसा ही मान सक्ते हैं जैसा कि जगत् में है। इससे यह तात्पर्य नहीं निकलता कि वह असंभव करसक्ता है॥

द० ति० भा० पृ० १७६ में-नासदासीत्० नब्रह्युरासीत्० इत्यादि दो मन्त्रों से यह सिद्ध किया है कि जब माया, जीव, सत्त्व, रज, तम, आकाश, जल इत्यादि कुछ न था और परमेश्वर ने सब कुछ रच लिया तो सर्वशक्तिमान् का यही तात्पर्य क्यों नहीं, जो हम कहते हैं॥

प्रत्युत्तर- आप ने जो आगे पृ० २१६ में-"जीवेशौ च विशुद्धा चिद्विभेदस्तु तयोर्द्वयोः। अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥"

इस वाक्य को वार्त्तिककार सुरेश्वराचार्य का कह करस्वीकारा है और इस श्लोक में जीव, ईश्वर, शुद्धचेतन, दोनों का भेद, अविद्या, अविद्या और चेतन का योग: इन छः पदार्थों को अनादि माना है तब आप इन मन्त्रों के अर्थ में भी अनादि जीव को कैसे बताते हैं कि वह नहीं था॥ ठीक अर्थ सुनिये:-

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्। किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ ऋ॰ ॥ १० । १२९ । १ ॥ मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः । अनीदवातंस्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥ २ ॥

अर्थ-(न असत् आसीत्) प्रथम न तो अभाव था, (नो सत् आसीत्) और न प्रतीयमान जगत् था, (न रजः आसीत्) न धूलि थी, (नो व्योम) न शून्य था (यत्) जो (अपरः) अपरम्-जिस से परे कुछ नहीं । (तदानीम्) तब प्रलयकाल में (किम्) क्या ? (कुहकस्य आवरीवः शर्मन्) कोहरे का आवरण गृह [निघं० ३ । ४] में था ? (किम् गहनं गभीरम् अम्भः आसीत्) क्या घना गहरा जल था ? कुछ नहीं था (तर्हि) तब (न मृत्युः आसीत् न अमृतम्) न मृत्यु होता है न जीवन । अर्थात् संसार के प्राणी तब न तो मृत अवस्था में रहते न अमृत में किन्तु सर्वतःसुप्त सी विलक्षण दशा में रहते हैं । (न रात्र्याः अह्नः प्रकेत आसीत्) न रात्रि और दिन का चिन्ह था । तो फिर कुछ था भी ? हां, (तत् एकम्) वह एक (अवातम्) निश्चल (स्वधया) अपनी धारण की हुई प्रकृति और जीवात्माओं सहित (आनीत्) जीवित रहता है । (तस्मात् ह अन्यत् परः) उस स्वधा-सहित ब्रह्म के अतिरिक्त (किञ्चन न आस) कुछ नहीं था ॥

इस में स्पष्ट स्वधा शब्द से ब्रह्म के धारित प्रकृति और जीवात्मा का होना वर्णित है ॥

द० ति० भा० पृ० १११ पं० १ से-यस्मा विश्वा भुवनानि-इत्यादि यजु:० १७ । १७ का प्रमाण देकर परमेश्वर को जगत् का कर्त्ता और संहर्त्ता बताया है । यह तो हम भी मानते हैं, परन्तु इस से यह नहीं सिद्ध होता है कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् होने से अवतारलेना रूप बन्धन में भी आसक्तार है ॥

द० ति० भा० पृ० १११ पं० १६ से-अपाणिपादोजवनो ग्रहीता० और न तस्य कार्यं करणं च० । ये दो श्लोक श्वेताश्वतरोपनिषद् के और इन का सत्यार्थप्रकाशस्थ अर्थ लिख कर शङ्का की है कि इनके अर्थों में स्वामीदया० जी ने कुछ भेद किया है और पाठ में भी । परन्तु उस से भी उस की

सर्वशक्तिमत्ता प्रकट होती है और स्वामी जी ने जो परमेश्वर में हस्त-पादादि न होने पर अपनी शक्ति से सब कुछ करना लिखा है उस पर आप के लेख का भाव यह है कि हस्तपादादि उपाधिसहित होकर वह हस्तपादादि के काम करता है। और शक्ति, ब्रह्म से भिन्न है वा अभिन्न वा विलक्षण ? भिन्न कहो तो तीन पदार्थों के अनादित्व में ४ पदार्थ होगये। अभिन्न मानो तो शक्ति जड़ है उस का चेतन से अभेद बाधित है। विलक्षण मानों तो अद्भुत शक्ति वाले को प्रकृति की सहायता अपेक्षित नहीं ॥

प्रत्युत्तर-पाठ में जो महान्तम् का पुराणम्। वेद्यम् का विश्वम्। और अस्ति पद का छूट जाना ३ बात हैं, उन का उत्तर तो यह है कि-कण्ठस्थ लिखने आदि कारणों से पाठ भेद होगया था जो अब संवत् १९५५ के छपे सत्यार्थप्रकाश पृ० १९९ में ठीक शुद्धपाठ कर दिया गया है। यदि शुद्धपाठ से हमारे विरुद्धकुछ भाव हो जाता होता तो फिर शुद्ध क्यों किया जाता। यूं तो छपाई की अशुद्धियें सहस्रशः आप के पुस्तक में भी हैं। इसी पृ० १७६ पं० १२ में शर्मन्नम्नतः, का शर्मन्नम्नभः छपा है। पृ० १७३ में-प्रसिध्यति, का-प्रतिष्ठिते। इत्यादि अनेक हैं। अर्थभेद में आप उपाधि लगाते हैं जिस का वर्णन मूल में किञ्चिन्मात्र नहीं। और ब्रह्म सब से बड़ा होने से उपाधि से उपहित अर्थात् घेरे से घिर भी नहीं सक्ता। शक्ति शक्तिमान् का समवाय सम्बन्ध है। इस लिये शक्तिमान् कहने से शक्ति का स्वयं ग्रहण होजाता है। स्वामी जी ने तीन पदार्थ अनादि माने तो क्या वे शक्तिरहित माने हैं ? नहीं, जीव, ईश्वर, प्रकृति, तीनों अपने गुण कर्म स्वभावसहित अनादि हैं। इतने से कोई चौथा द्रव्य अनादि नहीं हो गया। शक्तिमान् द्रव्य है, शक्ति उस का गुण है, गुण गुणी में समवाय=नित्यसम्बन्ध है॥

द० ति० भा० पृ० १७८ पं० २५ से—

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ ऋ० १०। १२९। ४

इस मन्त्र का भावार्थ यह निकाला है कि जगत् का बन्धनहेतु काम है, जो मन से उत्पन्न हुआ है। तो शक्तिरूप हस्त से रचना कहना दयानन्द जी का वेदविरुद्ध है। और ग्रहीता पद से पूर्वरचित पदार्थ का ग्रहण करने

वाला अर्थ होताहै । रचना का अर्थ नहीं होता । और वेगवाला भी ब्रह्म नहीं होसकता । ब्रह्म वेद्य नहीं है । इत्यादि आशय है ॥

प्रत्युत्तर—प्रथम तो मन्त्र का अर्थ सुनिये –

इस से पूर्व मन्त्र ३ में (महिनाऽजायतैकम्०) में महत्तत्त्व की उत्पत्ति कह चुके हैं। (तदग्रे कामः समवर्त्तत) उस महत्तत्त्व के पश्चात् काम=अहङ्कार उत्पन्न होता है, उसी को मन कहते हैं (मनसो रेतः प्रथमं यत् आसीत) उस मन का बीज जो पूर्व था (कवयः मनीषा हृदि प्रतीष्य) विद्वान लोग बुद्धि से हृदय में विचार करके (असति सतो बन्धुम् निरविन्दन्) असत्-अप्रतीयमान अवस्था में सत्-प्रतीयमान जगत् के बन्धु=बान्धने वाले कर्म को जानते हैं अर्थात् प्रकृति से जगदुत्पत्ति में पूर्व कल्पकृत कर्म हेतु होते हैं। निष्प्रयोजन जगद्रचना नहीं होती है । इस सब से जीव ब्रह्म प्रकृति और जीवों के कर्म प्रवाह से अनादि सिद्ध होते हैं ॥

आप जो मन से जगत् को मान कर परमेश्वर की शक्ति से उत्पन्न नहीं मानते सो भूल है। परमेश्वर की शक्ति निमित्तकारण है, महत्तत्त्व मनआदि उपादान कारण हैं। दोनों बातें ठीक हैं । इन में विरोध नहीं है । ब्रह्म अनन्त है वह उपाधि में नहीं घिर सकता, अतः उपाधि रूप हाथों से कहना भी ठीक नहीं । जगत् के कुम्भकारादि लोग मृत्तिकादि उपादान को हाथ में लेकर रचते हैं । इस कारण समझ में आने के लिये ग्रहण करके रचना स्वामी जी ने बोधित कराई है । ब्रह्म एक देश को त्याग कर दूसरे देश में वेग से नहीं जाता, परन्तु सर्व देशों में व्यापक होने से सर्वत्र काम ऐसे ही कर सकता है जैसे कोई वेग वाला यहां भी काम करे और वेग से दौड़ कर वहां भी । उपनिषद् के मूल में" जवनः " पद है जिस का अर्थ वेग वाला ही आप भी कर सकते हैं । वेग शब्द से गति विवक्षित है, गति के ज्ञान गमन प्राप्ति ३ अर्थ हैं । प्राप्ति अर्थ ग्रहण करने से भी उक्त दोष नहीं आता । " ब्रह्म वेद्य भी नहीं है " । इस कहने का तात्पर्य यही है कि मन बुद्धि का विषय नहीं है। मन बुद्धि के विषय सावधिक पदार्थ होते हैं । ब्रह्म निरवधिक है । इस लिये स्वामी जी का यह कहना ठीक है कि उस को कोई अवधिसहित नहीं जान सकता ॥

——*०*——

अथ पापनाशनाऽसंभवत्वप्रकरणम् ।

इस विषय में द० ति० भा० पृ० १८० । १८१ । १८२ में इतने तर्क हैं—

१-जब पाप क्षमा नहीं करता तो उस के अस्तित्व स्वीकारने में क्या लाभ ?

२-उस का भजन करना वृथा ?

३-श्रेष्ठ कर्म का श्रेष्ठ फल है तो पवित्रात्मा परमात्मा की नामस्मृति का उत्तम फल क्या न होगा ?

४-उसका नाम कुछ गुण प्रभाव नहीं रखता तो उस से अपने आचरण कैसे सुधारें?

५-गुण कर्म सुधारना प्रयोजन है तो किसी भले आदमी के आचरणों को देख कर सुधार सकते हैं ?

६ ईश्वर से मेल होने पर पाप कैसे रह सकते हैं ?

७-ईश्वर के प्रत्यक्ष होने का अर्थ आप ने नहीं खोला। क्या प्रत्यक्ष कहने मे साकारता नहीं पाई जाती ?

८-जो स्वयं काम कर सके वह ईश्वर से वा अन्य से क्यों सहायता मांगे ?

९-हमारे शत्रुओं को मारो, मुझे सब से अधिक करो। यदि यह प्रार्थना न करनी चाहिये तो शतशः वेदमन्त्रों में ऐसा वर्णन क्यों है ?

१०-ईश्वर के भरोसे आलसी रहना मूर्खता है। यह लिखना नास्तिकता है। क्योंकि ईश्वर का भरोसा आस्तिकता है॥

११-जो शुद्ध चित्त से क्षमा मांगते हैं, ईश्वर अन्तर्यामी होने से यह जानकर कि यह फिर करेगा, क्षमा कर देता है॥

प्रत्युत्तर—

१-क्या जो अपराध क्षमा न करे उस का अस्तित्व (होना) ही नहीं स्वीकारना चाहिये ? धन्य ! जब कोई मेजिस्ट्रेट किसी के अपराध क्षमा न करे, दण्ड दे, तो क्या अपराधी को यह समझना चाहिये कि मेजिस्ट्रेट का अस्तित्व नहीं है अर्थात् मेजिस्ट्रेट है ही नहीं ? अब आपने न्याय तो अच्छा पढ़ा है॥

२-उस का भजन करना इस लिये वृथा नहीं कि उस की उपासना से ज्ञान बढ़ता है। ज्ञान से अशुभ कर्मों का भविष्यत् के लिये त्याग होता है। जिस से उत्तरोत्तर सुख बढ़ता है॥

३-कर्म ज्ञान उपासना इन ३ काण्डों को एक समझना अज्ञान है। ईश्वर की उपासना को शुभ "कर्म" बताना भी इसी से अज्ञान है। क्योंकि उपासना वा ज्ञान, कर्म से भिन्न हैं। उपासना का फल संख्या २ में ऊपर कहा गया। शुभकर्मों में अग्निहोत्र वापी कूप तडागादि पुण्य कर्म हैं। उपासना उस से अगली उत्तम कक्षा है। वह कर्मसंज्ञक नहीं है॥

४-उसका नामस्मरण अर्थ विचारपूर्वक अवश्य प्रभाव रखता है । जो संख्या २ में ऊपर हमने लिखा है। स्वामी जी का तात्पर्य उन बगलाभक्तों के दाम्भिक नामस्मरण को व्यर्थ बताने से है जो बाह्याडम्बर मात्र नाम मालादि जपते और चित्त से कुछ नहीं और इसी से न उनका ज्ञान बढ़ता, न आचरण सुधरते ॥

५-भले आदमी के शुद्धाचरण भी परमेश्वर की बराबरी नहीं करसकते। इस लिये भले आदमी के आचार देखकर अपना आचार सुधारना भी अच्छा तो है परन्तु परमात्मा सर्वोत्तम है, उसकी उपासना की बराबरी अन्योपासना से सिद्ध नहीं हो सकती ॥

६-ईश्वर से मेल होने पर पाप नहीं रह सके, परन्तु पापों के रहतेहुवे ईश्वर का पूर्णसाक्षात् भी नहीं होता। जो ईश्वर का साक्षात् चाहता है उसे पूर्व पापों को भोगके निवृत्ति करातेहुवे आगे पाप से बचते रहना चाहिये ॥

७-ईश्वर का प्रत्यक्ष आत्मा को होता है, इन्द्रियों को नहीं। ईश्वर ५ इन्द्रियों का विषय नहीं है इस लिये ईश्वरविषय में प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ न्यायदर्शनके प्रत्यक्ष से नहीं मिलसकता। और न्यायदर्शन में जो इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष कहा है, वहां भी पांचों इन्द्रियों में से किसी एक इन्द्रिय का सन्निकर्ष भी प्रत्यक्ष माना है अर्थात् कोई पदार्थ आंख काविषय न हो और कान का विषय हो वह भी प्रत्यक्ष कहा जाता है। इस लिये आप जो प्रत्यक्ष कहते ही साकार ले दौड़े, यह दर्शनों की अनभिज्ञता है ॥

८-अपने सामर्थ्य से आगे सामर्थ्य प्राप्तकरने के लिये अधिक सामर्थ्य वाले की प्रार्थना के समान ईश्वर की प्रार्थना भी सर्वोत्तम फलदायक है ॥

९-क्या आप एक भी वेदमन्त्र ऐसा दिखा सकते हैं कि जिस में यह प्रार्थना हो कि हमारे समान अन्य कोई नहो?

१०-ईश्वर का भरोसा करना तो ठीक है परन्तु आलसी बनने की स्वामी जी निन्दा करते हैं अर्थात् कर्म करो और फल का भरोसा ईश्वर पर रक्खो ॥

११-शुद्धचित्त से क्षमा मांगने वालों को क्षमा दी जावे तो अन्य लोग भी पाप करके शुद्ध चित्त से क्षमा मांग लेने के भरोसे से पाप अधिक करें ॥

द० ति० भा० पृ० १८१ पं० १ में-सुमित्रियान० इस यजुः ३६। २३ मन्त्र से यह सिद्ध किया है कि जल औषधि आदि हमें सुखदायी और हमारे शत्रु

को दुखदायी हों। इस से वैसी प्रार्थना वेद में पाई गई जैसी स्वामी जी नहीं करनी बताते हैं ॥

प्रत्युत्तर-इस में यह नहीं आया कि हम ही सर्वोपरि हों, हमारे समान कोई नहो ॥

द० ति० भा० पृ० १८३ पं० ७ में यद्ग्रामे यदरण्ये० इत्यादि यजुः ३।४५ से यह सिद्ध किया है कि इस मन्त्रमें उन पापों की क्षमा मांगी है जो ग्राम, वन, सभा और इन्द्रियसमूह में पाप किया है, उसे विनाश करता हूं ॥

प्रत्युत्तर-(इदं तत् अवयजामहे) का अर्थ यह है कि "यह उसे हम छोड़ते हैं"। इस का तात्पर्य यह नहीं कि हम उसका फल न भोगें गे। फल भोगने में तुम परतन्त्र हो। परन्तु हां, यह ठीक है कि हम आगे को ग्राम, वन, सभा आदि में पाप करना यह छोड़ते हैं अर्थात् न करेंगे ॥

द० ति० भा० पृ० १८३ पं० १७ में तनूपा अग्नेसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा० इत्यादि यजुः३।१७ से यह दिखलाया है कि परमेश्वर से अपनी रक्षादिकी प्रार्थना है॥

प्रत्युत्तर-यह कौन कहता है कि प्रार्थना न करो। परन्तु शुद्धाचरण पूर्वक भक्तिभाव से करो। दम्भार्थ नहीं ॥

द० ति भा० पृ० १८४ में सामवेद के ३ मन्त्र लिख कर यह सिद्ध किया है कि एक में शत्रु का नाश, दूसरे में अपने हिंसकों को भस्म करने की प्रार्थना, तीसरे में परमेश्वर से यश धनादि की प्रार्थना है ॥

प्रत्युत्तर-यदि इन मन्त्रों का अर्थ देखना है तो हमारे किये सामवेद-भाष्य पृ० ३३ में (नमस्ते हरसे०) का अर्थ और पृ० ५८ में (अग्ने रक्षाणः) का अर्थ, तथा पृ० ९२ में (आनो अग्ने०) का अर्थ देखिये परन्तु आप के किये अर्थों में भी यह कहीं नहीं लिखा कि हमारे समान कोई न हो ॥

द० ति० भा० पृ० १८५ पं० ९ में एवैवापागपरे० इत्यादि ऋ० १०।४४।७ का प्रमाण देकर उपासना का फल कहा है ॥

प्रत्युत्तर- इस में "पाप क्षीण व नष्ट हो जाते हैं" यह किसी पद का अर्थ नहीं ॥

फिर द० ति० भा० पृ० १८५ पं० २४ में-सन्ध्या में का प्रसिद्ध मन्त्र (तच्चक्षुर्देवहितम्०) यजु० ३६।२३ लिखकर प्रार्थना दिखलाई है ॥

प्रत्युत्तर-यह किस का पक्ष है कि प्रार्थना न करनी चाहिये ? हां, कर्म

न करना केवल प्रार्थना ही करते रहना, फलपाना, पाप भस्म होना, स्वामी जी ने नहीं माना सो आपने जितने मन्त्र दिये, किसी में वर्णित नहीं है। समष्टि मूर्त्तिव्यापक परमेश्वर का अर्थ किसी पद का नहीं। अवतार चरित्र भी किसी पदका अर्थ नहीं। अध्याहार योग्य पदोंका हो सकता है। ईश्वर में दोषारोपण रूप अवतारचरित्र अध्याहार भी नहीं हो सकता॥

सत्यार्थप्रकाश में जो लिखा है कि १-सर्वज्ञत्वादि गुणयुक्त ब्रह्म की उपासना सगुण। गन्धादि प्राकृत गुणोंसे पृथक् ब्रह्मकी उपासना निर्गुणकहाती है २-परमेश्वर के समीप होने से दोष दुःखछूटकर पवित्रता होती है ३-ईश्वर का साक्षात् करना। इस पर—

द० ति० भा० पृ० १८६-१८७ में ये तर्क हैं १-स्वामी जी के लेख परस्पर-विरुद्ध हैं। यहां उपासना सार्थक बतायी। २-सर्वज्ञत्वादि से साकारत्वादि भी सिद्ध है। ३-समीपता मूर्त्तिमान् ही की हो सकती है। मूर्त्तिरहित की क्या समीपता ?। ४-मूर्त्तिमान् विना हुवे प्रत्यक्ष कैसेहो। इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-१-स्वामी जी के लेख को आप समझे नहीं। परमेश्वर (सर्वज्ञादिगुणकोधर्मोक्तेः) सर्वज्ञत्वादि अपने गुणों से युक्तऔर सत्व रज तम आदि प्राकृत और गन्धादि पृथिव्यादि के गुणों से रहित होने से निर्गुणहै। प्रार्थना करना व्यर्थ कहीं भी नहीं बताया। हां प्रार्थनामात्र करने को बैठ जाना, हाथ पैर का पुरुषार्थ सर्वथा त्यागदेना, व्यर्थ कहा है। सर्वज्ञ होने से साकार होना मानने का कोई कारण नहीं। ३-समीपता मूर्त्त की नहीं हो सकती किन्तु अमूर्त्त ही की होसकती है। क्योंकि मूर्त्ति पदार्थ भिन्नदेश में रहता है। वह समीप भी हो तो कुछ न कुछ दूर ही रहता है। अमूर्त्त परमात्मा को हृदय के भीतर व्यापक जानना अत्यन्त समीपता प्राप्त करना है। ४-प्रत्यक्ष होने का उत्तर पृष्ठ २२५ में दे चुके हैं॥

द० ति० भा० पृ० १८७-१८८ में—अरंदासो न मीढुषे० इत्यादि ऋ० ७।८६।७ में जो "अरम् कराणि" पद हैं उन से परमेश्वर को अलङ्कृत=भूषित करना कहा है और भूषित, मूर्त्ति ही हो सकती है। यह कहा है॥

प्रत्युत्तर—परमेश्वर निराकार है, उसका भूषित करना असंभव है। और मूल में "अरंकराणि" का कर्म "देवम्" भी नहीं है। किन्तु "देवाय मीढुषे" ये चतुर्थी विभक्ति हैं। इस लिये "परमेश्वर को" अलङ्कृत करना

अर्थ अशुद्ध भी है। यदि व्यत्यय मानो तौ भी ठीक नहीं। क्योंकि चतुर्थी विभक्ति के संभव अर्थ को त्याग कर व्यत्यय से असंभव अर्थ करना खेंचातानी है। और आप ने अन्वय करते हुवे "देवाय" का "देवम्" कर्म परिणत किया भी नहीं है इस से आप के लेखानुसार भी आप का अर्थ अशुद्ध है। शुद्ध अर्थ सुनिये:-

अरं दासो न मीळ्हुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः। अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति। ऋ० ७।८६।७

(अहम्) मैं (अनागाः) निष्पाप होकर (दासो न) दासवत् अपने को (मीळ्हुषे भूर्णये देवाय) सब कामनाओं के बर्षाने वाले और धनादि के बहुतायत से दाता देव के लिये (अरं कराणि) पर्याप्त करूं। (अचितः देवः) चयन=मूर्त्तिरहित देव (अर्यः) स्वामी (कवितरः) अत्यन्तमेधावी परमात्मा (अचेतयत्) इस प्रकार हमें चिताता है। (राये) विद्यादि धन के लिये (गृत्सम्) मेधावी पुरुष को (जनाति) प्राप्त होवे॥

उपमार्थीय उपरिष्टात्० निरुक्त १।४

के अनुसार "न" का अर्थ "उपमा" हमें स्वीकृत है। अरम्=अलम् का अर्थ-

भूषणेऽलम् १।४।६४॥

के अनुसार "भूषण" होता तो कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती और "देवाय" चतुर्थी न होकर द्वितीया और नित्य समास भी होता। अचितः-यह चिञ्-चयने धातु का प्रयोग है। नञ् का समास है मूर्त्ति में चयन होता है। अचित कहने से मूर्त्ति का निषेध ही आता है। गृत्सः निघं० ३।१५ में मेधावी का नाम है। (जुनाति) जुन गतौ तुदादि परस्मै पदी धातु का लेट् का प्रयोग है॥

तात्पर्य इस का यह है कि जिस प्रकार कोई दास, स्वामी को प्रसन्न करके अभीष्ट सिद्ध करना चाहता है, इसी प्रकार मनुष्य भी अपने को प्रथम अलङ्कृत अर्थात् स्वामी की भक्ति के योग्य बनावे। पाप कर्म करने छोड़े। तब परमात्मा प्रसन्न हुवे उस के संपूर्ण काम पूर्ण करते और सब पदार्थ उस को बाहुल्य से देते हैं॥

इस में पाप क्षमा करने वा मूर्त्ति पूजने का वर्णन तो नहीं है, प्रत्युत खण्डन है॥

द० ति० भा० पृ० १८८ पं० २२ में-और यहां कहा कि-ईश्वर की बराबर गुणकर्म स्वभाव जीव के हो जाते हैं, जीव और ईश्वर के जब गुण कर्म स्वभाव एकसे हुवे तो अन्तर कैसा । जो वस्तु एक सी रङ्ग रूप में हों उनमें अन्तर कैसा।"अथोदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति द्वितीयाद्वै भयं भवति" बृ०उ०

प्रत्युत्तर-धन्य हो ! गुण कर्म स्वभाव "एकसे" का तात्पर्य "अविरुद्ध" है । अर्थात् जीव उस अवस्था में ईश्वर के विरुद्ध अविहित गुण कर्म स्वभाव नहीं रखता । आप जो गुण कर्म स्वभाव की बराबर एकसापन वा अविरुद्धता को रूप रङ्ग की एकता लिखते हैं यह कैसा बड़ा अज्ञान है । जीव ईश्वर दोनों के स्वरूप में रूप रङ्ग है ही नहीं ॥

बृहदारण्यकोपनिषद् का जो वचन आपने उद्धृत किया उस का तात्पर्य तो यह है कि जो पुरुष ब्रह्म से थोड़ा भी अन्तर अर्थात् भेद वा विरोध करता है उसे भय होता है क्योंकि दूसरे अर्थात् अपने विरोधी से भय हुवा करता है ॥

द० ति० भा० पृ० १८८ पं० २७ में-यजुर्वेद अ० ४० मं० १७ योसावादित्ये पुरुषः सोसावहम् । जो यह आदित्य में पुरुष है सो मैं हूं । इत्यादि जीव ईश्वर में एकताबोधक बहुत श्रुति हैं । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-आगे चलकर आप जीव को ईश्वराधीन परतन्त्र लिखेंगे । यहां दोनों को एक बताते हैं । एक में स्वतन्त्रता के अतिरिक्त परतन्त्रता का क्या काम ? और यजुर्वेद के वाक्य का अर्थ आप का लिखा भी मानलें तब भी परमेश्वर के यह कहने से कि " जो यह आदित्य में व्यापक पुरुष है सो मैं हूं " जीव ब्रह्म की एकता तो नहीं पाई जाती किन्तु सूर्य का भी धारक और उस में व्यापक परमात्मा सिद्ध होता है ॥

द० ति० भा० पृ० १८९ में-सर्वधर्मान्परित्यज्य० इस से सब धर्मकर्म छोड़ कर श्री कृष्ण के शरण जाना बताया है ॥

प्रत्युत्तर-इस का प्रकरणानुसार यह अर्थ है कि:-

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः । गीता

लड़ाई के समय अर्जुन को जब ज्ञाति शत्रुओं के वध में दोष प्रतीत होने लगा और वह धर्म के विचार से हिंसा से पीछे हटने लगा तब श्रीकृष्ण

ने कहा है कि-"तू सब धर्म कर्म के विचार छोड़ दे । केवल मेरा सहारा ले, मैं तुझे सब पापों से बचा लूंगा । शोक मत कर ।"

अर्थात् तू अल्पज्ञ है इस लिये स्वयं धर्म का विचार मत कर । किन्तु मैं जो बहुज्ञ हूं, मेरा सहारा ले । अर्थात् मैं तुझे पाप कर्म में नहीं डूबने दूंगा किन्तु क्षात्रधर्मानुसार युद्ध कराता हुआ इस लोक और परलोक का सुखिया बनाऊंगा । तू कुछ शोच मत कर ॥

——=*:०:*=——

अथ जीवात्मस्वातन्त्र्य-प्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० १८९-१९१ में इतने तर्क हैं-

१-जब कि स्वामी जी के लेखानुसार जीव जैसा कर्म करेगा ईश्वर ने पहिले ही अपनी सर्वज्ञता से जान रक्खा है तो जीवकर्म करने में स्वतन्त्र कहां रहा ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी ने यह नहीं लिखा कि "जीव जैसा कर्म करेगा, ईश्वर ने पहिले ही अपनी सर्वज्ञता से जान रक्खा है" किन्तु स्वामीजी ने यह लिखा है कि-

"जैसा स्वतन्त्रता से जीव करता है वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है और जैसा ईश्वर जानता है वैसा जीव करता है"

इस में स्पष्ट यह पाया जाता है जीव का कर्म करना, और ईश्वर का उस को जानना, एक साथ होते हैं आगे पीछे नहीं । अर्थात् न तो यह कि जीव पूर्वकाल में कर्म करे और ईश्वर उत्तरकाल में उसे जाने । और न यह कि ईश्वर पूर्वकाल में जान लेता है फिर उत्तरकाल में जीव कर्म करता है । तथा जब जीव ने कर्म नहीं किया तब उस कर्म की सत्ता नहीं है, और स्वतन्त्र होने से जीव किसी कर्म को करे वा न करे, इस कारण कर्म की सत्ता भविष्यत् काल में नियत नहीं है । तब वर्त्तमान और भविष्यत् दोनों कालों में अनियत कर्मसत्ता को यदि ईश्वर नियत माने वा जाने तो ईश्वर को "अन्यथाज्ञानी" मानने का दोष आता है । और यह कहना कि भविष्यत् कर्मों के न जानने से ईश्वर में अज्ञान वा अल्पज्ञता आती है, ठीक नहीं है । क्योंकि जो कर्म न तो हुवे, न भविष्यत् में नियत हैं, वे यथार्थ में अवस्तु हैं, बस अवस्तु को अवस्तु ही जानना ज्ञान है और वस्तु को अवस्तु वा अवस्तु को वस्तु जानना अविद्या है ॥

२-पृ० १८९ पं० २६ से-स्वामी जी ने पृ० १८७ पं० २५ में लिखा है कि पापफल भोगने में परतन्त्र है, स्वामी जी यही कहेंगे कि पुण्य का फल भोगने में स्वतन्त्र और इस से यही धुनि निकलती है कि पापकर्म तो परतन्त्रता से भोगने पड़ेंगे, तो पुण्य फल में स्वतन्त्र हुआ चाहे ग्रहण करे वा नहीं सो इस में जीव स्वतन्त्र नहीं होसकता तो दयानन्द जी यही कहेंगे कि पुण्य का फल सुख है और उस का ग्रहण और त्याग जीव के आधीन है० इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-आपने पुण्यफलभोग में स्वतन्त्र न होने में कोई भी युक्ति वा प्रमाण नहीं दिया। पुण्य का फलभोग ईश्वरदत्त जब जीव को प्राप्त हो और जीव उसे स्वतन्त्रता से त्याग दे। तो भी उसका भोग तो उसे मिल गया। क्योंकि जो वस्तु किसी को मिले ही नहीं, उसका त्याग कैसा? बस त्यागने से मिलना सिद्ध है और त्यागना आगे के लिये और एक शुभ कर्म है जिस का भविष्यत् में कोई फल फिर मिलेगा ॥

३-पृ० १९० पं० ३। ४ में-हम अभी स्वामी जी के लेखानुसार कि (जीव जैसा कर्म करेगा ईश्वर पहले ही से जानता है) सिद्ध कर चुके हैं० इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी ने अपना मन्तव्य कहीं नहीं लिखा वा कहा कि "ईश्वर पहले ही से जानता है" इस लिये आप के असत्य लेख का उत्तर ही क्या दें॥ और यदि कोई बात जीव के आधीन नहीं तो गीता आदि में निष्काम अर्थात् फलभोगेच्छारहित शुभ कर्मों का विधान व्यर्थ होगा। क्या आप उसे भी नहीं मानते ?

४-पृ०१९१ पं० ५ से-विद्यमान शरीर से जो जो कर्म किये जाते तथा सुख दुःख भोगे जाते हैं वे सब अपने ही पूर्व कर्मों के अनुकूल होते हैं इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-यदि पूर्व कर्म, फल का भी हेतु हैं और आगे के कर्मों का भी हेतु हैं तो पाप करने वाला फिर कभी पुण्य न करसके। क्योंकि पिछले पाप उसे पुण्य न करने दें। यदि ऐसा हो तो किसी पापी को पापत्यागार्थ और पुण्याऽनुष्ठानार्थ उपदेशादि करना सभी व्यर्थ हो जावे। इस लिये यह ठीक नहीं है कि कर्म ही कर्मों का हेतु हैं किन्तु कर्म केवल फलभोग का हेतु हैं। कर्म का नहीं ॥

५ पृ० १९१ पं० ९ से-यद्यपि जीव कर्म करने में सर्वथा परतन्त्र है परन्तु जब कि ईश्वर उसी के पूर्व कर्मानुकूल क्रियमाण कर्म को कराता है तो इन का फल भी अवश्य पुनः जीव को होना चाहिये, ईश्वर पर लेशमात्र भी दोष नहीं आता है॥

प्रत्युत्तर-ईश्वर पर दोष क्यों नहीं आता, पूर्वकर्म भी ईश्वरकी प्रेरणा ही से किये थे?

६ पृ० १९१ पं० २१ में—

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥

यह मन्त्र चारों वेदों में आया है। संक्षेपार्थ यह है कि उस जगत्प्रकाशक सविता देवता के वरणीय प्रकाश को हम ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धियों को प्रेरणा करता है। किसी कर्म के करने में हम स्वतन्त्र नहीं॥

प्रत्युत्तर—यहां भी ईश्वर का ध्यान करना कर्म है और बुद्धियों का सत्कर्मों में प्रवृत्त करना उस का फल है। बस जीव ध्यान करने में स्वतन्त्र है, उस का फल बुद्धि का अच्छे कामों में प्रेरित होना ईश्वर की ओर से है। बस कर्म करने में स्वतन्त्रता और फलभोग में ईश्वरतन्त्रता रही॥

द० ति० भा० पृ० १९२ पं० ११ से–यः सर्वेषु भूतेषु० इत्यादि बृहदारण्यक के ८ प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि परमात्मा ही सब भूतों में, प्राण में, वाणी में, आंख में, कान में, मन में, त्वचा में, और आत्मा में अन्तर्यामिरूप से रह कर इन्हें उस २ कर्म में प्रवृत्त करता है, इसलिये सबकाम ईश्वरेच्छा से होते हैं॥

प्रत्युत्तर-मनवाणी आदिका अन्तर्यामी होने से भी ईश्वर हमारी वाणी आदि से कर्म कराने में हमें परतन्त्र नहीं करता है। किन्तु मन वाणी आदि को इस योग्य बनाता है कि जीव यदि चाहे तो मन वाणी आदि से वह काम कर सके। ईश्वराधीनता इतनी ही है कि ईश्वर अन्तर्यामिता से मन वाणी आदि में न रहता और उन्हें अपने अपने कर्म करने में समर्थ न करता तो जीव मन वाणी आदि से कोई काम न लेसक्ते। जिसप्रकार रथादि बनाने वाला रथादि न बनाता तो कोई सवारी आदि का काम न ले सक्ता। परन्तु रथकार ने रथ बना कर भी रथ में चलने वालों को परतन्त्र तो नहीं किया कि अमुक २ समय पर अमुक २ पुरुष अमुक २ स्थानों को अमुक २ रथादि द्वारा जावें ही। किन्तु जाने वाले स्वतन्त्र हैं। इसी प्रकार जीव स्वतन्त्र है, आंख से शुद्ध दृष्टि करे वा कुदृष्टि, वाणी से दुर्वचन बोले वा सुवचन इत्यादि॥

द० ति० भा० पृ० १९३ में=सर्वस्य वशी० एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा० इन प्रमाणों से सिद्ध किया है कि सब कुछ परमात्मा के वश में है॥

प्रत्युत्तर- वही तो इतने से भी कहा जा सकता है कि कोई कुकर्मी कुकर्म करके उस से बच नहीं सकता। अर्थात यह नहीं हो सकता कि कोई जीव परमात्मा के नियमानुसार फलभोगने में ईश्वर के वश से बाहर होजावे॥

द० ति० भा० पृ० १८३ में-एको देवः इत्यादि श्वेताश्वतरोपनिषद् का प्रमाण दिया है॥

प्रत्युत्तर-इस का अर्थ यह है:—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षःसर्वभूताधिवासःसाक्षी चेताःकेवलो निर्गुणश्च ६।११

भा०-(देवः) दिव्यगुणयुक्त(एकः) अकेला (सर्वभूतेषुगूढः) सब भूतों में छिपा (सर्वव्यापी) सर्वव्यापक (सर्वभूतान्तरात्मा) सर्व प्राणियों का अन्तर्यामी (कर्माध्यक्षः) कर्मफलप्रदाता (सर्वभूताधिवासः) सब प्राणियों में अधिकारी होकर बसने वाला (साक्षी) साक्षिमात्र (चेताः) चेतन (केवलः) असंयुक्त (च) और (निर्गुणः) सत्व रज तम से रहित है॥ ६॥ ११॥ इस से जीव की परतन्त्रता का लेश भी कर्म करने में नहीं आता॥

द० ति० भा० पृ० १८४ पं० १ में-एषह्येव सुकर्मकारयति० इत्यादि कौशीतकी उपनिषद् के वचन से सिद्ध किया है कि परमेश्वर जिसकी उन्नति चाहता है उस से सुकर्म कराता है और जिस की अधोगति चाहता है उससे कुकर्म कराता है॥

प्रत्युत्तर- हां, बस ऐसा स्पष्ट वचन आप किसी प्रामाणिक ग्रन्थ में दिखाते तो आप का पक्ष सिद्ध हो जाता। परन्तु आप का पूर्व लेख तो इस से खण्डित ही हो जाता है कि "ईश्वर विद्यमान शरीर से जो कर्म करता है, सो सब पूर्वजन्म के कर्मानुसार करता है।" अब तो आप इस प्रमाण से मुसल्मानों के समान यह सिद्ध कर करने लगे कि ईश्वर जिसे गिराना चाहता है उसी के पास शैतान भेजकर कुकर्म करवाने लगता है॥

द० ति० भा० पृ० १८४ पं० ६ में-गीता के श्लोक से जीव की परतन्त्रता सिद्धकी है

प्रत्युत्तर-गीता के श्लोक का तात्पर्य यह है कि-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

हे अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में वर्त्तमान है और प्रकृति से यन्त्र पर चढ़े, सर्व प्राणियों को घुमाता है अर्थात् जीवों के कर्मानुसार

देहादि देकर उन २ के फल भोगवा रहा है । इस में यह कहीं नहीं कि कर्म भी वही कराता है ॥

द० ति० भा० पृ० १९५ पं० १० में महाभारत के श्लोक का प्रमाण दिया है ॥

प्रत्युत्तर—इस का अक्षरार्थ भी सुनिये (इदं) यह (सर्वं जगत) सब जगत् (दिष्टस्य वशे) प्रारब्ध कर्म के वश में (धात्रा तु) और धारण करने वाले ईश्वर से धारित (चेष्टित) चेष्टा करता है, (न स्वतन्त्रम्) स्वतन्त्र नहीं अर्थात् परमेश्वर केवल धारण करने वाला है, परन्तु जीव सब पूर्व प्रारब्ध कर्माधीन हैं । और उन्हें प्रारब्ध कर्म का फल भोगना ही पड़ेगा । वे स्वतन्त्र नहीं जो फल भोग से भाग सकें ॥ इस से भी कर्म करने में परतन्त्रता नहीं पाई जाती किन्तु (दिष्ट) अर्थात् प्रारब्ध के वश भोग में परतन्त्रता है ॥

द० ति० भा० पृ० १९४ पं० १३ से महाभारत सभापर्वणि ५१ अ० ५१ अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्। ईश्वरस्य वशे लोकास्तिष्ठन्ते नात्मनो यथा ॥ इत्यादि २१—२८ तक ८ श्लोकों से जीव की परतन्त्रता सिद्ध की है ॥

प्रत्युत्तर—प्रथम तो यह बताइये कि इस प्रथम श्लोकानुसार पुरातन इतिहास इस विषय में क्या बताया कि ईश्वर के वश में लोक हैं, अपने वश में नहीं । इतिहास कहने की प्रतिज्ञा करके इतिहास न लिखना भी इस लेख की अस्तव्यस्तता सिद्ध करता है । दूसरे यदि हम फल भोगने ही में इन श्लोकों में कही जीव की परतन्त्रता को लगालें तो आप क्या दोष दे सक्ते हैं। अर्थात् कठपुतली वा नाथे बैल वा सूत में पोये हुवे मणियों को घुमाने वाला जिस प्रकार चाहे उस प्रकार घुमा सकता है । ईश्वर भी इसी प्रकार सब को उन के कर्मानुसार चाहे जिन सुख वा दुःखों में घुमाता है । वे स्वतन्त्र नहीं कि भोगने का निषेध करें ॥

द० ति० भा० पृ० १९५ में महाभारत का एक और श्लोक लिखा है परन्तु उस से भी जीवात्मा की स्वतन्त्रता नहीं छिनती । यथा—

यद्ध्ययं पुरुषः किञ्चित्कुरुते वै शुभाशुभम् ।
तद्धातृविहितं विद्धि पूर्वकर्मफलोदयम् ॥ सभापर्वणि ३०।२२

अर्थात्—(अयं पुरुषः) यह मनुष्य (यत् हि) जो कुछ (शुभाऽशुभम्) पुण्यपापभोग (कुरुते) करता है (तत्) उसको (धातृविहितम्) ईश्वरदत्त (पूर्वकर्मफलोदयम्) पिछले कर्मों के फल का उदय (विद्धि) जान ॥ इस

में जीव की परतन्त्रता कर्म करने में नहीं किन्तु पूर्वकर्मफलोदय में ईश्वरा-धीनता कही है ॥ फिर वनपर्व ३२ । ८ में:-

वार्य्यमाणोऽपि पापेभ्यः पापात्मा पापमिच्छति ।
चोद्यमानोऽपि पापेन शुभात्मा शुभमिच्छति ॥

अर्थ-पापात्मा=जिस ने पाप करने का संकल्प कर लिया है उसे पापों से रोका भी जाता है परन्तु (स्वतन्त्र होने से) पाप को ही चाहता है और शुभात्मा=जिसने पुण्य कर्मों का संकल्प ठान लिया है वह पाप से प्रेरित हुवा भी (पाप नहीं किन्तु) पुण्य ही की इच्छा करता है ॥

इस में स्पष्ट आप के उस कथन का खण्डन है जो आपने पूर्व लिखा है कि पूर्व पापों की प्रेरणा से मनुष्य पुनः पाप करता है और पुण्यों के प्रभाव से पुण्य ॥

द० ति० भा० पृ० १९६ पं० १ में:-

न ह्येव कर्त्ता पुरुषः कर्म्मणोः शुभपापयोः ।
अस्वतन्त्रोहि पुरुषः कार्यते दारुयन्त्रवत् ॥ १४ ॥

अर्थात् पुरुष शुभाशुभ कर्मों का करने वाला नहीं, पुरुष अस्वतन्त्र है काष्ठ के यन्त्रों की सदृशता कर्मों में नियुक्त किया जाता है । उद्योगपर्व अ० १५९

प्रत्युत्तर-कलकत्ते के प्रतापचन्द्रराय के छपाये महाभारत उद्योगपर्व अध्याय १५९ में यह श्लोक नहीं है किन्तु अध्याय १५८ में है । और १४वां नहीं किन्तु १४-१५ में उत्तरार्ध पूर्वार्ध रूप से आया है । और धृतराष्ट्र ने सञ्जय से युद्धवृत्तान्त पूछा है, उस के उत्तर में प्रथम श्लोक ८-९ इस प्रकार है—

य आत्मनो दुश्चरितादशुभं प्राप्नुयान्नरः ।
न स कालं न वा दैवं वक्तुमेतदिहार्हति ॥

अर्थात-जो पुरुष अपने कुकर्मों से दुःख को प्राप्त हो' वह काल वा दैव को कुछ नहीं कह सक्ता ॥ अर्थात् तुम को जो दुःख हुआ वह तुम्हारे उन कर्मों का फल है जो तुमने पाण्डवों की न सुनी और तुम जो कहते हो कि-

दैवमेव परं मन्ये पौरुषं चाप्यनर्थकम् ॥

(दैव को ही बलवान् मानता हूं, पुरुषार्थ व्यर्थ है)

सो ठीक नहीं । किन्तु तुम्हारे काम ही ऐसे थे । अब विचारिये कि आप का कहा १४ वां श्लोक इस प्रकरण में जीव को फलभोग में कठपुतली

सिद्ध करता है वा कर्म करने में ? उस श्लोक का तात्पर्य यही है कि तुम अपने किये अन्याय के फलभोग में स्वतन्त्र नहीं, जो न भोगो, किन्तु परतन्त्र करके तुम्हारे कर्मों ने कठपुतली सा नचाया। और यह ध्वनि यहां भी निकलती है कि तुम दैव को दोष देते हो सो ठीक नहीं, किन्तु तुम स्वतन्त्र थे, पाण्डवों पर अन्याय न करते तो तुम्हें यह फल काल वा दैव न देता॥

द० ति० भा० पृ० १९६ पं० ५ में-(एतत्प्रधानं) इस श्लोक को शान्ति आपद्धर्म पर्व अ० ३१ का ४८ वां श्लोक बताकर जीव की परतन्त्रता दिखाई है॥

प्रत्युत्तर-प्रथम तो शान्ति पर्वान्तर्गत अध्याय ३१ में आपद्धर्मवर्णन ही नहीं है किन्तु राजधर्मानुशासन है। और ३१। ४८ श्लोक यह है-

कुम्भाश्च नगरद्वारि वारिपूर्णा नवा दृढाः॥

आप का लिखा (एतत्प्रधा०) नहीं है। और विधिशब्द इस श्लोक में प्रारब्ध अर्थात् पूर्व कर्म का वाचक है। ईश्वरवाचक नहीं॥

द० ति० भा० पृ० १९६ पं० ११ से-

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः ४२

जीव अत्यन्त पराधीन है अ० २ पा० ३ और ईश्वर में कुछ दोष नहीं आता॥

प्रत्युत्तर-यथार्थ में यह वेदान्तदर्शन का २। ३। ४२ वां सूत्र है, आप ने ग्रन्थ का नाम नहीं लिखा। इस से पूर्व-

परात्तु तच्छ्रुतेः २। ३। ४१

यह सूत्र है। इस में से " परात् " पद की अनुवृत्ति करके यह अर्थ होता है कि (परात्) पर=ईश्वर से (विहितप्रतिषिद्धाऽवैयर्थ्यादिभ्यः) विधान किये और निषेध किये कर्मों को व्यर्थता न हो इत्यादि हेतुओं से (तु) तो (कृतप्रयत्नापेक्षः) जीवात्मा किये हुवे कर्मों की अपेक्षा वाला है॥ अर्थात् यदि जीव को स्वतन्त्र न मान कर ईश्वराधीन माना जावे तो विधि निषेध वाक्य व्यर्थ हो जावें। क्योंकि ईश्वर ही जब कर्म करावे तो ईश्वर ही वेदद्वारा किन्हीं कर्मों की विधि और किन्हीं कर्मों का निषेध क्यों करे। इस सूत्र से आप का पक्ष सिद्ध नहीं होता, किन्तु स्वामी जी का पक्ष सिद्ध होता है। आप ने अर्थ न जान कर इसे स्वपक्षपोषक समझा॥

द० ति० भा० पृ० १९६ पं० १३ में-

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥
कठ० २।११

प्रत्युत्तर-इस का भी भावार्थ आप के पक्ष का पोषक नहीं। क्योंकि इस में यह कहा गया है कि "जिस प्रकार सूर्य सब संसार की आंख है परन्तु बाहरी किसी आंख में दोष हो तो वह दोष सूर्य पर नहीं लगता। (किन्तु उस पुरुष की निज आंख का स्वतन्त्र दोष है) इसी प्रकार सब प्राणियों-जीव रत्नाओं के अन्तर्यामी परमात्मा पर भी संसार के दुःख का प्रभाव नहीं होता।" सच पूछो तो इस में यह वर्णन ही नहीं कि जीव स्वतन्त्र है वा ईश्वराधीन? किन्तु इस में तो यह वर्णन है कि ईश्वर सब का अन्तरयामी है तो उस को सुख दुःखादि क्यों नहीं व्यापते। इस शङ्का का उत्तर दिया गया है कि जिस प्रकार सूर्य की सब को देखने में सहायता है परन्तु किसी की आंख फूटने से सूर्य में कुछ विकार नहीं आता। इसी प्रकार परमेश्वर सब का अन्तर्यामी होने से सब को सब कामों में समर्थ करने वाला है परन्तु प्रवर्त्तक नहीं होने से उस में कोई दोष नहीं पहुंचता॥

द० ति० भा० पृ० १९६ पं० १८ से-

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

प्रत्युत्तर- इस में भी अग्नि, सूर्य, विजुली, वायु, मृत्यु इन जड़ पदार्थों को ईश्वराधीन कहा है! जीव को नहीं॥

इति जीवात्म-स्वातन्त्र्य-प्रकरणम्

—○*.*.*○—

अथ जीवात्मलक्षणप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० १९७ मूलमन्त्र से विना, सूत्रों से जीव के स्वरूप का निरूपण करने से स्वामी जी की प्रतिज्ञा भङ्ग होती है कि मैं मन्त्र भागको स्वतः प्रमाण मानता हूं, कोई जीव के स्वरूप की श्रुति लिखी होती॥

प्रत्युत्तर-वेदों में बहुत से मन्त्र हैं जिन में जीवात्मा का वर्णन है, जैसाकि-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया० इत्यादि० ऋ० १।१६४।२०
वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम्।यजुः ४०।१५

अर्थात्–जीवात्मा और परमात्मा में, जीवात्मा वह है जो व्याप्यव्याप-कत्वादि सम्बन्ध से परमात्मा के साथ रहता है, उस का मित्र के समान चेत-नत्वादि साधर्म्य रखता है, भोक्तृभाव से प्राकृत पदार्थों का भोक्ता है ॥ वायु=जन्मान्तर वा योन्यन्तर को जाने वाला, अमर और अप्राकृत है ॥

परन्तु स्वामी जी ने वेदस्थ अनेक स्थलों में कहे आशयानुसार जो गोत-मादि ऋषियों ने जीवात्मा के देह से भिन्न पहिचानने के चिन्ह लिखे हैं उन्हीं को इस लिये लिख दिया कि वे वेदविरुद्ध न थे। स्वामी जी की यह प्रतिज्ञा कहीं नहीं कि हम मन्त्रसंहिता के अतिरिक्त किसी विषय में किसी अन्य ग्रन्थ का प्रमाण ही न देंगे, किन्तु मन्त्रसंहिता स्वतःप्रमाण और अन्य ग्रन्थ मन्त्र संहिता के अविरुद्ध होने से प्रमाण माने हैं। यदि आप गोतमादि के इन सूत्रों को मन्त्र संहिता से विरुद्ध समझते हैं तो किसी मन्त्र से विरोध दिखाइये ॥

जीवों के पवित्रस्वरूप होने पर भी शरीरसहित जीवों में भले बुरे दोनों प्रकार के कर्म प्रत्यक्ष हैं। इस में कुछ विरोध नहीं है ॥

स्वामी जी ने भी न्याय वैशेषिक सूत्रोक्त इच्छा द्वेष प्रयत्न को जीवात्मा का स्वरूप नहीं लिखा, किन्तु ये गुण जीवरहित शरीर में नहीं देखे जाते किन्तु आत्मसहित में ही दीखते हैं, इस से देहातिरिक्त आत्मा का अनुमान से ज्ञान करना चाहिये ॥

द० ति० भा० पृ० १९८ पं० ५ में—

विभवान्महानाकाशस्तथा चाऽऽत्मा । वै० ७ । १ । २२

प्रत्युत्तर–इस सूत्र में जो आत्मा को विभु कहा है सो परमात्मा को कहा है। और आत्मा पद से यदि दोनों का सामान्य ग्रहण करें तो परमात्मा एक सर्वत्र है और जीवात्मा अनेक सर्वत्र फैल रहे होने से कोई दोष नहीं। अर्थात् परमात्मा स्वरूप से विभु और जीवात्मा को जाति विभु मानना ठीक है ॥

द० ति० भा० पृ० १९८ पं० १० से–दुःखजन्मप्रवृत्ति० इत्यादि न्यायसूत्र से स्वामी जी पर यह दोष दिया है कि जीवात्मा स्वरूप से गतिमान होता तो मोक्ष में प्रवृत्ति का अभाव क्यों होता ॥

प्रत्युत्तर–हम ऊपर कह चुके हैं कि स्वामी जी ने यह जीवात्मा का स्वरूप वर्णन नहीं किया किन्तु देह में आत्मा की पहिचान लिखी है। इस

लिये आप स्वरूप मान कर दोष न दें। परन्तु इस सूत्र को मानते हुवे भी जीवात्मा को गतिमान् मान सकते हैं। क्योंकि हम मोक्ष में भी पुनरावृत्ति मानते हैं जिसे प्रकरण आने पर हम सिद्ध करेंगे। स्वामी जी ने जो इच्छा द्वेषादि को आत्मा के गुण लिख दिया है, वहां गुण शब्द दार्शनिक नहीं है किन्तु लौकिक बोल चाल का गुण शब्द है। जैसे लोक में मनुष्यों को गुणी वा निर्गुण कहते हैं। परन्तु दार्शनिक रीति पर कोई वस्तु गुणगुणी के नित्य समवाय सम्बन्ध होने से निर्गुण नहीं कहा जा सकता॥

द० ति० भा० पृ० २०१ पं० ८ से–

ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनो न विरोधः। गौ०

अर्थात् आत्मा का लिङ्ग ज्ञान है, यहां मनु जी ने सब का लिङ्ग पृथक् २ कर दिया केवल शुद्ध ज्ञान लिङ्ग आत्मा का वर्णन किया॥

प्रत्युत्तर–हम भी मानते हैं कि आत्मा सत्‌चित्स्वरूप है और इस लिये केवल जीवात्मा का लिङ्ग "ज्ञान" है। परन्तु इच्छाद्वेषादि भी ज्ञान का ही प्रपञ्च है। "इच्छाद्वेषप्रय०" इस सूत्र का वात्स्यायन भाष्य देखिये—

यज्जातीयस्यार्थस्य सन्निकर्षात्सुखमात्मोपलब्धवान् तज्जातीयमेवार्थं पश्यन्नुपादातुमिच्छति। सेयमादातुमिच्छा एकस्याऽनेकार्थदर्शिनोदर्शनप्रतिसन्धानाद्भवति लिङ्गमात्मनः, नियतविषये हि बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति देहान्तरवदिति। एवमेकस्याऽनेकार्थदर्शिनोदर्शनप्रतिसन्धानाद्दुःखहेतौद्वेषः। यज्जातीयोयस्यार्थः सुखहेतुः प्रसिद्धस्तज्जातीयमर्थं पश्यन्नादातुं प्रयतते, सोऽयं प्रयत्नएकामनेकार्थदर्शिनं दर्शनप्रतिसन्धातारमन्तरेण न स्यात, नियतविषय बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति देहान्तरवदिति, एतेन दुःखहेतौ प्रयत्नो व्याख्यातः। सुखदुःखस्मृत्या चायं तत्साधनमाददानः सुखमुपलभते दुःखमुपलभते। सुखदुःखे वेदयते, पूर्वोक्तएवहेतुः। बुभुत्समानः खल्वयं विमृशति किं स्विदिति ? विमृशन्

जानीते इदमिति, तदिदं ज्ञानं द्रष्टृत्वावमर्शाभ्यामभिन्न-कर्तृकं गृह्यमसामात्मलिङ्गम्, पूर्वोक्त एव हेतुरिति ॥

भाष्य का तात्पर्य यह है कि-१-इच्छा-जिस प्रकार के विषय से आत्मा ने सुख प्राप्त किया है, उस उस प्रकार के विषय को देखता हुवा, लेना चाहता है। यह जो लेने की इच्छा है सो एक ऐसे आत्मा को होती है जो एक है और अनेक विषयों का देखने वाला है। उसी का यह "इच्छा" लिङ्ग है। यदि देह से भिन्न आत्मा न माना जावे और किसी विषय की लिप्सा को केवल बुद्धि का भेद माना जावे तो जैसे अन्य देहों से अनुभूत विषयों का अन्य देह को ज्ञान नहीं होता इसी प्रकार यहां भी न होना चाहिये। क्योंकि बुद्धि और देह के अवयव तो प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। जो पूर्वक्षण में थे, वे वर्त्तमानक्षण में नहीं हैं। इस लिये आत्मा शरीर से भिन्न वस्तु न हो तो पूर्व जिस प्रकार के विषय से मनुष्य को सुख हुवा है उस प्रकार के विषय को पुनः देखकर उस के लेने की इच्छा न होनी चाहिये। इस प्रकार एक आत्मा अनेक कालों में अनेक विषयों का द्रष्टा जो शरीर की भान्ति शीर्ण नहीं होता, उस के मानने ही यह बन सकता है कि वह पूर्वानुभूत विषयों को अनुभूयमान विषयों से मिलान करे और चाहे कि यह उसी प्रकार का विषय है, जिस से मुझे सुख हुवा था, इस लिये इसे लूं ॥

२-द्वेष-जिस प्रकार क्षण २ में बदलने वाले शरीर वा बुद्धि को आत्मा मानने से "इच्छा" नहीं बन सकती, इसी प्रकार द्वेष भी नहीं बन सकता। क्योंकि जिस काल में जिस प्रकार के पदार्थ से दुःख हुआ था, उस प्रकार के दूसरे विषय को देखने के समय देहात्मवादी के मतानुसार वही पुराणा एकरस रहने वाला आत्मा न मानने से "द्वेष" भी उस प्रकार के विषय से न होना चाहिये ॥

३-प्रयत्न-जिस प्रकार का विषय जिस को सुख का हेतु होता है उस प्रकार के विषय को देख कर वह लेने का प्रयत्न करता है। यह प्रयत्न तब न होता जब कि एक ही पुराणा आत्मा सदा न रहता। जैसे अन्य देहों से भोगे सुख की प्राप्ति के लिये अन्य कोई प्रयत्न नहीं करता ॥

इसी से दुःखदायक विषयों से बचने का प्रयत्न भी समझ लीजिये ॥

४।५ सुख, दुःख-सुख और दुःख को स्मरण करके सुख दुःख के साधनों से सुख दुःख को प्राप्त होता है। इस में भी हेतु वही है कि आत्मा देह और बुद्धि के साथ बदल जाता तो ऐसा न हो सकता ॥

६—ज्ञान— जब कि आत्मा समझना वा जानना चाहता है तो सोचता है कि 'यह क्या है" । फिर सोचने से जानता है कि यह "यह है" । अब जानना चाहिये कि जानने की इच्छा और सोचने का कर्त्ता ही इस जानने का भी कर्त्ता है, उस से भिन्न नहीं । यदि हम (आत्मा) देह ही होते और क्षण २ में बदलते (विपरिणत होते) तो जब जानने की इच्छा की थी तब वह जानना चाहने वाला अन्य कोई था, फिर विचारने वाला अन्य होगया और जानने वाला कि "यह है" अन्य है । तब यह कैसे बन सक्ता है कि आत्मा यह सन्तोष करे कि मैंने जो कुछ जानना चाहा था, जान लिया । यह तो तभी बन सकता है कि जब एक ही आत्मा अशीर्णभाव से जानने की इच्छा, विचार और यथार्थज्ञान का कर्त्ता माना जावे ॥

द० ति० भा० पृ० २०० पं० १७ से—अशरीरम्० इस कठोपनिषद् वाक्य से आत्मा को विभु कहा है ॥

प्रत्युत्तर—विभु मानने का उत्तर, " विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा " इस सूत्र में ऊपर हम कह चुके हैं ॥

द० ति० भा० पृ० २०० पं० २३ में—(नायमात्मा०) इस कठोपनिषद् के वाक्य से निष्काम पुरुष को अपने ही ज्ञान से ब्रह्मज्ञान बताया है ॥

प्रत्युत्तर—अपने ज्ञानमात्र से ब्रह्मज्ञान वा मोक्ष नहीं होसक्ता, किन्तु जीव ब्रह्म प्रकृति इन के भिन्न भिन्न स्वरूपपूर्वक ज्ञान से ज्ञानी कहाता है । जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद्—

उद्गीथमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाऽक्षरं च । अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥ १ । ७ ॥

भा०—पूर्व ६ श्लोकों में सब कारणों और उन से बने संसारचक्र का वर्णन किया गया और जीवात्मा को कर्मानुसार इस चक्र में घूमना पड़ता है यह कहा गया । अब इस संसारचक्र से निकलने का उपाय बताते हैं—

(एतत्) यह जो (उद्गीथम्) ऊपर कहा गया है (तस्मिन्) उस में (त्रयम्) तीन का समुदाय है (परमं ब्रह्म)१ पर ब्रह्म (तु) और (सुप्रतिष्ठा) २ प्रकृति (च) और (अक्षरम्) ३ जीवात्मा । (अत्र) इन में (अन्तरम् भेद को (विदित्वा) जानकर (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी लोग (ब्रह्मणि) ब्रह्म में (लीनाः)

लीन हुवे (तत्पराः) उसी में लगे (योनिमुक्ताः) योनियों से छुटे [हो जाते हैं] ॥

पहले ६ श्लोकों में जो कारण कहे उन में तीन (ब्रह्म, प्रकृति, जीवात्मा) प्रधान हैं, इन में जो कुछ अन्तर है उन को जान कर ब्रह्मज्ञानी विवेक से मुक्ति को पाते हैं। अर्थात् मुक्त में और परमात्मा में क्या और कितना अन्तर है तथा मुक्त में और प्रकृति में वा प्रकृति और परमात्मा में कितना अन्तर है, जब यह जान लेता है तब पूर्ण आस्तिक, ईश्वरभक्त, ज्ञानी और विवेकी होकर मोक्ष को पाता है ॥ ७ ॥

अब आपने (नायमात्मा प्र०) का अर्थ सुनिये-कठोपनि० २३—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥

अन्वयः-अयमात्मा, प्रवचनेन लभ्यो नास्ति, न मेधया, न बहुना श्रुतेन लभ्यः, किन्तु यमेव एषः वृणुते [स्वीकरोति कृपया] तेनैव लभ्यः तस्य एषः आत्मा स्वां तनूं [निजां तनूमिव] वृणुते [स्वीकरोति] ॥

यह परमात्मा केवल प्रवचन [किसी के बताने] से नहीं जाना जाता, न केवल बुद्धि से, न बहुत पढ़ने से। किन्तु जो पुरुष अपने आत्मा के उस को श्रद्धा भक्ति से वरण [ग्रहण] करता है उसे परमात्मा ऐसे स्वीकार करके जैसे जीवात्मा देह को, कृपया अपना स्वरूप ज्ञात करा देते हैं। अर्थात् आत्मा को ही साक्षात् परमात्मा का अनुभव होता है, किसी मन वाणी इन्द्रियादि साधन से नहीं हो सकता और होना चाहिये भी नहीं क्योंकि प्राकृत इन्द्रियां प्राकृत जगत् के विषय करने ही में काम दे सकती हैं। प्रकृति से परे सूक्ष्मतम चेतन परमात्मा के अनुभव करने में प्राकृत इन्द्रियां कैसे काम दे सकती हैं? किन्तु अप्राकृत आत्मा ही परमात्मा का अनुभव कर सक्ता है ॥ —०:*:०:—

अथ जीवात्मनएकदेशीयत्वप्रकरणम् ॥

द० ति भा० पृ० २०२ में-स्वामी जी के लिखे देहधारी जीवात्मा के जन्म मरण आना जाना जागरण निद्रा आदि में दोष देते हुवे कहा है कि अजन्मा जीव मान कर जन्मवाला कहना परस्परविरुद्ध है। और "अभाव प्रत्ययालम्बनावृत्तिर्निद्रा। योग सू० १। १० " इस से मन की अभाव प्रत्ययालम्बनावृत्ति को निद्रा माना गया है, न कि जीवात्मा की ॥

प्रत्युत्तर– जीवात्मा के स्वरूप को स्वामी जी ने सजन्मा नहीं कहा। अजन्मा स्वरूप से है और सजन्मा देहबन्धन से है। इस लिये परस्परविरोध नहीं। निद्रा मन की वृत्ति तो है परन्तु आत्मसहित शरीर में मन की वृत्ति है। न कि मृत अनात्मशरीर में, इस लिये जीवात्मा का निद्रा से सम्बन्ध कहा॥ वेदान्तसूत्र (तद्गुण०) का अक्षरार्थ आपने कुछ नहीं लिखा, केवल बे समझे बूझे कहीं से नकल करदी। यदि आपने समझा है तो अक्षरों से वह अर्थ निकालिये॥

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्।वेदान्तदर्शने २।३।२९

इस का अर्थ सुनिये। इस से पूर्व सूत्र यह है –

पृथगुपदेशात् २।३।२८

अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के पृथक् २ शास्त्रों में उपदेश होने से भेद है। अब यह शङ्का रही कि यदि दोनों भिन्न हैं तो दोनों को आत्मा क्यों कहते हैं। उस का उत्तर अगले सूत्र में दिया है कि–(तद्गुणसारत्वात) परमात्मा के चेतनत्वादि धर्मों का साधर्म्य होने से (तु) तो (तद्व्यपदेशः) जीवात्मा को भी आत्मा शब्द से व्यपदिष्ट [वर्णित] किया जाता है। (प्राज्ञवत्) जैसा विद्वान् में॥

अर्थात् जैसे लोक में थोड़े विद्वान् भी विद्वान् कहाते हैं और बड़े विद्वान् भी विद्वान् कहाते हैं क्योंकि विद्या=जानना रूप साधर्म्य दोनों में है। इसी प्रकार जीव ब्रह्म दोनों आत्मा कहाते हैं क्योंकि दोनों में चेतनत्वादि कई बातों की बराबरी (साधर्म्य) है। परन्तु जैसे विद्वानों में अल्पज्ञ बहुज्ञ का भेद होने से दोनों सर्वांश में बराबर नहीं हो सक्ते, इसी प्रकार जीवात्मा एकदेशस्थ होने से अल्पज्ञ और परमात्मा सर्वव्यापक होने से सर्वज्ञ है। इस लिये दोनों बराबर वा एक से नहीं हो सक्ते॥

द० ति० भा० पृ० २०३ पं० २ “ब्रह्माऽभिन्नत्वात् विभुर्जीवः ब्रह्मवत्”

प्रत्युत्तर-ऐसे न्याय हम भी घड़ सक्ते हैं कि–

“ब्रह्मभिन्नत्वात्परिच्छिन्नो जीवः परमाणुवत्”

अर्थात् जीवात्मा, परमात्मा से भिन्न होने के कारण इसी प्रकार परिच्छिन्न=एकदेशीय है जिस प्रकार एक परमाणु। और आपकी यह शङ्का भी निष्फल है कि जीव परिच्छिन्न है तो वही जीव हाथी और वही चींटी में

कैसे आवेगा । क्योंकि देह के समान परिमाण वाला हम जीव को नहीं मानते, किन्तु परमाणु के प्रकार से इतना छोटा मानते हैं कि त्रसरेणु में भी आसके । और जीव का सुकड़ना फैलना भी हम नहीं मानते इस लिये विनाशी होने की शङ्का भी व्यर्थ है ॥

इति जीवात्मनएकदेशीयत्वप्रकरणम्

अथोपादानप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० २०३ पं० ५ में—प्रकृतिश्च=ब्रह्म ही उपादान और निमित्त कारण मानो ॥ इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—" प्रकृति " शब्द का अर्थ भी आप " ब्रह्म " करने लगे तब जितना अनर्थ हो सो थोड़ा है । सूत्र का अर्थ तो यही बनता है कि—

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् । वेदान्तद० १ । ४ । २३

प्रकृति उपादान कारण है । इस का, प्रतिज्ञा और दृष्टान्त (मृत्तिका, घट, कुम्भकार) में विरोध नहीं आता ॥

द० ति० भा० पृ० २०४ पं० ७ में उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाऽश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति । दृष्टान्त-एक के जानने से अन्य सब जाना जाता है वह उपादान कारण के जानने से सब का जानना संभव है ॥

प्रत्युत्तर— आप का तात्पर्य यह है कि एक ब्रह्म के जान लेने से समस्त न सुनी बातें सुनली जाती हैं; सब न मानी हुई, मान ली जाती हैं और सब न जानी हुई, जान ली जाती हैं । जैसे मिट्टी के जानने से घटादि समस्त कार्य जान लिये जाते हैं । इस लिये ब्रह्म उपादान है ॥ उत्तर—ब्रह्म के जानने से सब का ज्ञान इस लिये नहीं होजाता कि वह सब का उपादान है, किन्तु इस लिये होजाता है कि ब्रह्म सब से सूक्ष्म है, जब उसे किसी ने जान लिया तो अन्य स्थूल पदार्थों का जानना किस गिनती में है ? अर्थात् सब कुछ जान लिया । और उपादान कारण के ज्ञानमात्र से समस्त कार्यों का ज्ञान भी नहीं होता । देखो लोक में सुवर्ण को सब जानते हैं, परन्तु उस के कार्य अनेक प्रकार के आभूषणों को सुनार ही बना सकता है, सब नहीं । आटे को पीसना जो जानते हैं, वे रोटी उत्तम बनाना भी जानें, सो आवश्यक नहीं । पञ्चतत्त्व को जानने वाला पुरुष समस्त सृष्टि के कार्यों को नहीं जानता । कफ पित्त वात मात्र के जानने से सारी पृथिवी के मनुष्यादि की

सब अवस्थाओं का ज्ञान युगपत् (एक बारगी) एक पुरुष को नहीं होता । इस लिये चेतन परमात्मा के जानने से उस की कृपा द्वारा सब कुछ जाना जा सकता है, परन्तु वह इतने से उपादान नहीं हो गया ॥

इसी प्रकार इस २०४ पृष्ठ के लिखे (मृतिका, पृथिवी) आदि दृष्टान्तों का उत्तर जानिये ॥

द० ति० भा० पृ० २०४ पं० २४ (यतो वा इमानि प्रजानि प्रजायन्त) ००० "जनिकर्त्तुः प्रकृतिरिति" इस से यह सिद्ध किया है कि ऊपर के वाक्य में "यतः" पद में उपादान पञ्चमी है जो "जनिकर्त्तुःप्रकृति"इस सूत्र से विहित है । इस लिये जगत्कर्त्ता ब्रह्म ही उपादान है ॥

प्रत्युत्तर-पाठकों को यह (इमानि प्रजानि) अनोखा पाठ देखकर हंसी आवेगी । आज तक किसी ने प्रजा शब्द को नपुंसकलिङ्ग भी कहीं सुना है ? अस्तु, शुद्ध पाठ तो उपनिषदों के पढ़ने वाले जानते हैं,परन्तु वास्तविक शङ्का का उत्तर यह है कि (यतः) पद में जो पञ्चमी है वह अवश्य उपादान में है, किन्तु "यतः" पद यहां प्रकृति जीवात्माओं सहित ब्रह्म का द्योतक है। केवल ब्रह्म का द्योतक नहीं, केवल ब्रह्म जगत् को रचता भी नहीं, इस लिये केवल ब्रह्म को जगदुपादान मानना अज्ञान है और नवीन वेदान्ती भी प्रकृति सहित अर्थात् मायासहित ब्रह्म को ही जगत्कर्त्ता मानते हैं,केवल को नहीं॥

द० ति० भा० पृ० २०४ के अन्त और २०५ के आदि में (अभिध्योपदेशाच्च) सूत्र और उसी का खेंचातानी वाला ताराचन्द्रकृत भाषाटीका लिखदिया है॥

प्रत्युत्तर-इस सूत्र का सर्वोपनिषत्सम्मत अर्थ यह है:-

अभिध्योपदेशाच्च १ । ४ । २४

अभिध्यान अर्थात् ज्ञानपूर्वक सृष्टि की उत्पत्ति का उपदेश पाया जाता है । इस से जाना जाता है कि चेतन ब्रह्म यदि उपादान होता तो कार्य-जगत् भी चेतन होता, चेतन से जड़ोत्पत्ति असंभव है, इस लिये पूर्व सूत्रोक्त प्रकृति ही उपादान कारण है । इस से अगला सूत्र भी सुनिये-

साक्षाच्चोभयाम्नानात् १ । ४ । २५

जन्म और नाश उभय=दोनों एक साक्षात् प्रकृति से सुने जाते हैं । यदि ब्रह्म से जन्म और नाश हो और वह उपादान माना जाये तो ब्रह्म में जन्म और नाश रूप विकार दोष आवे ॥

द० ति० भा० पृ० २०५ में ३ सूत्र और तारानाथीय अर्थ मांड दिया है। यथा–

स्वाप्ययात् १ । १ । ९

ब्रह्म ही में सब का लय कहा है, तिस से भी प्रधान विश्वनिदान नहीं है॥

प्रत्युत्तर–ब्रह्म में आधाररूप से सब का लय है, न कि उपादान भाव से इस लिये ब्रह्म निमित्त कारण है, उपादान नहीं और इस से ६ सूत्र पूर्व (तत्तु समन्वयात् १ । १ । ४) कह चुके हैं इस लिये प्रकृतिसहित वा प्रकृतिसमन्वित ब्रह्म का वर्णन है। इस से प्रकृतिरहित केवल ब्रह्म में उपादानत्व नहीं॥

द० ति० भा० पृ० २०५ पं० २१ से:–

गतिसामान्यात् १०

जैसे नेत्रादि इन्द्रियां रूपादि में समान गति से वर्त्ते हैं, तैसे सब वेद ब्रह्म को ही जगत्कारण कहते हैं न कि तार्किकों के समान भिन्न कारण हैं। " यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन् एवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोका इति" "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत इति" " आत्मन एवेदं सर्वमिति " "आत्मन एषः प्राणो जायत इति" जैसे जलती हुई अग्नि से चिनगारी निकलती है, इसी प्रकार आत्मा से प्राण प्राणों से देवता देवताओं से लोकादि प्रतिष्ठित है, उसी परमात्मा से यह आकाशादि उत्पन्न हुवा है। यह सब कुछ आत्मा ही है। आत्मा से ही प्राण उत्पन्न हुवे हैं॥

श्रुतत्वाच्च ११

वेद से उपादान कारणकर्त्ता सब चेतन ही सुना है॥

प्रत्युत्तर–वेद में किस स्थान पर कहा है कि केवल ब्रह्म जगत् का उपादान है? कहीं नहीं। और प्रकृति सहित ब्रह्म को उपादान और निमित्त क्रमशः मानने में आप के लिखे काष्ठसहित अग्नि की चिनगारी आदि के दृष्टान्त से कुछ दोष नहीं आता। अब यह सुनिये कि उपनिषद् में स्पष्ट निषेध किया है कि ब्रह्म का कोई कार्य नहीं। यथा–

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥
(६ । ८)

भा०–(तस्य) उस का (कार्यम्) कार्य (च) और (करणम्) साधन

(न विद्यते) नहीं है। (तत्समः) उस के समान (च) और (अभ्यधिकः) उस से अधिक (न दृश्यते) नहीं दीखता। किन्तु (अस्य) इस की (परा, शक्तिः) बड़ी, शक्ति (च) और (स्वभाविकी, ज्ञानबलक्रिया) स्वभाविक ज्ञान बल और क्रिया (विविधा, एवं) विचित्र ही (श्रूयते) वेदों में वर्णित है॥

इस में जो यह कहा है कि "उस का कार्य नहीं" इस से अद्वैतवादियों का ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान मानना विरुद्ध हुवा और "उसका साधन नहीं" इससे साकारवादियों का उन के हाथ पैर मानना विरुद्ध है॥१८॥

—:०:—

अथ महावाक्याऽभासप्रकरणम्॥

स्वामी जी ने लिखा है कि "तत्त्वमस्यादि" वाक्यों की महावाक्य संज्ञा प्राचीन शास्त्रों में नहीं लिखी, इस पर द० ति० भा० पृ० २०१ पं० १८ से—"जैसे पाणिनी ऋषि के मत से वृद्धि शब्द परिभाषा से आ ऐ औ का बोध होता है वैसे व्यास, शङ्करस्वामी अद्वैत सिद्धान्ताचार्यों के मत में "महावाक्य" शब्द भी भेदभ्रमनिवारक वाक्यों में पारिभाषिक है।"

प्रत्युत्तर-यदि इन वाक्यों की वेदान्तसिद्धान्त में "महावाक्य" संज्ञा है तो क्या जिस प्रकार पाणिनि मुनि ने—

वृद्धिरादैच् १।१।१५॥

इस सूत्र से आ ऐ औ की वृद्धिसंज्ञा की है, क्या इसी प्रकार इन वाक्यों की महावाक्य संज्ञाविधायक कोई वेदान्तसूत्रादि आप बता सक्ते हैं? अथवा व्यास जी ने अपने वेदान्तदर्शन में अन्वर्थ संज्ञा मानकर भी कहीं "महावाक्य" शब्द का प्रयोग किया है? यदि नहीं किया है तो स्वामी जी का कहना ठीक है कि ये वाक्य प्राचीन ऋषि मुनियों ने "महावाक्य" नाम से नहीं पुकारे हैं॥

द० ति० भा० पृ० २०१ में-एक यह दोष स्वामी जी के अर्थ में दिया है कि उन्हों ने कहीं तो "जीवात्मा में परमात्मा व्यापक" कहकर जीवात्मा को आधार और परमात्मा को आधेय कहा, और कहीं "मैं ब्रह्मस्थ हूं" कहकर ब्रह्म को आधार और जीव को आधेय कहा है। यह परस्पर विरोध है॥

प्रत्युत्तर-यह परस्पर विरोध नहीं है, क्योंकि जो दो वस्तु आपस में व्याप्य व्यापक नहीं उन में आपस में दोनों की आधारता है, वा आधेयता असंगत होती है। परन्तु जिन में व्याप्य व्यापकता है, उन में विवक्षाधीन

दोनों को आधाराधेयता कही जा सक्ती है । हम दो दृष्टान्त देते हैं जिन से स्पष्ट समझ में आजायगा ॥

जैसे " नौका में पुरुष" व्याप्य व्यापक नहीं है । इस लिये नौका आधार और पुरुष आधेय ही रह सक्ता है, और पुरुषको आधार वा नौका को आधेय नहीं कह सक्ते । परन्तु दूसरे दृष्टान्त में जैसे:"आकाश वा वायु में प्राणि-वर्ग" यहां आकाश वा वायुव्यापक और प्राणिवर्ग व्याप्य है । तो दोनों को परस्पर आधाराधेयता कही जा सक्ती है । अर्थात् प्राणिवर्ग में आकाश वा वायु है और आकाश वा वायु में प्राणिवर्ग है । इस लिये स्वामी जी का लिखा संगत और आप का असंगत हुआ ॥

द० ति० भा० पृ० २०८ पं० १३-१४ में-उद्दालक याज्ञवल्क्य के संवाद की श्रुति को, मैत्रेयी याज्ञवल्क्य के संवाद की वर्णन करी है ॥

प्रत्युत्तर—इस में सिद्धान्तहानि तो कोई नहीं केवल मनुष्यों के नाम की यदि भूल हो तो चिन्ता नहीं । और आप तो अभी पृ० २०० पं० ९ में गौतमसूत्र को " मनु जी ने " करके लिख चुके हैं ॥

द० ति० भा० पृ० २०८ में इतने तर्क और हैं १—यदि जीव निकटस्थ और दूसरे पदार्थ दूरस्थ और मुक्ति में साक्षात्सम्बन्ध और बन्ध में परम्परा सम्बन्ध और जीव के साथ रहने वाला है तो ब्रह्म एकदेशी परिच्छिन्न क्रियावत् होगा ॥

२—और जो जीव को ब्रह्म का अविरोधी रूप अथवा ब्रह्म को जीव का अविरोधी रूप कहा, तो क्या जीवभिन्न पदार्थ ब्रह्म के विरोधी हैं ?

३—वह एक अवकाश कौन है जिस में सनाधिकाल में ब्रह्म और जीव स्थित हैं ?

प्रत्युत्त—१—समीपता और दूरता यहां देशकृत नहीं, किन्तु विचारकृत है अर्थात् समझने वाला ब्रह्म के समीप और न समझने वाला दूर । साक्षात् सम्बन्ध भी जानने की अपेक्षा से ही है । और देश की अपेक्षा से तो ब्रह्म सब में समन्वित है, किसी से पृथक् नहीं ॥

२—ब्रह्म का विरोधी कोई ऐसा नहीं जो उससे बलवान् हो और उस के दिये दण्ड को न भोगे । परन्तु स्वतन्त्रता से जो लोग पाप करते हैं वे परमात्मा के विरोधी वा अपराधी हैं और जो नहीं करते, वे अविरोधी कहे जा सक्ते हैं ॥

३—जीवात्मा और अन्य सब पदार्थ यद्यपि प्रतिक्षण ब्रह्म में ही रहते हैं, परन्तु साधारण मनुष्य जानते और साक्षात् करते नहीं कि हम ब्रह्म

में हैं। और समाधिस्थ पुरुष साक्षात् करता है, इस लिये उस का विशेष रूप से यह कहना बन सक्ता है कि "मैं ब्रह्मस्थ हूं"॥

द० ति० भा० पृ० २०९ में (य आत्मनि तिष्ठन्०) इस उपनिषद्वाक्य के स्पष्टप्रतिपादित भेदवाक्य को औपाधिक भेद बताकर उस के उत्तरभाग में अभेद बताया है॥

प्रत्युत्तर—पूर्वभाग के भेद को औपाधिक भेद मानने में गमक कुछ नहीं दिया। पूर्व और उत्तर भाग को अर्थ सहित नीचे देखिये—

यआत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् यआत्मनोन्तरोयमयति एषतआत्मान्तर्याम्य-मृतोऽदृष्टोद्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतोमन्ताऽविज्ञातोविज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोस्ति मन्ता नान्योऽतोस्ति विज्ञातैषतआत्मान्तर्याम्यमृतोऽतो-ऽन्यदार्तम् ॥ बृह० २३। अ० ५ ब्रा० ७॥

अर्थ-(य आत्मनितिष्ठन्) जो परमेश्वर जीवात्मामें व्यापकता से स्थित हुवा (आत्मनोन्तरः) जीवात्मा के भीतर है (यमात्मा नवेद) जिस को अल्पज्ञ जीव नहीं जानता (यस्य आत्मा शरीरम्) आत्मा, जिस का शरीरवत् रहने की जगह है, (य आत्मनः अन्तरः)जो जीवात्मा के भीतर (यमयति) इसे नियम में चलाता है (एषः अमृतः आत्मा) यह अमर परमात्मा (ते अन्तर्यामी) तेरा अन्तर्यामी है। [यहां तक पूर्वार्ध का स्पष्ट भेदवाद है कि जिस के औपाधिक मानने का कोई हेतु नहीं क्यों कि उपाधि परिच्छिन्न पदार्थ में हो सकती है, अपरिच्छिन्न विभु परमात्मा उपाधि से अतीत है। अब उत्तरार्ध का अर्थ सुनिये जिस में आप अभेद प्रतिपादन करते हैं] (अदृष्टो द्रष्टा) जो परमात्मा देखने में नहीं आता पर सब को वह देखता है (अश्रुतः श्रोता) जो शब्द के समान कान का विषय नहीं पर वह सब की सुनता है(अमतः मन्ता) वह मन का विषय नहीं पर वह सब को मानता है (अविज्ञातः विज्ञाता) वह बुद्धि का विषय नहीं पर सबको जानता है (अतः अन्यः) इस के अतिरिक्त कोई (द्रष्टा न अस्ति) सर्वदर्शी नहीं है (अतोन्यःश्रोता नास्ति) न इस के अतिरिक्त कोई सब की सुनने वाला है (अतोन्योमन्ता नास्ति) न इस से पृथक् कोई सब का मानने वाला (अतोन्योविज्ञाता नास्ति) और न इस से भिन्न कोई सर्वज्ञ है।

(एष ममृतः आत्मा) यह अमर परमात्मा (ते अन्तर्यामी) तेरा [जीवात्मा का] अन्तर्यामी है। (अतोऽन्यदार्तम्) इस से भिन्न सब चल पदार्थ हैं, यहां एक निश्चय है। अब विचारिये कि इन में अभेद की कौन सी बात है?

द० ति० भा० पृ० २१० -२११ में "तत्त्वमसि" वाक्य को अभेदप्रतिपादक बताने के लिये छान्दोग्योपनिषद् का समस्त प्रकरणवाक्य लिखा है।

प्रत्युत्तर—आप उस के भी अर्थ को सामने रक्खें तो अभेद सिद्ध नहीं होता। यथा—

अस्य सौम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायां, स य एषोऽणिमा। ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो॥

छा० उ० अ० ६

(सौम्य) हे सौम्य! (अस्य प्रयतः पुरुषस्य) इस मरते हुवे मनुष्य की (वाङ् मनसी संपद्यते) वाणी मन में लीन हो जाती अर्थात् बोलना बन्द हो जाता है, परन्तु मन में बोलने की इच्छा रहती है। फिर (मनः प्राणे) मन प्राण में लीन हो जाता है। (प्राणस्तेजसि) प्राण तेज में लीन हो जाता है। फिर (तेजः परस्यां देवतायाम्) तेज परले देवता में अर्थात् दो [जीवात्मा व परमात्मा] में से परले परमात्मा देवता में लीन हो जाता है। (यः एषः) जो यह परमात्मा है (सः अणिमा) वह अति सूक्ष्म है (इदं सर्वम्) यह सब जगत् (ऐतदात्म्यम्) इस से व्याप्य है अर्थात् यह परमात्मा सब का आत्मा=व्यापक है (तत् सत्यम्) वह सब काल में एकरस है, (सः आत्मा) वह विभु है, (श्वेतकेतो) हे श्वेतकेतु! (तत्) तत्स्थ (त्वमसि) तू है॥

यह तो वह अर्थ हुवा जिस से स्वामी जी महाराज का लिखा तात्स्थ्योपाधि वाला अर्थ ठीक घट जाता है। और यही यथार्थ है भी। परन्तु यदि आप को तात्स्थ्योपाधि लगाना नहीं रुचता और गौरव जान पड़ता है तो हम एक और अर्थ दिखलाते हैं, जस से भी अभेदवाद नहीं रहता, न तात्स्थ्योपाधि लगानी पड़ती है। सुनिये—

"इस मरते हुए मनुष्य की वाणी मन में लीन होती है, मन प्राण में, प्राण तेज में, और तेज परमात्मा में। परन्तु (सः यः एषः अणिमा) वह जो कि अत्यन्त सूक्ष्म जीवात्मा है (ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्) वह सब का

जाति होने से आत्मा है अर्थात् आत्माओं के विना कोई शरीर कभी स्थिर नहीं रह सकता। (तत्सत्यम्) वह अविनाशी है अर्थात् लीन नहीं होता (सः आत्मा) वह आत्मा कहाता है। (श्वेतकेतो ! तत्त्वमसि) हे श्वेतकेतु ! तू वह है। अर्थात् तू देह नहीं, तू आत्मा अजर अमर है, शरीरस्थ जरामरण का तुझे भय नहीं। इस में न तात्स्थ्योपाधि है, न अभेदवाद है। इस लिये यदि आप को स्वामी जी लिखित अर्थ में तात्स्थ्योपाधि के समझने में कठिनता हो तो आप इस अर्थ से सन्तोष करें। परन्तु अभेद के भ्रम में न पड़ें। आप लीन का अर्थ यह समझते हैं, जैसे पानी में पानी मिल जावे और हम यह समझते हैं कि जैसे पानी में मीठा घुल जावे। पानी मीठे का उपादान नहीं, पर आधार है॥

द० ति० भा० पृ० २११ में इस ऊपर वाले उपनिषद् वाक्यस्थ " ऐतदात्म्यम्" पद का शङ्करभाष्य और उस का भावार्थ लिखा है परन्तु शङ्कराचार्य स्वयं इस प्रकरण के साध्य पक्ष में हैं इस लिये उनका लेख हो प्रमाण में नहीं देना चाहिये था॥

द० ति० भा० पृ० २१३ पं० १० में-कार्योपाधि तत्संस्कार विशिष्ट सदंश है सो तो जीव और कारणोपाधिविशिष्ट सदंश परमेश्वर है॥

प्रत्युत्तर-इस लेख से अद्वैत को द्वैतापत्ति आती है। अर्थात् जितना सदंश=ब्रह्मांश कार्य मन आदि उपाधि से उपहित=घिरा है उतना अंश जीव कहाता और जितना ब्रह्मांश कारणोपाधि अर्थात् प्रकृति से घिरा हुवा है उतना परमेश्वर कहाता है। तो यहां ब्रह्म से प्रकृति पदार्थ वा कारणपदार्थ भिन्न सिद्ध है। 'महावाक्य' नाम धरने की कोई परिभाषा वेदान्तियों के किसी ग्रन्थ से आपने न दिखाई और लिख दिया कि यह पारिभाषिक शब्द है॥

प्रज्ञानं ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म

इन दोनों वाक्यों का अर्थ तो किसी प्रकार की भ्रान्ति से भी अभेद-प्रतिपादक नहीं। सीधा अर्थ यह है कि "ब्रह्म उत्कृष्ट ज्ञान वाला है" तथा "यह आत्मा=[सर्वत्रातति व्याप्नोति सः] ब्रह्म है"॥

द० ति० भा० पृ० २१४ में जो लेख है उस का संक्षिप्त आशय यह है कि-

अनेनात्मना जीवेनानु प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि। छां० ६।३।२ तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्। तै० ब्रह्मानन्दवल्ली। अनु० ६

इन वाक्यों में "अनु" को कर्मप्रवचनीय संज्ञा है और कर्मप्रवचनीय के योग में अष्टाध्यायी महाभाष्यानुसार द्वितीयाविभक्ति होती है। सो "अनु" का अर्थ "लक्षण" है। "पश्चात्" अर्थ नहीं है॥

प्रत्युत्तर—अनुर्लक्षणे १।४।८४ सूत्र से लक्षणार्थ "अनु" कर्मप्रवचनीय होता है। और [कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया] २।३।८ से द्वितीया विभक्ति होती है, परन्तु मूलवाक्य (अनेनात्मनाजीवेनानुप्रविश्य) में तृतीया विभक्ति है। जो सह=साथ के अर्थ में है। इससे जाना जाता है कि "अनु" का यहां लक्षण अर्थ नहीं किन्तु स्वामी जी के कथनानुसार "पश्चात्" अर्थ है। यदि आप के लेखानुसार लक्षण अर्थ और कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती तो द्वितीया विभक्ति होती, जो कि प्रत्यक्ष में सर्वथा नहीं है॥

दूसरे तैत्तिरीय के वाक्य में जो द्वितीया "तत्" है, वह कर्मप्रवचनीययुक्त में द्वितीया नहीं है किन्तु "अनुप्राविशत्" का कर्म होने से—

कर्मणि द्वितीया २।३।२

इस सूत्र से द्वितीयाविभक्ति है, इसलिये आपका लक्षणार्थ मानना अयुक्त है॥

द० ति० भा० पृ० २१५ में—आत्मैवेदमग्रे० इत्यादि बृहदारण्यक वाक्य से अभेद प्रतिपादित किया है॥

प्रत्युत्तर—इस का अर्थ सुनिये—

आत्मैवेदमग्रआसीत्पुरुषविधः सोनु वीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् सोहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोहंनामाऽभवत्॥

बृह० अ० ३० ब्रा० ४

अर्थात् (पुरुषविधः आत्माएव) व्यापक स्वरूपआत्मा ही (अग्रे आसीत्) सृष्टि के आरम्भ में था (सः) उसने (इदम् अनुवीक्ष्य) इस उत्पद्यमान जगत् को देखकर (आत्मनः अन्यत्) अपने से अन्य अपने समान को (न अपश्यत्) न देखा और (अग्रेसोऽहमस्मि इति व्याहरत्) प्रथम वह परमात्मा मैं हूं, यह कहा (ततः) तब (अहंनामा) अहङ्कारतत्त्व (अभवत्) उत्पन्न हुआ॥

इस में स्पष्ट इदम् पदवाच्य जगत् को देखना लिखा है इस लिये "अपने अतिरिक्त और कोई नहीं देखा" का यही तात्पर्य समझना चाहिये कि अपने अतिरिक्त जगत् को देखा परन्तु दूसरे परमात्मा को न देखा॥ अब इस वाक्य से अभेद समझना बेसमझी की बात है॥

द० ति० भा० पृ० २१६ में स्वामी जी लिखित-(जीवेशौ च विशुद्धा चित् और-कार्योपाधिरयं जीवः०) इन दोनों श्लोकों को लिखा है कि स्वामी जी इन को संक्षेप शारीरक और शारीरकभाष्य में कारिका लिखते हैं। परन्तु ये दोनों श्लोक उक्तग्रन्थों में नहीं किन्तु पहला तो वार्त्तिककार सुरेश्वराचार्य का है, दूसरा आथर्वणोपनिषद् का है॥

प्रत्युत्तर-और आपने जो पृ० २०० पं० ९ में गोतमसूत्र को मनु कह कर लिखा है वहां आपने क्या मनु का दर्शन नहीं किया था। यदि मूल पुस्तक संक्षेप शारीरक और शारीरकभाष्य में ये श्लोक न भी हों तो किसी लिखित पुस्तक पर टिप्पणी की रीति पर लिखे होंगे और स्वामी जी ने पूर्व काल में नवीन वेदान्त पढ़ते समय देखे होंगे। जब कि ये दोनों श्लोक ऐसे ग्रन्थों में उपस्थित हैं जिन्हें आप मानते हैं, तो आप इन के खण्डन का समाधान करते तब आप का पक्ष सधता। परन्तु ग्रन्थ के नामभेद मात्र का उलाहना देने से काम नहीं चलता॥

स्वामी जी ने (अथोदरमन्तरं कुरुते०) इस के अर्थ में लिखा है कि जो परमात्मा को न माने वा उस की आज्ञा गुण कर्म स्वभाव से विरुद्ध होवे० इत्यादि। इस पर द० ति० भा० पृ० २१७ पं० १९ में लिखा है कि "भला इस में जीव परमेश्वर का निषेध देशकाल परिच्छिन्न गुण कर्म स्वभाव। यह कहां से लिख दिये॥

प्रत्युत्तर-यह "अन्तर" शब्दार्थ का प्रपञ्च है। अन्तर विचार के भेद को कहते हैं ब्रह्म से अन्तर अर्थात् विचारभेद रखना कि उस से हम को अन्तर है, वह हमारा उपास्य नहीं या हमें उस के गुण कर्म स्वभावानुसार अपने गुण कर्म स्वभाव सुधारने की आवश्यकता नहीं इत्यादि अन्तर शब्द से तात्पर्य है। आप के समझने के लिये लौकिक दृष्टान्त उपयुक्त होगा कि जैसे कोई शिष्य अपने गुरु से अन्तर रक्खे अर्थात् उस की आज्ञा न माने वा उस से कुछ छिपाना चाहे। इत्यादि अन्तर कहाता है॥

द० ति० भा० पृ० २१७ में फिर एक वाक्य लिखा है और अभेद सिद्ध किया है। वह वाक्य यह है-

अभयं वै जनक प्राप्तोसि तदात्मानमेव वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्सर्वमभवं तत्र कोमोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतइति॥

प्रत्युत्तर-इस का भी यही अर्थ है कि "हे जनक! तू अभय को प्राप्त

है और मैं आत्माको जानता हूं कि "मैं ब्रह्मरूप हूं" इस से "सर्वरूप हूं" उस में शोक क्या और मोह क्या, एकत्व को देखते हुवे को " ॥

अर्थात् जीवात्मा की परमात्मा के साथ जब एकता=मित्रता अनुकूलता हो जाती है तब भय शोक मोह कहां रह सकते हैं ? इस वाक्य में अन्तिमभाग वेदवाक्य उद्धृत किया हुआ है और वह वेदमन्त्र यजुर्वेद का ४०।७ वां यह है-

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

और इस से भी पूर्व का मन्त्र यह है-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ ४० । ६ ॥

अब दोनों मन्त्रों का अर्थ क्रमपूर्वक देखिये तो यह होता है कि "जो सब प्राणियों को आत्मा में और आत्मा को सब प्राणियों में देखता है तब वह संशय में नहीं पड़ता ॥६॥ और जिस ज्ञानी की दृष्टि में सब प्राणी अपने समान हैं उस एकसा देखने वाले में शोक और मोह क्या ? ॥ ७ ॥

यदि इस में तत्तुल्य अर्थ न लगावें और सब आत्मा ही आत्मा समझें तो "सब में"-यह अधिकरणसप्तमी उपपन्न न हो सके ॥

द० ति० भा० पृ० २१७ में-शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत् ॥ १० प्र० अ० पा० १ जैसे तत्त्वमसि इस वाक्य को देख कर वामदेव ऋषि ने कहा है कि मैं ही मनु सूर्य और कक्षीवान् हुवा था तैसा ही इन्द्र ने कहा है कि मैं प्राण रूप हूं तू इसी की उपासना कर(अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवानित्यादि०)

प्रत्युत्तर-जिन "तत्त्वमसि" और "अहं मनुरभवं०" से आप इस सूत्रार्थ को जोड़ते हैं वह वाक्य और वेद मन्त्र इस से संबद्ध नहीं है ।तत्त्वमसि वाक्य श्वेतकेतु के प्रति और जनक के विषय में है । वामदेव के विषय में नहीं । और "अहंमनुरभवं०" यह ऋग्वेद ४ । २६ । १ का मन्त्र है जिस में वामदेव का वर्णन नहीं,क्योंकि सायणादि सब टीकाकार भी इस मन्त्र का इन्द्र देवता मानते हैं, वामदेव देवता नहीं । और निरुक्त में लिखा है कि-

या तेनोच्यते सा देवता

जिस पदार्थ का मन्त्र ने वर्णन किया हो, वह उस मन्त्रका देवता कहाता

है। अस्तु, जब इस मन्त्र का इन्द्र देवता है तो इस में इन्द्र=परमेश्वर का वर्णन है, वामदेव ऋषि का नहीं। हां, वामदेव इस मन्त्र का द्रष्टा अर्थात मन्त्र का ऋषि है। और निरुक्त के अनुसार ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा होते हैं, न कि वाच्यार्थ। और देवता मन्त्र का वर्णनीय पदार्थ होता है। तदनुसार इस मन्त्र में इन्द्र का वर्णन है। वामदेव का नहीं। अब मन्त्र का अर्थ सुनिये-

अथ सप्तर्चस्य षड्विंशतितमस्य सूक्तस्य वामदेवऋषिः। इन्द्रोदेवता। तत्राद्यायाः पङ्क्तिश्छन्दः। पञ्चमःस्वरः॥

अ॒हं मनु॑रभवं॒ सूर्य॑श्चा॒हं क॒क्षीवाँ॒ ऋषि॑रस्मि॒ विप्रः॑।

(इत्यादि) ऋ० ४। २६। १

हे मनुष्यो! (अहम्) मैं इन्द्र=ईश्वर (मनुः) विचारवान् (सूर्यश्च) और प्रकाशक (अभवम्) हूं और (अहम्) मैं (कक्षीवान्) संपूर्ण सृष्टि की कक्षा अर्थात् परम्पराओं से युक्त (ऋषिः) वेदज्ञ (विप्रः) विद्वान् हूं॥ अब अपने सूत्र का अर्थ सुनियेः-

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशोवामदेववत्॥

अर्थात् जैसे वामदेव दृष्ट मन्त्रों के देखने से किसी को यह भ्रम हो कि इन मन्त्रों में वामदेव अपने को परमात्मा वा इन्द्र कहता है, इसी प्रकार अन्य वेदमन्त्रों=शास्त्रों में जानो। अर्थात् यह भ्रम है कि शास्त्र के द्रष्टाओं को शास्त्र का कर्त्ता मान कर यह समझना कि वह २ ऋषि अपना वर्णन करता है। किन्तु उस २ ऋषि ने शास्त्र=वेद को देख कर अन्यों को उपदेश किया है, जैसा कि वामदेव ने॥

द० ति० भा० पृ० २१८ पं० १४ में (एकं रूपं बहुधा यः करोति)

प्रत्युत्तर-इस से क्या अभेद सिद्ध हुआ कि "जो एक रूप को बहुत प्रकार का करता है" अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व एक कारण था, उस को परमात्मा ने बहुत कार्यरूपों में परिणत कर दिया॥

अथ वेदप्राप्तिप्रकरणम्॥

द० ति० भा० पृ० २१८ से २२० तक यह सिद्ध करने को कि वेद ब्रह्मा पर प्रकट हुवे और अग्नि वायु आदित्य अङ्गिरा पर नहीं हुवे, प्रथम कई

प्रमाण इस विषय में दिये हैं कि सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा ही उत्पन्न हुवे, अन्यादि नहीं । पहला प्रमाण अथर्ववेद १९ । २३ । ३० का यह है—

ब्रह्म ज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान ।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमो ह जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः ॥

भूतानां ब्रह्म प्रथमो ह जज्ञे—सब प्राणियों में ब्रह्मा जी प्रथम उत्पन्न हुवे ।

प्रत्युत्तर—मन्त्र तो आप ने पूरा लिखा पर अर्थ केवल तृतीयपाद का लिखा, यदि चारों पादों का अर्थ लिखते तो ज्ञात होजाता कि इस में ब्रह्मा ऋषि की उत्पत्ति का वर्णन नहीं है और न वेद में अन्यत्र कहीं किसी ऋषि के जन्म मरणादि का वृत्तान्त हो सकता है । इस का अर्थ सुनिये ॥

(ब्रह्म) ब्रह्मा=परमात्मा ने (ज्येष्ठा) ज्येष्ठानि=बड़े (वीर्याणि) पुरुषार्थ सामर्थ्य (संभृत) धारण किये हैं (ब्रह्म) परमात्मा ने (अग्रे) आरम्भ में (ज्येष्ठं दिवम्) बड़े द्युलोक को (आततान) विस्तृत किया है (ब्रह्मा) परमात्मा (भूतानाम्) पञ्चमहाभूतों के मध्य में (प्रथमः ह) पूर्व प्रसिद्ध (जज्ञे) साक्षात् हुवा (तेन ब्रह्मणा) उस ब्रह्म के साथ (कःस्पर्धितुम् अर्हति) कौन स्पर्धा कर सकता है ? कोई नहीं ॥

इस में ब्रह्मा ऋषि का नाम तक नहीं आता । ब्रह्म शब्द नपुंसकलिङ्ग तो ३ बार और पुलिङ्ग १ बार आया है ॥

२—प्रमाण मनु का दिया है कि—"तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः"

प्रत्युत्तर—इस का उत्तर देना इस लिये यद्यपि अनावश्यक है कि ब्रह्मा के आरम्भ में उत्पन्न होना सिद्ध होने से भी यह सिद्ध नहीं होता कि वेद भी उसी के हृदय में परमात्मा ने प्रकट किये, परन्तु आप जो मनु का आधा श्लोक प्रमाण देते हैं इस का प्रसङ्ग पीछे से लगाया जाय तो पौराणिक चतुर्मुख ब्रह्मा ऋषि का वर्णन यहां मनु में नहीं पाया जाता । न कमल से उत्पन्न ब्रह्मा का वर्णन है । किन्तु—

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः । अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ ८ ॥ तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् । तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥९॥ अ० १

(स्वात्) अपने [स्व स्वामि संबन्ध से] (शरीरात्) शीर्ण होने वाले

उपादान कारण तत्त्व से (विविधाः प्रजाः सिसृक्षुः सः) विविध प्रजाओं की रचना चाहने वाले उस परमात्मा ने (अपः एव आदौ ससर्ज) आप् को ही प्रथम रचा (तासु) और उन अप् में (बीजम् अवाऽसृजत्) बीज बोया यहां शरीर शब्द से उपादान कारण का ग्रहण है। परमेश्वर उस का अधिष्ठाता=स्वामी है। इस लिये उसे " परमेश्वर का " कहा गया है ॥ ८ ॥ (तत् सहस्रांशुसमप्रभं हैमम् अण्डम् अभवत्) वह सूर्य के समान चमकीला तेजोमय गोला होगया और (तस्मिन्) उस ब्रह्माण्डनामक गोले में (सर्वलोकपितामहः) सब लोक का पितामह (ब्रह्मा) प्रकृतिसहित परमात्मा (जज्ञे) प्रसिद्ध हुआ ॥ ९ ॥

अर्थात् प्रकृति भी पहले अव्यक्त थी, अब व्यक्त हुई। और परमात्मा भी अब प्राकृत जगत् द्वारा जानने योग्य हुआ। हम ने यहां " प्रकृति सहित परमात्मा " यह "ब्रह्मा" शब्द का अर्थ किया है सो अपनी ओर से नहीं, किन्तु १० वें श्लोक में नारायण शब्द का अर्थ करके मनु ही ब्रह्मा शब्द का अर्थ बतलाने के लिये ११ वां श्लोक लिखते हैं। यथा—

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥ ११ ॥

(यत् तत्) वह जो (नित्यं, सदऽसदात्मकं, कारणम्, अव्यक्तम्) नित्य, सत् और असत् की प्रकृति मूल, उपादान कारण, अव्यक्त=अप्रकट सूक्ष्म है (तद्विसृष्टः सः पुरुषः) उस कारण से संयुक्त वह पुरुष (लोके) संसार में (ब्रह्मा इति कीर्त्यते) " ब्रह्मा " इस प्रकार कहा जाता है ॥ ११ ॥

अब आप क्या कह सकते हैं? जो कि आप ने आधा श्लोक इस रहस्य को छिपे रहने के लिये नहीं लिखा था ?

३–फिर मुण्डकोपनिषद् का वचन लिखा है। यथा–

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता

प्रत्युत्तर– इस में भी ब्रह्मा ऋषि का वर्णन नहीं किन्तु ब्रह्मा परमात्मा का नाम है। क्योंकि " ब्रह्मा देवतों में प्रथम है जो सब का कर्त्ता और जगत् का रक्षक है " इस में यदि पुराणप्रतिपादित ब्रह्मा का वर्णन होता तो " सब का कर्त्ता " तो कहा जाता परन्तु "सब का रक्षक" न कहते। क्योंकि पुराणानुसार ब्रह्मा उत्पादक और विष्णु रक्षक है ॥

४–यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।

हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥ श्वे०३।४५

प्रत्युत्तर— " जो देवतों के उत्पत्ति और प्रलय कारणवान है, सर्वेश्वर दुष्टदमन और अनन्तज्ञान वाला है सृष्टि के आरम्भ में जिस ने " हिरण्यगर्भ " को उत्पन्न किया वह हम को पवित्र बुद्धि से युक्त करे ॥ "

इस में हिरण्यगर्भ नाम ब्रह्मा का नहीं किन्तु उसी मनुलिखित ब्रह्माण्ड पिण्ड गोले का नाम हिरण्यगर्भ है ॥

५—आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात् । कपि० सू०

यहां (ब्रह्मा से लेकर) इस शब्द से ही ब्रह्मा का सृष्टि की आदि में होना सिद्ध है ॥

प्रत्युत्तर—सूत्र में ब्रह्मा से स्तम्ब पर्यन्त सृष्टि कही गई है । इस का तात्पर्य यदि आप समय पर लगाते हैं कि आरम्भ काल में ब्रह्मा हुए तो प्रलय के समीप काल में " स्तम्ब ,, होगा अब कृपया बताइये कि स्तम्ब कौन सा ऋषि वा अवतार होगा और उस का वर्णन पुराणादि में कहां किस प्रकार लिखा है ? कहीं नहीं । यथार्थ में यहां सृष्टि के दो पदार्थों का वर्णन है, एक बहुत बड़ा और दूसरा बहुत छोटा । ब्रह्मा=ब्रह्माण्डपिण्ड जो बहुत बड़ा पदार्थ है उस से लेकर स्तम्ब=अङ्कुर पर्यन्त जो बहुत छोटा पदार्थ है । स्तम्ब कोई जङ्गम पदार्थ नहीं । अमरकोष वैश्यवर्ग श्लोक २१ में

स्तम्बो गुच्छस्तृणादिनः

तृणादि के गुच्छे को स्तम्ब कहा है । और अमरकोष वनौषधिवर्ग श्लोक ९ में—

अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्मौ

यहां बीज में अङ्कुर ही उगा हो और काण्ड शाखादि न हों उस का नाम स्तम्ब है । तो आप के विचारानुसार यह तात्पर्य हुवा कि सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा और अन्त में स्तम्ब उत्पन्न होगा । जिस का वेद पुराण ज्योतिषादि किसी में कोई साक्ष्य नहीं । इस लिये ब्रह्मा=ब्रह्माण्ड से लेकर तुच्छ अङ्कुर=स्तम्ब पर्यन्त सृष्टि का सूत्र में वर्णन है । ब्रह्मा ऋषि का नहीं ॥

६—सकलजगताम्० इत्यादि पराशर सूत्र का प्रमाण दिया है । जो वेद-वेदाङ्ग उपाङ्गादि प्रामाणिक ग्रन्थों में नहीं है ॥

निदान हम यह नहीं कहते हैं कि ब्रह्मा अमैथुनी सृष्टि में नहीं हुवे, परन्तु आप के लिखे प्रमाणों से यह सिद्ध नहीं होता । दूसरा भाग वेदप्राप्ति

विषय में यह है कि वेद ब्रह्मा ऋषि के द्वारा प्रकट हुवे, अग्नि वायु आदित्य अङ्गिरा द्वारा नहीं। इस विषय में द० ति० भा० पृ० २२० में वही श्वेताश्वतरोपनिषद् का प्रमाण दिया है कि-"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्" इत्यादि। यद्यपि इस का उत्तर स्वामीजी ने मनु के प्रमाण से स्वयं देदिया है, परन्तु हम भी आप के ज्ञापनार्थ इस वाक्य का पूरा अर्थ लिखे देते हैं। यथा-

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
(श्वेता० ६। १८)

"जो आदि में ब्रह्मा=वेदवेत्ता को बनाता और उस के लिये वेदों का प्रदान करता है, निश्चय उस आत्मा और बुद्धि के प्रकाशक देव को मैं मोक्षार्थी शरण जाता हूं" इस में ब्रह्मा का अर्थ वेदवेत्ता ऋषिसामान्य करो तभी-

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।

इस मनु के कथन से विरोध हटेगा, अन्यथा नहीं। और ब्रह्मा पद यहां जात्यभिप्राय में बहुवचन की जगह एकवचन जानना चाहिये। आप ने अपने पक्ष को पुष्ट करते हुवे मनु के श्लोकस्थ "दुदोह" इस क्रिया का कुछ भी ठिकाना नहीं लगाया, क्या आप उसे नहीं मानते?

द० ति० भा० पृ० २२१ में (यस्मिन्नश्वासः) इत्यादि ऋ० १०। ९१। १४ मन्त्र में आये (वेधसे हृदा मति जनये) इस वाक्य से ब्रह्मा को वेद प्रकट करना बताया है॥

प्रत्युत्तर-'वेधस' शब्द वेद में ब्रह्माऋषि का वाचक नहीं किन्तु निघण्टु ३। १५ में मेधावी=विद्वान् का नाम वेधा है। तदनुसार यह अर्थ हुवा कि परमात्मा उन मेधावी पुरुषों के हृदय में वेदों का प्रकाश करते हैं,जो पूर्वकल्प कृत कर्मानुसार धारणावती मेधा=बुद्धि से सम्पन्न हों॥

द० ति० भा० पृ० २२१ में (अग्निर्देवता०) इत्यादि यजुः १४। २० से बतलाया है कि अग्नि ऋषि नहीं किन्तु देवता है॥

प्रत्युत्तर-यहां अग्नि, वायु, सूर्यादि जड़ पदार्थों का प्रकरण है और भला वेद में किसी ऋषिविशेष अग्न्यादि का वर्णन आता ही क्यों। क्या यह नियम है कि वेद में वा अन्यत्र जो नाम किसी जड़ पदार्थ का हो, वह नाम किसी मनुष्य का न हो। यदि ऐसा होता तो ज्वाला=अग्निलपट जड़ पदार्थ का नाम है, अब ज्वाला देवी का नाम वा मनुष्यादि का नाम न होना चाहिये॥

द० ति० भा० पृ० २२२ में शतपथ ब्राह्मण के पाठ में जो पूर्व छपे सत्यार्थप्रकाशों में पाठभेद होगया था, उस का उलाहना देकर स्वयं (तेभ्यस्तप्तेभ्यः०) इत्यादि शतपथ का पाठ लिखकर अर्थ किया है कि "अग्नि वायु आदित्य इन तीन तपस्वियों से तीनों वेद ऋग्यजु साम प्रकाश हुवे"

प्रत्युत्तर-ठीक है "जादू तो वह जो शिर पै चढ़के बोले" आप ने भी अग्नि वायु आदि तपस्वी महात्मा ही वेदों के ऋषि लिखे। अब विवाद ही क्या है॥

आगे जो आप लिखते हैं कि (अर्थात् वेदानविहित कर्मों का प्रचार हुवा) सो आप की टिप्पणी हमारे पक्ष की हानिकारक नहीं॥

द० ति० भा० पृ० २२२ पं० १९ में (दुदोह) क्रिया को धातुओं के अनेकार्थ होने से ददौ=दानार्थ लिखा है कि ब्रह्मा ने अग्नि वायु आदित्य को वेद दिये॥

प्रत्युत्तर-महाभाष्य (अनेकार्था अपि धातवो भवन्ति) ६। १। १ के अनुसार जब धातु के प्रसिद्ध अर्थ से समन्वय=ठीक सङ्गति नहीं मिलती तब किसी अप्रसिद्ध अर्थ की कल्पना की जाती है और यह नहीं कि "अश्वोघासं खादति" का यह अर्थ कर लिया जावे कि घोड़ा घास खोदता है, किन्तु घोड़ा घास खाता है, यही अर्थ किया जाता है। जब कि "अग्निवायुरविभ्यः" इस को पञ्चमी विभक्ति मानते हुवे "दुदोह" का अर्थ प्रपूरण प्रसिद्धार्थ ठीक घट जाता है कि ब्रह्मा ने अग्नि आदि से वेदों को प्रपूरित किया। सब शतपथानुसार भी वही सङ्गति लगगई। अब अनेकार्थ कल्पना गौरव और व्यर्थ है॥

द० ति० भा० पृ० २२२ में लिखे (तदण्डमभवत्) का अर्थ हम पूर्व कर चुके हैं। और इसी से द० ति० भा० पृ० २२३ में लिखे मनु के दो श्लोकों का उत्तर आ चुका कि मनु में जो श्लोक ९ में ब्रह्मा का वर्णन है वह व्यक्ति विशेष वा ऋषिविशेष का नहीं है॥

द० ति० भा० पृ० २२३ में (स ब्रह्म वि०) इत्यादि मुण्डकोपनिषद् से यह दिखाया है कि ब्रह्माऋषि ने अपने बड़े पुत्र अथर्वा को ब्रह्मविद्या पढ़ाई, उस ने अङ्गिरा को, उस ने भरद्वाज को। इत्यादि॥ इसमें अङ्गिरा को शिष्य कहा है, स्वामी जी गुरु बताते हैं। यह आशय है॥

प्रत्युत्तर-क्या एक नाम के अनेक ऋषि अनेक वा एक समय में नहीं होते? जिस अङ्गिरा पर वेदों का परमात्मा ने प्रकाश किया वह ब्रह्मा के बड़े पुत्र अथर्वा का शिष्य नहीं किन्तु अन्य था और आप वही मानें तो मनु के श्लोकार्थ में तो आप अग्न्यादि को ब्रह्मा का शिष्य लिख चुके हैं।

यहां ब्रह्मा के बड़े पुत्र का प्रशिष्य क्यों लिखते हैं। क्या यह विरोध नहीं?

द० ति० भा० पृ० २२४ में-

तद्वेदगुह्योपनिषत्सुगूढं तद्ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम्। श्वेता०

प्रत्युत्तर-इस का अर्थ यह है कि जो ब्रह्म योनि अर्थात् जगन्निमित्तकारण ब्रह्म वेदों और उपनिषदों में गूढ़भाव से प्रतिपादित है, उसे ब्रह्मा=वेदज्ञ पुरुष जानता है॥

द० ति० भा० पृ० २२४

अग्निर्वा अकामयत अन्नादो देवानां स्याम्

प्रत्युत्तर-यह अग्नि जो देवों वायु आदि के अन्न का खाने वाला है सो होम का जड़ अग्नि है। न कि आपका माना हुवा पूर्वोक्त वेदप्रकाशक तपस्वी ऋषि॥

पराशर सूत्र के प्रमाण से द० ति० भा० पृ० २२४ में लिखा है कि ब्रह्मा के दहिने अंगूठे से दक्ष, दक्ष से अदिति, अदिति से सूर्य उत्पन्न हुवा, इस से ब्रह्मा के पुत्र दक्ष का धेवता सूर्य हुआ॥

प्रत्युत्तर-हम गावें ईश्वर के गीत, आप गावें मकान के। आप सूर्यलोक की उत्पत्ति कहते हैं। हम और स्वामी जी आप के माने शतपथार्थानुसार आदित्य नाम ऋषि से सामवेद का प्रकाश बताते हैं। न कि सूर्यलोक से॥

इति वेदप्राप्तिप्रकरणम्

अथ मन्त्रब्राह्मणप्रकरणम्॥

द० ति० भा० पृ० २२६ पं० १२ से प्रथम तो आप ही ने उपनिषदों को भी वेद माना है। स० पृ० ११ पं० २ "देखिये वेदों में ऐसे२ प्रकरणों में ओ३म् आदि परमेश्वर के नाम हैं" ओमित्येतद०००० यहां उपनिषदों के प्रमाण दिये और सब वेद के नाम से उच्चारण किये॥

प्रत्युत्तर-कृपा करके सत्यार्थप्रकाश में देखिये, "वेदों के ऐसे२ प्रकरणों में ओ३म् आदि परमेश्वर के नाम आते हैं" इस वाक्य के शिर पर-

ओ३म् खं ब्रह्म॥ (यजु० ४०। १७)

यह वेदवाक्य लिखा है। उसे न छिपाइये। स्वामी जी इसी को लक्ष्य करके कहते हैं कि "वेदों में ऐसे२ प्रकरणों में ओ३म् आदि परमेश्वर के नाम आते हैं" न कि आगले "ओमित्येतदक्षरमु० इत्यादि को वेद नाम से कहा हो"

हां, उपनिषद् का भी प्रमाण इस विषय में दिया है कि ओ३म् परमेश्वर का नाम है और यूं तो आगे स्वामी जी ने मनु के भी २ श्लोक लिखे हैं जो (ओमित्ये०, सर्वे वेदा यत०) से आगे—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि० इत्यादि ॥

क्या फिर स्वामी जी मनु को भी वेद मानते थे ? वा आप मानते हैं ?

द० ति० भा० पृ० २२६ पं० १६ में लिखा है कि "पृ० १८० पं० १० श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य" सांख्य सू० इस के अर्थ में स्वामी जी लिखते हैं कि "उपनिषद् भी प्रधान ही को जगत् का उपादान कारण कहता है" यहां देखिये श्रुति शब्द उपनिषदों तक का नाम सिद्ध होता है ॥

प्रत्युत्तर—स्वामी जी का यह पक्ष नहीं है कि श्रुति शब्द उपनिषदों के वाक्य का नाम नहीं। एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। तदनुसार श्रुति शब्द वेदवाचक भी है और उपनिषदों के श्लोकादि का नाम भी श्रुति रहो। इतने से उपनिषद् अपौरुषेय वेद नहीं हो सकते। कल्पना करो कि एक राजा के पुत्र का नाम " श्रीपति " है और एक वैश्यपुत्र का नाम भी " श्रीपति " है तो क्या दोनों का नाम श्रीपति होने से वह वैश्यपुत्र कभी राजपुत्र माना जासकता है ? कभी नहीं। इसी प्रकार "श्रुति" नाम वेदों का भी है और उपनिषदों के वाक्यों का भी है तो क्या इतने से उपनिषद् वेद हो गये ?

द० ति० भा० पृ० २२६ पं० १९ से—यदि वेद शब्द से व्यवहार्य वाक्यकलाप को दूसरे पदों से अर्थ करने को व्याख्यान कहते हैं तो स्वामी जी इसे क्या कहेंगे

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वारूपाणि० (इत्यादि यजुः २३ । ६५) और प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वाजातानि० (इत्यादि) ऋ० १० । १२१ । ४ और नवो नवो भवसि जायमानः (इत्यादि अथर्व०) और—नवो नवो भवति जायमानः० इत्यादि ऋ० १० । ८५ । १९)

इन में पहले मन्त्र में (विश्वारूपाणि) ऐसा पद है और दूसरे में विश्वाजातानि) ऐसा पद है, तीसरे में (भवसि जायमान उषसामेत्यग्रम् विदधात्यायन्) ऐसे विलक्षण पद हैं तो इन भिन्न २ मन्त्रों में वेदपदों के पदान्तर से अर्थ कथनरूप स्वामी जी का पूर्वोक्त ऋग्वेदभाष्यभूमिका) वेदव्याख्यानत्व तो स्पष्टता से प्रतिपन्न होता है, फिर वेद भी व्याख्यान कहलावेगा ॥

प्रत्युत्तर—एक ही वेद में कोई मन्त्र कई वार आवे वा एक वेद के समान पाठ वाला मन्त्र उसी वेद में वा दूसरे वेद में फिर से आवे, वा कुछ

पाठभेद से आवे, तो इस का तात्पर्य यह नहीं होता कि पूर्व कहे मन्त्र के व्याख्यानार्थ पुनर्वार अन्य पदों से व्याख्यान करने को वह २ मन्त्र पुनर्वार आता है। किन्तु हमने सामवेदभाष्य में स्पष्टता से लिखा है कि जिस प्रकार एक अक्षर वार २ आता है जब २ उस की आवश्यकता हो। इसी प्रकार एक पद भी कईवार आता है। तथा एक मन्त्र वा सूक्त वा अध्याय भी पुनर्वार आसक्ता है, जब २ उस की आवश्यकता हो। और आप के कथनानुसार यदि यह मानलें कि वे २ मन्त्र जो पुनर्वार अन्य पदमिश्रित आये हैं वे पूर्व आये हुओं की व्याख्या हैं, तो कृपया यह बताइये कि जो २ मन्त्र विना पदभेद के ज्यों के त्यों कई वार एक वा अनेक वेदों के स्थलों में आये हैं वे किस लिये? क्योंकि जब किसी पद के स्थान में दूसरा पद भी नहीं आया तब व्याख्या तो हो नहीं सकती। जैसा कि-

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदे०

यह मन्त्र ऋग्वेद अष्टक ३ अध्याय ४ वर्ग १० में तथा यजुर्वेद ३।३५ फिर २२।९ फिर ३०।२ पुनः ३६।३ और सामवेद उत्तरार्चिक अध्याय १३ खण्ड ४ ऋचा ३ में भी आया है। इस लिये एक मन्त्र का समान पाठ से वा पाठभेद से एक वा अनेक वेदों में कई वार आना व्याख्यान होने का साधक नहीं (परन्तु जैसे शतपथ ब्राह्मण में पदों के अर्थ बताये जाते हैं कि—आत्मा वा अग्निः। श० १।२।३।२ अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च। श० ९।१।२।।४२ ब्रह्मह्यग्निः। श०१।४।२।११ ऊर्ग्वसः। श० ५।१।२।८ ओषधिपशवः श०१।६।३।३६ प्रजावैपशवः। श०१।४।६।१७

इत्यादि स्थलों में जिस प्रकार शब्दों के अर्थ बताये हैं। इस से सिद्ध होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के व्याख्यान हैं॥

द० ति० भा० पृ० २२७ पं० ११ से (लौकिकानामर्थपूर्वकत्वात्) ऐसा कात्यायन ऋषि ने प्रातिशाख्य में कहा है इस का अर्थ यह है कि लौकिकानामर्थात् " गामानय शुक्लां दण्डेन " इत्यादि लौकिक वाक्यों का प्रयोग अर्थपूर्वक होता है इत्यादि॥

प्रत्युत्तर—आप का आशय यह है कि जैसे लोक में जो वस्तु पूर्व होते हैं उन से उत्तर काल में उन का कथन बन सकता है। ऐसा वेद में नहीं। किन्तु जो २ इतिहास ब्राह्मण नामक वेदभाग में आते हैं वे २ घटना न थीं तभी वेद ने पूर्व से भविष्यत् का वर्णन किया। बस इतिहास से वेद अनित्य नहीं

होते। परन्तु जानना चाहिये कि आप के लिखे प्रतिप्रश्नवाक्य का तात्पर्य यह है कि लोक में जिस प्रकार वस्तुसत्ता के होने पर उस के नामादि का उच्चारण होता है, उस प्रकार वेद में नहीं। अर्थात् वेद अनादि है। उस में जगत् के पदार्थों का वर्णन उस प्रलय काल में भी ईश्वर के ज्ञान में रहता है जो पदार्थ उस काल में वर्त्तमान नहीं होते किन्तु सृष्टिकाल में उत्पन्न होंगे। इस का कारण यह है कि ईश्वर अनेक उत्पत्ति स्थिति प्रलय का कर्त्ता है और अनेक बार हुवे और होने वाले मनुष्य, पशु, पक्षी, सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थों को जानता है और इस से उन के उत्पन्न होने से पूर्व भी प्रयोग कर सकता है। परन्तु यथार्थ में वस्तुसत्ता से पूर्व प्रयोग नहीं करता किन्तु जिस प्रकार वेद और ईश्वर अनादि हैं, इसी प्रकार सूर्यादि पदार्थों में प्रवाह से जो अनादिता है, उस कारण परमात्मा जानता है और जानता हुवा ही प्रयोग करता है। किन्तु जनकादि स्वतन्त्र जीवात्माओं के स्वतन्त्रता से उच्चारण किये प्रश्नोत्तरों को प्रवाह से अनादिता नहीं है और इस कारण ऐसे प्रश्नोत्तरादि इतिहास मूलवेद में नहीं आसकते। और ब्राह्मणग्रन्थों में आते हैं। अतः ब्राह्मण ग्रन्थ अपौरुषेय वेद नहीं॥

द० ति० भा० पृ० २२१ पं० २२ में (त्रितं कूपे०) इस मन्त्र से त्रित ऋषि का इतिहास मन्त्रसंहिता में दिखलाया है॥

प्रत्युत्तर-इस का उत्तर पृ० २११ में दिया जा चुका है॥

द० ति० भा० पृ० २२८ में मीमांसा के इन दो सूत्रों से मन्त्र ब्राह्मण दोनों को वेद बतलाया है कि-

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ३१ शेषे ब्राह्मणशब्दः ३२

आप का तात्पर्य यह है कि (शेषे) मन्त्रभाग से शेष वेदभाग को ब्राह्मण कहते हैं॥

प्रत्युत्तर-आप कृपा करके मीमांसा का इस से पूर्वला अर्थात् ३० वां सूत्र और देखते तो (तच्चोदकेषु०) इस ३१ वें में तत् शब्द से पूर्वले किस प्रसंग की अनुवृत्ति हो सकती है, यह जान लेते। हम पाठकों के ज्ञापनार्थ ३०। ३१। ३२ तीनों सूत्रों को प्रस्तुत करते हैं और अर्थ सहित लिखते हैं-

३०-विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात्

३१-तच्चोदकेषु मन्त्राख्या॥

३२—शेषे ब्राह्मणशब्दः ॥

३०-विधि और मन्त्र का एक अर्थ है, एक शब्द होने से । अर्थात् मन्त्र संहिता का ही दूसरा नाम विधि है । ३१-तच्चोदकेषु०=उन विधिवाक्यों में मन्त्र नाम प्रसिद्ध है । ३२-इस में शेष पद का मन्त्र से शेष=बचा हुवा अर्थ नहीं किन्तु मीमांसाकार जैमिनि जी शेष का अर्थ स्वयं निम्नलिखित सूत्रों में करते हैं । यथा हि-

अथातः शेषलक्षणम् ३ । १ । १ शेषः परार्थत्वात् ३ । १ । २

अर्थात् अब शेष का लक्षण कहते हैं (जिस में "ब्राह्मण" शब्द का व्यवहार है) ३ । १ । १ कि शेष परार्थ होने से अर्थात् ब्राह्मण को शेष इस लिये कहते हैं कि वह परार्थ है, परार्थ=मन्त्र का अर्थ वर्णन करता है । कहीं अक्षरार्थ, कहीं भावार्थ और कहीं मन्त्रों के कर्मकाण्ड में विनियोग को दिखाता है । अतएव वह वेद का व्याख्यान तो है परन्तु मूल वेद नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० २२८ पं० १४ । में-तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था । इत्यादि ३ सूत्रों से ऋग् यजुः साम के लक्षण कहे हैं । उन का सम्बन्ध इस से कुछ भी नहीं कि ब्राह्मण भी वेदभाग है । परन्तु हां, आप के विरुद्ध और स्वामी जी के अनुकूल तो इस सूत्र का भाव होता है । क्योंकि-

तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥ मी० २ । १ । ३५

अर्थ-जिस में अर्थवश से पादव्यवस्था है वह ऋक् कही जाती है । बस यदि ऋग्वेद का ब्राह्मण भी ऋग्वेद में गिना जावे तो उस में भी पादव्यवस्था छन्दोबद्ध होनी चाहिये । सो नहीं है । इसलिये ब्राह्मण वेद नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० २२८ । २२९ में-बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ॥ इत्यादि ३ सूत्रों में ब्राह्मण के वेद होने का भ्रम उत्पन्न किया है ॥

प्रत्युत्तर-आपने पूर्व तो मीमांसा का सूत्र अशुद्ध लिखा अर्थात् (तेषामृग्यत्रार्थविशेशादव्यवस्था) लिखा, जिस का अर्थ किया जावे तो " अव्यवस्था" वेद के शिर मढ़ी जाती है । शुद्ध पाठ हम ऊपर लिख ही चुके हैं, अब आप वैशेषिक सूत्र का पाठ भी अन्यथा लिखते हैं । शुद्ध पाठ और अर्थ नीचे लिखे अनुसार है:-

बुद्धिपूर्वा वाक्प्रकृतिर्वेदे ६ । १ । १

ब्राह्मणे संज्ञाकर्मसिद्धि लिङ्गम् ६ । १ । २
बुद्धिपूर्वो ददातिः ६ । १ । ३
तथा प्रतिग्रहः ६ । १ । ४

दूसरे सूत्र में (लिङ्गम्) पर आप का रेफ अशुद्ध है । तीसरे ददाति के विसर्ग नहीं लिखे सो अशुद्ध है ॥ अर्थ यह है-वेदों में वाक्यरचना बुद्धि-पूर्वक है ॥ १ ॥ क्योंकि (वेदों का व्याख्यान करते हुवे) ब्राह्मण में नामकरण सिद्धि का चिह्न है । अर्थात् ब्राह्मण में वेद के जिस मन्त्र का विनियोग जिस कर्म में किया है, वह २ सिद्ध होता है । यदि वेदवाक्यरचना बुद्धिपूर्वक न होती तो ब्राह्मणोक्त प्रकार से वेदप्रयोग सिद्ध न होते । इस से यह पाया जाता है कि वेद (क़ानून) विधि है और ब्राह्मण उस के वर्त्ताव की विधि बतलाने वाला (ज़ाब्ता) है । ब्राह्मण वेद नहीं हैं ॥ २ ॥ इसी प्रकार ददाति अर्थात् वेद में लिखा दानप्रयोग भी बुद्धिपूर्वक है ॥ ३ ॥ तथा प्रति-ग्रह अर्थात् दान लेना भी बुद्धिपूर्वक है ॥ ४ ॥

इस से ब्राह्मण के वेदत्व की शङ्का नहीं हो सकती । हां, जिन टीका-कारों ने आधुनिक परिपाटी से उदाहरण में वेदवाक्य की अनुपस्थिति में ब्राह्मणवाक्य रख दिये । यह उन टीकाकारों की सम्मति हुई कि ब्राह्मण भी वेद है परन्तु मूल वैशेषिक दर्शनकार कणाद की नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० २३० में-तदप्रामाण्य० इत्यादि न्यायदर्शन के ३ सूत्र लिखे हैं और इन के उदाहरण और व्याख्या में वात्स्यायन जी ने ब्राह्मण वाक्य लिखे हैं । इस से ब्राह्मणों के वेदसंज्ञक होने का भ्रम किया है ॥

प्रत्युत्तर-आप ने एक अशुद्धि यहां भी की । न जाने क्या बात है कि दर्शनशास्त्रों का विषय आते ही आप से एक न एक अशुद्धि पाठ की अवश्य हो जाती है । शुद्ध पाठ (विध्यर्थवादानु०) है । आप ने (बुद्ध्यर्थवा-दानु०) लिखा है जिस के अर्थ में विधि का बुद्धि हो जाने से पृथिवी आ-काश का सा अन्तर होजाता है ॥ अब मूल बात सुनिये । तदप्रामाण्य० यह सूत्र न्यायदर्शन अध्याय २ आह्निक १ सूत्र ५६ है और इस से पूर्व सूत्र ४७ से न्यायोक्त प्रत्यक्ष अनुमान उपमान शब्द इन चार प्रमाणों में से शब्द प्रमाण की परीक्षा आरम्भ हुई है । अर्थात् शब्द प्रमाण को अनुमान के अन्तर्गत होने की शङ्का करने को ४७ वां सूत्र किया है कि-

शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् ॥ २ । १ । ४७

यहां से शङ्कासमाधान करते हुए इस ५६ वें सूत्र में शङ्का की है कि-

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ॥ २ । १ । ५६

वह शब्द प्रमाण नहीं । क्योंकि शब्द प्रमाण में (पुस्तक लिखित प्रमाण में) अनृत=असत्य, परस्परविरुद्ध और पुनरुक्त दोष हैं । जैसे कि वात्स्यायन जी ने ब्राह्मण ग्रन्थों के वचनों में असत्यादि दोष शङ्कापक्ष में दिखाये हैं और अगले सूत्र में इस का उत्तर दिया है कि-

न कर्तृकर्मसाधनवैगुण्यात् ५७

अर्थात् शब्द अप्रमाण नहीं । और जो तुम अनृतादि दोष देते हो कि शब्दप्रमाणलिखित पुत्रेष्टि यज्ञादि करने से पुत्रोत्पत्ति आदि प्रायः नहीं होती । सो कर्त्ता कर्म और साधनों में दोष रह जाने से नहीं होती । किन्तु जो आप्त पुरुषों का उपदेश किया शब्द है, वह तो प्रमाण ही है । अब आप समझ सकते हैं कि ४७ वें सूत्र से यहां शब्दप्रमाण की अनुवृत्ति और शब्दप्रमाण की परीक्षा का प्रकरण है और शब्दप्रमाणान्तर्गत वेद स्मृति आदि समस्त आप्तोक्त सत्य शास्त्र हैं । न केवल वेद ही शब्दप्रमाण है । हां, वेद स्वतःप्रमाण और अन्य शब्द परतःप्रमाण अर्थात् वेदाऽधीन प्रमाण वा वेदाऽविरुद्धता में प्रमाण हैं । इस से गोतमसूत्रों के उदाहरणों में ब्राह्मण वाक्य के उदाहरण से क्या हानि है ? प्रत्युत रामायण और महाभारत वा मनु आदि के वाक्य भी शब्दप्रमाणान्तर्गत होने से दोष नहीं । परन्तु शब्द प्रमाण होने से उस २ की वेद संज्ञा नहीं होसकती ॥

द० ति० भा० पृ० २३१ पं० ९ में-(तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च०) इस अथर्ववेद में इतिहास पुराण के आने से क्या वेद इतिहास पुराण के पीछे बना है । कभी नहीं ॥

प्रत्युत्तर-इस अथर्ववेद १५ । ३० । १ । ४ के वाक्य में इतिहास पुराण का सामान्य नाम है । क्योंकि इतिहास पुराणादि भी प्रत्येक कल्प में बना ही करते हैं । परन्तु ब्रह्मवैवर्त्तादि किसी पुराणविशेष का नाम नहीं आने से यह शङ्का नहीं हो सकती कि वेद उस के पीछे बना । परन्तु यदि पुराण के किसी अनित्य पुस्तकविशेष भागवतादि का नाम आता तो अवश्य यह सिद्ध होता कि यह वेदवाक्य उस के पीछे बना । जैसे वेदों में मनुष्य शब्द आने

से तो यह शङ्का नहीं होती कि मनुष्यों की उत्पत्ति के पश्चात् वेद बने, क्यों कि मनुष्यों का होना प्रवाह से अनादि है। परन्तु रामचन्द्रादि व युधिष्ठिरादि पुरुषविशेषों के जीवनचरित्र वा कुछ वर्णन वेद में आते (जो कि वेद में नहीं आते और ब्राह्मण में आते हैं) तो अवश्य यह सन्देह होता कि वह २ वेदभाग उस २ की उत्पत्ति के पश्चात् बना ॥

द० ति० भा० पृष्ठ २३१ पं० १२ से—पश्चादिभिज्ञाऽविशेषात् । इस अपने भाष्य की आप ही व्याख्या शङ्कराचार्य जी ने की है । और पातञ्जलभाष्य में भी अथशब्दानुशासनम् । इस का—अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः । इत्यादि व्याख्यान स्वयं भाष्यकार ने किया है ॥

प्रत्युत्तर—कहीं २ अपनी व्याख्या आपने ही की है। इस से क्या यह सिद्ध होगया कि समस्त व्याख्याग्रन्थ भी मूलग्रन्थकारों ने बनाये हैं। ऐसा ही है तो रघुवंशादि के मल्लिनाथादिकृत टीका भी कालीदासादिकृत समझियेगा? वा मानियेगा? अथवा क्या मूलसंहिताओं की व्याख्या उन के आगे (अव्यवहित) इस प्रकार लिखी पाई जाती है? जिस प्रकार शङ्कराचार्य और पतञ्जलि के उक्त वाक्यों की व्याख्या उन्हीं के आगे उपस्थित है, नहीं २॥

द० ति भा० पृ० २३१ पं० १७ से—प्रश्न

द्वितीया ब्राह्मणे २ । ३ । ६० अष्टा०
चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि २ । ३ । ६२
पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ४ । ३ । १०५
छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि ४ । २ । ६२

यहां पाणिनि आचार्य वेद और ब्राह्मण को पृथक् २ कहते हैं पुराण अर्थात् प्राचीन ब्रह्मा आदि ऋषियों से प्रोक्त ब्राह्मण और कल्प वेदव्याख्यान हैं। इस से इन की पुराणेतिहास संज्ञा की गई है। यदि यहां छन्द और ब्राह्मण दोनों की वेद संज्ञा सूत्रकार को अभिमत होती तो (चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि) इस सूत्र में छन्द ग्रहण न करते "द्वितीया ब्राह्मणे" इस सूत्र में "ब्राह्मणे" इस पद की अनुवृत्ति प्रकरणतः प्राप्त है इस से जानते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थ की वेद संज्ञा नहीं और यदि छन्द पद से ब्राह्मण का भी ग्रहण पाणिनि को अभिमत होता तो "छन्दोब्रा०" इस सूत्र में ब्राह्मण ग्रहण क्यों

करते । केवल छन्दसि कह देते क्योंकि ब्राह्मण भी छन्द ही है "उत्तर" वाह! व्याकरण में भी आप की बहुत पहुंच है । यह कहना सर्वथा आप का अनुचित है । देखिये "द्वितीया ब्राह्मणे" इस सूत्र से ब्राह्मणविषयक प्रयोग में अपूर्वक है और पण धातु के समानार्थक दिव धातु के कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है यथा "गामस्यतदहः सभायां दीव्येयुः" यहां शतस्य दीव्यति इत्यादि में की नाईं "दिवस्तदर्थस्य" २ । ३ । ५८ इस सूत्र से गोरस्य ऐसी षष्ठी प्राप्त थी सो वहां "गामस्य" यही द्वितीया की जाती है यहां ब्राह्मणरूप वेदैकदेश ही में द्वितीया इष्ट है न कि मन्त्रब्राह्मणात्मक श्रुति छन्दः आम्नाय निगम वेद इत्यादि पद से व्यवहार्य समस्त वेद मात्र में और (चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि) २ । ३ । ६२ इस उत्तर सूत्र से मन्त्रब्राह्मणरूप छन्दोमात्र के विषय में चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी का विधान किया जाता है "पुरुषमृगश्चन्द्रमसः" 'पुरुषमृगश्चन्द्रमसे" इत्यादि इस सूत्र से छन्दसि इस पद से मन्त्रब्राह्मणरूप समस्त वेद मात्र का संग्रह पाणिनि आचार्य को अभिमत है, अतएव इस के उदाहरण में (या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते तिस्रोरात्रिरिति तस्या इति प्राप्ते, यां मलवद्वासः सम्भवन्ति यस्ततो जायते सोभिशस्तो यामरण्ये तस्यै स्तेनो यां पराचीं तस्यै ह्रतमुख्यः प्रगल्भो या स्नाति तस्या अप्सु मारुको याऽभ्यङ्क्ते तस्यै दुश्चर्मा या प्रलिखते तस्यै खलतिरपमारी याङ्क्ते तस्यै काणो यादतो धावति तस्यै श्यावदन् या नखानि निकृन्तते तस्यै कुनखी या कृणत्ति तस्यै क्लीबो या रज्जुं सृजति तस्या उद्बन्धुको या पर्णेन पिबति तस्या उन्मादुको जायते अहल्यायै जारमनाट्यै तन्तुः) इत्यादि बहुत से ब्राह्मणों ही को भाष्यकार ने दिया है यदि इस सूत्र में छन्दोग्रहण न रहेगा तो पूर्व सूत्र से ब्राह्मणे' इस पद की अनुवृत्ति लाने पर भी केवल ब्राह्मण ही में षष्ठी होगी वेदमात्र से नहीं इस कारण इस सूत्र में (छन्दसि) ग्रहण का विशिष्ट फलदर्इ हैं और ब्राह्मण की छन्दोरूपता में भाष्यकार सम्मति देते ही हैं फिर इस सूत्र में छन्दोग्रहण को व्यर्थ कहते हुए आप निरे स्वच्छन्द नहीं हैं तो और कौन हैं और नहीं तो (मन्त्रेश्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो णिवन् ३ । २ । ७१ अवेयजः ३ । २ । ७२ विजुपे छन्दसि ३ । २ । ७३) ऐसे क्रमिक सूत्र में पाठ से अन्तिम सूत्र में "छन्दसि" ऐसा कहने से मन्त्रभाग में भी छन्दोरूपता न सिद्ध होने पावेगी देखिये जैसे (ब्राह्मणे) ऐसा कह कर

(छन्दसि) ऐसा कहने से ब्राह्मण का छन्द पद में व्यवहार पाणिनी को अभिमत नहीं है ऐसी उत्प्रेक्षा आप करते हैं तैसे ही पूर्व सूत्र में मन्त्र ऐसा कहकर (विभुपेश्छन्दसि) ऐसा कहने वाले पाणिनी को मन्त्र भाग में भी छन्द पद से व्यवहार अभिमत नहीं है ऐसा कहना पड़ेगा तब तो ब्राह्मणद्वेषी आप के शिर पर भी महा अनिष्ट आपड़ेगा और भी " अरून-रूधरवरित्युभयथाछन्दसि ८। २। ७०) इससूत्र में पाणिनि (छन्दसि) ऐसा कहकर " सुवश्च महाव्याहृतेः ८। २। ७१ " इस उत्तर सूत्र में महाव्याहृतेः ऐसा कहते हैं इस से महाव्याहृति की भी छन्दोभावच्युति अवश्य हो जायगी क्योंकि "ब्राह्मणे" ऐसा कह कर "छन्दसि" ऐसा कहना ही ब्राह्मण का छन्दोभाव का अभाव साधन करेगा और " छन्दसि " ऐसा कहकर "महाव्याहृतेः " ऐसा विशिष्ट व्याहृति का कहना महाव्याहृति का छन्दोभाव का नाशक न होगा ऐसी आंख में धूल तो आप नहीं डाल सकते इस हेतु से पाणिनि आचार्य प्रयोग साधुत्व के अप्रसंग और अतिप्रसंग निवारण करने की इच्छा से कहीं सामान्य से (छन्दसि) ऐसा कहकर विशेष से " महाव्याहृतेः " ऐसा कहते हैं और कहीं तो विशेष से " ब्राह्मणे ", " मन्त्रे " ऐसा कह कर सामान्य से " छन्दसि " ऐसा कहते हैं इस से यदि यहां छन्द और ब्राह्मण दोनों की वेद संज्ञा सूत्रकार को इष्ट न होती तो (चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि) इस सूत्र में छन्दोग्रहण वो क्यों करते क्योंकि (द्वितीया ब्राह्मणे इस सूत्र से ब्राह्मणे इस पद की अनुवृत्ति प्रकरणतः सिद्ध थी इस से जानते हैं कि मन्त्र ब्राह्मण का नाम वेद है और आप का कहना सब मिथ्या है और (छन्दोब्राह्मणानीति) ब्राह्मणों और मन्त्रों का छन्दोभाव समान होने से पृथक् ब्राह्मण व्यर्थ है ऐसा प्राप्त था तथापि ब्राह्मण ग्रहण यहां " अधि-कमधिकार्थम्" इस न्याय से ब्राह्मण विशेष के परिग्रहार्थ है इस से (याज्ञ-वल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि याज्ञवल्क्यानि सौलभानि) इस प्रयोग से पूर्वोक्त नियम नहीं हुआ व्याकरणभाष्यकार भी (याज्ञवल्क्यादिभ्यः० प्रतिषेधो वक्तव्यः) ऐसा कहते हुए इस सूत्र में ब्राह्मण ग्रहण का प्रयोजन यही सूचित कराये हैं और " पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ४। ३। १०५ " इस सूत्र में ब्राह्मण का पुराणप्रोक्त ऐसा विशेषण कहते हुवे पाणिनि को यही अर्थ अभिमत है अन्यथा यदि ब्राह्मण विशेष के परिग्रह करने की इच्छा न होती तो (पुराणप्रोक्तेषु०) इस के कहने से आचार्य की प्रवृत्ति व्यर्थ होजाती। चाहे

स्वामी जी आप कुछ समझें परन्तु भाष्य के श्रम करने वाले विद्वानों को यह बात कुछ परोक्ष नहीं है इस हेतु हम इस में कुछ और नहीं कहा चाहते और मन्त्र भाग की नाईं ब्राह्मण भाग का भी प्रामाण्य वारंवार सिद्ध कर आये हैं अतएव पुराणप्रामाण्यव्यवस्थापन के प्रसंग से (प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणानां प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते) ऐसा वात्स्यायन महर्षि ने कहा है यदि ब्राह्मणों का स्वतःप्रामाण्य न हो तौ दूसरे की प्रामाण्य-बोधकता कैसे उन में संभवित होसक्ती है क्योंकि ब्राह्मण भाग स्वयं जब तक प्रमाणपदवी पर व्यवस्थित न होलेगा तब तक इतिहास पुराण के प्रामाण्य का व्यवस्थापन करने में कैसे समर्थ हो सकेगा यह कहावत प्रसिद्ध है कि (स्वयमसिद्धः कथंपरान् साधयिष्यति) इस से श्रुति वेद शब्द आम्नाय निगम इत्यादि पद मन्त्र भाग से लेकर उपनिषद् पर्यन्त वेदों का बोधक है यह शास्त्र मार्मिक विद्वानों का परामर्श है अतएव (श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रन्तु वै स्मृतिः) श्रुति को वेद कहते हैं धर्मशास्त्र कू स्मृति कहते हैं ऐसा आस्तिक जनों के जीवनौषध भगवान् मनु जी ने भी माना है ॥

प्रत्युत्तर-सत्यार्थप्रकाश में यह प्रश्न इस प्रकार आप के मत पर नहीं किया गया जैसा कि आप ने "द्वितीया ब्राह्मणे" इत्यादि किया है। फिर इस का उत्तर सत्यार्थप्रकाश के क्रमपूर्वक खण्डन में देना आवश्यक न था और "इत्यपि निगमो भवति। इति ब्राह्मणम्। नि०अ०५खं०३।४" का उत्तर जो आप को देना था सो आप ने दिया नहीं। इस का कारण शोचने से ज्ञात होता है कि आपने सत्यार्थप्रकाशस्थ उक्तियों को समझा नहीं और उस की जगह भूमिका पर आक्षेप करके जो काशी के पण्डितों ने महामोहविद्रावण नामक पुस्तक में लेख किया है उस का भाषानुवाद करके आप ने लिख दिया है। परन्तु सत्यार्थप्रकाश के उत्तर से इस का कुछ सम्बन्ध नहीं। तथापि आप के समस्त पक्षों का निराकरण हो जावे, और साथ ही महामोहविद्रावण की भी समालोचना होजायगी, इस लिये क्रमशः उत्तर सुनिये-

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि २।३।६२

इस सूत्र में जो स्वामी जी ने छन्दोग्रहण की व्यर्थता दिखाई है सो विपक्षियों के ही मतानुसार दिखाई है। अपने मत से नहीं। आप जो "द्वितीया ब्राह्मणे" में "ब्राह्मणे" ग्रहण को वेद के एकभाग वाचक मान

कर निर्वाह करते हैं सो इस लिये ठीक नहीं कि ब्राह्मण का वेदैकदेश होना ही तो साध्य है। साध्य को हेतु बतलाना "साध्यसमहेत्वाभास" नामक निग्रह स्थान है। जिस प्रकार "अग्निमीडे पुरोहितम्०" ऋ० १।१।१। इत्यादि मन्त्र जो वेद का एकदेश हैं, क्या उन में छन्द आदि पदों से विहित कार्य नहीं होते? किन्तु यह शैली पाणिनि की नहीं है कि जिन २ विशेष वेदैकदेशों में (मन्त्रों वा पदों में) वे कार्य पाये जावें उन २ का ही नाम सर्वत्र लिया हो। इस से जाना गया कि ब्राह्मण वेद वा वेदैकदेश नहीं किन्तु वेदव्याख्यान हैं॥

और "या खर्वेण पिबति०" इत्यादि ब्राह्मणवाक्य का उदाहरण "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" पर महाभाष्यकारने दिया है वह भी ब्राह्मण का वेदत्व सिद्ध नहीं करता। यूं तो "छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति" इस वैयाकरणमत से सूत्रों में भी छन्दोवत् कार्य होते हैं, तो क्या इतने से व्याकरण के सूत्रों को भी अपौरुषेय वेद मानियेगा? पाणिनिकृत न मानियेगा? इसी प्रकार वेद के तुल्य प्रयोग ब्राह्मण में आजाने और भाष्य में ब्राह्मणवाक्योदाहरणमात्र से ब्राह्मण का वेदत्व नहीं सिद्ध होता और ब्राह्मण वेदों के व्याख्यान हैं, तब व्याख्यान में व्याख्येय के समान पद आजाना कुछ उन दोनों को एक नहीं कर देता॥

और आप जो (मन्त्रे श्वेत० ३।२।७१) में कहते हैं कि मन्त्र पद आचुका था तब फिर से अगले—

अवे यजः ३।२।७२ विजुपे छन्दसि ३।२।७३

सूत्र में छन्दःपद क्यों आया? स्वामी जी के मतानुसार भी छन्द और मन्त्र एकार्थ हैं। उत्तर यह है कि मन्त्र पद सामान्यतया वेदसंहितामात्र का वाचक है और छन्दः शब्द यहां केवल गायत्र्यादिछन्दोबद्ध मन्त्रों का ही वाचक है। इस कारण यदि "मन्त्रे" पद की अनुवृत्ति लाते तो संहिता मात्र विषय हो जाता और इस कारण अतिव्याप्ति दोष रहता। इस के निवारणार्थ केवल गायत्र्यादि छन्दोबद्ध मन्त्रों का ही ग्रहण होने के लिये—

विजुपे छन्दसि

में छन्दः पद पढ़ा है। आशय यह है कि मन्त्र शब्द के वाच्य तो गायत्र्यादि छन्दोबद्ध मन्त्र तथा गद्य यजु आदि सभी हैं, परन्तु "छन्दसि" पद से केवल छन्दोबद्ध ही लिये जायंगे। और मन्त्र तथा छन्द अथवा दोनों से किसी एक का वेद होना न होना किसी का साध्यपक्ष नहीं किन्तु

उभयसंमत है कि दोनों पद वेद के सामान्य विशेष वाचक हैं। इसी प्रकार-

अम्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि ८। २। ७०

भुवश्च महाव्याहृते ८। २। ७१

यहां महाव्याहृति ग्रहण न करते तो महाव्याहृति के अतिरिक्त समस्त वेदस्थ भुवः पद (छन्दःपदानुवृत्ति से) विषय हो जाता और अतिव्याप्ति दोष आता। यहां भी छन्दस् का "वेद होना" और महाव्याहृति का "वेद का एक देश होना" दोनों पक्ष वालों का संमत है। यदि इसी प्रकार छन्द या मन्त्रादि का "वेद होना" और ब्राह्मण का "वेद का एकदेश होना" उभयपक्षसंमत होता, तब तो इस दृष्टान्त से आप को लाभ होता। यहां हम तो ब्राह्मण को न सामान्यतया वेदवाचक मानते हैं, न वेद का एक देश मानते हैं और आप ब्राह्मण को वेदभाव मानते हैं। इस दशा में ब्राह्मण को वेदत्व या वेदैकदेशत्व सभी आप का साध्य है। इस लिये महाव्याहृति आदि दृष्टान्त आप का पक्षपोषक नहीं। और जो यह लिखा है कि छन्दः पद सामान्यवाचक है और ब्राह्मण पद उसी का विशेष वाचक वा एकदेशवाचक है। यह भी साध्य ही है। छन्दः पद के सामान्यवाचक होने में कोई प्रमाण नहीं मिलता, विशेषवाचक होने में प्रमाण हैं। यथा-

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः ऋ०। ४। ५८। ३

इस मन्त्र के व्याख्यान में निरुक्तपरिशिष्ट में स्पष्ट कहा है कि-

सप्त पस्तासः सप्त छन्दांसि। निरुक्त १३। ७

यहां सात छन्द गायत्र्यादि ग्रहण किये हैं। यह भी प्रकट है कि छन्दों में से ही संग्रह करके निघण्टुपद लिखे गये हैं, ब्राह्मण ग्रन्थों से उद्धृत करके निघण्टु में कोई पद नहीं लिखा। इसी कारण निरुक्तकार ने आरम्भ ही में लिखा है कि-

छन्दोभ्यः समाहृत्य०। निरु०। १। १॥

केवल छन्दोबद्ध मन्त्रों से संग्रह करके इन निघण्टुस्थ पदों का समाम्नाय किया गया है। इत्यादि प्रमाणों से छन्दःपद पिङ्गलोक्त गायत्र्यादि ७ छन्दों का वाचक होने से गद्यरूप ब्राह्मणों का वाचक नहीं हो सकता। इस लिये सामान्य छन्दःपद के ब्राह्मणपरक भागवाचक नहीं हो सकते॥

छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि ४ । २ । ६२

इस सूत्र में जो स्वामी जी ने यह कहा है कि यदि छन्द और ब्राह्मण दोनों वेदवाचक होते तो पाणिनि जी इस सूत्र में छन्द और ब्राह्मण इन दोनों पदों को क्यों लिखते । इस पर आप लिखते हैं कि यहां छन्द और ब्राह्मण दोनों शब्द इस लिये लिखते हैं कि(अधिकनधिकार्थम्)इस न्याय से यहां पाणिनि जी को सब ब्राह्मणों का ग्रहण अभीष्ट न था । इसी लिये महाभाष्य में-

याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

इस वार्तिक द्वारा याज्ञवल्क्यादिप्रोक्त ब्राह्मणों में निषेध किया है । इसी की पुष्टि बतलाते हैं कि–

पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ४ । ३ । १०५ ।

इस सूत्र द्वारा की गई है क्योंकि इस सूत्र में पाणिनि जी को सब ब्राह्मण ग्रन्थ अभिमत वा अभीष्ट होते तो–

"पुराणप्रोक्तेषु=पुराणे ऋषियों के कहे, ब्राह्मण ग्रन्थ"

ऐसा विशेषयुक्त क्यों लिखते । इस से प्रतीत हुवा कि छन्द और ब्राह्मण दोनों ही वेद हैं और यद्यपि छन्दः पद लिखकर ब्राह्मण पद लिखने की आवश्यकता न थी, परन्तु किन्हीं २ ब्राह्मणों का ही ग्रहण होने और किन्हीं याज्ञवल्क्यादिप्रोक्तों का ग्रहण अभीष्ट न होने से उक्त सूत्र में ब्राह्मणपद अधिकार्थ है ॥

हम कहते हैं कि यदि ब्राह्मणपद लिखने ही से कोई विशेष याज्ञवल्क्यादिप्रोक्तवर्जित ब्राह्मणग्रन्थ विवक्षित थे तो आप का लिखा–

याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

यह वार्तिक भाष्यकार ने व्यर्थ क्यों बनाया ? परन्तु यथार्थ में आप का अभिमत तात्पर्य पाणिनि वा पतञ्जलि(भाष्यकार)का न था किन्तु पाणिनि जी ने छन्द के अन्तर्गत ब्राह्मण न मान कर ब्राह्मण पद अधिक लिखा और पतञ्जलि जी ने ब्राह्मणपद से सामान्य सब ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण न हो जावे, इस के लिये—

याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः

यह वार्त्तिक लिख कर, याज्ञवल्क्यानि । सौलभानि । इत्यादि उदाहरणों के द्वारा वार्त्तिक की सफलता दिखलाई है ॥

पुराणप्रोक्तेषु० इस से जो आप उसी विषय की पुष्टि करते हैं सो तो वही कहावत चरितार्थ हुई कि "चौबे चले छब्बे बनने को, गांठ के दो दे दुबे रह गये"। अर्थात् प्रतिपादन तो यह करना था कि ब्राह्मण भी मन्त्र वा छन्द के समान वेद हैं वा दोनों मिल कर वेद हैं। और जैसे वेद मन्त्र-संहिता अपौरुषेय हैं, वैसे ब्राह्मण भी हैं। यह भी आप को प्रतिपादनीय था। उस के स्थान में ब्राह्मणों का याज्ञवल्क्यादिकृत होना लिख कर आपने तो ब्राह्मण ग्रन्थों की प्राचीनता भी (किन्हीं २ की) खो दी, केवल याज्ञवल्क्यादिप्रोक्त से शेष ब्राह्मणों की ही प्राचीनता आप के मत से रहगई। हमारे पक्ष में तो किन्हीं ब्राह्मण ग्रन्थों का पाणिनि की अपेक्षा प्राचीनप्रोक्त होना और किन्हीं का नूतनप्रोक्त होना दोनों ही ठीक हैं। क्योंकि ब्राह्मण पुस्तक पौरुषेय हैं। प्रोक्ताधिकार में प्रोक्त शब्द का गौण मुख्य भेद से दो प्रकार का अर्थ है। एक अपौरुषेय और दूसरा पौरुषेय पुस्तकों में। अपौरुषेय पुस्तकों में जिन २ कलापि आदि शब्दों से प्रत्ययविधि है उन उन ऋषियों के प्रचारित वा प्रथम२ पढ़ाये वे २ ग्रन्थ समझने चाहियें और जहां२ पौरुषेय पुस्तक वाच्य हों वहां २ जिस २ ऋष्यादिवाचक शब्द से प्रत्ययविधि है, उन २ का व्याख्यान किया पुस्तक का मूल अपौरुषेय से आशय लेकर अपने विचार को संमिलित करके अथवा यह समझिये कि मूल के तात्पर्य को किन्हीं अपने दूसरे शब्दों में निबद्ध कर, प्रोक्त पद का अर्थ समझना चाहिये। ऐसा मानने पर ही—

शौनकादिभ्यश्छन्दसि ४। ३। १०६

इत्यादि प्रोक्ताधिकार में पठित पाणिनीय सूत्रों के उदाहरणों की सङ्गति हो सकती है। वेदों के अपौरुषेय होने से मूलवेद वा छन्द किसी शौनकादि का व्याख्यान मानना हमारा वा आप का दोनों में से किसी का भी पक्ष नहीं है। अर्थात् दोनों को वेदों का अपौरुषेयत्व संमत है। यदि कोई कहे कि जिस प्रकार वेद वाच्य होने पर प्रोक्त शब्द का तात्पर्य प्रचारादि मानते हो इसी प्रकार सर्वत्र ब्राह्मणादि वाच्य होने पर भी वही अर्थ (प्रचारादि) लेवें तो क्या बाधा है। इस का उत्तर यह है कि सर्वत्र प्रोक्तपद से प्रचारितादि तात्पर्य समझना इस लिये ठीक नहीं कि—

तेन प्रोक्तम् ४। ३। १०१ और—तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण् ४। ३। १०२

इन सूत्रों के महाभाष्य में छन्द का प्रत्युदाहरण यह लिखा है कि—

तित्तिरिणा प्रोक्ताः श्लोकाः

जिस से स्पष्ट है कि श्लोक भी प्रोक्त होते हैं। और श्लोकों का वेदत्व वा अपौरुषेयत्व सिद्ध करना किसी के पक्ष में भी ठीक नहीं। बस जब पौरुषेय श्लोकों को भी भाष्यकार प्रोक्त पद से लेते हैं तो गौण मुख्य भेद से प्रोक्तशब्द के दो अर्थ सिद्ध ही हैं। अर्थात् प्रोक्ताधिकार में जिन २ पुस्तकों के वाच्य होने पर प्रत्ययविधि है, वे २ ग्रन्थ पौरुषेय हों तो जिस २ शब्द से प्रत्यय किया है, उस २ का व्याख्यान किया ग्रन्थ समझना चाहिये। और यदि वह २ ग्रन्थ अपौरुषेय हो तो उस २ का प्रचार किया वा पढ़ाया हुआ ग्रन्थ समझना चाहिये। इस कारण ब्राह्मण और कल्पग्रन्थों के पौरुषेय होने से उन २ के व्याख्यात वा सङ्कलित पुस्तकों का ग्रहण करना स्पष्ट है॥

वात्स्यायन जी ने जो पुराणों को ब्राह्मण की प्रमाणता से प्रामाण्य किया है उस से यह सिद्ध नहीं होता कि ब्राह्मण स्वतःप्रमाण हैं, वा वेद हैं। क्योंकि—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंश्यानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

उत्पत्ति प्रलय वंशावली मन्वन्तर और वंशावली चरित्र ये पांच वर्णन पुराण में होते हैं। सो ये बातें बहुधा ब्राह्मण ग्रन्थों में हैं और उन से पुराणों में आई हैं। इस लिये वात्स्यायन जी कहते हैं कि "ब्राह्मण के प्रमाण से पुराण इतिहास का भी प्रमाण मानना चाहिये" इस अंश में ब्राह्मणों का पुराण होना अवश्य सिद्ध हुवा, जैसा कि स्वामीजी ने ब्राह्मणों को पुराण माना है। अब जिस प्रकार ब्राह्मणों से पुराणों में वंशचरित्रादि लिया गया, अतः पुराणों का ब्राह्मणाधीन प्रामाण्य रहा। वैसे ही ब्राह्मणों में यज्ञादि विषय वेदों से लिया गया, अतः ब्राह्मणों का मन्त्रसंहिताधीन प्रामाण्य रहा। यही स्वामी जी मानते हैं। रहा यह कि यदि ब्राह्मण स्वतः प्रमाण न होते तो पुराणों की प्रमाणता में आधार कैसे होते ? यह नियम नहीं कि जो स्वतःप्रमाण हो वही अन्य की प्रमाणता में आधार हो। देखा जाता है कि जब हम किसी वस्तु के प्रमाणार्थ एक तोले भर का बाट बनाते हैं और उस से दूसरी, दूसरी से तीसरी, उस से चौथी आदि वस्तु की प्रमाणता परम्परा से आगे २ चलती जाती है। परन्तु जिस वस्तु से दूसरी वस्तु की

प्रमाणता का स्वीकार करते हैं, यदि वह अपने आधार से प्रतिकूल हो तो प्रामाणिक नहीं मानी जाती। इसी प्रकार जैसे ब्राह्मणविरुद्ध इतिहास पुराण अप्रमाण है। ऐसे ही मन्त्रसंहिता से विरुद्ध ब्राह्मण अप्रमाण होने से परतःप्रमाण अप्रमाण ही रहे॥

मनु के इस कथन से कि "श्रुति वेद और स्मृति धर्मशास्त्र है" यह सिद्ध नहीं होता कि ब्राह्मण भी वेद हैं। किंवा श्रुतिशब्द वेद के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों का वाचक नहीं हैं॥

द० ति० भा० पृ० २३४ पं० ६ से—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् अ० २ पा० १ सू० २७
परात्तु तच्छ्रुतेः अ० २ पा० ३ सू० ४१
भेदश्रुतेः अ० २ पा० ४ सू० १८
सूचकश्च हि श्रुतिराचक्षते च तद्विदः अ० ३ पा० २ सू० । ४
तदभावोनाडीषु तच्छ्रुतेः अ० ३ पा० २ सू० ७
वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः अ० ४ पा० ३ सू० ६

इत्यादि सूत्रों में वारवार श्रुतिपद शब्दपद का उपादान करते हैं श्रुति से उपनिषदों का ही ग्रहण किया है और श्रीकणादाचार्य ने भी दशाध्यायी के अन्त में (तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्) ऐसा आम्नाय पद से वेद के प्रामाण्य का उपसंहार किया है यहां आम्नाय पद संहिता से लेकर उपनिषद् पर्यन्त समस्त वेद का बोधक है क्योंकि इस के समान तन्त्रगोतमीय न्यायदर्शन के (मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यात्तत्प्रामाण्यात्) इस सूत्र में तत्पद से उपादेय उपनिषदों के संहितवाक्य कलाप ही के प्रामाण्य का अवधारण किया है और वहीं के तत्पद की मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद मात्र की बोधकता पूर्व में निश्चित कर ही चुके हैं और मन्वादि स्मृतियां इसी अर्थ के अनुकूल है देखिये—

एताश्चान्याश्चसेवेतदीक्षाविप्रोवनेवसन् ।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धयेश्रुतीः अ० ६ । श्लोक २९ ।

दीक्षा युक्त ब्राह्मण वन में वास करता हुआ आत्मज्ञान के अनेक उपनिषदों की श्रुति विचारे यहां (औपनिषदीः श्रुतीः) ऐसा कहने से उपनिषदों का श्रुति पद वाच्यत्व स्पष्ट सिद्ध होता है और श्रुति शब्द वेद का

आम्नाय पद का पर्याय शब्द है जैसे कि मनु जी ने कहा है (श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः) इत्यादि पूर्व लिख आये हैं। जब मनु जी ने उपनिषदों को श्रुति माना और व्यवहार भी वैसा ही किया तब ब्राह्मणों का वेदभाव अवश्य हुआ क्योंकि ब्राह्मणों ही के शेष भूत तो उपनिषद् हैं इसी कारण वेदान्त नाम से विख्यात है ॥

प्रत्युत्तर– आप जो व्याससूत्रों में के बहुत स्थलों में आये हुए ' श्रुति' ' शब्द ' पदों से और वैसे ही मनुस्मृति में आये ' श्रुति ' शब्द से भी यह अभिप्राय निकालते हैं कि यहां श्रुति आदि पदों के उदाहरण में उपनिषद्-वाक्य ही टीकाकारों ने लिखे हैं इस से व्यासादि के मतानुसार ब्राह्मण उप० निषद् पर्यन्त सब वेद है। सो प्रथम तो यह सम्भव है कि–व्यासादि को श्रुति आदि पदों से संहिता अभीष्ट हों और शङ्कराचार्यादि टीकाकार ही इस भ्रान्ति के कारण हो गये हों कि जैसे उन्होंने–

"मन्त्रवर्णाच्च" इस वेदान्तसूत्र पर " तावानस्य महि० " इत्यादि पाठ लिखा। यदि वह चाहते तो यजुर्वेदसंहिता के ३१ अध्याय के "एतावानस्य महि० " इत्यादि मन्त्र का उदाहरण दे सकते थे। ऐसा होने पर यह नहीं कह सकते कि व्यासादि को श्रुति आदि पदों से उपनिषद् ही विवक्षित हैं। फिर अगले सूत्र–

"अपि च स्मर्यते" पर भी शङ्कर स्वामी गीता के वाक्य को स्मृति कह कर रखते हैं कि "ममैवांशो जी०" इत्यादि। तो क्या गीता को कोई मन्वादि स्मृतियों के अन्तर्गत स्मृति मान सकता है या मानता है ? अभिप्राय यह है कि श्रुति आदि का योगरूढ़ और मुख्य अर्थ तो मन्त्रसंहिता ही हैं परन्तु श्रवणसामान्यार्थ को लेकर उपनिषद् आदि को उन २ लोगों ने श्रुति कहा। जैसा शङ्कर स्वामी ने स्मरणार्थसामान्य को लेकर स्मृति के नाम से गीतावाक्य उद्धृत किया। तो जिस प्रकार गीता मुख्यकर स्मृतिपद का वाच्य नहीं परन्तु स्मरणार्थ सामान्य से ली गई। इसी प्रकार शब्दप्रमाणसामान्यान्तर्गत श्रवणार्थसामान्य से उपनिषद् आदि के उदाहरण शङ्कराचार्यादि ने दिये, मुख्य वेद मान कर नहीं। यूं तो गीता के प्रतिअध्याय के अन्त में ' भगवद्गीता सूपनिषत्सु" ऐसा पाठ सब पुस्तकों में मिलता है। तो क्या इस से "गीता उपनिषद् हो जायगी ? कदापि नहीं। किन्तु गीता की प्रशंसा तथा गीता में उपनिषदों का सार ग्रहण किया गया है वा उपनिषदों का विषय वर्णन

किया गया है । इस लिये गौणभाव से उस में उपनिषद् शब्द का प्रयोग किया गया है । इसी प्रकार वेदों का व्याख्यान होने के कारण वा वेदाशय को स्पष्टता से निरूपण करने के कारण उपनिषद् आदि को लोगों ने गौण भाव से श्रुतिपद आदि से ग्रहण करना आरम्भ कर दिया । इसी से गोतमसूत्र के " तत " शब्द से और कणादसूत्र के " आम्नाय " शब्द से जो उपनिषदादि का ग्रहण करने लगे हैं इस का भी उत्तर हो गया और मनु के उपनिषत्सम्बन्धी श्रुति पद का भी उत्तर इसी में आगया । रहा यह कि "उपनिषद् वेद का अन्त भाग ब्राह्मणों का शेषरूप हैं । इसी लिये इन को वेदान्त कहते हैं" यह भी अयुक्त है क्योंकि यदि वेदान्त पद का यह अर्थ अभीष्ट है तो तुम्हारे मत में भी तुम्हारे मुख से स्वीकार किये हुये व्यासरचित सूत्रों को भी तो वेदान्त कहते हैं । क्या वह भी वेद ही समझा जायगा? कह दो कि हां, (अनन्ता वै वेदाः) वेदों के अनन्त होने से यह सूत्र भी वेद हैं !!! और यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय जो ईशोपनिषद् है उस पर स्वामी जी का यह मत नहीं था कि यही वेदान्त पद का वाच्य है, किन्तु १० वा १२ उपनिषद् और वेदान्तसूत्र को स्वामी जी भी वेदान्त मानते थे, तब वैसा मानकर लिखना व्यर्थ है । यथार्थ में वेदान्त पद का अर्थ यह है कि वेद का अन्त्य भाग नहीं किन्तु वेद का अन्त–अन्तिम–मुख्य तात्पर्य ब्रह्मप्रतिपादन है । इसी विषय का प्रतिदान जिन पुस्तकों में हो वे सब वेदान्त ग्रन्थ कहावेंगे, चाहे उपनिषद् हों, चाहे सूत्र हों, चाहे अन्य कोई वेदानुकूल इस विषय का ग्रन्थ हो ॥

आप ने जितने उत्तर " मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् " की अनुकूलता में दिये, उन सब का प्रत्युत्तर होकर यह सिद्ध हुआ कि कात्यायन का यह वचन नहीं हो सकता कि " मन्त्र ब्राह्मण दोनों वेद हैं " । वास्तव में यह कात्यायन का "वचन" नहीं किन्तु कात्यायन की यज्ञपरिभाषा है । अतएव उस की प्रवृत्ति कात्यायन श्रौतसूत्र में ही हो सकती है, सर्वत्र नहीं । आशय कात्यायन का यह है कि जहां २ यज्ञप्रकरण में हम "वेद शब्द का उच्चारण करें वहां २ इस ग्रन्थ में मन्त्रब्राह्मण दोनों समझो । जैसा कि आगे उन्हों ने कहा है कि-

यजुर्वेदेनाध्वर्युः । का०

यजुर्वेद से अध्वर्यु नामक ऋत्विज् कार्य करे। यहां यह समझना चाहिये कि यजुर्वेद संहिता और उस के शतपथ ब्राह्मणोक्त कार्य जहां २ यज्ञ में आवें वहां २ कार्य अध्वर्यु को करने चाहियें ॥

जैसे पाणिनि जी अष्टाध्यायी में कहते हैं कि:—

वृद्धिरादैच् १। १। १५ अदेङ्गुणः। १६

अर्थात जहां २ व्याकरण में हम वृद्धि पद का प्रयोग करें वहां २ आ, ऐ, औ समझो और जहां २ गुण शब्द का प्रयोग करें वहां २ अ, ए, ओ समझो। इस से यह सिद्ध नहीं होता कि अन्य शास्त्रों में भी "वृद्धि" पद से आ, ऐ, औ वा "गुण" पद से अ, ए, ओ समझे जावें। जैसे सांख्य में गुण शब्द से सत्व रज तम के स्थान में कोई अ, ए, ओ अक्षर समझे तो कैसा बड़ा अज्ञान हो और वैशेषिक में—

रूपरसगन्धस्पर्शा०। इत्यादि १। १। ६

में कहे रूपादि गुणोंके स्थानमें कोई अ, ए, ओ का ग्रहण पाणिनि के संज्ञा सूत्रानुसार माने तो कैसा बड़ा अज्ञान होगा अथवा वैद्यकशास्त्र सुश्रुत में

आषोडशाद्वृद्धिः

१६ वर्ष तक की अवस्था का नाम वृद्धि है। यदि आप वहां आ, ऐ, औ को वृद्धि कहने लगें और "वृद्धिरादैच्" इस पाणिनीय सूत्र का प्रमाण देने लगें तो वैद्यों में कैसा हास्य हो। इसी प्रकार सर्वत्र कात्यायन की यज्ञ परिभाषा से मन्त्र ब्राह्मण दोनों को वेद मानना भी हास्यजनक है ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते भास्करप्रकाशे सत्यार्थप्रकाशस्य सप्तम समुल्लासमण्डनं, द० ति० भास्करस्य च खण्डनं नाम सप्तमः समुल्लासः ॥ ७ ॥

ओ३म्

अथाऽष्टम समुल्लास मण्डनम्

स्वामी जी ने स० पृ० २०८ में "पुरुष एवेदंᳬसर्वम्०" मन्त्र का तात्पर्य मात्र लिखा है कि परमात्मा प्रकृति और जीवों का स्वामी है। इस पर द० ति० भा० पृ० २३६ पं० ११ में—स्वामी जी के अर्थों की कैसी विचित्र महिमा है, इस मन्त्र में जीव प्रकृति और ईश्वर का वर्णन कर बैठे हैं॥

प्रत्युत्तर—आप को अक्षरार्थ में ध्यान देना उचित था तब फिर स्वामी जी के लिखे तात्पर्य पर सम्मति देनी थी। स्वामी जी से विद्वान् के लेख पर बेसमझे क़लम चलाना बुद्धिमानी नहीं है। हम नीचे पदार्थ लिखते हैं, उसे पढ़कर मिलाइये कि स्वामी जी का लिखा तात्पर्य ठीक है वा नहीं॥

पुरुष एवेदंᳬ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ यजुः ३१।२

(यत् इदं सर्वंभूतम्) जो यह सब उत्पन्न हो चुका (यत् अन्नेन अतिरोहति) और जो अन्न से उत्पन्न हो रहा है (च) और (यत् भाव्यम्) जो उत्पन्न होनेवाला है अर्थात् भविष्यत्काल में जो उत्पन्न होगा [उस का] (उत) और (अमृतत्वस्य) अमरभाव वाले केवल आत्मा का (ईशानः पुरुष एव) स्वामी परमेश्वर ही है॥

क्या इस का यह तात्पर्य नहीं हुवा कि जड़ चेतन का स्वामी परमात्मा ही है? क्या भूत वर्त्तमान और भविष्यत् में उत्पन्न होने वाले सब पदार्थ जड़ और प्राकृत नहीं है? और क्या अमर आत्मा चेतन नहीं है? यदि हैं तो क्या समस्त प्राकृत और अप्राकृत पदार्थों का स्वामी परमात्मा को बताने से यह मन्त्र स्वामी जी लिखित तात्पर्य का विरोधी है?

द० ति० भा० पृ० २३६ पं० २४ से—

यतोवाइमानिभूतानिजायन्तेयेनजातानिजीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्तितद्विजिज्ञासस्वतद्ब्रह्म—तैत्तिरी०॥

पृ० २०८ में इस का अर्थ लिखा है, जिस परमात्मा की रचना से यह सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं, जिस से जीव और जिस से प्रलय को प्राप्त

होते हैं वोह ब्रह्म है, उस के जानने की इच्छा करो ॥

समीक्षा–यह क्या स्वामी जी ! इतना ही पद लिखकर गड़प गये (जिस से जीव) इस से तो प्रत्यक्ष है कि जिस से परमेश्वर जीव उत्पन्न होते हैं और आप आगे इन को नित्य मानते हैं, नित्य भी मानना और जन्म भी कहना यह वैदिकविरोध रसातल में अर्थ करता फ़ क्यों न ले जायगा, सूधा अर्थ है कि जिस से यह प्राणी उत्पन्न होते और उसी से जीते और अन्त में उसी में प्रवेश करते हैं उसे ही ब्रह्म जानों अब प्रकृति जीव नित्य और पृथक् न रहे ॥

प्रत्युत्तर–किसी कारण " जीव " इन दो अक्षरों से आगे " ते " यह अक्षर छुट गया है, उसी से आप की समझ में भ्रम पड़ा है। (येन जीवन्ति यत्प्रयन्ति) का अर्थ स्वामी जी का लिखा ठीक है कि " जिस से जीवते और जिस में प्रलय को प्राप्त होते हैं, अब बतलाइये जीव प्रकृति की अनित्यता कहां रही ? और जीवप्रकृति को चाहे नवीन वेदान्ती लोग ब्रह्म से अभिन्न मानते हैं, परन्तु अनित्य तो कोई नहीं मानता। देखिये आप के नवीन वेदान्त की गीता में क्या लिखा हैं–

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इस में जीव को सनातन कहा है। आप अनित्य बताते हैं ॥

द० ति० भा० पृ० २३७ और २३८ में स्वामी जी के लिखे सत्यार्थप्रकाशस्थ (द्वासुपर्णा०) ऋ० १। १६४। २० से स्पष्ट भेदप्रतिपादन को औपाधिकभेद ठहराने के लिये एक ऋग्वेद का मन्त्र और दूसरा बृहदारण्यक उपनिषद् का वचन प्रमाण दिया है, परन्तु हम नीचे दोनों को पदार्थ सहित लिखते हैं, देखिये उन में भी उपाधि का शब्द तक नहीं आता। यथा–

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश सइदं विश्वं भुवनं विचष्टे ।
तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम् ॥

(ऋ० १० । ११४ । ४)

निरुक्त १०। ४६ में भी यह मन्त्र आया है और वहां कोई उपाधि आदि लगा कर अर्थ नहीं किया है ॥

सरलार्थ यह है–(एकः सुपर्णः) एक सुपर्ण है (स समुद्रम् आविवेश) वह आकाश में व्याप रहा है (स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे) वह इस सब जगत् को देखता है। मैं (पाकेन मनसा) परिपक्व ज्ञान से (अन्तितः) समीप

ही (तम् अपश्यम्) उस को देखता हूं (तं माता रेळ्हि) उस को आकाश व्याप रहा है (स:उ) और वह (मातरम् रेळ्हि) आकाश को व्याप रहा है ॥

समुद्र:-यह निघण्टु १।३ में अन्तरिक्ष का नाम है ॥ विचष्टे-यह पश्यतिकर्मा=अर्थात् देखने अर्थ में निघण्टु ३।११ में आया है ॥ निरुक्त ७।२६ में मातरिश्वा शब्द का निरुक्ति के अवसर पर माता शब्द का अर्थ अन्तरिक्ष किया है । यथा—

मातरिश्वा वायुर्मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति ॥ ७।२६ ॥

और माता आकाश का नाम इस लिये भी है कि जैसे माता के गर्भ में सब प्राणी रहते हैं वैसे ही आकाश में भी सब पदार्थ रहते हैं ॥

इस में कहीं उपाधि लगा कर अर्थ करने की आवश्यकता नहीं ॥ दूसरा द०ति० का वचन यह है-

तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ सल्लयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुषएतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते नकञ्चन स्वप्नं पश्यति ॥ बृह० अ० ६ ब्रा० ३ कं० १९ ॥

इस का सरलार्थ यह है कि—"जैसे इस आकाश में श्येन वा सुपर्ण नामक पक्षी उड़ कर थक कर पंख सकोड़ कर अपने घोंसले (नीड़:) के लिये ही धारण किया जाता है । ऐसे ही यह पुरुष (जीव) भी इस के अन्त के लिये दौड़ता है, पर जहां सोय जाता है वहां न किसी काम को चाहता न किसी स्वप्न को देखता है ॥ "

भला इस में उपाधि का क्या काम है । किन्तु जैसे पक्षी अनन्त आकाश में सामर्थ्यभर उड़ कर फिर थक जाते हैं और पङ्ख सकोड़ कर घोंसले में बैठ रहते हैं । ऐसे ही मनुष्य भी काम करते २ जब थक जाता है तो ऐसी गहरी नींद आती है कि न तो बाह्यचेष्टा कोई होती और न नींद में स्वप्न तक दीखता है ॥

द० ति० भा० पृ० २३९ में—समाने वृक्षे० इत्यादि अथर्व० करके यह दिखाया है कि स्वयं ईश्वर ही अनीश बुद्धि से मोह को प्राप्त होकर शोचता है इत्यादि० ॥

प्रत्युत्तर—इस वाक्य का विस्तार पूर्वक भाष्य तो हमारे किये श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्य में उपस्थित है । वहां चतुर्थाध्याय का ५ वां अजामेकां०श्लोक

है । छठा द्वासुपर्णा० है । सातवां समाने वृक्षे० यह है । बस छठे में जब यह कह चुके हैं कि दो सुवर्ण हैं तो ७ वें में उसी बात को स्पष्ट करते हैं जो छठे के अन्त में कहा था कि दोनों में से एक भोगों में फंसता है, दूसरा साक्षी है॥ ७ वें में यह भी बतलाया है कि यह भोग के बन्धन से कैसे छुटकारा पावे? यथा—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ॥
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ४।७ ॥

भा०—जब मध्यस्थ जीवात्मा के एक ओर प्रकृति है, उस के सङ्ग से बन्धन और दूसरी ओर परमात्मा है, उस के सङ्ग से मोक्ष होता है । यह कहते हैं-(पुरुषः) जीवात्मा (समाने) अपने समान अनादि (वृक्षे) छिन्न भिन्न होने वाली प्रकृति के पदार्थों में (निमग्नः) डूबा हुवा (अनीशया) परतन्त्रता से (मुह्यमानः) अज्ञानवश (शोचति) शोक करता है । (यदा) परन्तु जब (जुष्टम्) अपने में व्यापक (अन्यम्) दूसरे (ईशम्) स्ववश परमात्मा को और (अस्य, महिमानम्) उस की बड़ाई को (पश्यति) देखता है (इति) तब (वीतशोकः) शोकरहित हो जाता है ॥

तात्पर्य यह है कि जब जीवात्मा प्रकृति के कार्यों में डूब कर आपे को भूल जाता है और देह ही को आत्मा समझने लगता है तो बड़े शोक होते हैं कि हाय मैं दुर्बल हो गया, हाय मेरे फोड़ा निकला है, हाय मेरा हाथ पांव आदि कट गया, हाय मेरी स्त्री वा पुत्रादि मर गया । इत्यादि प्रकार से शोकसागर में डूबता है । परन्तु जब अपने ही में व्यापक परमात्मा में ध्यान लगाता है तो प्रकृति का ध्यान छोड़ने से समझने लगता है कि देह से भिन्न मैं चेतन हूं । मैं दुर्बल रोगी आदि नहीं होता । मुझे तो अपने सदा सहवर्ती परमात्मा के आनन्द से आनन्द ही आनन्द है । ऐसी रीति से विशोक हो जाता है ॥ ७ ॥

इस में प्रकरणानुसार यह स्पष्ट है कि दोनों में से एक जीवात्मा मोहवश होता और परमात्मा की कृपा से छुटकारा पाता है, न कि परमात्मा स्वयं मोह में डूबता और अपनी कृपा से आप छुटकारा पाता है । इस में (अन्यमीशम्) इन पदों ने स्पष्ट परमात्मा को जीवात्मा से अन्य बतलाया है ॥

द० ति० भा० पृ० २४० में जो तर्क हैं उन का सार यह है-१—स्वामी जी दश उपनिषद् मानते हैं, यहां जीव ब्रह्म का भेद सिद्ध करने में श्वेताश्वतर ११ वें

उपनिषद् का प्रमाण क्यों दिया। २-किसी वेदमन्त्र का प्रमाण क्यों न दिया। ३-यदि "अजामेकां०" इस श्वेता० के वाक्य में जीव ब्रह्म का वर्णन मानोगे तो (जहात्येनां भुक्तभोगाम्०) इस पद का अर्थ है कि जिस से भोग भोगे लिया उस प्रकृति को एक परमात्मा त्यागे है। तदनुसार पूर्वकाल में ब्रह्म को भोगापत्ति आई। ४-पृ० १८३ में जीव को जन्म मरण सोने जागने वाला कहकर उस के विरुद्ध यहां उसे अज क्यों लिखा। ५-प्रकृति, कार्य होने से घटवत् सादि हो सकती है, न कि अनादि॥

प्रत्युत्तर-१-स्वामी जी ने दश उपनिषदों को प्राचीन और अन्यों को नवीन कहा है। अप्रमाण नहीं कहा। श्वेताश्वतर और मैत्र्युपनिषद् भी दश उपनिषदों के समान परतःप्रमाण अवश्य हैं। और जो नवीन वेदान्ती दश उपनिषदों के अतिरिक्त अन्यों को भी मानते हैं उन के अभेदमन्तव्यखण्डनार्थ यदि दश उपनिषद् से बाहर का भी प्रमाण दिया जाय तो अयुक्त नहीं॥

२-वेदमन्त्र भी (द्वा सुपर्णा०) यह ऊपर पृ० २०८ में लिख आये हैं। आप ने उस पर समीक्षाभास भी किया है। क्या भूल गये?

३-(जहात्येनां भुक्तभोगाम्०) में अन्येन अजेन जीवात्मना भुक्तो भोगो यस्याः सा भुक्तभोगा" इस प्रकार समास करने से परमात्मा में भोगापत्ति नहीं आती किन्तु जीवात्मा में रहती है॥

४-पृ० १८३ में जीवात्मा को स्वरूप से जन्म मरण नहीं लिखे थे किन्तु देह के साथ होने का नाम जन्म और देह से वियोग का नाम मरण मान कर लिखा था, इतने से उस के स्वरूप से अज होने में बाधा नहीं आती॥

५-प्रकृति, कार्य नहीं किन्तु कारण का नाम है। इस लिये घटवत् सादि नहीं हो सकती। घट कार्य है। प्रकृति कारण है। इस लिये (विमता प्रकृति जन्या-रूपवत्वात् घटवत्) यह अनुमान, पाठ से अशुद्ध तो था ही, अर्थ से भी अशुद्ध है॥

द० ति० भा० पृ० २४० पं० २७ से-और इस से पूर्व वाक्य देखने से ब्रह्म तादात्म्यापन्न भिन्नाऽभिन्नविलक्षण प्रकृति सिद्ध होती है। यथाहि-

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।

(श्वेता० १।३)

प्रत्युत्तर-"अजामेकाम्०" वाक्य श्वे० उप० के अध्याय ४ का ५ वां है और "ते ध्यानयोगा०" यह प्रथमाध्याय का ३ तीसरा है। भला इस का प्रसङ्ग

उससे अधिक कैसे होसक्ता है ? और आप "ते ध्यानयोगा०" का उत्तरार्ध और लिख देते तो अभेद का भेद खुल जाता । यथा-

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् । यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥ श्वे० १ । ३ ॥

भा० इस प्रकार कालादि को स्वतन्त्र कारण न समझ कर (ते) उन ऋषियों ने (ध्यानयोगानुगताः) ध्यान में चित्त की एकाग्रता के साथ (निगूढाम्) छिपी हुई (देवात्मशक्तिम्) परमेश्वर की निजशक्ति को वा परमेश्वर जीव और प्रकृति को (स्वगुणैः) अपने गुणों से (अपश्यन्) पहिचाना (यः) जो (एकः) अकेला (कालात्मयुक्तानि) काल और पुरुषसहित (निखिलानि) समस्त (तानि) पूर्वोक्त (कारणानि) कारणों का(अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है॥

आशय यह है कि काल से लेकर आत्मा-पुरुष पर्यन्त द्वितीय श्लोक में कहे बीच के स्वभाव, प्रबन्ध, यदृच्छा, पञ्चभूत, प्रकृति इन सब कारणों का भी अधिष्ठाता परमात्मा है अर्थात् काल स्वभाव आदि भी अपने २ अंश में कारण हैं परन्तु कालादि जड़ होने और जीवात्मा सुख दुःख भोग में परतन्त्र होने से स्वतन्त्र कारण नहीं किन्तु परमात्मा सब कारणों का अधिष्ठाता स्वतन्त्र कारण है । वह अन्य काल स्वभाव आदि सब कारणों को अपने आधीन रख कर सब जगत् को रचता पालता और प्रलय करता है । वह उस के गुणों से पहचाना जाता है । यद्यपि उस की यह शक्ति छिपी हुई अर्थात् सब किसी को नहीं जान पड़ती तथापि उन ऋषियों ने ध्यानयोग से उसे पहिचाना । इसी प्रकार अस्मदादि लोग भी ध्यानयोग से उस की छिपी शक्ति को जान सकते हैं । इस श्लोक में जो (देवात्मशक्तिम्) पद है उस का दूसरा अर्थ है यह भी हो सकता है कि देव=परमात्मा, आत्मा=जीव, शक्ति=प्रकृति इन तीनों को उन्होंने जगत् का कारण जाना और इन तीनों में जीवप्रकृति तथा कालादि अन्य साधारण कारणों का अधिष्ठाता परमात्मा है, यह भी उन्होंने जाना और "वह एक परमात्मा अन्य काल स्वभाव प्रारब्ध यदृच्छा पञ्चभूत प्रकृति जीव इन कारणों का अधिष्ठाता है" इस कहने से इन को भी कारण तो माना, किन्तु केवल परमात्मा को ही अभिन्ननिमित्तोपादानकारण नहीं माना। किन्तु परमात्मा स्वतन्त्र इन का अधिष्ठाता है और काल स्वभाव प्रकृति

आदि तथा सुख दुःख भोग में जीवात्मा भी परमात्मा के आधीन है निमित्त कारण अवश्य है। यह १।२ और ३ श्लोकों का संक्षिप्त आशय है ॥ ३ ॥

इस लिये आप के भिन्नाऽभिन्नविलक्षणा का तात्पर्य यह है कि प्रकृति यथार्थ में ब्रह्म से भिन्न तो इस कारण नहीं कि ब्रह्म से भिन्न देश में नहीं रहती। और अभिन्न इस से नहीं कही जाती कि स्वरूप उस का परिणामी और जड़ है। ब्रह्म के समान एकरस और चेतन नहीं। यही विलक्षणता है कि स्वरूप से भिन्न और देश से अभिन्न है ॥

द० ति० भा० पृ० २४१ में कल्पनोपदेशा० इस सूत्र से प्रकृति को अजा कहना कल्पित है। यह सिद्ध किया है ॥

प्रत्युत्तर—इस सूत्र का तात्पर्य सुनिये—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः॥वेदान्तसूत्रम् १।४।१०

जिस प्रकार आत्मा को शतपथ में "मधु" कह कर कल्पना से उपदेश किया है इसी प्रकार वाणी को धेनु कल्पित करके उपदेश करने में भी विरोध नहीं तथा प्रकृति को (द्वा सुपर्णा०) इत्यादि मन्त्र में एक वृक्ष के समान कल्पित कर लिया है और पुरुष को पक्षी के समान। इस में भी विरोध नहीं ॥

इस से उपादान जड़ कारण की वस्तुता को कल्पित नहीं बताया, किन्तु उस के वृक्षत्वादि को कल्पित बताया है ॥

द० ति० भा० पृ० २४१ पं० १४ से—और जब कि सब कुछ ईश्वर ही से उत्पन्न हुआ है तो प्रकृति नित्य कैसे—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वा००० तैत्ति०॥१॥ इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्चेति। तै०॥ २॥ आत्मा वा इदमेकएवाग्रआसीन्नान्यत्किञ्चन तै० ॥ ३ ॥ इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—भला आपने यह तो बताया कि सब कुछ ब्रह्मने उत्पन्न किया, परन्तु आपके लिखे तीनों वाक्यों में यह कहां लिखा है? कि ब्रह्मने प्रकृति को रचा। जब नहीं लिखा तो प्रकृति अनित्य नहीं हो सकती। तीसरे वाक्य का अर्थ यह नहीं है कि प्रकृति न थी किन्तु आत्मा और इदंपदवाच्य जगत् प्रथम एकमेक हो रहे थे, अर्थात् जगत् प्रतीयमान न था। कारण प्रकृति में लीन होने से ॥ नासदासीत्० का अर्थ हम भी पूर्व कर चुके हैं ॥

सत्या० पृ० २०९ में स्वामी जी ने "सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था०" इस

सूत्र के अन्त में आये "पुरुष" शब्द का अर्थ जीवात्मा और परमात्मा किया है। इस पर द० ति० भा० पृ० २४२ में लिखा है कि कपिलदेव को जीवात्मा परमात्मा दो विवक्षित होते तो क्या वे गिन्ती नहीं जानते थे कि २५। २६ दोनों को भिन्न २ न कहा ॥

प्रत्युत्तर-कपिलदेव ने २५ पदार्थ गिनाने में पुरुष शब्द को ऐसा पाया जो जीवात्मा परमात्मा दोनों का साधारण नाम है इस लिये २६ वां गिनाने की आवश्यकता न थी ॥

द० ति० भा० पृ० २४३ पं० २३ से स्वामी जी की कैसी बाजीगर के सी लीला है आप ही प्रश्न करता हैं और आप ही उत्तरदाता हैं स्वयं ही कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा लेकर उपनिषद् की श्रुति लिखी हैं जैसा (सर्वं) में (नेहनाना) यह श्रुति मिलादी भला यह प्रश्न किस ने स्वामी जी से किये थे यह मिथ्या कल्पना इन के घर की है (नेहनाना) इस के अर्थ जो (इस चेतन मात्र) इत्यादि पूर्व लिखित किये हैं इस अक्षरार्थ में दृष्टि दीजिये तो यह अर्थ होता है कि (इह नाना किंचन नास्ति) अर्थात् इस ब्रह्म में कुछ भी पृथग्भूत वस्तु नहीं है जैसे लोक में भी कहते हैं (इह मृदि घटादिकं किंचन नाना नास्ति अर्थात् पृथक्भूतं नास्ति किन्तु मृदेव घटादिरूपेण प्रतीयते) इन घड़ों में मिट्टी के सिवाय कुछ नहीं है किन्तु यह मिट्टी ही घड़ों के रूप से प्रतीत होती है) स्वामी जी ने जो इस का लम्बा चौड़ा अर्थ किया है वोह कौन से पदों का अर्थ है (और परमेश्वर के आधार में स्थित है) तो क्या कोई परमेश्वर का भी आधार दूसरा है सब का आधार तो परमात्मा आप है उस में भी आप पृथक् वस्तुओं का आधार लगाते हैं और उस में नाना वस्तुओं का मेल नहीं यह कहना भी आप का असंगत है क्योंकि पञ्चभूतों के मेल विना कोई भी कार्य सिद्ध होता नहीं इसी कारण त्रिवृत्करण पञ्चीकरण होकर सर्वकार्य सिद्ध होते हैं अब यह समग्र श्रुति लिखते हैं जिस से स्वामी जी का खण्डन स्वतः हो जायगा—

मनसैवेदमाप्तव्यंनेहनानास्तिकिञ्चन ।
मृत्योःसमृत्युंगच्छतियइहनानेवपश्यति ॥
कठ० उ० वल्ली ४ मं० ११ ॥

प्रत्युत्तर—नवीन वेदान्ती इन दोनों को जोड़कर अभेद सिद्ध किया करते हैं तदनुसार स्वामी जी ने पूर्वपक्ष लिखा। और आप यदि इस को प्रत्यावृत्त

(वापिस) लेते हैं वा वेदान्तियों का पक्ष नहीं मानते तो न सही हमारी क्या हानि है । और (नेह नानाऽस्ति किञ्चन) का अर्थ आप करते हैं कि जैसे (इह मृदि घटादिकं किञ्चन नाना नास्ति) यह उस काल में बन सकता है जब मृत्तिका घटाकार परिणत=रूपान्तरित न हुई हो । परन्तु यदि (इह जले मृदादिकं नाना नास्ति) अर्थात् इस पानी में मिट्टी आदि कुछ मिला नहीं किन्तु केवल स्वच्छ जल है, इस प्रकार समझा जावे तो त्रिकाल में केवल स्वच्छ चेतनमात्र ब्रह्म के स्वरूप में कुछ नाना=अनेक अन्य वस्तु नहीं हैं, यह अर्थ कैसा निर्दोष हो जावे ॥

" परमेश्वर के आधार में " का तात्पर्य यह नहीं है कि परमेश्वर का कोई भिन्न आधार है । किन्तु " परमेश्वर ही जो आधार है उस में" यह तात्पर्य है । जैसे लोक में " पात्र के आधार जल है " इस का " पात्ररूप आधार से जल ठहरा है" यह तात्पर्य होता है । आप अर्थछल करते हैं ॥

ब्रह्म में (उस के स्वरूप में) अनेक वस्तु का मेल क्या आप मानने लगे ? जो कहते हो कि "नाना वस्तुओं का मेल नहीं यह कहना भी आप का असंगत है"

अपनी समग्र श्रुति का अर्थ सुनिये। आप तो पूरी श्रुति का गर्व करते हैं। हम उस से पूर्वले वाक्य सहित आप के लिखे वाक्य को अर्थ सहित लिख कर दिखाते हैं कि वहां क्या प्रकरण है-

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ ४ । १० ॥
मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥४।११॥कठ-

मृत्यु और नचिकेता का संवाद है कि-" जो ब्रह्म यहां है (इस लोक में है) वही वहां (परलोक में) है । जो वहां है सो यहां है । जो इस में अनेक भाव देखता है (इस लोक परलोक के अनेक ब्रह्म समझता है) वह मृत्यु पर मृत्यु को प्राप्त होता है ॥४।१०॥ यह मन=ज्ञान से प्राप्त करने योग्य है (इन्द्रियों द्वारा नहीं) क्योंकि इस में नाना पदार्थों का संयोग नहीं । (जो पदार्थ नानाद्रव्यों के संयोग से बनते हैं वे इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं) वह मृत्यु पर मृत्यु पाता है जो इस (ब्रह्म) में मिलावट समझा

है । अर्थात् यह समझता है कि जगत् के नाना पदार्थों ही को पूर्वजों ने मिलाकर ब्रह्म नाम धर दिया है । जो ऐसा समझने वाला नास्तिक है, वह मृत्यु पर मृत्यु पाता है, मोक्ष नहीं पा सकता ॥

द० ति० भा० पृ० २२४ में (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) का अर्थ " ब्रह्मस्थ " नहीं है, यह दिखलाने के लिये छान्दोग्य के ४ वाक्य पृ० २४५ में पूरे लिखे हैं, जिन के लिखने की आवश्यकता न थी, यदि प्रकरण का अर्थ दिखलाना था तो एक वाक्य ही लिखदेना था । अस्तु, पाठकों के भ्रमनिरासार्थ चारों ही वाक्यों को हम प्रस्तुत करके अर्थ करते हैं और दिखलाते हैं कि (सर्वं खल्विदं०) का जो अर्थ स्वामी जी ने किया है, वही ठीक है ॥

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तउपासीत खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ३ । १४ । १ ॥ मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्पआकाशात्मा सर्वकर्म्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ३ । १४ । २ ॥ एषमआत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान् दिवोज्यानेभ्योलोकेभ्यः ३ । १४ । ३ ॥ सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरएषमआत्मान्तर्हृदयएतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः ॥ छान्दो० ३ । १४ । ४ ॥

अर्थ-(शान्तः) शान्तियुक्त मनुष्य (इदं सर्वम्) इस सब पूर्वप्रतिपादित (ब्रह्म) ब्रह्म को (खलु) निश्चय (उपासीत) उपासित करे । और (पुरुषः खलु क्रतुमयः) मनुष्य अवश्य कर्ममय है अर्थात् कर्मों के अनुसार जाति आयु भोग को प्राप्त होता है । (पुरुषः अस्मिंल्लोके यथाक्रतुः भवति) मनुष्य इस लोक में जैसे कर्म करने वाला होता है (तथा इतः प्रेत्य भवति) वैसा यहां से मर कर होता है । (इति) इस लिये (तज्जलान्) उस ब्रह्म के उत्पन्न किये और उसी

आधार में लीन होने वाले पदार्थों को (सः) वह मनुष्य (क्रतुं कुर्वीत) कर्म वा यज्ञ करे। अर्थात् परमेश्वर की उत्पादित और अन्त में प्रलय होकर उसी में रहने वाली वस्तुओं को यज्ञ अर्थात् यथायोग्योपकार में लगावे ॥ १ ॥

अब दूसरे वाक्य में भिन्न २ दो आत्माओं का वर्णन है–(मनोमयः) चेतनस्वरूप (प्राणशरीरः) प्राण जिस का शरीर है (भारूपः) प्रकाश वाला (सत्यसंकल्पः) सत्य संकल्प करने वाला (आकाशात्मा) आकाश के समान सूक्ष्मस्वरूप (सर्वकर्मा) सब कर्म करने वाला (सर्वकामः) सब कामनाओंवाला (सर्वगन्धः सर्वरसः) सब गन्ध और रसों वाला (इदं सर्वम्) इस सब भोग्य पदार्थ को (अभि आत्तः) अभिव्याप्त करके लेने वाला (अवाकी अनादरः) वस्तुतः वागयुपलक्षित इन्द्रियों से वर्जित और निर्भय है ॥ २ ॥

(एषः आत्मा) यह आत्मा जो कि (मे अन्तर्हृदये) मेरे हृदय के भीतर है जो (व्रीहेर्वा, यवाद्वा, सर्षपाद्वा, श्यामाकाद्वा, श्यामाकतण्डुलाद्वा) धान्य से भी, जौ से भी, सरसों से भी, सवें से भी और सवें के चावल से भी (अणीयान्) अत्यन्त छोटा है (एष आत्मा) और यह दूसरा आत्मा (मे अन्तर्हृदये) मेरे हृदय में है जो कि (दिवः ज्यायान्) द्युलोक से अत्यन्त बड़ा है (ज्यायानेभ्योलोकेभ्यः) और इन सब लोकों से भी बड़ा है ॥ ३ ॥

(सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वगन्धः, सर्वरसः) [यह दूसरा आत्मा भी] सब कर्मों वाला, सब कामनाओं, सब गन्धों और सब रसों वाला है (सर्वम् इदम् अभ्यात्तः) और इस सब जगत् को अभिव्याप्त कर रहा है (अवाकी अनादरः) वागादि इन्द्रियवर्जित और निर्भय है (एषआत्मा मेऽन्तर्हृदये) यह परमात्मा मेरे हृदय के भीतर है (एतद्ब्रह्म) यह ब्रह्म है (इतःप्रेत्य) इस संसार से चलकर [मर कर] (एतम् अभिसंभवितास्मि) इस परमात्मा से मिलूंगा (इति यस्य अद्धा स्यात्) ऐसा जिस को साक्षात्कार होजावे (न विचिकित्साऽस्ति) फिर उसे चिन्ता शोक मोहादि नहीं (शाण्डिल्यः इति ह आह स्म) शाण्डिल्य ऋषि ऐसा कहते थे ॥ ४ ॥

इस में केवल यह कहा गया है कि आत्मा में जिस प्रकार चेतनता और सब कामों, कामनाओं, गन्धों, रसों और पदार्थों के ग्रहण का सामर्थ्य है, इस प्रकार का अन्य प्राकृत पदार्थ कोई नहीं, केवल परमात्मा है, जिस में जीवात्मा से अधिक अनन्त सामर्थ्य है, इस लिये जीवात्मा को चाहिये कि परमात्मा से मिलने का उद्योग करे। क्योंकि साधर्म्ययुक्त पदार्थों से

साध से आनन्द और वैधर्म्ययुक्त पदार्थों के मेल से दुःखों का भोग होता है। अतः साधर्म्ययुक्त परमात्मा से जीवात्मा को प्रीति भक्ति करनी चाहिये और अन्यों से वैराग्य वा उदासीनता ॥

जब कि इस में एक आत्मा को अत्यन्त छोटा और दूसरे को अत्यन्त बड़ा कहा है तो जीव ब्रह्म का भेद बहुत स्पष्ट है ॥

द० ति० भा० पृ० २४६ में-(सदेव सोम्येदमग्रे०) इत्यादि छान्दोग्य ६ । २ के १ । २ । ३ वाक्य लिखे हैं और क्योंकि तीसरे में (तदैक्षत) पद आये हैं जिन का अर्थ यह है कि " उस ने देखा " इस लिये माना गया कि देखने वाला चेतन ही हो सकता है, जड़ नहीं । इस पर द० ति० भा० पृ० २४१ पं० ६ से यह उलाहना दिया है कि "इस श्रुति में सत शब्द को जड़ प्रकृति का बोधक मानना स्वामी जी की वेदान्तानभिज्ञता प्रकट करता है" ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी तो वेदान्त जानते थे पर आप सत्यार्थप्रकाश में भी बोध कम रखते हैं । सत्यार्थप्रकाश में सत् शब्द प्रकृतिवाचक लिखा है परन्तु (सदेव सोम्येदमग्रे०) इस वाक्य के अर्थ करते हुवे सत् शब्द को जड़ प्रकृति वाचक मात्र नहीं लिखा किन्तु सत्यार्थ० खोल कर देखिए उस में-

तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ०

इस वाक्य के अर्थ में जो ऊपर के (सदेवसोम्येदमग्र०) इस छां० प्रपाठक ६ खण्ड२वाक्य १ है, उससे (तेजसासोम्यशु०) यह वाक्य छां० प्रपाठक ६ खण्ड ८वाक्य४होने से बहुत दूर है । स्वामी जी ने इस के अर्थ में लिखा है कि-

"तेजोरूप कार्य से सद्रूप कारण जो नित्य प्रकृति है यही सत्यस्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है ।"

इस लिये आप सत्यार्थप्रकाश को नहीं समझे?वा स्वामी जी वेदान्त को नहीं समझे? यह आप ही बताइये॥ अब अपने लिखे तीनों वाक्यों का अर्थ सुनिये-

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम् । तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तस्मादसतः सद्ऽजायत ॥ १ ॥ कुतस्तु खलु सोम्यैवꣳस्यादिति होवाच, कथमसतः सज्जायेतेति । सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम् ॥ २ ॥ तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत ॥ ३ ॥ छां० प्र० ६ खं० २॥

जानना चाहिये कि सत किसे कहते हैं। सत् पद का अर्थ यह है कि जो तीनों काल में होवे। सो जीव, ब्रह्म, प्रकृति तीनों नित्य हैं, इस लिये तीनों का नाम "सत्" है। सत के साथ यदि "चित" जोड़ दें तो "सच्चित" हो जावे। जिस का अर्थ "तीनों काल में होने वाला और चेतन" है। इस लिये "सच्चित्" शब्द जीवात्मा और परमात्मा का बोधक हुवा, प्रकृति की व्यावृत्ति हो गई। अब यदि "सच्चित" में "आनन्द" और जोड़ दें तो "सच्चिदानन्द" होता है, जो केवल परमात्मा का ही बोधक है, इस से प्रकृति और जीवात्मा दोनों की व्यावृत्ति है, परन्तु हम देखते हैं कि ऊपर के लिखे छान्दोग्यवचन में चित और आनन्द पद नहीं हैं, केवल "सत्" है। इस लिये सत् पद से यहां जीव ब्रह्म प्रकृति तीनों के समुदाय का अर्थ लेना ठीक होगा। अर्थात्-

(सदेव सोम्येदम०) हे सोम्य! प्रथम सत् ही था अर्थात् जीव ब्रह्म प्रकृति का समुदाय ही अद्वितीय अर्थात् अकेला था। (तद्धैक आहुरसदेवे०) परन्तु कोई शून्यवादी कहते हैं कि असत् ही प्रथम था, असत् से सत हो गया ॥ १ ॥ (कुतस्तु खलु सोम्यैवम्०) परन्तु सौम्य! यह कैसे हो सकता है कि असत् से सत् हो जावे अर्थात् यह होना असम्भव है। इस लिये (सत्त्वेवेदमग्रे) प्रथम सत्पदवाच्य तीनों का ही एक अद्वितीय समुदाय था ॥ २ ॥ (तदैक्षत०) उस ने देखा कि मैं [समुदाय] जो एक हूं बहुत हो जाऊं और उस ने तेज को रचा ॥ ३ ॥

हम समझते हैं कि इस वचन में और इस के साथी अन्य इस के तुल्य वचनों में अब किसी को भ्रम न होगा ॥

तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितं० इस वाक्य में कोई ईक्षणार्थक पद नहीं है, इस लिये यदि स्वामी जी ने यहां "सत्" पद से प्रकृति का ग्रहण कर लिया तो अनर्थ क्या है और जब इस में ईक्षणवाचक कोई पद नहीं तब आप जो द० ति० भा० पृ० २४१ पं० २१ में कहते हैं कि—

ईक्षतेर्नाशब्दम्। शा० १।१।५

सो यहां ईक्षति क्रिया का प्रयोग ही नहीं, तब सत पद से प्रकृति के ग्रहण में दोष नहीं आसकता। हां, जहां ईक्षति क्रिया=देखना आया हो, वहां सत् पद से प्रकृति मात्र का ग्रहण स्वामी जी करते तो आप का कहना ठीक

हो सकता था। सूत्र का अर्थ यह है कि-(ईक्षतेः) वेदों वा उपनिषदों में जगत्कर्त्ता के प्रतिपादन में ईक्षितिक्रिया=देखना क्रिया आने से (न) केवल प्रकृति जगत्कर्त्ता नहीं (अशब्दम्) यदि प्रकृति को जगत्कारण माने तो शब्दप्रमाण के विरुद्ध है ॥

द० ति० भा० पृ० २४८ पं० ८ से-अब दूसरी श्रुति भी देखिये, जिस से ब्रह्मभिन्न प्रकृति की उपादानकारणता सिद्धान्त का खण्डन होता है-

सोऽकामयत । बहुस्यांप्रजायेयेति । सतपोऽतप्यत । सतपस्तप्त्वा । इद७ंसर्वमसृजत । यदिदंकिंच । तत्सृष्ट्वा । तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य । सच्चत्यच्चाभवत् । निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च । निलयनञ्चानिलयनञ्च । विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च । सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत् । यदिदंकिञ्च तत्सत्यमित्याचक्षते । तदप्येषश्लोकोभवति । असद्वाइदमग्रआसीत् । ततोवैसदजायत । तदात्मानंस्वयमकुरुत । तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति ॥तै०॥

प्रत्युत्तर-(सोऽकामयत०) से (श्लोको भवति) तक ब्रह्मानन्द वल्ली का छठा अनुवाक है और (असद्वा०) इत्यादि ७ वां अनुवाक है। आपने इसे जोड़ दिया। प्रकरण के अनुकूल इन दोनों वाक्यों से भी अभेद की सिद्धि नहीं होती। जिस प्रकार राजा के साथ सेना अविवक्षित होती है और कहते हैं कि " राजा ने चाहा कि मैं शत्रु का विजय करूं और वह शत्रु पर चढ़ाई करने लगा" यहां यद्यपि राजा अकेला चढ़ाई नहीं करता किन्तु सेनासहित करता है, परन्तु सेना के अप्रधान होने से केवल राजा पद में सेनादि सब कुछ समझ लिया जाता है। इसी प्रकार यहां भी (सः) वह परमात्मा जिस के भीतर जीवात्मा और प्रकृति वर्त्तमान हैं (अकामयत) चाहना करता हुवा कि (बहु स्याम्) जो मैं अब प्रकृति और जीवों सहित एकमेक हूं सो बहुत हो जाऊं अर्थात् अनेक नाम रूप वाली वस्तु बनाकर स्थित होऊं। [आगे कोई पद संशय में डालने वाला नहीं है] उस ने ज्ञानमय तप किया और सब को रचा और रचित पदार्थों में अनुप्रवेश अर्थात् जीवात्मा के प्रवेश के भी भीतर अपना अनुप्रवेश करके स्थित हुआ। तब पृथिव्यादि भूत सत और वाय्वादि त्यत् हुवा। निरुक्त और अनिरुक्त सब हुआ। साधार और निराधार सब हुवा। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सब हुवा। सत्य और असत्य हुआ।

इस सब जगत् को सत्य से उत्पन्न होने से सत्य कहते हैं। सो यह श्लोक अन्य ग्रन्थ में कहा है कि–प्रथम अप्रतीयमान कारण था। उस से प्रतीयमान जगत् हुआ। अप्रतीयमान ने अपने को प्रतीयमान किया इस से सुकृत कहा जाता है॥

सुकृत अच्छा किया कर्म, उसे कहते हैं जिस के करने में कर्त्ता को बड़ी सुगमता रही है। और जब कर्त्ता को अपने काम में अत्यन्त सुगमता होती है तभी—

यदा सौकर्यातिशयं द्योतयितुं कर्त्तृव्यापारो न विवक्ष्यते, तदा कारकान्तराण्यपि कर्त्तृसञ्ज्ञां लभन्ते॥

अर्थात् कर्त्ता की अत्यन्त सुगमता दिखाने के लिये कर्त्ता का व्यापार कहने में नहीं लाया जाता और कर्मादि कारकों को कर्त्ता के समान बोलते हैं। जैसे जब रसोई बनाने में अत्यन्त चतुर और विना प्रयास रसोई बनाता है तब कहते हैं कि "रसोई बन रही है" कर्त्ता का नाम नहीं लेते। ऐसे ही यहां भी कहा गया है कि जगत् परमात्मा के ईक्षण से आप से आप बनता है अर्थात् परमात्मा को इस के रचन में प्रयास वा श्रम नहीं करना होता, स्वाभाविक ईक्षण मात्र से सब सृष्टि अपने आप बनने लगती है॥

स्वामी जी ने वैशेषिक सूत्र (कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः) से यह सिद्ध किया है कि चेतन ब्रह्म यदि उपादान कारण माना जाय तो चेतन से जड़ जगत् उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि "कारणगुणपूर्वक कार्यगुण देखा जाता है।" इस पर द० ति० भा० पृ० २५० में (दृश्यते तु अ० २ पा० १ सूत्र ७) यहां तु शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के वास्ते है (एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः) इस में चेतन से जड़ का जन्म सुना है। बस स्वामी जी का वोह कथन कारण के सदृश कार्य होता है खण्डित हो गया। (विज्ञानघन एतेभ्योभूतेभ्यः समुत्थायेति) इस से जड़ से चेतन का जन्म है। लोक में भी चेतन से विलक्षण केश नखादि का जन्म और अचेतन गोमयादि से वृश्चिकादि का जन्म देखते हैं॥

प्रत्युत्तर–अच्छा क्या (कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः) इस वैशेषिक सूत्र को आप नहीं मानते? क्या शास्त्रों में आपस में विरोध है? जो कणाद के विरुद्ध आप व्यास का सूत्र प्रस्तुत करते हैं? वास्तव में आप जिस सूत्र को

प्रमाण में देते हैं यह तर्काभासाधिकरण का सूत्र है। अध्याय २ पाद १ सूत्र ४

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्

इस सूत्र के ऊपर ही आपके माननीय भाष्यकार ने " तर्काभासाऽधिकरण " अर्थात् मिथ्या तर्कों का अधिकार लिखा है। अब यह सूत्र मिथ्या तर्क दिखाता है कि—

दृश्यते तु २ । १ । ६

देखा तो जाता है कि जड़ से चेतन, चेतन से जड़ उत्पन्न होते हैं। जैसे गोबर से बिच्छू इत्यादि। परन्तु यह तर्क मिथ्या है क्योंकि गोबर से बिच्छू का जड़ शरीर ही बनता है, चेतन आत्मा तो अन्य देहों से वियुक्त होकर कर्मानुसार उस में आजाता है। इस लिये कारणगुणपूर्वक ही कार्य गुण होते हैं। यह बात अबाध्य ठीक है॥

द० ति० भा० पृ० २५० पं० २९ में (नैषा तर्केण मतिरापनेया) और पृ० २५१ पं० ४ में (तर्काऽप्रतिष्ठाना०) इत्यादि व्याससूत्र से तर्क की निन्दा की है॥

प्रत्युत्तर-ठीक है, तर्काऽप्राप=मिथ्या कुतर्कों की स्थिति नहीं है। इस लिये असत्तर्क जैसा कि ऊपर (दृश्यते तु) सूत्र का तर्क है। इस प्रकार के तर्क सन्तोषदायक न होने से निन्दनीय हैं॥

द० ति० भा० पृ० २५१ पं० १४ में (यथा च प्राणादि) इत्यादि॥

प्रत्युत्तर—यह सूत्र भी स्वामी जी के पक्ष की पुष्टि करता है। इस से पिछले दो सूत्र इस से मिलाइये तब स्पष्ट दीख पड़ेगा कि नियत कारण से ही नियत कार्य बन सकते हैं। चेतन से जड़ादि वा असत् से सत् नहीं। यथा हि—

युक्तेः शब्दान्तराच्च। शा० २।१।१८ पटवच्च॥ १९॥

यथा च प्राणादि॥ २०॥

युक्ति और अन्य शब्द प्रमाणों से भी नियत कारण से नियत कार्य ही उत्पन्न होने सिद्ध होते हैं। जैसे मिट्टी से घड़ा और दूध से दही। दूध से घड़ा और मिट्टी से दही नहीं बनता॥ १८॥ और पट अर्थात् वस्त्र के दृष्टान्त से भी यही सिद्ध है॥ १९॥ और प्राणादि वायुभेद, वायु से ही उत्पन्न होते हैं। इस से जाना जाता है कि प्रत्येक कार्य का एक नियत अनन्य कारण होता है। यह नहीं कि चाहे जिस कारण से चाहे जो कार्य बन जावे॥

द० ति० भा० पृ० २५१ पं० २३ में (देवादिवदपि लोके) इस सूत्र से यह

सिद्ध करते हैं कि जैसे लोक में देवादि सिद्ध लोग विना सामग्री के अपनी विचित्र शक्ति से पदार्थों को रच लेते हैं, जैसे बकुली वीर्य विना केवल मेघ-गर्जन से ही गर्भवती हो जाती है, वा मकड़ी सूत के बिना ही जाला पूरती है, ऐसे ही विना प्रकृति के केवल ब्रह्म ने जगत् रच लिया ॥

प्रत्युत्तर-जिस प्रकार देवादि सिद्ध कोटि के मनुष्यों के पास अदृश्यरूप से विचित्र सामग्री वर्त्तमान रहती है, और बकुली के गर्भार्थ मेघगर्जन ही में वायु द्वारा वीर्य प्राप्त होता है और जिस प्रकार मकड़ी का आत्मा अपने स्थूल शरीर में छिपे हुवे सूतों को फैलाता है, इसी प्रकार ब्रह्म भी अव्यक्त अदृश्य प्रकृति को विकृति करके ही जगत् को बनाता है। यदि नियत सामग्री की आवश्यकता नहीं होती तो राजादि लोग देवादि सिद्ध पुरुषों से राज्यादि करणार्थ नवीन पृथिवी बनवाकर राज्य करते, बकुली के समान काकी और मनुष्य की स्त्री भी मेघगर्जन से गर्भवती हो जातीं, मकड़ी के समान विना सूत के जुलाहे भी कपड़ा बुन लेते। परन्तु सामग्री विना यथार्थ में कोई कार्य बनता नहीं। यह बात दूसरी है कि सामग्री प्रत्यक्ष हो, वा छिपी अदृश्य हो ॥

द० ति० भा० पृ० २५२ पं० १६ में-महाप्रलय में ब्रह्म के विना और कुछ नहीं था, फिर प्रकृति आदि कहां २ थे देखो (नासीत्) आदि मन्त्र जो महा-प्रलय के वर्णन में पीछे लिख आये हैं ॥

प्रत्युत्तर-महाप्रलय के वर्णन में नहीं, सर्वशक्तिमान् के प्रकरण में आपने "नासदासीत०" इत्यादि लिखा था, जिस का उत्तर भी हम अपने पृ० २२१ में दे चुके हैं ॥ "सर्वशक्तिमान् का अर्थ इतना ही है कि परमात्मा विना किसी की सहायता के अपने सब कार्य पूर्ण कर सकता है॥" इस सत्यार्थप्रकाश के लेख का तात्पर्य यह नहीं है कि उपादान विना जगत् को रच सकता है। किन्तु इतने बड़े जगत् को उपादान से तत्क्षण बना देता है और सहाय-तार्थ किसी अन्य जीव को नहीं बुलाता, यह तात्पर्य है ॥

द० ति० भा० पृ० २५२ पं० २९ से-स्वामी जी पूर्व तो लिखि आये हो कि (न तस्य कार्यं करणं च विद्यते) उसे कार्य करणादि की कुछ अपेक्षा नहीं अब यहां यह गड़बड़ी ॥

प्रत्युत्तर-न तस्य कार्यम्० इस वाक्य में वा स्वामी जी के अर्थ में क्या कहीं जगत्कारण का निषेध भी लिखा है? कहीं नहीं। फिर कार्य करणादि के निषेध से उपादान कारण का निषेध समझना अज्ञान नहीं तो क्या है? "न

तस्य कार्य कहने से यह अवश्य सिद्ध होता है कि ईश्वर का कार्य कोई नहीं अर्थात् ईश्वर किसी कार्य पदार्थ का उपादान नहीं। किन्तु प्रकृति ही उपादान है॥

द० ति० भा० पृ० २५३ पं० १४ में—जैसे घटाकाश घट के टूटने से आकाश में मिलता है इसी प्रकार कर्मबन्धन टूटने से यह शुद्ध आत्मा सर्वसामर्थ्ययुक्त होता है॥

प्रत्युत्तर—आकाश से भिन्न घट वस्तु न हो तो घटाकाश वा घट का टूटना आदि व्यवहार नहीं बने, इसी प्रकार ब्रह्म से भिन्न आप के मत में कोई वस्तु नहीं तो टूटना आदि कुछ नहीं कह सकते। यदि कहते हो तो अद्वैतापत्ति न सही, द्वैतापत्ति तो आप पर पड़ी ही॥

आदिसृष्टिस्थानप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० २५३ पं० २५ में—यजुर्वेद में कहीं यह वाक्य नहीं कि (ततो मनुष्या अजायन्त) और दूसरे पद में लौट फेर किया है (मनुष्या ऋषयश्च ये)॥

प्रत्युत्तर—" ततो मनुष्या अजायन्त" यह पाठ शतपथ ब्राह्मण काण्ड १४ प्रपा० ३ ब्राह्मण ४ कण्डिका ३ के अन्त में है। जिस को कि मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद मानने वाले आप यह नहीं कह सकते कि यह यजुर्वेद का वचन नहीं है॥ मिथ्या कल्पना उसे कहते हैं कि जिस में अपने प्रयोजन को सिद्ध करने और दूसरे को हानि पहुंचाने के अभिप्राय से किसी प्रकार के बनावटी प्रमाण को प्रमाण की रीति पर दिखलाया जावे, जिस प्रमाण को कि प्रमाण देने वाला जानता हो कि यह प्रमाण यथार्थ में मेरा पक्षपोषक नहीं परन्तु मैं इस प्रमाण को झूंठ मूंठ बनाकर दिखला दूंगा तो मेरा प्रयोजन सिद्ध होजायगा और दूसरे की हानि भी चाहे हो। परन्तु स्वामी जी के लिखे उन वाक्यों से जिन को उन्हों ने वेदवाक्य करके लिखा है, क्या यह सिद्ध होता है कि उन्होंने अपने प्रयोजन सिद्ध करने को कल्पित मन्त्र घड़ लिये? विचारना चाहिये कि वहां प्रकरण क्या है। सत्यार्थप्रकाश में वहां यह प्रश्न है कि—(प्रश्न) सृष्टि की आदि में एक वा अनेक मनुष्य उत्पन्न किये थे वा क्या? इस प्रश्न के उत्तर में यह सिद्ध करने को कि एक मनुष्य नहीं किन्तु अनेक मनुष्य उत्पन्न हुवे, स्वामी जी ने उक्त दो वाक्य लिखे हैं। वक्ता का तात्पर्य समझने के लिये वाक्य के सम्पूर्ण अवयवों पर ध्यान देना चाहिये। इस प्रश्न को उठा कर उत्तर देने में स्वामी जी का तात्पर्य यह है कि सृष्टि

का बीज एक २ मनुष्य पशु, पक्षी आदि नहीं हैं किन्तु मनुष्यादि अनेकों से सृष्टि आरम्भ हुई। केवल मनुष्य शब्द लिखने का कारण यह है कि सृष्टि में मनुष्य प्रधान है, प्रधान के उपलक्षण से अप्रधान पशु, पक्षी, कीट पतङ्गादि का भी ग्रहण होता है। जैसे किसी को दधि की रक्षार्थ किसी से कहना हो तो वह कहता है कि "देखो दही रक्खा है, कव्वा न खा जावे; देखते रहना।" तो वक्ता का तात्पर्य दही की रक्षा में है, न कि केवल कव्वे (काक) मात्र से, किन्तु कव्वा, कुत्ता आदि सभी से दही की रक्षार्थ कहने में तात्पर्य है। परन्तु काक का दही खा जाने की आशङ्का अधिक सम्भव मान कर वह केवल काक का नाम ही लेता है। तथापि रखवारे को चाहिये कि कव्वे के अतिरिक्त कुत्ते आदि से भी दही को बचावे। इसी प्रकार स्वामी जी का मुख्य तात्पर्य एक वा अनेक में है, न कि केवल मनुष्य में। अब सोचना चाहिये कि हम को इस प्रश्न का उत्तर यजुर्वेद से क्या मिलता है कि सृष्टि का आरम्भ एक २ प्राणी से हुवा वा अनेक २ से ?

यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय में यह आठवां मन्त्र है कि—

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः । गावो ह जज्ञिरे
तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः । यजुः ॥ ३१ ॥ । ८ ॥

इस का अर्थ यह है कि उस पुरुष से घोड़े, नीचे ऊपर दांत वाले और गौ आदि एक ओर दांत वाले और बकरे भेड़ आदि सब उत्पन्न हुवे ॥

यहां अश्वाः, उभयादतः, गावः, जाताः, अजावयः, इतने बहुवचन आये हैं जो इस बात का प्रमाण हैं कि प्रत्येक प्राणी की जाति में अनेक व्यक्तियां सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुईं। फिर इस से अगले मन्त्र में—

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः । तेन देवा
अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ यजुः ॥ ३१ । ९ ॥

इस का अर्थ यह है कि देव, साध्य और ऋषि लोग उत्पन्न हुवे, उन्होंने उस अपने से पूर्ववर्त्तमान पूजनीय पुरुष को हृदयरूप कुशासन पर स्थापन किया और पूजित किया ॥

यहां भी साध्याः देवाः और ऋषयः इन बहुवचनों से प्रतीत होता है कि साध्य और ऋषिसंज्ञक बहुत से मनुष्य सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुवे ॥

बस इस से प्रमाणित है कि जिस प्रश्न के उत्तर में स्वामी जी ने दो वाक्यों से सिद्ध किया है कि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यादि प्राणियों की अनेक २ व्यक्तियां उत्पन्न हुईं, न कि एक २। सो इन मन्त्रों से ठीक पाया ही जाता है। इस लिये स्वामी जी ने अपने पक्ष के सिद्ध करने के लिये असत्य कल्पित नहीं किया और जो कुछ लिखा है, वैसा भाव ऊपर लिखे दो वेदमन्त्रों में उपस्थित है। केवल यह भेद है कि–

"तस्मादश्वा अजायन्त" के स्थान में–

"ततो मनुष्या अजायन्त" है। और

"साध्या ऋषयश्च ये" के स्थान में–

"मनुष्या ऋषयश्च ये"

इतना पाठभेद है, परन्तु दोनों मन्त्रों में वह भाव उपस्थित है जो स्वामी जी ने लिखा है। तथा यह सम्भव है कि बोलने वा लिखने में यह भेद पड़ गया हो। परन्तु यह किसी प्रकार नहीं सिद्ध होता कि स्वामी जी ने स्वप्रयोजनार्थ कल्पना करली॥

द० ति० भा० पृ० २५४। २५५ और २५६ में कुछ तर्क इस बात पर किये हैं कि स्वामी जी के लेखानुसार आदि में मनुष्योत्पत्ति तिब्बत में की हो, सो ठीक नहीं। लेख बड़ा है, परन्तु संक्षेप से उस में जो २ प्रश्न किये हैं उस का क्रम से हम उत्तर देते हैं॥

१–इस में कोई प्रमाण नहीं दिया कि तिब्बत में मानुषी सृष्टि प्रथम हुई॥

प्रत्युत्तर–तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या अन्नम् अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः। तैत्ति० ब्रह्मानन्द वल्ली। अनु० १॥

अर्थात् प्रथम परमात्मा ने आकाश तत्व को उत्पन्न किया, फिर वायु, फिर अग्नि, फिर जल, फिर पृथिवी, फिर अन्न, फिर वीर्य और फिर मनुष्य को॥

इस से स्पष्ट है कि उत्पत्तिक्रम में पुरुष की उत्पत्ति अन्न के पश्चात् है। अन्न पृथिवी से उत्पन्न होते हैं, पृथिवी का ऊंचा भाग तिब्बत ही प्रथम ठंढा और अन्न उपजाने योग्य होसकता था क्योंकि जब जैसे किसी लोहपिण्ड को गर्म करके पुनः ठंढा करो तो ऊपर का भाग ही प्रथम ठंढा होगा। इसी प्रकार

अग्निमय पिण्ड से जलमयपिण्ड, तत्पश्चात् मृण्मयपिण्ड, तत्पश्चात् अन्न से मनुष्यजाति की उत्पत्ति हो सकती है। इसी विचार से स्वामी जी ने तिब्बत में मनुष्यों की आदि सृष्टि लिखी है ॥

२-सत्यार्थ० पृ० २४ में लिखते हैं जब आर्यदस्युओं में अर्थात् विद्वान् जो देव अविद्वान् जो असुर उन में सदा लड़ाई बखेड़ा हुआ किया जब बहुत उपद्रव होने लगा तब आर्य लोग सब भूगोल में उत्तम इस भूमिखण्ड को जान कर यहीं आकर बसे इसी से इस देश का नाम आर्यावर्त्त हुआ। पुनः पं० २९ में इस से पूर्व इस देश का नाम कोई भी नहीं था ००० इस में तर्क यह है कि तो फिर आर्य लोग सदा से आर्यावर्त्त के रहने वाले न रहे, जैसा कि स्वामी जी ने अपनी आर्योद्देश्यरत्नमाला में लिखा है ॥

प्रत्युत्तर-अन्य देशों में आर्य कम और दस्यु अधिक होने से आर्यों के धर्मकार्यों में नित्य की बाधा देखकर अन्य देशों में के आर्य भी आर्यावर्त्त निवासी आर्यों में आमिले और इस देश को केवल आर्यों का ही निवासस्थान बना लिया। इस में यह नहीं पाया जाता है कि जब अन्य भूमिखण्डों में आर्य दस्युओं का बखेड़ा हुआ तब इस देश में आर्य न थे। नहीं, इस देश में तो तिब्बत के उत्पन्न आर्यपुरुष आदि में ही आगये, जब कि तिब्बत के पश्चात् यह देश गर्मी से निकल कर ठंडा हुआ और अन्नोत्पत्ति हुई, तभी तिब्बत की सृष्टि इधर भी चली आई और इस से यह बात खण्डित नहीं होती कि सदा से आर्य ही आर्यावर्त्त में रहते थे ॥

३-त्रिविष्टप का अर्थ तिब्बत कैसे हुवा ?

प्रत्युत्तर-गौ का अर्थ गाय कैसे होता है ? और कूप का अर्थ कुवा कैसे होता है ? वैसे ही यह भी हुवा ॥

४-यदि यह देश सर्वश्रेष्ठ है तो यहां ही परमेश्वर ने आदि सृष्टि क्यों न की ?

प्रत्युत्तर-हिमालय की सर्वोच्च चोटी तो अब तक हिमपात से दबी रहती है और मनुष्य वहां नहीं जन्म सकते। आर्यावर्त्त तिब्बत के पश्चात् अन्नोत्पत्तियोग्य ठंडा हुवा। अतः तिब्बत में आदि सृष्टि होना सङ्गत था ॥

५-त्रिविष्टप का नाम आर्यावर्त्त क्यों न हुवा जब आर्य वहां जन्मे ॥

प्रत्युत्तर-त्रि ३ वेदों वा ३ वर्णों वा अन्य त्रयी विद्याओं का स्थान होने से उस देश का नाम त्रिविष्टप होगया। जो आर्यावर्त्त नाम से कुछ घटिया नाम नहीं। आर्य और दस्युओं का विभाग जब तक भिन्न २ देशों में न हुवा

तब तक किसी देश का नाम आर्यावर्त्त रखना आवश्यक न था । नेपाल अब तक आर्यस्थान है । तिब्बत और भूटान गिरिकन्दरा होने से बौद्ध साधुओं ने अधिक वासित किया, इस से अब बौद्ध हो गया ॥

६–सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।

तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ॥ मनु० २ । १७

सब से प्रथम ब्रह्मा जी ने यही देश रचा और उन के द्वारा मनुष्य की उत्पत्ति यहां ही हुई ॥

प्रत्युत्तर–श्लोकार्थ तो यह है कि "सरस्वती और दृषद्वती नाम दो देव-नदियों के बीच में जो देश है वह देव=विद्वानों से बनाया गया और इसीसे उस का नाम ब्रह्मावर्त्त विख्यात हुवा" क्योंकि समस्त आर्यावर्त्त और अन्य देशों से के मनुष्य ब्रह्मावर्त्त के अनन्तर ब्रह्मर्षि देश में सब विद्या सीखें, यह मनु की आज्ञा थी । जैसा कि मनु–

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः । एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तरः ॥ २–१९ ॥ एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः । स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २–२० ॥

कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल और शूरसेन यह मिल कर ब्रह्मर्षिदेश कहाता है जो ब्रह्मावर्त्त से अनन्तर है ॥ १९ ॥ इसी देश के उत्पन्न हुवे ब्राह्मण से समस्त पृथिवी के मनुष्य अपना २ काम सीखें ॥ २० ॥

यह मनु की आज्ञा थी । इस सब में यह कहीं नहीं लिखा कि ब्रह्मा ऋषि ने सृष्टि रची और प्रथम ब्रह्मावर्त्तदेश बनाया। प्रत्युत यह प्रकरण देशों के उत्पन्न होने का भी नहीं है, किन्तु मनु ने देशों और वहां के निवास की योग्यता की व्यवस्था की है ॥

द० ति० भा० पृ० २५७ पं० १ ऊपर के आधे श्लोक का अर्थ गड़प ही गये हैं । सुनिये यह श्लोक मनु जी ने यों लिखा है–

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयोबहिः ।

म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः । मनु०

इस का अर्थ यह नहीं कि इस से भिन्न देश दस्युदेश कहाता है ॥

प्रत्युत्तर- आधा श्लोक बढ़ाने से क्या स्वामी जी का तात्पर्य न निकला ? अब कि श्लोक में (या लोके बहिः जातयः) लिखा है। जिस का अर्थ यह है कि (जो संसार में बाहर की जातियें हैं) वे चाहे म्लेच्छभाषा बोलती हों, चाहे आर्यभाषा, सब दस्यु हैं। फिर उन जातियों के बाहरी देशों का नाम दस्युदेश वा म्लेच्छदेश क्यों नहीं ॥ इन्द्र और दैत्यों का संग्राम ही देवासुरसंग्राम वा आर्यदस्युसंग्राम है ॥

द० ति० भा० पृ० २३६ पं० १५ में-पूर्व तो कहा है कि वह सृष्टिक्रम को बदल नहीं सकता, अब उसने बहुत मनुष्य कैसे उत्पन्न कर दिये। स्वयं विना स्त्री पुरुष संयोग के मनुष्य उत्पन्न नहीं हो सकता ॥

प्रत्युत्तर सृष्टिक्रम बदला नहीं किन्तु सदा का यही क्रम है कि जब २ प्रलय अनन्तर सृष्टि हुवा करती है तब २ अमैथुनी होकर फिर मैथुनी का क्रम चलता है। बदलता नहीं। और हां, बहुत मनुष्य उत्पन्न हुए मानने में आप को सृष्टिक्रम की क्यों शङ्का उत्पन्न हुई, क्या ब्रह्मा आदि किसी एक मनुष्य का उत्पन्न होना मानने में यही शङ्का उत्पन्न नहीं होती ?

द० ति० भा० पृ० २४१ पं० २६ से-स्वामी जी के लेख से विदित होता है कि इक्ष्वाकु राजा से पहले सब तिब्बती थे परन्तु मनुस्मृति जो मनु जी ने रची है उन्हों ने मनु का राज्य भी इसी देश में होना लिखा है जब कि ब्रह्मा जी ही का प्रादुर्भाव ब्रह्मावर्त्त देश में हुवा है तो बेटे पोते भी सब यहीं हुवे और स्वामी जी तो अग्नि वायु आदि से परम्परा लिखते ब्रह्मा से क्यों लिखी क्योंकि महात्मा जी ने तो प्रथम अग्नि वायु की उत्पत्ति लिखी है और प्रथम एक जाति भी नहीं थी चारोंवर्ण सदा से हैं यथाहि (ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीदिति यजुर्वेदे) और मनु जी लिखते हैं

> लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः।
> ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रञ्च निरवर्तयत् मनु० ॥

प्रत्युत्तर इस से यह कैसे सिद्ध होगया कि इक्ष्वाकु से पूर्व सब तिब्बती थे। और तिब्बती हों सिद्ध हो जावें तो हानि वा शास्त्र से विरोध ही क्या आता है ? ब्रह्मा का जन्म ब्रह्मावर्त्त देश में हुवा, इस में क्या प्रमाण है ? प्रत्युत आप तो ब्रह्मा से ही सब पृथिव्यादि की उत्पत्ति मानते हैं कि नाल से कमल, कमल से ब्रह्मा और ब्रह्मा से सृष्टि। फिर ब्रह्मा से पूर्व कोई देश ही आप के मत में नहीं होसक्ता था। ब्रह्मावर्त्त कहां से आया ?

अग्नि वायु आदि से वेदपरंपरा स्वामी जी ने लिखी है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वेदपरंपरा वालों की ही वंशपरंपरा चले, अन्यों की न चले, इस लिये ब्रह्मा की वंशपरंपरा लिखना परस्परविरोध नहीं। यह तो हम भी नहीं कहते कि चार वर्ण कर्मानुसार परमात्मा की उत्पादित आमैथुनी सृष्टि में न थे। परन्तु मनु से उन की व्यवहारमर्यादा का भेद प्रचलित हुवा। आप के श्लोक और वेदमन्त्र का आशय यह नहीं है कि परमात्मा के वास्तविक मुखादि से ब्राह्मणादि वर्ण जन्मे। देखिये—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳪ शूद्रो अजायत ॥
यजुः० ३१। ११

*यह मन्त्र कई कारणों से विचारणीय है। प्रथम तो उन मन्त्रों में से है जिन पर आर्यसमाज और सनातनधर्मसभा के बीच सदा वाद विवाद होता रहता है। दूसरे यह मन्त्र उस महाहानिकारक जातिभेद अथवा आधुनिक नाममात्र की जन्मानुसारिणी वर्णव्यवस्था का पोषक समझा जाता है कि जो भूतलवासियों की सामाजिक अवनति का मुख्य कारण है। इस लिये यह मन्त्र इस योग्य है कि इस पर अच्छे प्रकार लेख लिया जाय, और हम आशा करते हैं कि पाठकगण इस पर विशेष ध्यान देंगे ॥

इस मन्त्र का आधुनिक अर्थ

हमारे हिन्दु पण्डित, इस मन्त्र का यह अर्थ करते हैं कि-" ब्राह्मण ब्रह्म के मुख से उत्पन्न हुऐ, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य वह है जो उस की जङ्घाओं से और शूद्र पावों से उत्पन्न हुवा " ॥

१—यह अर्थ वेदविरुद्ध है २—व्याकरण की रीति से अशुद्ध है, ३-और प्रकरणविरुद्ध भी है ॥

१-यह अर्थ वेदविरुद्ध इस लिये है कि

इस में यह मान लिया गया है कि ईश्वर देहधारी है और उस के शिर भुजा आदि भी हैं। परन्तु वेद में ऐसे अनेक मन्त्र हैं (हम उन को यहां

* देखो बा० गङ्गाप्रसाद जी एम. ए. का पुस्तक ॥

लिखने की आवश्यकता नहीं समझते) कि जिन से यह स्पष्ट सिद्ध होजाता है कि ईश्वर चेतनस्वरूप, निराकार, शरीररहित और सर्वव्यापी है। इस के अतिरिक्त यह अर्थ आज कल की झूंठी वर्णव्यवस्था वा जातिभेद की पुष्टि नहीं करता है पर उस की पुष्टि करने वाला समझा जाता है, परन्तु यह जातिभेद वैदिकसमय में कदापि न था। वैदिकग्रन्थों में ऐसे अनेक वचन हैं जिन से सिद्ध होता है कि प्राचीन समय में वर्णव्यवस्था गुण कर्म स्वभाव पर थी, न कि जन्म पर। विशेष कर महाभारत में इस प्रकार के अनेक श्लोक पाये जाते हैं, उन में से कुछ श्लोक इस विषय का ऐसी स्पष्ट रीति से समाधान करते हैं कि हम उन को यहां लिखना आवश्यक समझते हैं—

एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर!। कर्म्मक्रियाविभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम्॥ सर्वे वै योनिजा मर्त्या सर्वेमूत्रपुरीषिणः। एकेन्द्रियेन्द्रियार्थाश्चतस्माच्छीलगुणैर्द्विजः॥ शूद्रोऽपि शीलसम्पन्नो गुणवान्ब्राह्मणो भवेत्। ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रात् प्रत्यवरो भवेत् *॥

शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते। न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥२५॥ यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प! वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः। यत्रैतन्न भवेत् सर्प! तं शूद्रमिति निर्द्दिशेत्॥२६॥ महाभारत वनपर्व अ० १८० ॥

अर्थ—हे युधिष्ठिर! यह सारा जगत् पहले एक वर्ण था, परन्तु कर्म और क्रिया के भेद से चार वर्ण हो गये। सब मनुष्य एक ही प्रकार उत्पन्न होते हैं, सब का एक सा ही मल मूत्र होता है, एक सी इन्द्रियें और एक से ही इन्द्रियों के विषय हैं। इस लिये मनुष्य अपने स्वभाव और गुणों ही के कारण द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य कहलाता है। शूद्र भी यदि उत्तम स्वभाव और गुण से युक्त हो तो ब्राह्मण होजाता है और ब्राह्मण भी यदि क्रियाहीन हो तो वह शूद्र से भी नीच होजाता है। यदि शूद्र में सदाचरण हों और द्विज में न हों तो न वह शूद्र शूद्र, और न वह ब्राह्मण ब्राह्मण है॥२५॥ जिस में यह सदाचरण पाया जाय उसी को शास्त्रों ने ब्राह्मण कहा है, जिस में यह न पाया जाय उसी को शूद्र बतलाया है॥ २६॥

---

* आरम्भ के इन श्लोकों का पूरा पता ज्ञात न होसका, अन्त के २ श्लोक ठीक छपे पते पर हैं॥

अब इस विषय पर अधिक लिखना अनावश्यक है क्योंकि अब अन्य देशों तक के विद्वान् भी एकमत होकर मानने लगे हैं कि यह आज कल का जातिभेद वैदिकसमय के पीछे फैला है ॥

२ यह अर्थ व्याकरण से भी अशुद्ध है

जो कोई थोड़ा सा भी संस्कृत जानता है वह समझ लेगा कि इस अर्थ में व्याकरण की कई अशुद्धियां हैं। मुखम् बाहू और ऊरू ये शब्द प्रथमा विभक्ति युक्त हैं, नकि पञ्चमी में। इस में कोई सन्देह नहीं कि पद्भ्याम् शब्द पञ्चमी विभक्ति में है, परन्तु उस का "व्यत्यय" मानना पड़ेगा, जैसाकि मुखम् बाहू और ऊरू शब्दों से स्पष्ट है और पूर्व मन्त्र से जिस को हम आगे लिखेंगे और भी स्पष्ट हो जाता है, इस लिये मन्त्र का ठीक और शाब्दिक अर्थ यह है कि "ब्राह्मण उस का शिर है, क्षत्रिय उस की भुजा बनाया गया है, जो वैश्य है वह उस की जङ्घा और शूद्र उस के पांव बनाया गया है" यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि ब्राह्मण उस के शिर से उत्पन्न हुवे, क्षत्रिय उस की भुजाओं से निकले इत्यादि। हम नीचे इस मन्त्र का महीधर भाष्य लिखते हैं जिससे यह बात स्पष्ट हो जायगी कि हमारे आधुनिक पण्डित किस प्रकार इस मन्त्र से अपना मनमाना अर्थ निकालना चाहते हैं:—

ब्राह्मणोब्रह्मत्वविशिष्टः पुरुषोऽस्य प्रजापतेर्मुखमासीत् मुखादुत्पन्नइत्यर्थः। राजन्यः क्षत्रियत्वजातिविशिष्टः पुरुषो बाहूकृतो बाहुत्वेन निष्पादितः। तत् तदानीम्, अस्य प्रजापतेर्यत् यावूरू तद्रूपोवैश्यः सम्पन्नः उरुभ्यामुत्पादितइत्यर्थः। तथाऽस्य पद्भ्यां शूद्रत्वजातिमान्पुरुषोऽजायतउत्पन्नः" ॥ (महीधर भाष्य)

अर्थ-"ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मत्व जातिविशिष्ट पुरुष उस प्रजापति का मुख था अर्थात उसकेमुख से उत्पन्नहुआ। क्षत्रिय अर्थात् क्षत्रियत्व जातिविशिष्ट पुरुष उस की भुजा बनाया गया। अर्थात उस को भुजारूप से रचा गया, तब उस प्रजापति की जो जङ्घा थीं तद्रूप वैश्यहुआ अर्थात जङ्घाओं से उत्पन्नहुआ तथा उस

के पांवों से शूद्र जाति वाला पुरुष उत्पन्न हुआ" ॥ हम अपने पाठकगणों का उस आशय की ओर विशेषध्यान दिलाते हैं कि जो मोटे अक्षरों में छापा गया है। यह स्पष्ट है कि महीधर ने मन्त्र का पहिले ठीक और सीधा अर्थ करके फिर उस के पदों में अपने मनमाने ढङ्ग पर खैंचातानी की है। यह समझ में नहीं आता कि **मुखमासीत्** (मुख था) इन शब्दों का यह अर्थ कैसे हो गया कि **मुखादुत्पन्नः** और (जो जङ्घा थीं तद्रूप वैश्य हुआ इन शब्दों का यह कैसे तात्पर्य हो सकता है कि **ऊरुभ्यामुत्पादितः** (जङ्घा से उत्पन्न किया)। यह बात स्पष्ट है कि यह अर्थ मन्त्र के शब्दों में से निकलता नहीं किन्तु उनमें बलात्कार से डाला गया है

३ यह अर्थ प्रकरणविरुद्ध है ॥

इस से पहिला मन्त्र यह है:—

मुखं किमस्यासीत् । किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥

अर्थ—" उस का शिर क्या था, क्या भुजा थीं और जङ्घा और पांव क्या कहे जाते हैं" यहां यह नहीं पूछा गया है कि उस के शिर से कौन निकले और उस की भुजाओं से कौन निकले। इस मन्त्र में जो प्रश्न कियागया है उसी का उत्तर देनेके लिये वह मन्त्र है जिसकी हम ऊपर से व्याख्या करते जाते हैं इस लिये मन्त्र का आधुनिक अर्थ सर्वथा अशुद्ध है। भला यह कहीं हो सक्ता है कि प्रश्न तो यह किया जावे कि "उस का शिर क्या था, उस की भुजा क्या थीं और उस की जङ्घा और पांव क्या थे?" और उत्तर दिया जावे कि "ब्राह्मण उस के मुख से निकले और क्षत्रिय उस की भुजाओं से, वैश्य उस की जङ्घाओं से शूद्र उस के पांवों से?" इस लिये मन्त्र का ठीक और सत्य अर्थ केवल वही हो सकता है जो हम ऊपर लिख चुके हैं ॥

मन्त्र की पूर्वापर सङ्गति और उसका प्रकरणानुकूल सत्य अर्थ

यह मन्त्र वेद के एक सुप्रसिद्ध सूक्त में आया है कि जिस का नाम * "पुरुषसूक्त" है। इस सूक्त में सृष्टि की रचना का वर्णन है। हम को यहां पर पूरे सूक्त का अर्थ लिखनेसे प्रयोजन नहीं। इस लिये हम केवल उसके इतने आशय

* देखो यजुर्वेद ३१, ऋग्वेद १०-९०, अथर्ववेद १९-६। १६ मन्त्र हैं कुछ पाठ भेद भी है ॥

की ओर संकेत करेंगे कि जितना इस मन्त्र की व्याख्या से सम्बन्ध रखता है ॥

मन्त्र १ से मं० ४ तक यह वर्णन है कि ईश्वर इस जगत् का स्रष्टा और सर्वव्यापक है, उस की महिमा अनन्त और अपार है। इस के पश्चात् इस जगत् की सृष्टि का वर्णन है। प्रथम ईश्वर ने प्रकृति का, कि जो प्रलय की अवस्था में अविज्ञेय और अलक्षणवशा में थी, प्रादुर्भाव किया। तब उस में से पृथिवी और अन्य लोक रचे (मं० ५)। इस के पश्चात् उन अनेक वस्तुओं की रचना का वर्णन किया गया है जो इस पृथिवी पर पाई जाती हैं। प्रथम वनस्पति और विविध जीव जन्तु रचे गये–

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥ ६ ॥

अर्थ–"उस सर्वपूज्य परमेश्वर ने सब प्रकार के वनस्पति तथा रसयुक्त पदार्थों को रचा और वायु में उड़ने वाले, जङ्गलों में फिरने वाले तथा गांव आदि बस्तियों में रहने वाले इत्यादि सब जन्तुओं को रचा (मं० ६)। अन्त में मनुष्य रचे गये—

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ९ ॥

अर्थ–"उसी परमात्मा ने मनुष्यजाति को, जिस में उस सर्वपूज्य और सर्वश्रेष्ठ, सर्वव्यापक परमात्मा को हृदय में धारण करने वाले अनेक विद्वान् साध्य और ऋषि हैं, रचा" (मं० ९)। हमारे हिन्दु भाई इस मन्त्र में विराट्रूप से ईश्वर का वर्णन मानते हैं, परन्तु वास्तव में यहां मनुष्यजाति रूपकालङ्कार द्वारा एक पुरुषवत् वर्णन की गई है, किन्तु बिना सूक्ष्मदृष्टि से देखे और विचारे अलङ्कार समझ में नहीं आता। कोई यह प्रश्न कर सकता है कि "भला अनेक पुरुष और स्त्रियों के समूह में और एक पुरुष के शरीर में, जिस में शिर, भुजा आदि कई प्रकार के अङ्ग होते हैं, क्या उपमा हो सकती है?" यह प्रश्न स्वभाव से हर मनुष्य के हृदय में उत्पन्न हो सकता है और इस लिये वेद में भी यह प्रश्न इस प्रकार उठाया गया है कि—

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥ १० ॥

अर्थ-" जिस पुरुष का विधान किया और जिस को कई प्रकार के अङ्गों वाला कल्पना किया-उस का शिर क्या है ? भुजा क्या हैं ? और जङ्घा और पांव क्या कहलाते हैं " (मं० १०) । इसी मन्त्र के उत्तर में अगला मन्त्र कहा गया है कि-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳪं शूद्रो अजायत ॥ यजु ३१।११

अर्थ-"ब्राह्मण उस का शिर है, क्षत्रिय उस की भुजा बनाया गया है जो वैश्य हैं, वह उस की जङ्घा है और शूद्र उस का पांव उत्पन्न किया गया है" । मन्त्र ९ में मनुष्यजाति पुरुषरूप से वर्णन की गई है । मन्त्र १० में यह प्रश्न किया गया है कि उस पुरुष के अङ्ग क्या हैं ? उस का शिर क्या है ? उस की भुजा क्या हैं ? इत्यादि । मन्त्र ११ में उत्तर दिया गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र क्रम से उस मनुष्यजातिरूप पुरुष के शिर भुजा जङ्घा और पांव हैं । बस इस मन्त्र से किसी प्रकार जन्म से वर्ण सिद्ध नहीं होता ॥

पृथिव्यादि लोक भ्रमण ।

द० ति० भा० पृ० २५९ पं० १९ से-

समीक्षा स्वामी जी पर बिना ही अंग्रेज़ी पढ़े बहुत कुछ अंग्रेज़ी विद्या का असर है, सोचने की बात है यदि पृथ्वी घूमती होती तो जिस प्रकार ग्रह बारह राशियों में घूमते हैं उसी प्रकार पृथ्वी भी राशियों में घूमती और इस की ग्रह में संख्या भी होती और यदि लोक घूमने ही से स्थिर रहते तो ध्रुव का तारा नहीं घूमता इस बात को सभी मानते हैं और इसी कारण उस का नाम ध्रुव है कि वोह घूमता नहीं तो ध्रुवतारा भी गिर पड़ना चाहिये तथा और भी तारागण हैं जो नहीं घूमते वे भी गिर पड़ें तो यह आकाश शून्य होजाय इस कारण यह कहना ठीक नहीं कि जो नहीं घूमते हैं वे गिर पड़ें और जो पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है तो गर्मियों के दिनों में सूर्य के निकट होने से यत्किञ्चित् सूर्य बड़ा दृष्टि आना चाहिये सो ऐसा भी नहीं होता और राई का जो दृष्टान्त दिया है वोह भी अशुद्ध है क्योंकि आप ने लिखा है कि राई को पहाड़ के सामने घूमते देर लगती है यह कहना ही हास्ययुक्त है आप ने सूर्य को पृथ्वी से लाखगुणा बड़ा कहा और करोड़ों कोस दूर माना है देर तो जब लगे जब राई के बराबर घूमना पड़े और राई का लाखगुणा पहाड़ नहीं हो सका यदि राई को चावल की बराबर ही

मान लें तो तोला भर राई में ६१४५ दाने हुए तो १७ ही तोले में १०३५२८ लाख से भी अधिक दाने हो जायंगे जिन का बोझ पावभर का भी नहीं हो सक्ता इस कारण राइ पर्वत का दृष्टान्त सम्पूर्णतः अशुद्ध है फिर एक पृथ्वी ही तो नहीं अनेक ब्रह्माण्डों में यही सूर्य प्रकाश करता और दूर होने से क्या परमात्मा के प्रताप से अधिक वेग से गमन करता है क्योंकि (सूर्य एकाकी चरित) और (हिरण्मयेन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन्) अर्थात् " सूर्य असहाय चलता है " सुवर्ण के रथ में सूर्य देवलोकों को देखते जाते हैं यह यजुर्वेद वाक्य हैं जिस से सूर्य का लोकों के चारों ओर घूमता सिद्ध होता है और पृथ्वी चलती होती तो एक मिनट में ७$\frac{1}{6}$ मील पृथ्वी घूमती है पृथ्वी का व्यास अंग्रेज़ी १२००० मील का लिखा है स्वामी जी ने लिखा तो नहीं पर उन्हीं ऐसा माना होगा और जो अधिक मानेंगे तो अधिक ही चाल होगी इस हिसाब अब घण्टे भर में ५०० मील पृथ्वी घूमती है तो जो कबूतर सबेरे को उड़ते हैं और दुपहर को आते हैं तो वे घर पर न आने चाहियें क्योंकि छः घण्टे भर में पृथ्वी ३००० मील निकल जाती है ॥

प्रत्युत्तर-यदि कोई पुरुष वेद और ऋषियों के ज्योतिष् ग्रन्थ न भी पढ़ा हो, कुछ मदरसे में ही भूगोल खगोल पढ़ा हो तो ऐसी ऊतपटांग शङ्का नहीं कर सक्ता। इन शङ्काओं का उत्तर देना प्रत्येक मदरसे के लड़के को आता है इस लिये यहां विस्तारपूर्वक लिखने की आवश्यकता नहीं। किन्तु सङ्क्षेप से लिखते हैं। आप कैसे जानते हैं कि पृथ्वी १२ राशियों में नहीं घूमती, पृथ्वी अवश्य घूमती है। ध्रुव के देशभेद न जान पड़ने का कारण उस की दूरी की अधिकता है। इसी मोटे विचार पर उन का नाम ध्रुव रक्खा गया है। तारा कोई ऐसा नहीं जो कम से कम अपने स्थान में ही न घूमें, इसी से गिर नहीं सक्ता, तथा आकर्षण के कारण भी। गर्मियों में सूर्य की सीधी किरण पड़ना तो सब कोई मानता है परन्तु उस का पृथिवी के समीप हो जाना मानना आप का हास्यास्पद और पुराणों के भी विरुद्ध है। पर्वत और राई का दृष्टान्त ठीक तौल लगा कर नहीं परन्तु अत्यन्त छोटे बड़े मात्र सम्बन्ध को दिखाने के लिये है। अहो! आप ने हिसाब कहां पढ़ा है। ८ चावल की १ रत्ती ८ रत्ती का १ मासा, १२ मासे का १ तोला, इस से तो १ तोले के ७६८ चावल हुवे। आप ने तोला भर राई में ६१४४ लिख मारे। इसी ज्ञान पर भूगोल खगोल को समझना चाहते हो! और स्वामी जी का खण्डन!!!

(सूर्य एकाकी चरति) का अर्थ सूर्य का चलना तो है, परन्तु अपने ही स्थान में चलना भी तो चलना कहाता है और (हिरण्ययेन०) इस मन्त्र में (याति) पद से जो चलना मानते हैं सो भी अपने ही स्थान में चक्कीसा घूमना मानने से कोई दोष नहीं रहता। लोकों के चारों ओर घूमना इस मन्त्र में किसी पद का अर्थ नहीं। पृथिवी का व्यास १२००० मील न तो स्वामी जी ने लिखा न, योरप वाले मानते हैं। आप ने कुछ देखा भाला तो है नहीं, गप्प मारदी। योरपवाले पृथिवी की परिधि २४८५६ मील और व्यास ७९१२ मील मानते हैं और हमारे ज्योतिष शास्त्र में यह लिखा है कि-

प्रोक्तो योजनसंख्यया कुपरिधिः सप्ताङ्गनन्दाब्धयः।
तद्व्यासः कु भुजङ्गसायकभुवोऽथ प्रोच्यते योजनैः॥

(सिद्धान्तशिरोमणि गणिताध्याय)

पृथिवी की परिधि ४९६७ योजन अर्थात् ५ मीलका योजनमाने तो २४८३५ मील और व्यास १५८१ योजन=७९०१ मील होता है, परन्तु ५$\frac{1}{230}$ मील का १ योजन मानें तो योरपवासियों और यहां के ज्योतिषशास्त्र में समता आ जाती है। इस लिये आप का लिखा १ घण्टे में ५०० मील पृथिवी का घूमना निरा अज्ञान है। पृथिवी अपने ऊपर के जल और ४९ मील वायुमण्डल को लपेटे हुवे घूमती है, इस से कबूतरआदि जो वायु के भीतर हैं और समुद्र जो कि वायु के भीतर है, इन की अस्तव्यस्तता की शङ्का व्यर्थ है। अब वेदादि के अनुसार पृथिव्यादि का घूमना सुनिये--

आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च।
हिरण्ययेन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

(ऋ० १। ३५। २ और यजु० अ० ३३ मं० ४३)

अर्थ-(सविता देवः प्रकाशस्वरूप सूर्य (आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानः) आकर्षण गुण के साथ वर्त्तमान (मर्त्यं निवे०) लोक लोकान्तरों को अपनी २ कक्षा में स्थित करता हुआ (अमृतं च) और सब प्राणी अप्राणियों में अमृतरूप वृष्टि वा किरण द्वारा अमृत का प्रवेश

कराता हुआ और (हिरण्ययेन रथेन *) प्रकाशमय और रमणीय स्वरूप से (भुवनानि) पृथिव्यादि लोकों को (पश्यन्) प्रकाशित करता हुआ (याति) अपनी धुरी पर घूमता है । यथा हि—

यदा सूर्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः ।
आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे ॥

(ऋ० ८ । १२ । ३०)

अर्थ (यदा) जिस समय [परमेश्वर ने] (अमुम्) इस (शुक्रं ज्योतिः) अनन्त तेजोमय प्रकाशस्वरूप (सूर्यम्) सूर्य को (दिवि) आकाश में (अधारयः) रच कर धारण किया (आदित्) तभी (विश्वा भुवनानि) पृथिव्यादि सब लोक (येमिरे) नियमपूर्वक अर्थात् सूर्य की आकर्षण शक्ति से अपनी २ कक्षा में विचरे ॥

इस प्रकार से भूमि अपनी कक्षा में स्थित होकर सूर्य की परिक्रमा करती है । यथा हि—

या गौर्वर्त्तनिं पर्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः ।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ॥

ऋ० १० । ६५ । ६ ॥

अर्थ—(या गौः †) जो पृथिवी (अवारतः) निरन्तर अर्थात् सदा (पयो दुहाना) अन्न, रस, फल, फूल आदि पदार्थों से प्राणियों को पूर्ण करती तथा (व्रतनीः) अपने नियम का पालन करती (प्रब्रुवाणा) परमेश्वर की महिमा का उपदेश करती (दाशुषे वरुणाय) दानी और श्रेष्ठ जन को (देवेभ्यः) और विद्वानों को (हविषा दाशत्) अनेक सुख देती (वर्त्तनिम्) अपनी कक्षा रूप मार्ग में (विवस्वते) सूर्य के (पर्येति) चारों ओर घूमती है ॥

* रथ=रमणीय । निरु० अ० ९ ख० ११ ॥ उणा० २ । २ ॥

† पृथिवी का नाम निघं० । १ में "गौः" है, जिस का अर्थ "गच्छतीति गौः" जो चलती है सो गौः (भूमि) है । इस से भी सिद्ध है कि आर्यलोग भूमि का चलना मानते थे ॥

पृथिवी केवल सूर्य के चारों ओर ही नहीं घूमती किन्तु साथ ही साथ अपनी (अक्ष) कीलों पर भी घूमती है, जैसे लट्टू अपनी कीली पर भी घूमता है और अपनी जगह से भी हटता है और जैसे गाड़ी का पहिया अपनी धुरी पर घूमता है और साथ ही साथ सड़क पर भी घूमता जाता है । इस में प्रमाण यह है–

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥

(ऋ० अ० ८ अ० ८ व० ४७ और यजु० अ० ३ मं० ६)

अर्थ-(अयम्) यह (गौः) पृथिवीलोक (मातरम् *) जल को (असत्) प्राप्त होकर अर्थात् जल के सहित (पृश्निः) अन्तरिक्ष में (आक्रमीत्) आक्रमण करता है अर्थात् अपनी धुरी पर घूमता है । (च) और (पितरम् †) सूर्य के भी (पुरः प्रयन्) चारों ओर घूमता है ॥

इस विषय में बहुधा मनुष्य कई प्रकार की शङ्का किया करते हैं । जैसे:-

प्रश्न-यदि पृथिवी चलती है तो हिलती क्यों नहीं ?

उत्तर-न हिलने का तो कारण स्पष्ट है । देखो गाड़ी जब ऊंची नीची जगह में चलेगी तो साफ़ सड़क की अपेक्षा अधिक हिलेगी और सड़क की अपेक्षा पानी पर नौका में कम हाल लगती है और विमान में, जो हवा में चलता है, नौका से भी बहुत कम हाल लगती है तो ऐसी जगह में चलने से कि जहां हवा भी नहीं है, पृथिवी कैसे हिल सकती ॥

प्र०-अच्छा, यदि पृथिवी चलती है तो सब नगर ग्राम जहां के तहां क्यों बने रहते हैं, हट क्यों नहीं जाते ?

उ०-वाह अच्छी शङ्का की । चलने फिरने को तो हम तुम भी चलते फिरते हैं तो क्या हमारी तुम्हारी आंख नाक जो मुख पर हैं पीठ पर आ

---

* यहां जल को अलङ्काररूप में पृथिवी की माता कहा है । यथाह—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः "अद्भ्यः पृथिवी" इत्यादि ॥ तैत्ति० उ० ॥

† यहां सूर्य को अलङ्काररूप से पृथिवी का पिता कहा है क्योंकि सूर्य ही से पृथिवी की (अपनी कक्षा में) स्थिति, मनुष्यों का जीवन, वर्षा, वनस्पति आदि की उत्पत्ति होती है ॥

जाती हैं ? यदि भूमि का कुछ भाग चलता और कुछ न चलता तो अवश्य नगर और ग्राम हट जाते, परन्तु यह भूगोल तो सब चलता है, फिर नगर और ग्राम वहीं बने रहेंगे कि जहां वे स्थित हैं । जैसे यदि एक गेंद पर कुछ बिन्दु बना दिये जांय और वह गेंद घुमादी जाय तो वे बिन्दु वहीं बने रहेंगे जहां हमने बनाये थे ॥

प्र०-यह तो मैं समझा, परन्तु पृथिवी चलती हुई प्रतीत क्यों नहीं होती?

उत्तर-कुलालचक्रभ्रमिवामगत्या यान्तो न कीटा
इव भान्ति यान्तः ॥ सिद्धान्तशिरोमणि ॥

अर्थ-जैसे कुम्हार के घूमते हुवे चाक (चक्र) पर बैठे हुवे कीड़े उस की गति को नहीं जान सकते, ऐसे ही मनुष्यों को पृथिवी चलती हुई नहीं प्रतीत होती है । अन्यच्च-आर्यभट्टीये-

अनुलोमगतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत् ।
अचलानि भान्ति तद्वत् सपश्चिमगानि लङ्कायामिति ॥

अर्थ-जैसे नौका में बैठा हुआ मनुष्य किनारे के स्थिर वस्तुओं को दूसरी ओर से चलते हुवे देखता है ऐसे ही मनुष्यों को सूर्यादि नक्षत्र जो स्थिर हैं, पश्चिम की ओर को चलते हुवे दीखते हैं और पृथिवी स्थिर प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में भूमि ही चलती है ॥

सन् १५४३ ई० तक यौरपवासी भी यही मानते रहे कि पृथिवी स्थिर है और सूर्यादि सब तारागण पृथिवी के चारों ओर घूमते हैं, परन्तु पूर्वोक्त वेद मन्त्रों से सिद्ध है कि आर्यलोग सृष्टि की आदि से ही (क्योंकि वेदों का प्रकाश आदि सृष्टि में हुआ था) जानते थे कि भूमि चलती है और सूर्य पृथिवी की अपेक्षा स्थिर है (जैसा 'आर्यभट्ट' के उक्त वचन से भी सिद्ध होता है) सूर्य का उदय अस्त और दिन रात होने का कारण भी पृथिवी का अपनी कीली पर घूमता है अर्थात् यह भूगोल २४ घण्टे (६० घड़ी) में एक वार अपनी धुरि (कीली) पर घूम जाता है, इस अन्तर में जो भाग पृथिवी का सूर्य के सामने आजाता है, वहां "दिन" और जो आड़ में आजाता है वहां "रात" होती है । अभिप्राय यह है कि सूर्य वस्तुतः चलता नहीं, भूमि के घूमने ही से उदय और अस्त होता दिखलाई देता है । इस में प्रमाण-

भपञ्जरः स्थिरो भूरेवावृत्यावृत्यप्रातिदैवसिकौ ।
उदयास्तमयौ संपादयति ग्रहनक्षत्राणामिति ॥ आर्यभट्ट ॥

(अर्थ) सूर्यादि सब नक्षत्र स्थिर हैं, पृथिवी ही बेर २ अपनी धुरी पर घूम कर प्रतिदिवस इन के उदय और अस्त का संपादन करती है ॥ अन्यच्च–

अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रेरेव तदन्तमित्वा अथात्मानं विपर्यस्यते अहरेवावस्तात् कुरुते रात्रिं परस्तात् ॥ सवा एष न कदाचन निम्रोचति। न ह वै कदाचन निम्रोचति॥

एतरेय ब्राह्मण,

(अर्थ) सूर्य न कभी छिपता है और न निकलता है, जब वह रात्रि के अन्त को प्राप्त होकर बदलता है अर्थात् भूमि के घूमनेके कारण पश्चिम से फिर पूर्व में दिखलाई देता है, और पृथिवी के इस भाग में दिन और दूसरे भाग में रात्रि करता है, तब लोग सूर्य का "उदय" मानते हैं । इसी प्रकार जब दिन के अन्त को प्राप्त होकर सूर्य पश्चिम में दिखाई देता है और भूमि के इस भाग में रात्रि और दूसरे भाग में दिन करता है, तब लोग सूर्य का " अस्त" मानते हैं । वास्तव में न वह कभी छिपता है, न निकलता है॥

जानना चाहिये कि ये सब तारागण जो रात्रि समय आकाश में चमकते हुए दिखलाई देते हैं तीन प्रकार के हैं–(१) " नक्षत्र " Fixed Stars जो ग्रहों में प्रकाश और उष्णता पहुंचाते हैं और अपनी आकर्षण शक्ति से उन्हें अपनी कक्षा में स्थित रखते हैं । (२) " ग्रह " Planets जो किसी नक्षत्र के चारों ओर घूमते हैं। और (३) " उपग्रह " Satelites जो ग्रहों की परिक्रमा करते हैं । इस में से "नक्षत्र"जैसा कि पूर्वोक्त प्रमाणों से सिद्ध हुवा, स्थिर हैं अर्थात् किसी लोक लोकान्तर के चारों ओर नहीं घूमते परन्तु अपनी धुरी पर सदा घूमते रहतेहैं । यथाह–सि० शि० गणिताध्याये

सृष्ट्वा भचक्रकमलोद्भवेन ग्रहैः सहैतद्भगणादिसंस्थैः ।
शश्वद्भ्रमे विश्वसृजोनियुक्तं तदन्ततारे च तथा ध्रुवत्वे ॥

(अर्थ)–सर्वजगद्व्यापी परमेश्वर ने प्रत्येक नक्षत्र को रच कर, अपनी कक्षा में स्थित ग्रहों के साथ निरन्तर भ्रमण से नियुक्त किया है । और

प्रत्येक भपञ्जर (तारों के समूह) के उत्तर और दक्षिण अन्त में एक २ ध्रुव नियतकिया है जो स्थिर है अर्थात् केवल अपनी धुरी पर ही घूमता है ॥

इस के अनुसार सूर्य, पृथिव्यादि ग्रहों के मध्य में केन्द्र के समान स्थित हुवा सदा अपनी कीली पर घूमता रहता है, और पृथिव्यादि ग्रह चद्रमा आदि उपग्रहों के साथ उस की परिक्रमा करते रहते हैं। वास्तव में ये सब तारे पश्चिम से पूर्व को चलते हैं, परन्तु पृथिवी के घूमने के कारण पूर्व से पश्चिम को जाते दिखलाई देते हैं। इस में प्रमाण–

ततो "ऽपराशाभिमुखं" भपञ्जरे सखेचरे "शीघ्रतरे" भ्रमत्यपि।
"तदल्पगत्येन्द्रदिशं" नभश्चराश्चरन्ति नीचोच्चतरात्मवर्त्मसु॥

(सि० शि० गणिताध्याये)

(अर्थ)–यद्यपि सब तारागण अपने २ ग्रहों के साथ 'शीघ्रगति से' 'पूर्व से पश्चिम को' घूमते दिखाई देते हैं, परन्तु वस्तुतः सब ग्रह 'अल्पगति से' अपनी २ कक्षा में 'पश्चिम से पूर्व को' चलते हैं॥ अन्यच्च—

भञ्जरः खेचरचक्रयुक्तो भ्रमत्यजस्रं प्रवहानिलेन ।
यान्तो भचक्रे 'लघुपूर्वगत्या, खेटास्तु तस्या 'परशीघ्रगत्या'

(सि० शि०)

(अर्थ) प्रवह शक्ति Force Of Inertia के कारण सब तारागण सहित ग्रहों से सदा घूमते रहते हैं। ये सब 'लघुगति से पूर्व की ओर को, घूमते हैं, परन्तु 'शीघ्रगति से पश्चिम को, जाते हुवे दिखलाई देते हैं॥

इस विलोम गति (अर्थात् ग्रहों के पश्चिम की ओर जाते हुवे दीखने) का कारण भूमि का अपनी धुरी पर घूमना है। जैसे रेलगाड़ी में बैठा हुवा मनुष्य सड़क के किनारे को उल्टी ओर को दौड़ते हुवे देखता है। और–

अनुलोमगतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्।
अचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमगानि लङ्कायामिति॥आर्यभट्ट

(अर्थ) जैसे नौका में बैठे हुवे मनुष्य को पर्वतादि किनारे की अचल (ठहरी हुई) वस्तुएँ उल्टी ओर को चलती हुई दिखलाई देती हैं, ऐसे ही पूर्व की ओर चलती हुई पृथिवी पर रहने वाले मनुष्यों को अचल (स्थिर) तारे भी पश्चिम को जाते हुवे दिखलाई देते हैं॥

यदि सब ग्रह उपग्रह भी सूर्यवत् स्थिर होते तो सब तारागण सूर्य की भांति २४ घण्टे में पश्चिम की ओर को जाते हुए पृथिवी की पूरी परिक्रमा करते दिखाई देते। परन्तु ये कुछ (अल्प गति से "पूर्व की ओर को" भी चलते हैं, इस लिये पूरी परिक्रमा नहीं कर सकते वरन उतनी कम करते हैं कि जितना पूर्व को चलते हैं॥

(उदाहरण चन्द्रमा २९½ दिन (दो पक्ष) में पृथिवी की परिक्रमा करता है अर्थात् एक दिन में $\frac{1}{29\frac{1}{2}}=\frac{2}{59}$ भाग अपनी कक्षा का तै करता है। (यही इस की 'अल्पगति" है) अब यदि चन्द्रमा स्थिर होता तो (पूर्वोक्त प्रमाणों से पश्चिम की ओर चलते हुवे एक दिन में भूमि की परिक्रमा करता हुआ दिखलाई देता, परन्तु उक्त मखिल से यह $\frac{2}{59}$ भाग अपनी कक्षा का पूर्व की ओर तै करता है। परिमाण इस दोनों का यह हुवा कि चन्द्रमा $1\frac{2}{59}=\frac{57}{59}$ भाग अपनी कक्षा का तै करता हुआ दिखलाई देता है (यही चन्द्रा की 'शीघ्रगति' है) इसी कारण एक तिथि को चन्द्रमा जिस समय जहां दिखलाई देता है, अगलेदिन उसी समय उस से $\frac{5}{29}$ भाग ऊपर दिखलाई देता है और इसी प्रकार बढ़ते २ २९½ दिन (दो पक्ष) के पश्चात् एक चक्र पृथिवी का पूरा करके फिर वहीं दिखलाई देता है। जहां पहिली तिथि को दीखा था॥

आशय इस सब का यह है कि-यद्यपि चन्द्रमा (अल्पगति) से (अर्थात् प्रतिदिन अपनी कक्षा का $\frac{2}{59}$ भाग तै करने के हिसाब से) 'पूर्व की ओर, चलता है, परन्तु पृथिवी के घूमने के कारण से पश्चिम की ओर शीघ्रगति से (अर्थात् प्रतिदिन $\frac{57}{59}$ भाग तै करने के हिसाब से) चलता हुआ दिखलाई देता है। ऐसे ही अन्य ग्रह उपग्रहों के विषय में जानो॥

आप ने जो (आयंगौः) इस मन्त्र का अग्निदेवता बता कर अग्निपरक अर्थ किया सो महीधर का अर्थ कर्मकाण्ड में नियुक्त अग्निपरक रहो, परन्तु महीधर ने ही इस ऋचा की "सार्पराज्ञी" संज्ञा लिखी है। यथा—

आयं गौरित्यादीनां तिसृणामृचां सार्पराज्ञीति नामधेयम्। सर्पराज्ञी कद्रूः पृथिव्यभिमानिनी॥

इस से विदित होता है कि पृथिवी का वर्णन महीधर के हृदय में भी इस मन्त्र का भाष्य करते समय उपस्थित था ॥

द० ति० भा० पृ० २६२ में (येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा०) इस मन्त्र में आये "दृढा" पद से पृथिवी की अचलता सिद्ध की है ॥

प्रत्युत्तर-दृढ का अर्थ पुष्ट वा ठोस है, अचल नहीं। अचल भी मानें तो अपनी मर्यादा से विचलित न होना ही अचला का अर्थ है ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते भास्करप्रकाशे सत्यार्थप्रकाशस्याऽष्टमसमुल्लासमण्डनं, द० ति० भास्करस्य च खण्डनं नामाष्टमः समुल्लासः ॥ ८ ॥

अथ नवमसमुल्लासमण्डनम्

मुक्तिप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० २६३ पं० २ से-स्वामी जी ने इस समुल्लास में मुक्ति से जीव का लौटना लिखा है प्रथम इसके कि मुक्ति के विरुद्ध में कुछ लिखें यह भी दिखा देना अवश्य है कि स्वामी जी ने भाष्यभूमिका पृ० १११ और ११२ आर्याभिविनय पृ० १६, ४२, ४५ वेदान्तिध्वान्तनिवारण पृ० १०। ११ वेदविरुद्धमत-खण्डन पृ० १४ सत्यधर्म विचार पृ० ८५ में यह लिखा है कि मुक्ति कहते हैं छूट जाने को अर्थात् जितने दुःख हैं उन से छुटकर एक सच्चिदानन्द परमेश्वर को प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहना और फिर जन्म मरणादि दुःख सागर में नहीं गिरना इसी का नाम मुक्ति है फिर न मालूम कौन से कारण से मुक्ति से लौटना मानलिया सो वही विषय लिखा जाता है स० पृ० २३३ पं० १३ (प्रश्न) बंधमोक्ष स्वभाव से होता है वा निमित्त से (उत्तर) निमित्त से क्योंकि जो स्वभाव से होता तो बंधमोक्ष की निवृत्ति कभी नहीं होती ॥

समीक्षा स्वामी जी को घर का मार्ग भी विस्मृत हो गया, जब कि बन्धमोक्ष निमित्त कारण से होता है तो जब निमित्त मोक्ष हुई तो फिर कौन से निमित्त से उसे जन्म लेना पड़ेगा इस से तो यही सिद्ध होता है कि उस का जन्म नहीं होता ॥

प्रत्युत्तर-वेदभाष्यभूमिका, आर्याभिविनय, वेदान्तिध्वान्तनिवारण, वेदविरुद्धमतखण्डन, सत्यधर्मविचार और अन्य स्वामीजी कृत ग्रन्थों में जहां२ यह लिखा है कि मोक्ष सदा के लिये होता है, फिर जन्म मरणादि दुःख

नहीं होते। उसका तात्पर्य यह नहीं है कि मोक्ष सीमाबद्ध नहीं वा अनन्त काल के लिये है। किन्तु जैसे कोई मनुष्य ८५ वर्ष की अवस्था में तपोवन के लिये चला जावे और कहे कि मैं सदा वहीं रहूंगा, कभी लौट कर नहीं आऊंगा, सदा तपोवन के कन्द मूलादि खाऊंगा और सदा आनन्द ही मनाऊंगा तो उस का यह तात्पर्य नहीं होता कि वह अनन्त काल तक तपोवन में रहेगा वा अनन्त काल तक लौट कर नहीं आवेगा वा अनन्तकाल तक कन्द मूल खायगा अथवा अनन्तकाल तक उस आनन्द में रहेगा। किन्तु यह तात्पर्य है कि वह इस जन्म भर लौट कर नहीं आवेगा और इस जन्म भर कन्द मूलादि खायगा तथा इस जन्मभर उस आनन्द में रहेगा परन्तु इस शरीर के पश्चात् उस का तपोवन में रहना, कन्द मूलादि खाना इत्यादि बातें सदा शब्द से विवक्षित नहीं हैं। इसी प्रकार मुक्तात्मा भी सदा आनन्द में रहेगा फिर लौट कर नहीं आवेगा। इस कथन का तात्पर्य भी अनन्तकाल के लिये वा निरवधिक नहीं है। किन्तु मोक्ष की आयुःपर्यन्त से तात्पर्य है॥

द० ति० भा० पृ० २६४ पं० ३ से—यह सिद्ध करने के लिये कि मुक्त जीव ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, दो प्रमाण दिये हैं जो कि ये हैं—

न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोन्यद्विभक्तं यत् पश्येत् ॥
छां० अत्र पिताऽपिताभवति माताऽमाता लोकाअलोका देवाअदेवा वेदाअवेदाः। अथ यत्र देवइव राजेवाहमेवेदंसर्वोस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः ॥ बृह० उ०

प्रत्युत्तर—पहले वाक्य का तो यहअर्थ है कि ब्रह्म एक है दूसरा नहीं है कि जिस को मुक्त जीव उस एक ब्रह्म से पृथक् देखे। इस का यह तात्पर्य नहीं है कि मुक्त जीव से ब्रह्म द्वितीय नहीं, किन्तु एक ब्रह्म से द्वितीय ब्रह्म नहीं है। दूसरे वाक्य का यह अर्थ है कि मोक्ष में पिता, माता, लोकविशेष, देवविशेष, और वैदिक कर्मकाण्डविशेष नहीं रहता और जहां देवताओं वा राजाओं के समान यह जीवात्मा मानता है कि सब मैं ही हूं, वह इस का परमलोक वा ब्रह्मलोक है। इस का भी यह तात्पर्य नहीं कि सब कुछ ब्रह्म वा मुक्तात्मा ब्रह्म है। किन्तु स्पष्ट राजा का दृष्टान्त दिया है कि जिस प्रकार राजा अपनी सम्पूर्ण सेनासहित किसी दूसरे के देश पर आक्र-

मण करे और कहे कि मैंने इस का विजय कर लिया तो जिस प्रकार यथार्थ में यह तात्पर्य नहीं होता कि केवल राजा ही ने अपने शरीर मात्र से उस देश का विजय किया हो, किन्तु (मुख्यामुख्ययोः मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः) अर्थात् मुख्य और अमुख्य में केवल मुख्य की गणना होती है अमुख्य की नहीं । तदनुसार सेनादि सब मिल कर मुख्य राजा समझा जाता है । इसी प्रकार मुक्तात्मा का भी पूर्वोक्त कथन " अहमेवेदꣳसर्वोऽस्मीति " समझो ॥

सत्यार्थप्रकाश में जो (शृण्वन् श्रोत्रं भवति०) इत्यादि वाक्य शतपथ काण्ड १४ से मोक्ष में सत्यसंकल्प से सब कुछ सिद्धि लिखी है उस पर द० ति० भा० पृ० २६५ में यह लिखा है कि स्वामी जी का यह कहना तो ठीक है कि मोक्ष में शरीर नहीं रहता किन्तु अपनी शक्ति वा सत्यसंकल्प मात्र से आनन्द को भोगता है । और भौतिक पदार्थ का सङ्ग नहीं रहता । परन्तु जो श्रुति प्रमाण लिखी है, सो मोक्षप्रकरण की नहीं है इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर–अस्तु,स्वामी जी जिस विषय को प्रतिपादन करते हैं, वह तो आप को स्वीकार ही है, रहा श्रुति का प्रकरणभेद सो यदि आप के कथनानुसार ही मानलिया जाय तो भी स्वामी जी के प्रतिपाद्य विषय में दोष नहीं आता ॥

द० ति० भा० पृ० २६६ में–

यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन्वै तन्न जिघ्रति० इत्यादि ॥ यद्वैतन्न वदति । वदन् वै तन्न वदति० इत्यादि ॥ यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन् वै तन्नशृणोति०इत्यादि । बृह० अ० ६ ब्रा० ३ कं १–७

लिख कर अर्थ लिखा है कि–मुक्ति को प्राप्त हो कर न वह सूंघता है वह सूंघता हुआ भी नहीं सूंघता (क्योंकि) सूंघने वाले को सुगन्धि से विपरिलोप–(विभक्तता) नहीं है० इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर– आप के लिखे वाक्यों का यह तात्पर्य नहीं है कि मोक्ष में सूंघना, चखना, बोलना, सुनना, मानना, जानना; इत्यादि आत्मा में सामर्थ्य नहीं रहता । किन्तु जैसा स्वामी जी कहते हैं कि विना शरीर के ही और विना भौतिक इन्द्रियों के ही जीवात्मा सब कुछ सामर्थ्य रखता है । ऐसा ही इन वाक्यों का तात्पर्य है कि वह कुछ नहीं सूंघता अर्थात् सूंघता हुआ भी वह कुछ नहीं सूंघता, क्योंकि सूंघने वाले और सुगन्धि में

देशभेद नहीं रहता किन्तु वह हर एक देश में हर एक वस्तु में भीतर पहुंच सक्ता है, तब जैसे देहबन्धन वाले जीवात्मा जब किसी वस्तु को सूंघते हैं वा चखते हैं वा सुनते हैं वा अन्य कोई विषय ग्रहण करते हैं, तब उस २ विषय के भिन्न देश होने से जीवात्मा मन से, मन इन्द्रियों से, इन्द्रियां विषय से, संयुक्त होती हैं। किन्तु आत्मा विषयों से साक्षात् ही संयुक्त नहीं होता। इस लिये मुक्तात्मा का सूंघना, चखना, देखना आदि विषय बद्धात्माओं के समान नहीं। इसी से यह कहा गया है कि मुक्तात्मा सूंघता हुवा भी नहीं सूंघता, चखता हुवा भी नहीं चखता और सुनता हुवा भी नहीं सुनता। इत्यादि। इससे यह सिद्ध नहीं हुवा कि मुक्तात्मा यथार्थ में देखता, सुनता, चखता आदि नहीं किन्तु बद्धात्माओं के समान सुगन्धि और दृश्य आदि विषय मुक्तात्मा को दूर वा अप्राप्त नहीं रहते किन्तु सब समीप और प्राप्त हो सक्ते हैं॥

सत्यार्थप्रकाश पृ० २३७ में—

अभावं बादरिराह ह्येवम्॥१॥भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् २

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ ३ ॥

इन तीन सूत्रों से स्वामी जी ने लिखा है कि बादरि आचार्य मुक्ति में मन आदि का अभाव मानते हैं। और जैमिनि भाव मानते हैं। तथा बादरायण (व्यास) दोनों बातें मानते हैं। इस पर द० ति० भा० पृ० २९८ में उलाहना दिया है कि स्वामी जी ने सब पदों के अर्थ नहीं किये और अभाव का तात्पर्य श्रुत्यनुकूल मन आदि का अभाव नहीं है। सो श्रुति आगे लिखेंगे॥

प्रत्युत्तर—आपने भी श्रुति आगे कहीं नहीं लिखी। स्वामी जी ने सुगम होने से प्रतिपद का अर्थ नहीं लिखा था परन्तु प्रत्येक शब्द का अर्थ करने पर भी स्वामी जी के तात्पर्य से विरुद्ध अर्थ नहीं होता। सुनिये—

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १ ॥

(बादरिः) पराशर जी (एवम्) इस प्रकार (हि) निश्चय (अभावम्) मोक्ष में मन आदि का अभाव (आह) कहते हैं॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ २ ॥

(जैमिनिः) जैमिनि जी (विकल्पामननात्) विकल्प जो मन का धर्म है उस के सुनने से (भावम्) मन आदि का भाव मानते हैं॥

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ ३ ॥

(अतः) इस कारण (बादरायणः) व्यास जी (द्वादशाहवत्) द्वादशाहयज्ञ के समान (उभयविधम्) दोनों प्रकार मानते हैं। तात्पर्य यह है कि भाव और अभाव तथा भावाऽभाव दोनों मानने में विरोध इस लिये नहीं रहता कि भौतिक अपवित्र मन आदि का अभाव और शुद्ध संकल्प मात्र से मन आदि का भाव मानने से भाव वा अभाव वा दोनों का मानना ठीक है॥

अब बतलाइये कि स्वामी जी के लेख से पदार्थ को क्या विरोध है? और आप भी तो आगे द० ति० भा० पृ० २७१ में कहेंगे कि—

सङ्कल्पादेव तु तच्छ्रुतेः। अ० ४ पा० ४ सू० ८ स यदा पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते। अथ यदि मातृलोककामोभवति संकल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन सम्पन्नोमहीयते ॥

भावार्थ भी पृष्ठ २७२ में आप ही ने लिखा है कि जो उपासक उपासना के प्रभाव से ब्रह्मलोक में प्राप्त भया है तिसे सर्व काम ऐश्वर्य आनन्द को कारण संकल्प मात्र से ही प्राप्त हो जाते हैं। इत्यादि॥ तब आप स्वामी जी के लिखे भौतिक साधनाऽभाव और सत्यसंकल्प मात्र साधनभाव में क्यों शङ्का करते हैं॥

द० ति० भा० पृ० २६९, २७० और २७१ में (संपद्याविर्भावः०) इत्यादि वेदान्तशास्त्र के ७ सूत्र और १, ४, ५, ६; इन सूत्रों पर छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद् के विषयवाक्य करके लिखे हैं और उन से सिद्ध किया है कि मुक्ति का एक प्रकार कैवल्य है और इन सूत्रों तथा उपनिषद्वचनों में कैवल्य नाम की मुक्ति का वर्णन है॥

प्रत्युत्तर-उपनिषदों और वेदान्तसूत्रों में सब मुक्त पुरुषों की एक ही सी अवस्था प्रतिपादन की गई है। सालोक्य सामीप्य सायुज्य कैवल्य आदि भिन्न २ प्रकार की मुक्तियों का वर्णन कहीं भी नहीं है। आपने जिन सूत्रों तथा उपनिषदों का प्रमाण दिया है उन के अक्षरार्थ पर भी ध्यान दीजिये तो कैवल्य नामक एक प्रकार विशेष की मुक्ति नहीं पाई जाती। सब सूत्रों और उपनिषद्वचनों का अर्थ सुनिये—

संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ शा० ४ । ४ । १ मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥ आत्मप्रकरणात् ॥ ३ ॥ अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥ ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥ चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥ ६ ॥ एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥

अर्थ-(संपद्य) ब्रह्म को प्राप्त होकर (स्वेन) अपने स्वरूप से (आविर्भावः) प्रादुर्भाव होता है (शब्दात्) "परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेण०" इत्यादि शब्दप्रमाण से सिद्ध है ॥ तात्पर्य यह है कि मुक्ति में जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान को प्राप्त हो जाता है और अपने सच्चित स्वरूप से प्रकट रहता है अर्थात् भौतिक देहादि आवरणों से आच्छादित नहीं रहता ॥ १ ॥ दूसरे सूत्र में यह कहते हैं कि वह मुक्त क्यों कहलाता है-उपनिषद् में (अस्माच्छरीरात्समुत्थाय०) अर्थात् "इस शरीर से पृथक् होकर," यह प्रतिज्ञा की गई है, इस कारण शरीरबन्धन से छूटने के हेतु से मुक्त कहाता है ॥ २ ॥ तीसरे सूत्र में यह कहते हैं कि, उपनिषद् में जो परंज्योतिः को प्राप्त होना लिखा है सो भौतिक ज्योति से तात्पर्य नहीं है, किन्तु " आत्मा के प्रकरण से" यहां आत्मिकज्योति ही समझनी चाहिये ॥३॥ चौथे सूत्र में यह कहा गया है कि भौतिक ज्योतियां एकदेशीय होने से विभक्त अर्थात् पृथक् प्रतीत होती हैं, परन्तु यहां मुक्ति में जिस ज्योति को जीवात्मा प्राप्त होता है वह ज्योति " अविभाग से देखी जाती है " अर्थात् वह परं ज्योति जीवात्मा के सामने उस से विभक्त नहीं दीखती, किन्तु वह आत्मिक ज्योति जीवात्मा को अपने में व्यापक=अविभक्त दिखाई देती है । इस कारण वह ज्योति भौतिक नहीं समझनी चाहिये ॥४॥ पांचवें और छठे सूत्रों में दो पक्ष हैं, एक जैमिनि और दूसरा औडुलोमि का । जैमिनि यह कहते हैं कि मुक्ति में जीवात्मा ब्रह्मज्योति से सम्पन्न हो जाता है । क्योंकि उपनिषदों में उपन्यासादि देखे जाते हैं । और औडुलोमि यह कहते हैं कि " चिदात्मक होने से चेतन मात्र जीवात्मा की स्थिति रहती है "॥ ५ ॥ ६ ॥ अब सातवें सूत्र में व्यास जी यह कहते हैं कि जैमिनि और औडुलोमि में विरोध नहीं है क्योंकि उपन्यास से जैमिनि का कहना ठीक है और पूर्वभाव से औडु-

लोमि का कथन भी संगत है अर्थात् जीवात्मा का पूर्वभाव चेतनमात्र था और मुक्ति में उसे ब्रह्मज्योति की सहायता मिली, इस लिये मुक्ति में जीवात्मा अपने स्वरूप से भी स्थित रहा और ब्रह्मज्योति से भी सम्पन्न हो गया । जैसे-एक ज्योतिष्मान् सुवर्ण का कङ्कण महाज्योतिष्मान् सूर्य की धूप में रक्खा हो तो वह अपने स्वरूप से अपनी ज्योति को भी धारण किये हुये होता है तथा सूर्य की बड़ी ज्योति से भी संपन्न होता है । बस इन दोनों बातों में विरोध नहीं है ॥ ७ ॥

अब उपनिषद्वचनों के अर्थ सुनिये-

अशरीरोवायुरभ्रं विद्युत् स्तनयित्नुः शरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परमज्योतिरुपसंपद्य स्वेन स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते एवमेवैष संप्रसादोऽस्मा-च्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभि-निष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः ॥ छां० उ० अ० ८ खं० १२

अर्थ-जिस प्रकार अशरीर वायु, बादल, विद्युत् मेघ के शरीर इस आकाश से उठकर बड़ी ज्योति को प्राप्त होकर अपने २ स्वरूप से संपन्न हुये प्रादुर्भूत होते हैं, इसी प्रकार यह सब प्रकार से प्रसन्न जीवात्मा इस शरीर से उठकर परंज्योति को प्राप्त होकर अपने स्वरूप से संपन्न हो जाता है और उत्तम पुरुष कहलाता है ॥

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा ॥ छां० अ० ७-न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् ॥

अर्थ-जिस मुक्ति में यह जीवात्मा परमात्मा के अतिरिक्त न किसी दूसरे को देखता न सुनता और न जानता है । किन्तु परमात्मा ही में मग्न हो जाता है क्योंकि वह परमात्मा भूमा अर्थात् सब से महान् है और उस के समान कोई दूसरा नहीं है कि जिस को यह मुक्तात्मा देखना स्वीकार करे ॥

स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नीति होवाच ॥ छां० अ० ७

इस वचन का पूर्व का भाग थोड़ा आपने छोड़ दिया, पूरा वाक्य इस प्रकार है-

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा

ऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं, यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यᳬ स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति॥१॥गोअश्व-मिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतना-नीति, नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति ह होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इति ॥ २ ॥ इति चतुर्विंशः खण्डः ॥ २४ ॥

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदᳬ सर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिण-तोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदᳬ सर्वमिति ॥ १ ॥ अथात आत्मा-देश एवात्मैवाऽधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुर-स्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदᳬ सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्म-क्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवत्यथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्य-राजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषाᳬ सर्वेषु लोकेष्वऽकाम-चारो भवति ॥ २ ॥ इति पञ्चविंशः खण्डः ॥ २५ ॥

अर्थ—जहां मुक्त पुरुष (ब्रह्म के अतिरिक्त) न कुछ और देखता है, न और सुनता है, न कुछ और समझता है, वही लोक महान् से महान् है और जिस लोक में एक को देख कर अन्य को देखता है, एक को सुन कर दूसरे को सुनता है, एक को जान कर दूसरे को जानता है, वह अल्प अर्थात् तुच्छ है। इस लिये जो महान् से महान् है वही अमृत है और जो अल्प है वह मरने वाला है। (प्रश्न) भगवन्! वह महान् से महान् किस में स्थित है? उस का आधार कौन है? (उत्तर)—उस का आधार कोई नहीं, वह अपना आधार आप है॥१॥ बहुत से लोग बतलाते हैं कि गौ, घोड़े, हाथी, सोना चांदी, नौकर, चाकर, स्त्री, खेती, हाट, हवेली ही महिमा है, वही बड़े से

बड़े वस्तु हैं, परन्तु मैं तो यह नहीं कहता । मैं तो यह कहता हूं कि इन सब वस्तुओं के भीतर व्यापक और ही एक वस्तु है जो कि महिमा है अर्थात् बड़े से बड़ा वस्तु है ॥ २ ॥ (२४)

वही नीचे, वही ऊपर, वही पीछे, वही आगे, वही दहिने, वही बांये, वही सब जगह जान पड़ता है और वह परमपिता अहं शब्द से सब मुक्त पुरुषों को जताता है कि देखो यह मैं ही हूं । मैं ही नीचे, मैं ही ऊपर, मैं ही पीछे, मैं ही आगे, मैं ही दहिने, मैं ही बांयें, मैं ही यहां सर्वत्र हूं ॥१॥ फिर वह कृपालु आत्मा शब्द से निर्देश करता है कि देखो यह आत्मा ही नीचे, आत्मा ही ऊपर, आत्मा ही पीछे, आत्मा ही आगे, आत्मा ही दहिने, आत्मा ही बांयें, आत्मा ही सर्वत्र है । बस जब कि मुमुक्षु इसी प्रकार देखता है, इसी प्रकार मानता है, इसी प्रकार जानता है, तब वह परमात्मा ही में रति करता है, परमात्मा ही में क्रीड़ा करता है, परमात्मा ही से जोड़ा बनाता है, परमात्मा ही से आनन्द करता है । तब स्वतन्त्र हो जाता है, समस्त लोकों में यथेष्ट विचरता है, परन्तु जो अन्यथा जानते हैं, वे परतन्त्र होते हैं, उन के देह छूटते रहते हैं, वे सब लोकों में यथेष्ट नहीं विचर सकते हैं ॥२॥ (२५)

स तत्र पर्य्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः ॥ छां० अ० ८ ॥

अहो! यहां तो आपने स्वयं ही अपने पांव में कुल्हाड़ी मारी है । जब कि इस श्रुति में क्रीड़ा रमण और पर्य्यटन लिखे हैं तब तो जीवात्मा का मोक्ष में कूटस्थ ब्रह्मभाव सर्वथा ही खण्डित हो गया क्योंकि कूटस्थ ब्रह्म देश देशान्तर में पर्य्यटन नहीं कर सक्ता । इस से अत्यन्त स्पष्ट है कि मुक्तात्मा अपने ही सञ्चित परिच्छिन्न स्वरूप से वर्त्तमान रहता है, ब्रह्म नहीं बन जाता ॥

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यःकृत्स्नःप्रज्ञानघनएव ॥ बृह० अ० ६ ब्रा० ५ ।

अर्थ-जिस प्रकार सैन्धव लवण का डला न केवल भीतर और न केवल बाहर से किन्तु समस्त रस ही रस है, इसी प्रकार अरे ! ये आत्मा भी न केवल भीतर और न केवल बाहर किन्तु समस्त ही प्रज्ञानघन है ॥

अब बतलाइये कि इन सूत्रों और उपनिषद्वचनों में कैवल्य नाम की किसी विशेष मुक्ति का वर्णन कहां है ? जब कि समस्त पदों का अर्थ ठीक२ आप के सामने उपस्थित है ॥

द० ति० भा० पृ० २७१ पं० २४ से-सगुण उपासना से ब्रह्मलोकप्राप्ति द्वारा मुक्ति निरूपण की है। अर्थात् सालोक्य मुक्ति प्रतिपादन करने के लिये पृष्ठ २७२ और २७३ में शारीरक सूत्र ४।४।८ से १७ तक १६ वें को छोड़कर ९ सूत्र और सूत्र संख्या ८, १०, ११ पर छान्दोग्य उपनिषद् के विषयवाक्य लिखे हैं॥

प्रत्युत्तर-यद्यपि इन नवों सूत्रों में कोई पद ऐसा नहीं आया है कि जिस से किसी प्रकार से ऐसा भाव निकलसके कि सालोक्य नाम एक विशेष मुक्ति है और ब्रह्मलोक नाम कोई विशेष लोक है और उसमें सालोक्य मुक्ति पाने वाले आत्मा चले जाते हैं। जब कि सूत्रों में ऐसा वर्णन नहीं है तब उपनिषदों से लिये हुवे विषय वाक्यों का भी वैसा तात्पर्य समझना भूल है। वह मुक्ति भी क़िस्में आपने मन से ही घड़ली हैं। परन्तु जब तक आप के लिखे सूत्रों का पद पद का अर्थ और उपनिषद्वचनों का भी भावार्थ न लिखा जावे तब तक जो भ्रम आपने अपने लम्बे चौड़े भावार्थ में अपने घर के शब्द जोड़२ कर उत्पन्न कर दिया है, उस की निवृत्ति कठिन है। इस लिये सब सूत्रों और विषयवाक्यों का अर्थ सुनिये-

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ शा० ४।४।८॥ अतएव चानन्याऽधिपतिः ॥ ९ ॥ अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥ भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥ द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥१२॥ तन्वभावेसन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥ भावे जाग्रद्वत् ॥ १४॥ प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५ ॥ जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥ १७ ॥

अर्थ-(संकल्पा०) इस आठवें सूत्र और (सयदापितृलोक०) इस विषय वाक्य का अर्थ हम ऊपर पृष्ठ ३२२ में लिख चुके हैं कि मुक्तात्मा को संकल्प मात्र से समस्त ऐश्वर्य उक्त परमात्मा में ही प्राप्त हो जाता है। और हम यह भी जतलादेना चाहते हैं कि मुक्तात्मा को जो संकल्प मात्र से मातृलोक पितृलोकादि समग्र ऐश्वर्य की प्राप्ति लिखी है, उसका यह तात्पर्य कभी नहीं समझना चाहिये कि सांसारिक पिता माता आदि से संकल्पबल से उस का संबन्ध होता हो, किन्तु वह मुक्तात्मा परमात्मा ही को पिता, माता, धन, ऐश्वर्य; इत्यादि सब कुछ समझने लगता है और उस के अतिरिक्त अन्य कुछ

कामना नहीं करता । जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् प्रपाठक ७ के अन्तिम खण्ड २६ में लिखा है-

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतस्तेज आत्मत आपआत्मत आविर्भावतिरोभावा-वात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यान-मात्मतश्चित्तमात्मतः सङ्कल्पआत्मतो मन आत्मतो वागा-त्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदं ँ सर्वमिति ॥ १ ॥ तदेष श्लोको न पश्योमृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताँ सर्वं ँ ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादश स्मृतः शतञ्च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिराहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तँ स्कन्द इत्या-चक्षते तँ स्कन्द इत्याचक्षते ॥२॥ इति षड्विंशः खण्डः२६

अर्थात्–जब कि मुक्तात्मा परमात्मा को साक्षात् देखता, मानता और जानता है तब उस को परमात्मा ही से जीवन, परमात्मा ही से आशा, परमात्मा ही का स्मरण, परमात्मा ही से आकाश, परमात्मा ही से तेज [और कहां तक कहें] परमात्मा ही से अप् और उसी से आविर्भाव, तिरोभाव, अन्न, बल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, मन, वाणी, नाम, मन्त्र, कर्म और यह सब कुछ ऐश्वर्य परमात्मा ही से प्राप्त होता है [परमात्मा से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं चाहता, उसी से सब आनन्द प्राप्त होते हैं] ॥ १ ॥ सो यह ग्रन्थान्तर में कहा है कि मुक्तात्मा न मृत्यु को देखता है, न रोग को देखता है, और न दुःख को देखता है, परन्तु सब कुछ देखता है और सब ओर से सब कुछ प्राप्त होता है [यह विलक्षण होता है] अर्थात एक प्रकार, तीन प्रकार, पांच प्रकार, सात प्रकार, नौ प्रकार, ग्यारह प्रकार, बीस प्रकार, सौ प्रकार, सहस्र प्रकार और फिर एक ही प्रकार समझ और मान सकते हैं [अर्थात् वह

अनोखे प्रकार का होता है, जो कहने में नहीं आसकता] क्योंकि आहार की शुद्धि में सत्त्व की शुद्धि और सत्त्व की शुद्धि में स्मृति की स्थिरता और स्मृति की स्थिरता में सब ग्रन्थियों का छूटना होता है [जब कि मुक्तात्मा पूर्वोक्त प्रकार परमात्मस्वरूप ही अन्न अर्थात् आहार को प्राप्त होता है तो उस से पवित्र आत्मिक भोजन और क्या हो सकता है ? और उस की प्राप्ति में अत्यन्त पवित्र और स्मृति की स्थिरता की कमी ही क्या रह सकती है] इसलिये सनत्कुमार जी जिन को कि स्कन्द कहते हैं, प्रकट करते हैं कि उस मुक्तात्मा के लिये अविद्या का पार है क्योंकि उस के समस्त मल छूट गये हैं । दो बार पाठ प्रपाठकसमाप्तिसूचनार्थ है ॥ ८ ॥

९ वें सूत्र का अर्थ यह है कि " इसी लिये अनन्याधिपति" अर्थात् परमात्मा के अतिरिक्त उनका कोई अन्य अधिपति नहीं होता ॥ ९ ॥ १० वें ११ वें और १२ वें सूत्रों का अर्थ हम पूर्व पृष्ठ ३२१ में लिख चुके हैं कि मोक्ष में संकल्प मात्र से समग्र ऐश्वर्य का भाव जैमिनि मानते हैं और भौतिक सङ्ग न होने की अपेक्षा से व्यास जी के पिता बादरि अभाव मानते हैं और व्यास जी उक्त दोनों प्रकार से दोनों बातें मानते हैं, जैसे कि द्वादशाह नामक यज्ञ को (यएवंविद्वांसः सत्रमुपयन्तीति) और (द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेदिति) इन दोनों वाक्यों से " सत्र " और " द्विरात्रादिवत् " "अहीन" भी कहते हैं ॥ १० ११ ॥ १२ ॥ तेरहवें सूत्र में इस शङ्का का उत्तर दिया गया है कि मोक्ष में देह के विना भोग प्राप्ति कैसे हो सकती है-(तन्वभावे) देह के अभाव में (सन्ध्यवदुपपत्तेः) जैसे स्वप्न में विना स्थूल इन्द्रियों के भोग की प्राप्ति होती है, ऐसे ही मोक्ष में विना भौतिक अन्तःकरण के आत्मिक भोग की प्राप्ति होती है ॥ १३ ॥ चौदहवें सूत्र का अर्थ यह है कि "यदि मोक्ष में देह का भाव माना जावे तो जाग्रत् के समान स्थूल भोगों की प्राप्ति होनी चाहिये" ॥ १४ ॥ और १५ वें सूत्र में उस आश्चर्य की सङ्गति की गई है जोकि पूर्व छान्दोग्यवचन से मुक्तात्मा के एकधा, त्रिधा, पञ्चधा आदि भाव कहे गये थे (प्रदीपवदावेशः) जैसे दीपक का आवेश एक प्रकार और कई प्रकार भी कहा जा सकता है, परन्तु होता एक ही प्रकार का है (तथाहि दर्शयति) और ऐसा ही उपनिषद् दिखलाती है ॥ १५ ॥

आप ने सोलहवां यह सूत्र छोड़ दिया कि—

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥

अर्थात् (स्वाप्ययसंपत्त्योः) स्वाप्यय=सुषुप्ति और संपत्ति=मोक्ष इन दोनों में से (अन्यतरापेक्षम्) किसी एक की अपेक्षा पूर्वक (आविष्कृतंहि) पूर्व दर्शा चुके हैं कि "एषोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय" ॥१६॥ सत्रहवें सूत्र में स्पष्ट कहा है कि (प्रकरणात्) ब्रह्मप्राप्ति के प्रकरण से (असंनिहितत्वाच्च) और सांसारिक वस्तुओं की समीपता न होने से (जगद्व्यापारवर्जम्) सांसारिक व्यवहार वर्जित करके संकल्पबल से ब्रह्मानन्द में ही सब आनन्द प्राप्त होते हैं ॥१७॥

अब केवल एक उपनिषद्वाक्य का अर्थ शेष रहा जोकि यह है-

मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते यएते ब्रह्मलोके ॥ छां० अ० ८॥

सो सुनिये-मुक्तात्मा साङ्कल्पिक मन से ही जो कि मोक्ष में संपूर्ण कामनायें हैं, उन्हें देखता हुआ रमण करता है। इन समस्त सूत्रों और विषय वाक्यों के पदार्थ और भावार्थ से यह कहीं नहीं झलकता कि ब्रह्मलोक पृथिव्यादि लोकों के समान कोई विशेष लोक है और सालोक्य मुक्ति पाने वाले वहां चले जाते हैं और बन्धुक्षे होकर रहते हैं ॥ यदि कोई "ब्रह्मलोक" इस पद से इस भ्रान्ति में पड़े कि ब्रह्मलोक भी चन्द्रलोकादि के समान कोई लोक है, सो ठीक नहीं। क्योंकि "ब्रह्मणोलोकः ब्रह्मलोकः" अथवा "ब्रह्मैव लोकः ब्रह्मलोकः" अर्थात् ब्रह्मलोक का अर्थ यह है कि "ब्रह्म का लोक" वा "ब्रह्म ही लोक"। सो ब्रह्म सर्वव्यापक है। इस लिये सब स्थान ब्रह्मलोक ही हैं। और ब्रह्म सब का स्वामी है इस लिये सब स्थान ब्रह्म ही के हैं। बस ब्रह्मलोक कोई एक स्थान विशेष नहीं है किन्तु लोकमात्र सब ब्रह्मलोक ही हैं। लोक शब्द के साथ ब्रह्मशब्द केवल इस लिये जोड़ा गया है कि अकेला (लोके) कहने से कोई सांसारिक कामप्राप्ति न समझ लेवे ॥

सत्यार्थप्रकाश पृ० २३९ में (न च पुनरावर्त्तते०) इस उपनिषद् और (अनावृत्तिः शब्दात्) इस शारीरक सूत्र और (यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते०) इस गीता वाक्य से जो लोग कहते हैं कि मोक्ष अनन्त काल के लिये है, उनके उत्तर में (कस्य नूनं०) इत्यादि ऋग्वेद के दो मन्त्रों से सिद्ध किया है कि मोक्ष से पुनरावृत्ति होती है और (इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः) इस सांख्यसूत्र का भी प्रमाण दिया है। इस पर-द० ति० भा० पृ० २७५ और २७६ में जो २ तर्क किये हैं उन का उत्तर क्रमशः निम्नलिखित प्रकार है ॥

१-पृष्ठ-२७५ पं० ३-यह उनका हठ=दुराग्रह वा अज्ञान नहीं तो और क्या है जो उपनिषद् के वचन और शारीरक सूत्र का निरादर करते हैं ॥

प्रत्युत्तर—स्वामी जी ने शारीरक सूत्र और उपनिषद्वचन का निरादर नहीं किया है किन्तु जो लोग अनावृत्ति शब्द का अर्थ नहीं समझते उनका अनादर किया है। अनावृत्ति का ठीक अर्थ हम विस्तारपूर्वक पृ० ३१७।३१९ में दे चुके हैं और यही अर्थ (अपनी मोक्ष की आयुभर जन्म नहीं होता, लौटते नहीं) "अनावृत्तिः शब्दात्०" वेदान्त सूत्र ४। ४। २२ के विषयवाक्य का है। यथा—

स खल्वेवं वर्त्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते, न च पुनरावर्त्तते ॥ छां० प्र० ८ खं० १५ ॥

अर्थ—वह मुक्तात्मा ऐसे वर्त्तता हुवा आयुभर ब्रह्मलोक को प्राप्त रहता है, कभी लौटता नहीं ॥ इस में (यावदायुषम्) पद ने आप का और समस्त अपुनरावृत्तिवादियों का मुख ऐसा बन्द किया है कि कभी बोल नहीं सक्ते। क्योंकि न लौटने की अवधि " आयु भर " हुई। आयु के पश्चात् लौटना निषिद्ध न हुवा ॥

२—पं० ४—यह सांख्यशास्त्र का सूत्र मुक्तिविषय का नहीं है यह तत्त्व के निर्णय में है। इस का अर्थ आगे करेंगे। मुक्ति विषय में वो ही सांख्यकर्त्ता यों लिखते हैं (न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्तिश्रुतेः) ॥

प्रत्युत्तर—यदि सांख्य का सूत्र तत्त्व के निर्णय में है और तत्वज्ञान ही मोक्ष है, तो फिर यह सूत्र मोक्षविषय में क्यों नहीं है? दूसरा सूत्र जो आप मुक्तिविषय में बतलाते हैं उस में भी "अनावृत्ति" शब्द ही आप ने अपने पक्ष का पोषक समझा होगा, परन्तु अनावृत्ति=न लौटने का अर्थ वही है जो हम पृष्ठ ३१८। ३१९ तथा इस ३२१ में ऊपर लिख चुके हैं ॥

३—पं० ११—सत्यार्थप्रकाश संन्यास प्रकरण में लिखा है कि मुक्तिरूप परम आनन्द का देने वाला संन्यास धर्म है। कहिये यहां अक्षय शब्द का क्या अर्थ है॥

प्रत्युत्तर—हां, अक्षय शब्द का अर्थ सुनिये—क्षय शब्द का अर्थ अन्त नहीं है, जिस का अर्थ अक्षय कहने से आप अनन्त समझे। किन्तु क्षय का अर्थ क्षीणता, कमी वा न्यूनता है, इससे विरुद्ध अक्षय का अर्थ क्षीण, कम, वा न्यून न होना है जिस प्रकार किसी सांसारिक पदार्थ से जो सुख पहले दिन प्रतीत होता है, दूसरे दिन उसी पदार्थ से कुछ कम सुख प्रतीत होने लगता है। क्योंकि वह पदार्थ एकरस होने से अगले दिन बल्कि अगले क्षण में ही कुछ जीर्ण या पुराना होजाता है, इस लिये पूर्व क्षण या पूर्वदिन के सा आनन्द नहीं देता, इस लिये सांसारिक सुख सक्षय कहाते हैं परन्तु मोक्ष इस लिये अक्षय

कहाता है कि उस का आनन्द प्रतिक्षण वा प्रतिदिन क्षीण नहीं होता रहता किन्तु मोक्ष की अवधि पर्यन्त एकरस बना रहता है ॥

४–पं० १८ में–(सोऽसिं निःशान०) इत्यादि ऐतरेय ब्राह्मण का पाठ लिख कर यह दिखलाया है कि (कस्य नूनं०) इत्यादि दोनों मन्त्रों का मोक्षविषयक तात्पर्य नहीं है किन्तु अजीगर्त्त नाम राजा जब पुत्र शुनःशेप पर खड्ग लेकर चढ़ आया तब शुनःशेप ने इन दोनों मन्त्रों में से पहला मन्त्र पढ़ा और फिर प्रजापति ने उस से कहा कि दूसरे मन्त्र के अनुसार अग्नि ही देवताओं के मध्य में समीप है इस कारण अग्नि को स्मरण कर । तब वह शुनःशेप (अग्नेर्वयं) दूसरे मन्त्र से अग्नि की प्रार्थना करने लगा । इस लिये इन मन्त्रों में शुनःशेप की कथा है मुक्तजीवों की नहीं ॥

प्रत्युत्तर–निःसन्देह इन मन्त्रों का शुनःशेप ऋषि है । परन्तु जिस मन्त्र का जो ऋषि होता है उस मन्त्र में उस ऋषि का वर्णन नहीं होता किन्तु (ऋषयो मन्त्रद्रष्टयः) इस निरुक्त के अनुसार ऋषि केवल मन्त्र का द्रष्टा होता है, मन्त्र का विषय नहीं । हां, (या तेनोच्यते सा देवता) इस निरुक्तानुसार मन्त्र का जो देवता होता है वह उस मन्त्र का विषय होता है । तदनुसार इन दोनों मन्त्रों में पहले का " प्रजापति " और दूसरे का " अग्नि " देवता है और ये दोनों नाम परमेश्वर के हैं । इस लिये यथार्थ में इन दोनों मन्त्रों में परमेश्वर का वर्णन है, पहले में प्रश्न और दूसरे में उत्तर है । अब दोनों मन्त्रों का क्रमशः पदार्थ सुनिये–

कस्यं नूनं कंतमस्यामृतानां मनांमहे चारुं देवस्यं नामं । को नों मह्या अदितये पुनंर्दात् पितरंञ्च दृशेयं मातरंञ्च ॥ ऋ० १।२४।१

अर्थ–(अमृतानाम्) हम मुक्तों के मध्य में (नूनम्) निश्चय करके (कस्य कतमस्य देवस्य) किस और कौन से देवता के (नाम) नाम को (चारु मनामहे) अच्छा जानते हैं (च) और (नः) हम को (अदितये मह्यै) अखण्ड पृथिवी=मृत्युलोक के लिये (कः) कौन (पुनःदात्) फिर देवे=भेजेगा (पितरञ्च दृशेयञ्मातारञ्च) जब कि हम पिता और माता को देखेंगे ॥ १ ॥

अगले मन्त्र में वे मुक्त जीव अपने प्रश्न का आप ही उत्तर पाते हैं कि–

अग्नेर्वयं प्रंथमस्यामृतानां मनांमहे चारु देवस्यं नामं । स नो मह्या अदितये पुनंर्दात् पितरं च दृशेयंम्मातरंञ्च ॥२॥

अर्थ (अमृतानाम्) मुक्तों के मध्य में (प्रथमस्य) प्रथम ही से मुक्त अर्थात् सदा मुक्त (अग्नेः) परमात्मा (देवस्य) देवता के (नाम) नाम को (वयं चारु मनामहे) हम अच्छा मानते हैं । (सः) वह (नः) हम को (अदितये मह्यै) अखण्ड पृथिवी=मृत्युलोक के लिये (पुनर्दात्) फिर देवे= भेजेगा (पितरञ्च दृशेयम्मातरञ्च) जब कि हम पिता और माता को देखेंगे ॥

कोई लोग यह कहा करते हैं कि इन मन्त्रों में मुक्तजीवों का वाचक कोई शब्द नहीं है, परन्तु उन को जानना चाहिये कि "अमृतानाम्" पद मुक्तार्थक है । जो बहुवचन होने से अकेले परमेश्वर का वाचक भी नहीं हो सकता, किन्तु अनेक मुक्तात्माओं का वाचक ही हो सकता है । दूसरे पृथिवी के निवासी शुनःशेप का वर्णन इन मन्त्रों में इस लिये भी नहीं हो सकता कि (अखण्ड पृथिवी के लिये हमें फिर भेजेगा) मन्त्र के इस कथन से यह स्पष्ट पाया जाता है कि कहने वाले आत्मा पृथिवीनिवासी नहीं हैं । तीसरे (मनामहे) क्रियापद बहुवचनान्त है और शुनःशेप ऋषि एक था, जो बहुवचनान्त क्रिया का कर्त्ता नहीं हो सकता, किन्तु अनेक मुक्तात्मा ही बहुवचनान्तक्रिया के कर्त्ता हो सकते हैं । चौथे, जब कि वेद में किसी भी ऋषि का इतिहास नहीं है तो शुनःशेप का इतिहास भी नहीं हो सकता । पांचवें, शुनःशेप का नाम भी इन दोनों मन्त्रों में नहीं आया है । छठे, मन्त्र का देवता भी शुनःशेप नहीं है ॥

अब उस बात का उत्तर सुनिये जो कि अजीगर्त्त शुनःशेप का पिता खड्ग लेकर शुनःशेप को मारने लगा, तब शुनःशेप घबराया और उस ने विचारा कि मैं किसी देवता की शरण जाऊं जो मुझे मृत्यु से बचावे । यह विचार कर उस ने सोचा कि कोई भौतिक देवता अजर अमर नहीं है । केवल परमेश्वर अजर अमर है, जोकि प्रजापति=प्रजा का रक्षक है और मेरी रक्षा करेगा और अग्नि=प्रकाशस्वरूप है, जो मुझे प्रकाश अर्थात् ज्ञान देगा और अमर है, जो कि मुझे मृत्यु से बचावेगा । यह कथा मूलमन्त्र में नहीं, किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण में है, जिस का आप ने पाठ लिखा है, परन्तु जानना चाहिये कि जिस प्रकार जब किसी सनातनधर्मी हिन्दू पर मृत्यु वा विपत्ति का समय आता है तब वह मृत्युञ्जय मन्त्र—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् । उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥ ऋ० ७ । ५९ । १२ ॥

का जप करता वा कराता है । अथवा प्रह्लादभक्त को सङ्कट से बचाने वाले नृसिंह का स्मरण करता है । अथवा गजेन्द्रमोक्ष नाम स्तोत्र का पाठ करता वा कराता है । तब क्या गजेन्द्रमोक्ष स्तोत्र वा प्रह्लाद की कथा वा मृत्युञ्जय मन्त्र में उन सनातनधर्मी हिन्दू की कथा थोड़ा ही लिखी रहती है ? किन्तु मृत्यु और विपत्ति के समय में मृत्यु और विपत्ति से बचने के मन्त्र, इतिहास, श्लोक, स्तोत्र और भजन आदि याद आया ही करते हैं । तदनुसार शुनःशेप को भी जब अपने पिता से मृत्यु का भय हुवा, तब मृत्यु से बचने अर्थात् अमर होने के वर्णन का प्रश्न और उत्तरयुक्त मन्त्र याद आया और उस मन्त्र से उस ने उस समय प्रभु का स्मरण किया और अमर होने की प्रार्थना की और इसी से उस दिन से उस मन्त्र का वह शुनःशेप ऋषि द्रष्टा कहलाया तो क्या इस से यह समझा जा सकता है कि शुनःशेप का ही वर्णन उन मन्त्रों में है ? कभी नहीं ॥

५-पृष्ठ २७६ पं० २०-और भी अगले मन्त्र में शुनःशेप का संवाद है—(शुनःशेपो०) इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-१-इस मन्त्र को आप अगला मन्त्र न बतलावें, किन्तु जिन दो मन्त्रों की व्याख्या की गई और जिन में भ्रम से आप ने शुनःशेप की कथा समझी वे दोनों मन्त्र ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त २४ मन्त्र १ और २ हैं । और आप जिस मन्त्र को लिखते हैं और मिलाकर अर्थ करते हैं, वह मन्त्र मण्डल १ सूक्त २४ का १३ तेरहवां मन्त्र है । २-और वह मन्त्र ऐसा भी नहीं है कि जिस की स्मृति आप के लिखे ऐतरेय ब्राह्मणानुसार शुनःशेप की कथा में उपस्थित हो, ३-और इस मन्त्र में आये हुवे "शुनःशेप" शब्द का ऋषि-विशेषपरक अर्थ मानना निरुक्त के भी विरुद्ध है जो कि हम आगे अर्थ में लिखेंगे । ४-तथा इस मन्त्र का शुनःशेप देवता भी नहीं है, जिस से शुनःशेप का वर्णन इस मन्त्र में समझा जावे, किन्तु वरुण देवता है जो सायणाचार्यादि ने भी माना है । अब उस मन्त्र का अर्थ सुनिये—

शुनःशेपो ह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः । अवैनं राजा वरुणः ससृज्याद्विद्वाँ अदब्धो वि मुमोक्तु पाशान् ॥ ऋ० १।२४।१३॥

अर्थ-जैसे (शुनःशेपः) शुनोविज्ञानवत इव शेपो विद्यास्पर्शो यस्य सः । श्वा शु-यायी शवतेर्वा स्याद्गतिकर्मणः निरु०३।१८ शेपः शेपतेः स्पृशतिकर्मणः निरु०३।२१ विज्ञानवान् पुरुष (त्रिषु) कर्म उपासना और ज्ञान में (आदित्यम्) अवि-नाशी परमेश्वर का (अह्वत) आह्वान करता है वैसे हम लोगों ने (गृभीतः)

स्वीकार किया हुवा उक्त तीनों कर्म उपासना और ज्ञान को प्रकाशित कराता है और जो (द्रुद्वेषु) द्रूणां वृक्षादीनां पदानि फलादिप्राप्तिनिमित्तानि येषु तेषु=जिन विज्ञानों में वृक्षादिकों के फलादिकों की प्राप्ति के निमित्त वर्त्तमान हैं (बद्धः) उन में नियत (अदब्धः) अहिंसनीय (वरुण) अतिश्रेष्ठ (राजा) प्रकाशमान परमेश्वर (अवसस्रुज्यात्) बार २ सिद्ध करे । अत्र वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्तीति नियमात् । रुग्रिकौ च लुकि ७।४।९१ इत्यभ्यासस्य रुग्रिगागमौ, दीर्घोऽकितः ७।४।८३ इति दीर्घश्च न । (हि) निश्चय (एनम्) इस विद्वान् को (विद्वान्) सर्वज्ञ परमेश्वर (पाशान् विमुमोक्तु) पापाचरणजन्य बन्धनों से विशेष करके छुटावे ॥ १३ ॥

द० ति० भा० पृ० २७१ पं० ८-मुक्तजीवों पर क्या विपत्ति पड़ी और कैसे अज्ञानी हो गये जो सच्चिदानन्द सर्वोत्तम पद से दुःखरूप संसार में आने की इच्छा करने लगे इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-आप तो अवतारवादी और अद्वैतवादी हैं, आप के अद्वैत ब्रह्म पर क्या विपत्ति पड़ी है जो अज्ञान हो गया और दुःखरूप संसार में आपड़ा है ? यदि इस का उत्तर अनादिस्वभाव है तो हमारा उत्तर भी यही है कि अनादिकाल से परमात्मा का यह स्वभाव ही है कि मुक्तात्माओं को मोक्षावधि समाप्त होने पर संसार देवे और आप जो मुक्ति से पुनरावृत्ति को बहुत ही बुरा समझते हैं और बराबर उस का उलाहना देते हैं, सो यह तो बतलाइये कि जब आप के मत में शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव अनादिकाल से अनन्तकाल तक सदामुक्त परमात्मा ही अवतार लेते समय जन्म मरण में आवद्ध होता है तो बेचारे मुक्तात्माओं की पुनरावृत्ति में आप को क्यों शङ्का होती है जो कि अनेक जन्मों तक श्रम करते हुवे श्रौतस्मार्त्त कर्मों के सान्त अनुष्ठान सान्त उपासना और सान्त ज्ञान के बल से कठिन से सान्त मुक्ति को प्राप्त होते हैं ? । यदि कहो कि परमात्मा तो भक्तों के ऊपर दया करके संसार में आपड़ता है, तो क्या आप के ब्रह्म ही को दया है ? और आप के मतानुसार ब्रह्मभूत मुक्तात्माओं को क्या निर्दयता व्यापजाती है कि कभी किसी भक्त पर दया करके जन्म नहीं लेते । महात्मा जी ! कदाचित् यही सच हो कि जिन को आप अवतार बतलाते हैं, समय २ पर वे सब अवतार मुक्त जीवात्माओं के ही होते हों । क्योंकि परमात्मा तो सर्वव्यापक होने से किसी देहविशेष के बन्धन में नहीं आता । हम समझते हैं कि अब आप मुक्तात्माओं को पुनरावृत्ति का उलाहना कभी न दिया करेंगे ॥

द० ति० भा० २७८ पं० १० से—

अब यह विचारना है कि जन्ममरण का कारण क्या है, इस विषय में सब विद्वानों का यही मत है कि जीवोंके शुभाशुभ कर्मों से जन्म होता है। मुक्त जीव के शुभाशुभ कर्मों का सर्वथा नाश होजाता है। यथाहि-

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ १ ॥ मुण्ड० ॥ यदा यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्म योनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥२॥ तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्योविमुक्तोऽमृतो भवति ॥ मुण्ड० ॥ ३ ॥ एषआत्माऽपहतपाप्म विजरोविमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः ॥४॥ न जरा न मृत्युर्नशोकोन सुकृतं न दुष्कृतं सर्वे पाप्मानोऽतोनिवर्तन्ते ॥ छां० अपहतपाप्माऽभयं रूपम् ॥ बृहदारण्यके ॥५॥ ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ६ ॥ ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः ॥ श्वेताश्वतरे ॥ ७ ॥

प्रत्युत्तर—प्रथम तो हम ऊपर लिख चुके हैं कि जब कि आप विना शुभाऽशुभ कर्मों के भी परमात्मा का अवतार (जन्म मरण) मानते हैं तो विना शुभाऽशुभ कर्मों के ही मुक्तात्माओं का भी मोक्षावधि समाप्त होने पर जन्म मानने में आप को क्या शङ्का हो सकती है? दूसरे जब कि आप शुभाशुभ कर्मरहित ब्रह्म को ही अज्ञान से जीव बन जाना मानते हैं, तो मुक्तात्माओं के जन्म में क्या शङ्का हो सकती है? यह तो आप के मतानुसार उत्तर हुवा। अब हमारे मतानुसार सुनिये-आप ने जो ऊपर उपनिषदों के प्रमाण लिखे हैं उन का अर्थ यह है:-"परमात्मा के साक्षात् होने पर हृदय की ग्रन्थि भिन्न, सर्वसंशय छिन्न और कर्म क्षीण हो जाते हैं ॥१॥ जब जो पुरुष ज्योतिः स्वरूप, जगत्कर्त्ता, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, जगन्निमित्तकारण ब्रह्म को साक्षात् करता है तब वह विद्वान् पुरुष, अविद्यारहित, पुण्य पापों से छूट कर अत्यन्त समता को प्राप्त हो जाता है ॥ २ ॥ अमृतपुरुष शोक और पाप, हृदय की ग्रन्थियों से छूट जाता है ॥ ३ ॥ यह मुक्तात्मा पाप, बुढ़ापा, मृत्यु, शोक, भूख, प्यास से रहित हो जाताहै और सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प हो जाता है ॥ ४ ॥ मुक्तात्मा को न बुढ़ापा, न मृत्यु, न शोक, न पुण्य, न पाप

होते हैं, सब पाप उस से पृथक् हो जाते हैं ॥ वह पापरहित अमयस्वरूप को प्राप्त हो जाता है ॥ ५ ॥ परमात्मा को जान कर सब बन्धनों से छूट जाता है ॥ ६ ॥ परमात्मा को जान कर सम्पूर्ण बन्धन दूर होजाते हैं ॥ ७ ॥

प्रथम तो इन प्रमाणों में १, २, ३, ४. ५ केवल इन संख्याओं में ही पापों या पाप पुण्य दोनों से पृथक् होना लिखा है। शेष दो प्रमाणों में पाप पुण्यों से पृथक् होने का वर्णन भी नहीं है। दूसरी बात यह है कि पाप पुण्य से पृथक् होने का तात्पर्य यही है कि मुक्तात्माओं को मोक्षावस्थापर्यन्त पाप पुण्य अपना फल नहीं कर सकते। तीसरी बात यह है कि पाप पुण्यों की "क्षीणता" का अर्थ पाप पुण्यों का "अभाव" नहीं है। यदि आप क्षीण और अभाव का एक ही अर्थ मानते हैं तो क्या जब एक पुरुष को कहा जाता है कि उस का धातु "क्षीण" है तब क्या यह समझ जाता है कि उस का धातु "नहीं" है? किन्तु यही समझा जाता है कि उस का धातु "निर्बल" है। इसी प्रकार मुक्तात्माओं के कर्म भी "क्षीण" अर्थात् ज्ञान और उपासना की अपेक्षा से "निर्बल" होजाते हैं। परन्तु जब जीवात्मा की सान्त उपासना और सान्त ज्ञान का फल मोक्ष अपनी अवधि को पहुंच जाता है और समाप्त हो जाता है, तब वेही कर्म जो कि पूर्व ज्ञान और उपासना के बल से दूर हट गये थे, मोक्षावधि समाप्त होने पर जन्म का हेतु हो सक्ते हैं। और कर्मों के "नाश" का तात्पर्य भी "अभाव" नहीं है, क्योंकि नाश शब्द "णश अदर्शने" धातु से बना है, इस लिये "नाश" का अर्थ "तिरोभाव मात्र" है। और पुण्य पापों से दूर होजाने का तात्पर्य भी पुण्य पापों का "अभाव" नहीं है, किन्तु इतना ही तात्पर्य है कि पुण्य पापों का प्रभाव मुक्तात्मा पर नहीं होता। पुण्य पापों से छूटने का भी तात्पर्य पुण्य पापों का "अभाव" नहीं है, जैसे कि कारागार से छूटने का तात्पर्य कारागार का "अभाव" नहीं है॥

द० ति० भा० पृ० २७९ में भी एक मन्त्र यजुर्वेद का और आठ उपनिषदों के वचन लिखे हैं। जिन सब का तात्पर्य यही है कि मुक्तात्मा मृत्यु से छूटजाता है॥

प्रत्युत्तर—इन पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह तो सभी मानते हैं कि मुक्तात्मा जन्म मरण से छूट जाता है परन्तु आप को तो ऐसा प्रमाण देना चाहिये था कि जिस में अनन्तकाल के लिये छूटना लिखा होता। पुनरावृत्ति न होने का अर्थ पृष्ठ ३१८। ३१९। ३३१ में लिख ही चुके हैं इस लिये पृष्ठ २८० के लिखे प्रमाणों का भी उत्तर देने की आवश्यकता नहीं है॥

द० ति० भा० पृ० २८२ पं० १४—स्वामी जी ने यह श्रुति बदली है तो भी इस का यह अर्थ नहीं बनता जो वह करते हैं। फिर पङ्क्ति २२-यहां जो ब्रह्मा का महाकल्प माना है तो वह ब्रह्मा देवता है मनुष्य है वा ईश्वर का विशेष विग्रह है? इत्यादि॥

प्रत्युत्तर—श्रुति बदली नहीं है, किन्तु [ब्रह्मलोके] और (परामृतात्) ये दो पाठ अशुद्ध छप गये थे, जो अब पांचवीं बार के छपे सत्यार्थप्रकाश में ठीक शुद्ध (ब्रह्मलोकेषु परामृताः) छाप दिये गये हैं और इस का अर्थ भी अशुद्ध नहीं है। आगे आप के लिखे मुण्डकोपनिषद् के तीनों वचनों का अर्थ करते हुवे हम यह दिखलायेंगे कि स्वामी जी का तात्पर्य इस के पदार्थ से भले प्रकार निकलता है। स्वामी जी ने जो मोक्ष की अवस्था महाकल्प तक मानी है और महाकल्प ब्रह्मा के १०० वर्षों का नाम लिखा है, वहां ब्रह्मा शब्द जगत्कर्त्ता, निराकार, परमेश्वर का ही वाचक है, किसी अन्य देवता वा मनुष्य का नहीं। जब तक एकवार की उत्पन्न हुई सृष्टि रहती है, तब तक को परमेश्वर का एक दिन कल्पना कर लिया है। जैसा कि मनु १। ७२—

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया।
ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च॥

तदनुसार गणना करके १०० वर्षों का एक ब्राह्म महाकल्प माना है॥

द० ति० भा० पृ० २८२ पं० २६-अब श्रुति लिखते हैं-

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥ १॥ गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु। कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥२॥ यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ ३॥ मुण्ड०॥

इन का अर्थ लिखने के पश्चात् पृ० २८३ पं० १८—में इस से भी मुक्ति से लौटना सिद्ध नहीं होता॥

प्रत्युत्तर—आप ने जो अर्थ करते हुवे उपाधि लगाई है, यदि उस उपाधि को छोड़ कर सरलार्थ किया जावे तो स्वामी जी के तात्पर्य से कुछ विरुद्ध नहीं होता। और उपाधि लगाना व्यर्थ है। सुनिये—

अर्थ-(वेदान्त०) वेदान्त के विज्ञान से जिन्होंने तत्त्वार्थ जान लिया ऐसे (शुद्धसत्त्वाः) रजोगुण और तमोगुण से वर्जित (यतयः) यती लोग (संन्यासयोगात्) संन्यास के योग बल से (परामृताः) मोक्ष को प्राप्त हुवे (ब्रह्मलोकेषु) ब्रह्मलोकों अर्थात् मुक्तावस्थाओं में [निवास करते हैं] (ते सर्वे) और वे सब मुक्तात्मा (परान्तकाले) ब्राह्म महाकल्प पर (परिमुच्यन्ति) वर्ज दिये जाते हैं ॥ पाणिनि के ८ । १ । ५ सूत्र (परेर्वर्जने) पर-

* परेर्वर्जने वा वचनम् *

यह वार्त्तिक किया है । सूत्र और वार्त्तिक दोनों से "परि" उपसर्ग का "वर्जन" अर्थ स्पष्ट पाया जाता है । और वार्त्तिककार ने द्विर्वचन का भी विकल्प कर दिया है इस लिये यह शङ्का भी जाती रही कि "वर्जन" अर्थ में यहां "परि" शब्द को द्विर्वचन क्यों नहीं हुवा ॥१॥ (गताःकलाः०) मुक्ति को प्राप्त होने वालों की प्राणश्रद्धादि १५ कलायें और इन्द्रियां सब अपनी २ अधिष्ठातृदेवताओं में लीन होजाती हैं, अर्थात् कार्य शरीर का कारण में लय हो जाता है । और (कर्माणि) क्षीण हुवे कर्म (एकीभवन्ति) इकट्ठे होजाते हैं, अर्थात् उपासना और ज्ञान से दब कर मोक्षावस्थापर्यन्त फलोन्मुख तो नहीं हो सकते, किन्तु "इकट्ठे" रहते हैं अर्थात् परमात्मा के यहां (डिपाज़िट=अमानत) धरोहर=निक्षेप में रहते हैं, जिन के अनुसार मोक्षावधि समाप्त होने पर फिर जन्म होवेगा । (विज्ञानमयश्च आत्मा) और मन भी (परे अव्यये) अविनाशी परम कारण में लीन होजाता है । (सर्वे) इस प्रकार सब कारण में लीन होजाते हैं ॥ २ ॥ (यथा नद्यः०) जिस प्रकार नदियें चलती २ अपने २ भिन्न २ गङ्गादि नामों और श्वेतकृष्णादि रूपों को छोड़ कर समुद्र में (अस्तं गच्छन्ति) छिप जाती हैं । इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष देवदत्तादि नाम और गौरकृष्णादि रूप से छूट कर (परात्परम्) पर=प्रकृति से भी पर (दिव्यं पुरुषम्) दिव्य परमात्मा के (उपैति) समीप चला जाता है ।३॥

कोई २ लोग ऐसा भ्रम करते हैं कि जैसे नदी समुद्र में मिल कर समुद्र होजाती है तद्वत् जीवात्मा भी ब्रह्म में मिल कर ब्रह्म होजाता है । परन्तु दृष्टान्त का एक देश ही ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् जैसे नदियों के नाम और रूप समुद्र में मिलने पर भिन्न नहीं रहते, वैसे ही जीवात्माओं के भी देह के साथ से जो नाम और रूप पूर्व थे, वे मुक्ति में नहीं रहते । इस दृष्टान्त को सर्वदेशीय मानना असङ्गत है । क्योंकि यदि सर्वदेशीय दृष्टान्त

मानें तो जैसे समुद्र एकदेशीय है और सर्वव्यापक नहीं है, ऐसे ही परमात्मा को भी एकदेशीय मानना पड़े। तथा जैसे समुद्र से नदियें मिलने से पहिले भिन्न देश में थीं, ऐसे ही जीवात्माओं को भी मुक्ति से पहले ब्रह्म की व्यापकता से बाहर मानना पड़े, जो कि सर्वथा असङ्गत है ॥

द० ति० भा० पृ० २८३ जीवों के (मुक्तों के) संसार में न आने से उच्छेद कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जीव असंख्य हैं। फिर पङ्क्ति २५—जैसे अज्ञात काल से स्रोत नदियों के चले आते हैं और समुद्र में मिल जाते हैं, परन्तु उन स्रोतों का उच्छेद नहीं होता ॥

प्रत्युत्तर—असंख्य का तात्पर्य यह है कि उन की संख्या नहीं जानी जा सकी, न कि वास्तविक अनन्त हैं। क्योंकि जब एक जीवात्मा अन्तःकरणोपाधि से घिर जाता है और स्पष्ट है कि उस का स्वरूप सान्त है, तो जीवात्माओं का समुदाय भी वास्तव में सान्त ही हो सकता है। जैसे एक गोधूम सान्त है तो गोधूमराशि भी सान्त ही होगी ॥

सत्यार्थप्रकाश में पुनरावृत्ति न मानने पर एक यह दोष दिया गया है कि मुक्ति में भीड़ हो जायगी। इसपर—द० ति० भा० ने पृष्ठ २८४ में यह उत्तर दिया है कि ब्रह्म अनन्त है और उसी में मुक्त पुरुष रहते हैं इस लिये भीड़ नहीं हो सकी॥

प्रत्युत्तर—"भीड़" का तात्पर्य "अनवकाश" नहीं है किन्तु "एकान्ताऽभाव" है। और आप के मतानुसार जीवों को अनन्त माना जावे तो अनन्तों का मोक्ष होने पर "भीड़" होने में सन्देह ही नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० २८४ और २८५ में कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु छोटे २ मिथ्या तर्क हैं जिन का उत्तर देना हरएक आर्य को सुगम है। इस लिये यहां लिखने की आवश्यकता नहीं है ॥

द० ति० भा० पृ० २८६ पं० १२ से—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥सांख्य १।१॥

तीन प्रकार के दुःख की जो अत्यन्त निवृत्ति नाम स्थूल सूक्ष्मरूप से सर्वथा निवृत्ति सो अत्यन्त पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष है ॥

प्रत्युत्तर—जब कि आपने ही अत्यन्तनिवृत्ति का अर्थ "अनन्तकाल के लिये निवृत्ति" नहीं किया किन्तु 'स्थूल सूक्ष्मरूप से सर्वथा निवृत्ति' कहा है तो फिर इस से आप का पक्ष ही क्या सिद्ध हुवा ?

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते भास्करप्रकाशे सत्यार्थप्रकाशस्य नवमसमुल्लासमण्डने, द० ति० भास्करस्य च खण्डने मुक्तिप्रकरणं नाम नवमः समुल्लासः ॥ ९ ॥

ओ३म्

अथ दशमसमुल्लासखण्डनम्

आचाराऽनाचारप्रकरणम्

सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि अति उष्ण देश में शिखा न रक्खे, इस पर द० ति० भा० पृ० २८७ पं० १८ से बहुत कुछ उपहास करके, फिर पृष्ठ २८८ पं० ८ में लिखा है कि इन की बात माननी ठीक नहीं, संन्यास को छोड़ कर और किसी समय में भी शिखा का त्याग करना नहीं चाहिये, यही वेद की आज्ञा है॥

प्रत्युत्तर-१-अतिउष्णदेश आर्यावर्त्त देश को नहीं कह सक्ते, किन्तु अफ्रीका आदि के अत्युष्ण भागों को कहते हैं। इसलिये आर्यावर्त्तीय आर्यों को शिखाच्छेदन स्वामी जी के लेख से आवश्यक नहीं। २-शिखा उतरवाने से स्वामी जी का तात्पर्य कदाचित् समस्त शिर के केश अर्थात् जटाजूट न रखने के लिये हो। ३-आप का यह कहना भी ठीक नहीं कि संन्यासी को छोड़ कर अन्य कोई शिखा का त्याग न करे। क्योंकि गोभिलगृह्यसूत्र में उपनयनसंस्कार से पहिले भी शिखासहित मुण्डन लिखा है, और उस के टीकाकार ने भी वही अर्थ लिखा है और मनु २। ६५ में भी लिखा है कि-

केशान्तः षोडशे वर्षे

जिस से १६ वें वर्ष में समस्त केशों का उतरवाना पाया जाता है। और आप ने जो यह लिखा है कि "यही वेद की आज्ञा है" सो कोई वेद का मन्त्र लिखा होता, जिस में यह लिखा होता कि संन्यासी को छोड़ कर अन्य किसी को शिखा नहीं कटानी। यद्यपि हम यह नहीं कहते और न स्वामी जी ने यह लिखा है कि आर्यवर्त्तीय आर्यों को चोटी नहीं रखनी चाहिये। परन्तु आप भी इस पर ज़ोर नहीं दे सक्ते कि संन्यासियों को छोड़ कर अन्य किसी को शिखा उतरवा देना धर्मशास्त्रोक्त कोई प्रायश्चित्त का काम है और प्रत्यक्ष में सारे सनातनधर्मियों के यहां भी बालकों के मुण्डन समय समस्त केश उतारे जाते हैं॥

सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि-

आर्य्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्तारः स्युः। आपस्तम्ब धर्मसूत्र॥ प्रपाठक २ पटल २ खण्ड २ सूत्र ४

इस पर द० ति० भा० पृ० ३८८ में इतने तर्क किये हैं कि १ शूद्र अर्थात् मूर्ख लोग धनियों के घर में विविध प्रकार के व्यञ्जन नहीं बना सके क्योंकि वे सूपशास्त्र नहीं पढ़े। २-जो ब्राह्मण वेदादिशास्त्र नहीं जानते थे और सूपशास्त्र ही जानते थे, वे रसोई का काम करते थे। ३-सूत्रार्थ तुम्हारी ही प्रकार से करें तो यह अर्थ होगा कि आर्यों के यहां शूद्र संस्कार करने वाले अर्थात् बुहारी देना चौका बरतन मांजना टहल सेवा आदि संशोधन के कार्य शूद्र करते थे॥

प्रत्युत्तर-१ सूत्र का अर्थ यह है कि (आर्याधिष्ठिताः०) आर्य जिन के अधिष्ठाता हों, ऐसे (शूद्राः०) शूद्र भी पाक संस्कार करें। इस लिये जब मूर्खों के अधिष्ठाता आर्य हों तो मूर्खों से भले प्रकार काम ले सकते हैं। क्योंकि अधिष्ठाता लोग तो सूपशास्त्र जानते हैं। २-वेदादि न जान कर ही तो ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। जैसा कि मनु ने लिखा है-

योऽनधीत्य द्विजोवेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ २। १६८॥

अर्थात् जो द्विज वेद न पढ़े, अन्यत्र (सूपादि शास्त्र में) श्रम करता है, वह जीवता हुवा ही (इसी जन्म में) शूद्र हो जाता है॥ ३॥ सूत्र में संस्कार का अर्थ पाकसंस्कार है, बुहारी चौका ही नहीं, जैसा कि प्रकरण से स्पष्ट होगा। और जब कि आप के लेखानुसार बर्त्तनमांजना, धोना, जल भरना आदि शूद्र का काम है तो शूद्र के हाथ के जल की रसोई और उसके धोये बर्तनों में पाक तो आपने भी मान ही लिया तो फिर जल की ही सारी शुद्धता है, इस लिये मिठाई, जलेबी, पूरी, परांवठे, आदि पाक में ही शूद्र के हाथ से क्या बिगड़ जायगा? हम इस प्रकरण के कई सूत्र लिखते हैं, जिन से स्पष्ट है कि पात्रों के संस्कार का ही यहां वर्णन नहीं, किन्तु पाकसंस्कार का वर्णन है-

आर्य्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युः॥ ४॥ अधिकमहरहः केशश्मश्रुलोम्नां वापनम्॥५॥ उदकोपस्पर्शनं च सह वाससा॥६॥ अपि वाष्टमीष्वेव पर्वसु वा वपेरन्॥७॥ परोक्षमन्नं संस्कृतमग्नावधिश्रित्याद्भिः प्रोक्षेत॥ ८॥ तद्देव पवित्रमित्याचक्षते॥ ९॥

अर्थ-चतुर्थ सूत्र का अर्थ ऊपर लिख चुके हैं। पांचवें का अर्थ यह है कि पाककर्त्ता शूद्रों में इतना "अधिक" है कि प्रतिदिन केश मूंछ आदि बाल

मुंडवाये जावें ६ वस्त्रों समेत जल से स्नान कराया जावे । अर्थात् नित्य वस्त्र धोये जावें और स्नान कराया जावे । ७ अथवा अष्टमी तिथियों में वा अमावस्यादि पर्व दिनों में ही उन के बालमुंडवाये जावें । ८—यदि शूद्र ने द्विजों के परोक्ष (विना देखे) में अन्न पकाया हो तो उस अन्न को अग्नि से सेक कर जल से छिड़क लें ॥ ९ ॥ वह पवित्र कहा जाता है ॥ अब तो आप नहीं कह सकते कि बर्तन मांजना ही शूद्र का कार्य है ॥

द० ति० भा० पृ० २८९ और २९० में इतने तर्क हैं । १—यदि मद्य मांसाहारी म्लेच्छ के हाथ का भोजन वर्जित है तो शूद्रों का भी वर्जित होना चाहिये क्योंकि वे भी मांस खाते हैं ॥ २ स्वामी जी ने जिन पशु वा मनुष्यों को राजपुरुषों द्वारा प्राणदण्ड होने पर उन के मांस का फेंक देना वा कुत्ते आदि किसी मांसाहारी को देदेना वा जला देना लिखा है उस पर यह तर्क किया है कि यहां स्वामी जी ने मानो फांसी दिये हुवे मनुष्यों का मांस भी मांसाहारियों को खिला देना लिखा है ३-जब अन्यों के साथ खाने में प्रकृति भेद से बिगाड़ है तो अन्यों के हाथ का बना खाने में बिगाड़ क्यों न होगा ॥ ४—जब पृष्ठ २८८ में यह लिखा है कि ब्राह्मणादि उत्तम वर्णों का शरीर शुद्ध रज वीर्य आदि से शुद्ध बनता है और चण्डालादि का अशुद्ध, इस लिये चण्डालादि के हाथ का न खाना, तो फिर अशुद्ध शरीर वाले शूद्र के हाथ के खाने में परस्परविरोध क्यों नहीं ॥

प्रत्युत्तर-१—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, शास्त्रानुसार मांसाहारी नहीं हैं इस लिये शूद्रों का पाक वर्जित नहीं और म्लेच्छ शास्त्र को नहीं मानते, इस लिये उन का पाक वर्जित है ॥ २-स्वामी जी ने वधदण्ड वाले मनुष्यों और पशुओं के मांसविषय में जलाना, फेंकना, कुत्ते आदि मांसाहारियों को देदेना इत्यादि कई पक्ष लिखे हैं । इस लिये उन का तात्पर्य यथायोग्य समझना चाहिये कि वधदण्ड वाले मनुष्यों का मांस जलाया जावे और पशुओं का फेंका जावे वा मांसाहारियों को देदिया जावे, इस में भी वर्णाश्रमरहित चण्डालादि जो मनुष्य उस मांस को खावें उन के स्वभाव बिगड़ने का दोष तो स्वामी जी ने लिखा ही है । इस लिये आप का कहना ठीक नहीं है ॥ ३-अन्यों के साथ खाने में उच्छिष्ट थूक आदि मिल कर प्रकृतिभेद से जैसा बिगाड़ होना सम्भव है वैसा अन्यों के हाथ का बनाया वा छुवा खाने में नहीं । और यदि किसी का बनाया वा छुवा कभी कुछ भी न खाया जावे

तो देहयात्रा भी असम्भव है ॥ ४-जैसा भेद ब्राह्मण वा चण्डाल में है वैसा भेद ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र इन चारों वर्णों में आपस में नहीं, इस लिये शूद्र के पाक का वर्जित न करना और चण्डालादि के का वर्जित करना परस्परविरोध नहीं है। किन्तु शूद्र चारों वर्णों के अन्तर्गत होने, शास्त्र की मर्यादा को मानने और द्विजों का सेवक होने से, उन में मिलकर रहने और मांसादि अभक्ष्यभक्षण न करने से जल और पाक आदि में वर्जित नहीं हो सकता, और चण्डालादि इस के विपरीत होने से वर्जित हैं ॥

इति श्री तुलसीरामस्वामिकृते भास्करप्रकाशे सत्यार्थप्रकाशस्य दशमसमुल्लासमण्डने, द० ति० भास्करस्य च खण्डने आचारानाचारप्रकरणं नाम दशमः समुल्लासः ॥ १० ॥

—:※:—

ओ३म्

अथ एकादशसमुल्लासमण्डनम्

अनुभूमिका

विदित होकि महाभारत के पश्चात् प्रचलित हुए पौराणिक, जैनी, मुहम्मदी, ईसाई इन ४ चार सम्प्रदायों ने जो२ सत्यवेदोक्त धर्म के विरुद्ध अनेक प्रकार के मिथ्या विश्वासों द्वारा जगत् को भ्रमाकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चतुर्वर्ग से विमुख बना दिया था और जिस से मद्य मांसादि दुर्व्यसनों के प्रचार तथा परमेश्वर के स्थान में इतर पदार्थों की पूजा, गङ्गादि के स्वच्छ पवित्र जलों का यथार्थ माहात्म्य छिपा कर अपनी जीविका का द्वारमात्र बनाय जगत् को ऐहिक और पारमार्थिक सुखों से वञ्चित होना पड़ा। स्वामी दयानन्दसरस्वती जी महाराज को इस दुर्दशा के मिटाने को दया आई और उन्होंने सत्य वस्तु के प्रकाशार्थ "सत्यार्थप्रकाश" नामक ग्रन्थ बनाया, जिस के प्रथम दश समुल्लासों में प्रायः वैदिकधर्म का निरूपण किया, उस के ऊपर अल्पज्ञता से हुई शङ्काओं का यथार्थ प्रत्युत्तर हम इस भास्करप्रकाश के पूर्वार्द्ध में प्रकाशित कर चुके हैं । पं० ज्वालाप्रसाद जी ने जिस प्रकार गत दश समुल्लासों पर यथा तथा जोड़ तोड़ करके अपने को कृतकृत्य किया है इसी प्रकार इस ग्यारहवें समुल्लास पर भी । स्वामी जी ने वेदविरुद्ध मतों के खण्डनार्थ सत्यार्थप्रकाश के ११।१२।१३।१४ इन ४ समुल्लासों में ऊपर लिखे पौराणिक आदि ४ सम्प्रदायों के मतस्थ वेदविरुद्धांश का खण्डन किया है । उन में से ११ वें समुल्लास में जो २ पौराणिक लोगों के मतों का खण्डन किया है, इस पर अपने कल्पित मत की रक्षार्थ पं०ज्वालाप्रसाद जी पौराणिक ने जो कुछ लिखा है, उनके तथा सर्वसाधारण के भ्रमनिवारणार्थ सत्यार्थप्रकाशमण्डन में यह उत्तरार्ध का आरम्भ है । स्वामी जी महाराज का वा हमारा यह अभीष्ट नहीं है कि जैनी, कुरानी, किरानी आदि जो वेद के अत्यन्त विरुद्ध मत हैं उन के समान पौराणिक लोगों को भी वेदविरुद्ध समझ कर उन को निर्मूल करने का उद्योग किया जावे । नहीं २ किन्तु पौराणिक लोग वेदों के नाम को मानते हैं और वेदों में विहित बहुत से धर्मानुकूल अनुष्ठान भी करते हैं, किन्तु उन को जो यह भ्रम है कि पुराणों में जो कुछ लिखा है सो वेदों के अनुकूल ही है, उस को मिटाने और पुराणों के प्रचार को जो वेदों के प्रचार से बढ़ा रक्खा है उस की जगह वेदों के प्रचार बढ़ाने और अन्य वेदविरुद्ध मतों के हटाने में तात्पर्य था और है ॥ तुलसीराम स्वामी

द० ति० भा० भूमिका पृ० २९२

यह बात्तों सब पर विदित है कि महाभारत से पूर्व इस देश में वेदमत से भिन्न और कोई मत नहीं था जब महाभारत के पश्चात् अविद्या फैली तब जहां तहां अनेक मत दृष्टिगोचर होने लगे और जिस के मन में जो आया सो मत चलाया इसी कारण इस देश की एकता नष्ट होगई और विविध क्लेशों से भारतवर्ष पूर्ण हो धनहीन हो अधोगति को प्राप्त हुवा और जब बहुत से मत प्रचलित हुए तो इस अन्धाधुन्ध में स्वामी दयानन्द जी ने भी एक मत अपना नवीन खड़ा किया जिस में सम्पूर्णतः वेदविरुद्ध ही बातों प्रचलित की है और वेदमन्त्रों के अर्थ बदलकर अपने प्रयोजनानुसार कल्पना कर लिये हैं तथा पुराण मूर्त्तिपूजन तीर्थ श्राद्धादिक सब ही को वृथा कथन किया है इस मत का मुख्य ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश है जिस के दश समुल्लासों का खण्डन इस ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में कर चुके हैं यह एकादश समुल्लास का खण्डन इस ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में लिखते हैं ग्यारहवें समुल्लास में स्वामी जी ने पुराण तीर्थ मूर्त्तिपूजन का खण्डन किया है तथा अन्य मतों का भी खण्डन किया है जो इस समय प्रचलित हो रहे हैं परन्तु मेरा तात्पर्य उन मतों को अच्छा बुरा कहने का नहीं है। इस बात को सम्पूर्ण आर्यगण मानते हैं और मुझे भी निर्भ्रान्त स्वीकार है कि जो कुछ वेदादि शास्त्रों में आज्ञा है उसे मानना परम धर्म है और जो उन ग्रन्थों के विपरीत है वह अधर्म है इस कारण मैं इस स्थान में केवल उन्हीं बातों की चर्चा करूंगा जिन का वेद से सम्बन्ध है और मतवालों को यदि अपना मत सत्य सिद्ध करना हो तो वह अपना जवाब दे लेंगे, मैं उनकी ओर से उत्तरदाता नहीं क्योंकि मैं तो सनातनवैदिक मत को ही श्रेष्ठ मानता हूं और वास्तव में यही मत श्रेष्ठ भी है इस पुस्तक के लिखने से मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि किसी का चित्त दुःखी हो किन्तु मेरा आशय यह है कि इस ग्रन्थ को विचार कर सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करें यही इस संसार में मनुष्य जन्म का फल है कि श्रेष्ठ कर्मों का अनुष्ठान कर मोक्ष के भागी बनें ॥

प्रत्युत्तर-यह सत्य है कि महाभारत युद्ध के पश्चात् नाना मत खड़े हुए और उन मतों को नकली पुराणों ने खड़ा किया जिससे भारतवर्ष की विद्या, धर्म, धन, ऐश्वर्य सब नष्ट हुए और भारतवर्ष ही नहीं प्रत्युत अन्य देशों में भी अनेक मतों की उत्पत्ति महाभारत से इस ओर के ५००० पांच सहस्र वर्षों के

भीतर ही हुई है, क्योंकि वेदोक्त धर्म के अतिरिक्त अन्य सब मतों को अपनी नवीनता और ५००० वर्ष से अधिक प्राचीन न होना स्वयं स्वीकृत है, परन्तु स्वामी जी ने अन्धाधुन्ध में अपना मत नहीं खड़ा किया, किन्तु नाना मतों को हटाकर एक वेदोक्त धर्म का प्रचार करने के लिये अन्य वेदभाष्यादि उद्योग भी किये तथा सत्यार्थप्रकाश भी रचा, परन्तु नाना मतवादियों के वेदविरुद्धांशों का खण्डन उन २ मतवादियों को बुरा लगा, इस कारण यदि वे स्वामी जी को नवीन मत चलाने वाला कहें तो कुछ आश्चर्य नहीं ॥

स्वामी जी ने अपने जानते हुवे वेदविरुद्ध एक मत का भी खण्डन करने से नहीं छोड़ा और आप कहते हैं कि "मेरा तात्पर्य उन मतों को अच्छा बुरा कहने का नहीं है" इत्यादि । तो फिर आर्यसमाज के धर्म को अच्छा बुरा कहने पर क्यों उतारू हुवे । यदि कहो कि वैदिक धर्म की रक्षार्थ, तो क्या अन्य जैनादि मतों ने वैदिकधर्म की निन्दा और निज कल्पित मत के प्रचार में न्यून परिश्रम किया है वा करते हैं ? फिर आप यह स्वीकार करके भी कि महाभारत पश्चात् अविद्यावश अनेक मत चल पड़े, फिर उन मतों का खण्डन न करके केवल आप के वैदिकधर्म को फैलाने वाले, राम कृष्णादि महात्माओं की निन्दा करने वालों को निरुत्तर करके आप के पूर्वजों के नाम और यश तथा धर्म की मर्यादा के रक्षक आर्यसमाज के ही खण्डन पर आप उतरे हैं सो क्या सन्निपात रोगी के सी अवस्था नहीं है ? जो आप अपने हितेच्छु को विद्वेषी और अन्य जैनादि विरोधियों को हितेच्छु समझ कर भ्रम कर रहे हैं ॥

स्वामी जी का और हमारा भी ग्यारहवें समुल्लास को लिखने और उस के ऊपर उठी शङ्काओं के निवारण से यह तात्पर्य नहीं है कि इस प्रकार के मानने वालों का चित्त दुखाया जावे, किन्तु यह कि उन २ मतों की भूल सुधर कर धर्म, जो वेदोक्त है, उस का प्रचार हो ॥

द० ति० भा० पृ० २९३ पं० १२ से-

अश्वत्थामा ने पाण्डववंश निर्वंश करने को अस्त्र त्यागन किया था सो वह उत्तरा के गर्भ में भी मारने को प्रविष्ट हुआ तो क्या वहां उत्तरा के गर्भ में विचार वा सलाह से बाण छोड़ा था जो परीक्षित गर्भ में ही मृतक हो गया, यह मन्त्र ही का तो प्रभाव था ॥

प्रत्युत्तर-जिस प्रकार मन्त्र का प्रभाव आप का साध्य है, उसी प्रकार

इस कथा का सत्य होना भी आप का साध्य है, अब साध्य को समान हेतु देना "साध्यसमहेत्वाभास" नाम निग्रहस्थान है । जैसा कि—

साध्याऽविशिष्टःसाध्यत्वात् साध्यसमः । न्यायदर्शन १ । ४९ ॥

अर्थात् साध्य से विशेषता न रखने वाला हेतु भी साध्य होने से 'साध्य सम' नामक चतुर्थ हेत्वाभास है ॥

इसी प्रकार की असम्भव विश्वासों को हटाने के निमित्त तो स्वामी जी ने 'मन्त्र' का अर्थ विचार, किया है और आप पौराणिक होकर ऐसी बात लिखते हैं कि परीक्षित गर्भ में ही मृतक हो गया । क्या आप गर्भ में ही परीक्षित का मर जाना किसी पुराण में दिखावेंगे ? क्या वह मर कर ईसामसीह के समान फिर(जीवित)ज़िन्दा होगया और क्या यह किसी पुराणमेंलिखा है ? यदि नहीं तो आप परीक्षित का जन्म और राज्य करना, जनमेजय पुत्र होना, उस को सर्प के काटने से सर्पहोम के लिये जनमेजय को क्रोध आना और श्रीकृष्ण के सुदर्शनचक्र द्वारा परीक्षित की रक्षा का विश्वास आप को नहीं है ? यदि ऐसा है तो क्या आप भी महाभारतादि के इतिहासों को पूर्ण सत्य नहीं मानते ? यदि नहीं मानते तो इसी पृष्ठ में तक्षक के सिंहासन उड़ आने आदि अत्युक्ति (मुबालग़े) को क्यों लिखते हैं ?

द० ति० भा० पृ० २९३ पं० २१ से—

स्वामी जी ने कहा है कि शब्दमय मन्त्र होता है, उस से द्रव्य उत्पन्न नहीं होता । यह भी असत्य है, फिर वेदवाक्य तो कहते हैं 'स्वर्गकामो यजेत' यदि केवल मन्त्र शब्दमय है तो स्वर्ग कैसे हो सकता है ?

प्रत्युत्तर—स्वर्गकामोयजेत,का अर्थ यह है कि स्वर्ग चाहने वाला यज्ञ करे तो क्या स्वर्ग उत्पन्न हो जाने से तात्पर्य है ? प्रत्युत यह है कि यज्ञ करने का फल स्वर्ग है और यह वाक्य वेदवाक्य भी नहीं है, चारों वेदों की ४ संहिताओं में कहीं नहीं है । सर्प,बीछू मन्त्रों को नहीं मानते,यदि मानते तो धुने, जुलाहे, स्याने, दिवाने किसी सर्प के काटे को न मरने देते । औषध भी न देते । एक बाण छोड़ने से पत्थर नहीं वर्ष सकते,किन्तु किसी विचार (गुप्त) से ऐसा हो सकता है । सर्प पकड़ २ कर फूंकना तो ठीक है, जैसा कि अब भी भेड़िये, शेर, बाघ, काले सर्पादि को गवर्नमेंट मरवा डालने की प्रेरणा करती है, परन्तु मन्त्र पढ़ने मात्र से ही यह सब असम्भव है । तथा जैसे छारछीला, बालछड़ आदि बिल्लीलोटन दवाओं पर बिल्ली स्वयं दौड़ कर

जाती है । इसी प्रकार सर्प भी कहीं औषधों के होम में आकर गिरने लगें यह संभव है । "आग्नेयास्त्र" ऐसे विचार (मन्त्र) पूर्वक छोड़ना कुछ असम्भव नहीं कि जहां चाहें वहीं अग्नि वर्षे । प्राचीन ऋषि मन्त्र द्वारा देवतों को बुलाते थे सो अब भी जहां हवन होता है वहां वायु और उस के अन्तर्गत अन्य देवता आते और आहुति लेकर मनुष्यों के अनुकूल सुख-दायक हो जाते हैं । यथार्थ में शब्दमय मन्त्र जड़ हैं और गुण से द्रव्यो-त्पत्ति नहीं हो सक्ती । जैसा कि–

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् ॥

वैशेषिकदर्शन अध्याय १ सूत्र ९ ॥

द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् ॥ १० ॥

अर्थात् द्रव्य और गुण अपने सजातीय को उत्पन्न करते हैं यही इन में साधर्म्य (समान धर्म) है ॥ ९ ॥ अर्थात् द्रव्य से अन्य द्रव्य तथा गुण से अन्य गुण उत्पन्न होते हैं ॥ १० ॥ तब आप का गुण (शब्दमय) मन्त्र से द्रव्यो-त्पत्ति मानना शास्त्रानुकूल नहीं है ॥

वर और शाप देने के फल उस २ के कर्मवश होते हैं, जिस २ कर्म के कारण कोई महात्मा वर वा शाप देता है । वैद्य ने वृक्ष को जीवित किया सो सर्वथा भस्म हुवे को नहीं, किन्तु अर्द्धदग्ध को हरा भरा करदेना औषध प्रभाव से संभव है । जर्मनी का कोई गुणग्राही सहस्रों धन से अस्त्रविद्या का पुस्तक लेगया सो प्राचीन पदार्थविद्या के खोजने को, न कि जादूगीरी के लिये । तथा अन्यदेशीय भी भारतवर्ष से जिस प्रकार कभी विद्या सीखते थे, ऐसे अब अविद्या भी विद्या की भूल में शिर चढ़ा लेवें तो आश्चर्य नहीं । कितने ही थियासोफ़िष्टों को भूत चुड़ैल रूप अविद्या चिपटती जाती है ॥

द० ति० भा० पृ० २९४ पं० ४ से–

ब्रह्मवाक्यम्-वेदवाक्य जो है सो जनार्दन हैं, अर्थात् वेद ईश्वरवाक्य होने से उस से पृथक् नहीं ॥

प्रत्युत्तर–प्रथम तो आप ने स्वामी जी के अभिप्राय से विरुद्ध कल्पना करके:–

अविशेषाभिहितेर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम् ।

न्यायदर्शन १ । ५३ ॥

सामान्य कहे अर्थ में वक्ता के तात्पर्य से भिन्न दूसरा अर्थ कल्पित करना वाक्छल कहाता है ॥

सो स्वामी जी ने तो यह तात्पर्य समझ कर लिखा है कि ब्राह्मण लोक अपने वचन को परमेश्वर के बराबर बताने के लिये कहते हैं कि–'ब्रह्मवाक्यं जनार्दनः' । आप दूसरा अर्थ करके " वेदवाक्य जनार्दन है " यह अर्थ करते हैं । अस्तु, परमेश्वर ने आप पर बड़ी कृपा की जो आप ने ब्राह्मणों के वृथाभिमान वाले अर्थ को छोड़ दूसरा ही अर्थ खड़ा किया । परन्तु वेद वाक्य को साक्षात् परमेश्वर जानना भी ठीक नहीं क्योंकि वेद केवल मनुष्यों के कल्याणार्थ प्रकाशित हैं और वचन को वक्ता मानना वा जानना अज्ञान है । वेद परमेश्वर का वाक्य भी नहीं किन्तु परमेश्वर का दिया ज्ञान है ॥

द० ति० भा० पृष्ठ २९४ पं० १६ से–

वास्तव में यह पोप शब्द का कल्पित अर्थ तुम्हीं में घट सकता है कि (अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्) इत्यादि वेदमन्त्रों का जहां तहां अर्थ बदल दिया है । अपना मत चलाने के लिये चन्दा बटोरना तथा पुस्तकों की क़ीमत चौगुणी करके रजिस्टरी कराना इत्यादि यह ठगई नहीं तो और क्या है ?

प्रत्युत्तर–यह आप सत्यार्थप्रकाश का उत्तर देते हैं वा स्वामी जी के कार्यों की समालोचना करते हैं ? सच है चिढ़ में गाली ही दीजाती हैं । स्वामी जी ने चन्दा करके पुस्तकों की रजिस्टरी कराके वैदिकयन्त्रालय की उन्नति की सो स्वार्थ के लिये नहीं किन्तु पुस्तकप्रचार द्वारा जगत् के कल्याणार्थ । सहजानन्दादि के वर्णन से हम को सम्बन्ध नहीं है और मतविषयक खण्डन मण्डन में व्यक्तिविशेष के आचरणों को बीच में डालना आवश्यक बात भी नहीं है ॥

द० ति० भा० पृ० २९४ पं० २१ से–

शङ्कराचार्य ने शैवमत का खण्डन नहीं किया । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर–शैवमत का ही नहीं किन्तु शाक्त वैष्णवादि को भी उन्होंने परास्त किया था । शङ्करदिग्विजय सर्ग १५ श्लोक ६५ को देखिये–

शाक्तैः पाशुपतैरपि क्षपणकैः कापालिकैर्वैष्णवै,
रप्यन्यैरखिलैः खिलं खलु खलैर्दुर्वादिभिर्वैदिकम् ॥
मार्गं रक्षितुमुग्रवादिविजयं नो मानहेतोर्व्यधात्,
सर्वज्ञोन यतोऽस्य सम्भवति संमानग्रहग्रस्तता ॥

अर्थात् शाक्त पाशुपत क्षपणक कापालिक और वैष्णव तथा अन्य अखिल दुर्वादी खलों से वैदिकधर्म की रक्षा के निमित्त इन उग्रवादियों का शङ्कराचार्य ने विजय किया। किन्तु अपने मान के निमित्त नहीं, क्योंकि उन में मान रूपी ग्रह से ग्रस्त होना सम्भव नहीं॥ इस से यह भी सिद्ध है कि शिवापराधभञ्जनादि स्तोत्र शङ्कराचार्य के नाम से दूसरों ने बनाये वा जैसे आज कल शङ्कराचार्य द्वारिका की गद्दी पर हैं वैसे अन्य अनेक शङ्कराचार्य नामधारी हुवे हों उन में से किन्हीं ने यह कार्य किये हों॥

द० ति० भा० पृ० २९४ पं० २९-शङ्कराचार्य को विषयली वस्तु दी गई विषयली वस्तु से क्षुधा मन्द होगई यह कहां का लेख है सब कुछ असत्य है और यदि विचारा जाय तो यह सब कुछ आप ही के ऊपर हुवा है आप को विष दिया गया। इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-जब आप स्वीकार करते हैं कि आप (दयानन्द सर०) को विष दिया गया। तो जिस विरुद्ध मत वाले ने निज मत की पोल खोलने के भय से अन्य कुछ शास्त्रीय बल न चला तब स्वामी जी को विष दिया, उसी के साथी अभिनिवेशित और अभिनिवेश नामक नास्तिकों ने केदारनाथ में स्वामी शङ्कराचार्य को भी शास्त्र में प्रबल पाय छल से विष देकर मारा हो तो क्या आश्चर्य है। (देखो ऐतिहासिकनिरीक्षण भाग २ शङ्कराचार्य का इतिहास प्रकरण)

अभी पं० लेखराम को उन के धर्मशत्रु ने छुरे से मार डाला और अनेक धर्मप्रचारकों की यही दशा हुई है और जब कि सत्यार्थप्रकाश में यह नहीं लिखा कि किसी पौराणिक ने शङ्कराचार्य को विष दिया। किन्तु नास्तिकों ने दिया, लिखा है। तब इस का उत्तर नास्तिक लोग दे लेंगे, आप क्यों सफ़ाई पेश करते हैं। तथा आप के समीप ही स्वामी दयानन्द को विष दिये जाने का आर्यों के कहने के अतिरिक्त क्या प्रमाण है, किन्तु अनेक जनश्रुति भी यदि सम्भव हों तो मानी जाती हैं, सो ही प्रमाण है॥

द० ति० भा० पृ० २९५ पं० ९ से-

समीक्षा-स्वामी जी की बुद्धि की कहां तक ठीक लगाई जाय पहले लिखा कि युक्ति और प्रमाणों से शङ्कराचार्य का मत अखण्डित रहा अब कहते हैं कि जो शङ्कराचार्य का निजमत था तो अच्छा नहीं। भला जी जो वोह सप्रमाण और युक्तियुक्त था तो निजमत कैसा और अच्छा क्यों नहीं और जब कि शङ्कराचार्य ने जैनियों के जीतने को यह मत स्वीकार किया तो वोह

तो छल किया और वैदिकमत में हीनता आगई कारण कि सत्मत से तो न जीत सके बनावट से जीता तो यह सिद्ध हुवा कि स्वामीशङ्कराचार्य ने छल से जीता तो वैदिकमत कच्चा प्रतीत होता है फिर शङ्कराचार्य को आप विद्वान् भी बतलाते हैं जब विद्वान् थे तो सत्य शास्त्रानुसार ही जय पाई बनावट नहीं की किन्तु यह बात स्वामी जी ने ही की है कि ईसाई यवनों के शास्त्रार्थ को अर्थ ही बदल दिये तथा जब श्राद्धतर्पण मूर्तिपूजन में यवनादिकों का आग्रह देखा तो इसे छोड़कर वेद में रेल तार बिजुली ही भर दी इस से यह बात दयानन्द जी में ही प्रतीत होती हैं शङ्कराचार्य ने कुछ बनावट नहीं की फिर आगे इस के स्वामी जी ने अद्वैतवाद लिखा है जो अटकलपच्चू है उत्तर उसका पूर्व लिख चुके हैं ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी के लिखने का यह तात्पर्य है कि नास्तिकों के युक्ति और प्रमाणों से शङ्कराचार्य का मत अखण्डित तथा शङ्कराचार्य के दिये प्रमाणों से नास्तिकों का मत खण्डित रहा। यदि शङ्कराचार्य ने जैनियों के जीतने को अद्वैत मत खड़ा किया तो छल का दोष उस में अवश्य है। इसी लिये स्वामी जी उस को "कुछ अच्छा" लिखते हैं किन्तु "पूर्ण अच्छा" नहीं। कुछ अच्छा इस लिये कि नास्तिकों के सर्वथा वेदविरोधी मत से अद्वैतमत का एक अंश मात्र वेदविरोध अल्पविरोध है। महान् विरोध से अल्प विरोध अवश्य कुछ अच्छा है। किन्तु सर्वथा अच्छा नहीं। शङ्कराचार्य को विद्वान् इस लिये माना है कि उन्हीं की विद्वत्ता का यह फल है कि नास्तिकों के घोर सङ्ग्राम में उन्हों ने उन्हें परास्त किया। क्या नास्तिकों का परास्त करना ठट्ठा है? विद्वत्ता नहीं है? परन्तु किसी विद्वान् से किसी अंश में कोई भूल होजाय तो असम्भव नहीं। पर आप यदि शङ्कराचार्य के अद्वैत मत को सच्चा समझते हैं तो उस पर वादानुवाद करना ठीक होगा। इस से क्या लाभ कि स्वामी जी ने ऐसा क्यों लिखा? और वैसा क्यों लिखा॥

स्वामी जी ने ईसाई यवनों को जैसे कुछ उत्तर दिये हैं उस की आप क्या कृतज्ञता मानेंगे, आप का देश भर, आप की सन्तान, और आप के समुदायस्थ समझदार लोग मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं। श्राद्ध को यवन बेचारे क्या कहेंगे जब कि वे स्वयं मृतक निमित्त पाठ दान आदि करते हैं तथा क़बरों पर रोटी धरते हैं। जब ऐसा है तो स्वामी जी को उन का दबाव ही क्या था जो उन के शास्त्रार्थ में भय से वे श्राद्ध तर्पण का खण्डन करने लगते। यदि उन्हें दबाव में आना होता तो हिन्दुओं ही का दबाव न मानते, जिस से आज दिन शङ्कराचार्य के समान शिव का अवतार कहाते।

उन्होंने किसी के दबाव से नहीं किन्तु सत्य और परमात्मा के दबाव से सब कुछ रेल तार आदि वैदिकविद्या का विकाश कर योरप के विद्याऽभिमानियों को वैदिकसूर्य की किरणें दिखलाईं। अद्वैतवाद का उत्तर देखिये॥

द० ति० भा० पृ० २०१ पं० ५ से-स्वामी जी के लिखे सत्यार्थप्रकाशस्थ "नेतरोनुपपत्तेः" इत्यादि वेदान्तसूत्रों पर पं० ज्वालाप्रसाद जी लिखते हैं कि-

अब इन सूत्रों के यथार्थ अर्थ दिखलाते हैं कि यह सूत्र कौन से प्रकरण के हैं और कौन से स्थल के हैं॥

"आनन्दमयाधिकरण। नेतरोनुपपत्तेः अ० १ पा० १ सू० १६" आनन्दमय के प्रकरण से सुना है कि एक ने बहुत की इच्छा की इच्छा से विश्व सृजा है सो यह काम जीव का नहीं है तिस से जीव आनन्दमय नहीं है अथवा आनन्दमय का मुख्य वर्णन नहीं है क्योंकि ब्रह्म का जानने वाला ब्रह्म को प्राप्त होता है और जो ब्रह्म असत् जानता सो असत् ऐसे आगे पीछे के संदर्भ के विरोध से संसारी जीव या प्रधान आनन्दमय नहीं है किन्तु ईश्वर ही है। सो ऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति सतपोतप्यत सतपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्चेति, जो कुछ कार्य है सो सब ईश्वर ने देख के रचा है॥ १६॥

प्रत्युत्तर-शारीरक भाष्य का समझना कठिन है, आप यथार्थ और अयथार्थ कुछ भी इस विषय में नहीं समझे और इन सूत्रों पर जो अर्थ आप लिखते हैं वह भी आप का लिखा वा समझा हुआ नहीं है। इस अर्थ की भाषा भी मुरादाबादी भाषा नहीं है और न वैसी हिन्दी भाषा है जैसी कि समस्त तिमिर० ग्रन्थ की भाषा है। स्पष्ट है कि आप ने व्यास सूत्रों के ताराचन्द्र क्षत्रियकृत काशी आर्ययन्त्रालय के छपे भाषानुवाद को उठा कर यहां रख दिया है। यदि आप इन सूत्रों को कुछ भी समझते तो स्वामी जी के लिखे अर्थ में दूषण बताते हुवे अपने अर्थ की पुष्टि करते। केवल अधिकरणों के नाम छाप देने से (जो भाषानुवाद से उठा लिये हैं) आप का वेदान्तज्ञ होना और स्वामी जी को अज्ञानी बताना आकाश में थूकने के समान है (जो थूकने वाले ही के मुख पर पड़ता है) यदि आप ने सूत्रों के अक्षरार्थ को समझा होता तो कुछ तो अपनी भाषा में लिखते, न कि "तिस से जीव आनन्दमय नहीं है, ऋक्सामऋक्पयजु ऐब्रह्मधर्म है" यह अनोखी भाषा। जिन को यह पोल जाननी हो वे ताराचन्द्र के भाषानुवाद से अक्षर २ मिला देखें। इस लिये यदि आप अद्वैतवादी हैं तो प्रत्येक सूत्र पर स्वामी जी के

किये अर्थों में दोषारोपण करके अपने पक्ष के दोष हटाइये, तब हम आप का वेदान्तीपना समझेंगे और आप को उत्तर दिये जाने की आवश्यकता होगी। स्वामी जी ने सूत्रों के प्रमाणपूर्वक आप के अद्वैतवाद पर इस प्रकार दोष दिये हैं जिन का परिहार आप एक भी नहीं कर सके:—

१—नेतरोनुपपत्तेः । १ । १ । १६

(अनुपपत्तेः) उपपन्न न होने से (इतरः) ब्रह्म से इतर जीवात्मा (न) जन्मस्थितिप्रलयकारक नहीं, क्योंकि "जन्माद्यस्य यतः" १।१।२ सूत्र की अनुवृत्ति है। स्वामी जी ने ग्रन्थ बढ़ने के भय से प्रकरणानुकूल भाषा-नुवाद मात्र कर दिया है, वे जानते थे कि जो लोग वेदान्त पढ़े हैं वे तो इतने से ही समझ जांयगे और कुपढ़ों को सम्पूर्ण प्रकरण समझाया जावे तो सत्यार्थप्रकाश में ही वेदान्तभाष्य का पोथा बन जायगा। आप बतलाइये आप ने ताराचन्द्र के भाषानुवाद से अधिक एक अक्षर भी कौन सा लिखा है जो स्वामी जी के दिये अद्वैत पक्ष में आरोपित दोष को हटा कर आप का पक्ष सिद्ध करता हो ॥ १६ ॥

द० ति० भा० पृ० २९७ से—

"भेदव्यपदेशाच्च १७। रसो वै रसः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवतीति। (अर्थ) जीव ब्रह्म के लाभ से आनन्द होता है यहां प्राप्य ब्रह्म और प्रापक जीव है यह भेद का कहना है अविद्याकल्पित देह कर्त्ता भोक्ता विज्ञानात्मा से ईश्वर अन्य है जैसे खड्गधारी मायावी सूत्र पर चढ़कर आकाश को जाता सा दिखाई देता है और वास्तव में वोह मायावी भूमिपर ही खड़ा है जैसे व्योम घटादि उपाधि से भिन्न अनुपाधि अन्य है तैसे ही जीव ब्रह्म का भेद है। वास्तव नहीं ॥

प्रत्युत्तर—२—भेदव्यपदेशाच्च । १ । १ । १७

इस सूत्र पर "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति" यही विषयवाक्य स्वामी जी ने लिखा है और आप भी ताराचन्द्र की नक़ल करते हुवे यही वाक्य लिखते हैं। न यह बतलाते हैं कि भेद शब्द का परिहार क्या है और न यह कि कल्पित भेद मानने में क्या प्रमाण है ॥ १७ ॥

फिर—द० ति० भा० पृ० २९७ से—

"अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति १९" इस आनन्दमय के प्रकरण में जीव का

योग आनन्दमय ब्रह्म के साथ वेद उपदेश करता है उस से उपचार की इच्छा से भी आनन्दमयवाक्य का अर्थ प्रधान या जीव नहीं है यथा ह्येवैष एत-स्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयङ्गतो भवति तदा वै ह्येष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्यभयं भवतीति। अर्थ—तादात्म्य से ईश्वर को देखै सो देखना परमात्मा के ग्रहण से बनता है न जीव या प्रधान के ग्रहण में तिस से आनन्दमय परमात्मा है न कि विज्ञानात्मा। श्रुति—सवाएष पुरुषोऽन्नरसमयस्तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयस्तस्माद-न्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय इति। अर्थ—यहां पर भी विकारार्थ की परम्परा से आत्मा अङ्गुंजरतीय है च हेतु में है जिस से आनन्दमय को आनन्दमय का सम्बन्ध वेद ने उपदेश किया है तिस से उपासना के लिये भी आनन्दमय प्राधान्य नहीं है और आनन्द प्रचुर कहने से दुःख अल्प भी मत समझो अद्वितीय से "श्रुति" रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवतीति ॥ १९ ॥

प्रत्युत्तर—भला इस सूत्र और ताराचन्द्र के भाषानुवाद का यहां क्या प्रयोजन है ? स्वामी जी के त्रैत सिद्धान्त से विरुद्ध इस में कौनसा पद है ? तथा अद्वैत मण्डन का कौनसा पद है ? जब नहीं है तो आप की कुछ इष्ट-सिद्धि नहीं, सिवाय पुस्तक बढ़ा करने के । स्वामी जी ने जो इस सूत्र को अपने पक्ष का पोषक जानकर सत्यार्थप्रकाश में लिखा है और अर्थ किया है कि " ब्रह्म में जीव का योग वा जीव में ब्रह्म का योग प्रतिपादन करने से जीव और ब्रह्म भिन्न हैं" और "तादात्म्य से ईश्वर को देखे" यह आप का अर्थ मूल से किसी प्रकार नहीं निकलता, न ध्वनि से ॥ १९ ॥

द० ति० भा० पृ० २९८ से—

"हिरण्मयाधिकरण—अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् २०" परमेश्वरस्य धर्मा इहो-पदिश्यन्त इति सौत्रोऽनुवादः छान्दोग्य के प्रथमाध्याय में उद्गीथ उपासनाओं के बीच गौण उपास्यों का उपदेश किया है वह यह कि सूर्य के बीच में हिरण्मय पुरुष है और ऋक्साम उक्थ यजुः जो ब्रह्म धर्म हैं और ब्रह्म सब पापों से मुक्त अद्वितीय ईश्वर कहा है यह अर्थ इन श्रुतियों से लिया है "सैवर्क्तत्साम तदुक्थन्तद्यजुस्तद्ब्रह्मेति उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्य इति अथ यएषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते इत्यादि से (यह) संशय है कि विद्या कर्म की अतिशय से बड़ा होके सूर्यादि प्राप्त उपास्य कहा है या नित्य सिद्ध ईश्वर है फिर रूपी सुनने से संसारी है न कि ईश्वर नीरूप से निरूपका

रूप उपासना के लिये मान लिया है "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" इस श्रुति से और ईश्वर अपनी सत्ता से ही निराधार ठहरा है "सभगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नीति" इस वाकोवाक्यरूप श्रुति से निर्विकार अनन्त है "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" इस श्रुति से बाकी २ विकारों से भी कहा है "सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरस" इत्यादि श्रुति से तात्पर्य यह है कि जो बाहर गन्ध रसादि देखते हैं सो सब ईश्वर की सत्ता ही है और न कि मृदुद्रुत कठिनादि वस्तु कुछ ही है जिससे ईश्वर ही सूर्य और नेत्र के बीच उपास्य है "सोऽसावहम्" वो मैं हूं ॥ २० ॥

प्रत्युत्तर—अन्तस्तद्धर्म० अर्थात् इस ब्रह्म के अन्तर्यामी आदि धर्म कथन किये हैं और जीव के भीतर व्यापक होने से व्याप्य जीव व्यापक ब्रह्म से भिन्न है। इस स्वामी जी के अर्थ में आप ने क्या दूषण दिया ? और आप के लिखे हिरण्मयाधिकरण से भी स्वामीजी के सिद्धान्त पर क्या दोष आया और आप के ताराचन्द्री अर्थ में "सैवर्क्‌ तत्साम०" का स्वामी जी के विरुद्ध क्या तात्पर्य है ? प्रत्युत (बल्कि)—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्

इस आप ही के लिखे वाक्य से परमात्मा का शब्दस्पर्शादिरहित निराकार होना साकार जगत् से उस के भिन्न होने को जताता है। इसलिये आप "स्वस्यैव पादे कुठारप्रहारः" का काम करते हैं ॥

स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि इति

इस आप के लिखे वाक्य का भी यह अर्थ हुवा कि हे भगवन् ! वह (ब्रह्म) किस में स्थित है ? उत्तर—अपनी महिमा में । भला इस से श्री स्वामीजी के किस पक्ष का निराकरण हुवा ? किसी का नहीं । बल्कि आप ने ही " निर्विकार अनन्त " लिखा है सो विकारी जगत् से निर्विकार परमात्मा भिन्न हुवा । और—

सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः

का अर्थ यदि यह मानेंगे कि परमात्मा में ही समस्त काम गन्ध और रस हैं, तो आपही की पूर्वोद्धृत "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" इस उपनिषद् से विरोध आवेगा । इस लिये परमात्मा में सर्वगन्धादि निज के नहीं किन्तु व्यापकता से पृथिव्यादि भिन्न जगत् के गन्धादि गुण उस परमेश्वर से बाहर नहीं किन्तु उसी में है, यह तात्पर्य समझना चाहिये ॥ २० ॥

द० ति भा० पृ० २९८ से—

"भेदव्यपदेशाच्चान्यः २१" जो सूर्य में है इस से ईश्वर अन्य है इस भेद से सूर्य आधार और ईश्वर आधेय जान पड़ता है यह अर्थ इस श्रुति से लिया है य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरोय आदित्योन वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरोयमयत्येषते आत्मान्तर्याम्यमृत इति । इस से यह सिद्ध हुआ कि हिरण्मय ईश्वर ही है न कि देवतादि ॥ इस का अर्थ भी स्वामी जी ने गड़बड़ में लिखा है ॥

प्रत्युत्तर-आप भी तो "जो सूर्य में है" यह लिखते हैं । जिस से स्पष्ट है कि सूर्य ब्रह्म नहीं किन्तु सूर्य में ब्रह्म है । तब ब्रह्म से सूर्य भिन्न ही हुआ । और

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरः ।

जो आदित्य में स्थित है और आदित्य से भिन्न है ॥

यमादित्यो न वेद

जिस को आदित्य नहीं जानता । जड़ होने से कि मुझ में ईश्वर व्यापक है । यह सूर्यादि जड़ लोक नहीं जानते । इस में स्वामी जी ने गड़बड़ क्या की ? किन्तु आप इस का उत्तर क्यों नहीं देते कि इस प्रकार सूर्य ही ब्रह्म है, सूर्य से भिन्न नहीं । महात्मा जी ! यह नियोग की धमकी नहीं है, ये वेदान्त के ब्रह्मविद्या के सूत्र हैं, ज़रा सम्भल कर बैठिये ॥२१॥

द० ति० भा० पृ० २९९—

"मनोमयाधिकरण-अनुपपत्तेस्तु न शारीरः अ० १ पा० २ सू० ३" मनोमय ब्रह्म है और जीव में सत्यसंकल्पादि गुणों का असम्भव है तिस से मनोमयादि धर्मों से उपास्य नहीं है यहां कईएक शङ्का सूत्र देकर पीछे सिद्धान्त सूत्र लिखा है कि:—

" अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेतिचेन्ननिचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥७॥ अर्भकंबाल्यंअल्पं वा ओको नीडं हृतस्थानं निचाय्यत्वादेव हृत्पुण्डरीकेद्रष्टव्यः वा उपास्यःव्योमवत् यथा सर्वगतमपिसत् व्योम शूचीपाशाद्यपेक्षया अर्भकौके अणीयश्च व्यपदिश्यते इति एवमेव ब्रह्मापि" धान यव से भी छोटा कहा है अणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्धेति आराग्रमात्र इति । ईश्वर ही जीव यहां कहा है जैसे सब पृथ्वी का पति अधिपति कहाता है । बालक के हृदय सा और धान जैसे छोटा इत्यादि उपाधियों के भेद से ब्रह्म उपासना के लिये कहा है न कि स्वरूप से जैसा अनन्त व्योम घटाकाश मठाकाशादिकों से छोटा कहा है इसी

से एषमआत्मान्तर्हृदय इति ॥

प्रत्युत्तर–कई सूत्रों में शङ्का नहीं की है किन्तु इस सूत्र पर हेतु दिये हैं। इस सूत्र का स्वामी जी यह अर्थ करते हैं कि शारीर अर्थात् "शरीरधारी" जीव ब्रह्म नहीं क्योंकि (अनुपपत्तेः) ब्रह्म के गुण कर्म स्वभाव जीव में नहीं। इसी की पुष्टि में अगला सूत्र हेतु देता है कि—

कर्त्तृकर्मव्यपदेशाच्च १।२।४

जीव परमेश्वर की प्राप्ति का कर्त्ता है और ब्रह्म कर्म है क्योंकि "एत-मितः प्रेत्याऽभिसंभवितास्मि" में कहा है कि जीवात्मा कहता है कि इस परमात्मा को यहां से मर कर प्राप्त होऊंगा ॥

यह वाक्य आप के इसी ताराचन्द्री भाषानुवाद में भी उपस्थित है देख लीजिये। तब जीव ब्रह्म को प्राप्त करने वाला होने से कर्त्ता और ब्रह्म प्राप्त होने से कर्म है। इस से दोनों भिन्न हैं ॥ तथा—

शब्दविशेषात् १।२।५

अयमन्तरात्मन् पुरुषः। इस वाक्य में आत्मा के भीतर पुरुष परमात्मा कहा है। इस शब्दविशेष से और "उस में वह" ऐसा कहने से सप्तमी विभक्ति इस जीव ब्रह्म के भेद को जताती है। यह वाक्य भी आप ही के माने और उद्धृत किये ताराचन्द्री अनुवाद में उपस्थित है। तथा—

स्मृतेश्च १।२।६

इस पर भी ताराचन्द्र ने गीता को स्मृति मान कर शाङ्करभाष्यानुकूल–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति

इस गीतावाक्य के प्रमाण से लिखा है। जिस का यह तात्पर्य है कि उपनिषद्वाक्य ही नहीं किन्तु स्मृतिवाक्य में भी जीवात्माओं के हृदय में परमात्मा का स्थित होना कहा है, जिस से भेद सिद्ध है ॥

यदि आप अपने लेखानुसार इन सूत्रों को लिख देते तो सब भेद खुल जाता कि स्वामी जी ने पूर्वपक्ष का उत्तरपक्ष किया है वा शङ्कराचार्य ने। अब कृपाकरके यह तो बतलाइये कि यदि ये शङ्कासूत्र हैं और "अर्भकौ०" यह सिद्धान्त सूत्र है तो इन पूर्वसूत्रों में प्रतिपादित जीव ब्रह्म की भिन्नता का आप के अभिमत सिद्धान्त सूत्र में उत्तर क्या है? कुछ भी नहीं। जब इन ४ सूत्रों में कहे हेतुओं का अगले सूत्र में खण्डन नहीं तब उस को सिद्धान्तसूत्र और इन पिछलों को शङ्कासूत्र बतलाना भ्रम नहीं तो क्या है? इस

आप का सिद्धान्तसूत्र और आप का लिखा अर्थ ऊपर उद्धृत कर चुके हैं। कृपया बतलाइये इस में क्या उत्तर है। प्रत्युत इस सूत्र के दो भाग हैं:-

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेत

यदि पूर्व हेतुओं को बालकों का घरवा होने से व्यपदेश मात्र मानो तो-

न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च

नहीं बनता, क्योंकि ज्ञेय वा प्राप्य होने से। जैसे आकाश प्रत्येक वस्तु के भीतर है, परन्तु भीतर ही नहीं किन्तु बाहर भी है, इसी प्रकार परमात्मा केवल हृदयों के भीतर ही नहीं किन्तु बाहर भी है। जैसे कि-

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः। यजु० ४० । ५

वह इस सब के भीतर और वही बाहर भी है। जीव हृदय के भीतर ही है, बाहर नहीं। इस लिये जीव ही ब्रह्म नहीं है, किन्तु भिन्न है॥

द० ति० भा० पृ० २९९

"संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ८" सर्वगत ब्रह्म का सब प्राणियों के हृदय में सम्बन्ध से और चेतनरूप से और एकत्व से और शरीर के अभेद से सुख दुःखादि की प्राप्ति सम्यक् हो अन्य संसारी के न होने से "नान्योऽतोऽस्ति विसतीति" इससे फिर सोपाधिक मानने से उपाधि धर्म दुःखादि की प्राप्ति न होगी क्योंकि उपाधि बिम्ब में नहीं होती है इस से ब्रह्म में भोग की गन्धि भी नहीं है जीव ब्रह्म का भेद मिथ्याज्ञानसे है और ज्ञानसे अभेद है इस से "अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" कर्त्ता भोक्ता धर्माधर्म साधन सुखदुःखादि मान एक है और दूसरा अपहतपाप्मादि मान है इस विशेष अर्थात् भेदसे जो सम्बन्ध मात्रही कार्य होता है तो व्योमादिकोभी दाहादि होना चाहिये सर्वगतानेकात्मवादीकोभी उक्त चोद्यपरिहार समान है और जो शास्त्र जीवपरकी एकता कहते हैं वे एकता के द्वारा संयोग की निवृत्ति भी कहते हैं जैसे "तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मीति" इत्यादि जैसे किसी ने व्योम को मलिन कहा तो क्या वह मलिन हो सक्ता है तिस से वेद में जीव उपास्य नहीं कहा किन्तु ब्रह्म ही तैसे मिथ्या ज्ञान से योग और सम्यक् ज्ञानसे ऐक्य है यही विशेष है तिससे ईश्वरमें भोगगन्ध भी नहीं मल र सक्ते हैं इत्यादि॥ यहां मनोमयादि प्रकरण है जीव ईश्वरभिन्न अधिकरण नहीं है॥

प्रत्युत्तर-पूर्व सूत्र में ब्रह्म को "व्योमवत्" आकाश के तुल्य व्यापक होना लिखा है। इस से यह शङ्का किसी को न हो कि आकाशवत् व्यापक है तो

उस को सम्भोगप्राप्ति हो सकती है ? अर्थात् क्या ब्रह्म को भोग प्राप्त होता है ? "उत्तर-" न वैशेष्यात्" नहीं, क्योंकि विशेषता है । और आप ने विशेषता का वाक्य स्वयं लिखा है कि " अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति "

अर्थात् जीव से अन्य ब्रह्म है जो भोगरहित साक्षी मात्र है । इस लिये यह सूत्र भी स्वामी जी के स्वीकृत भेदपक्ष का पोषक है । " तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि" इन वाक्यों का इस (संभोगप्रा०) सूत्र से सम्बन्ध ही नहीं, यह वेदान्त के न समझने वाले वा आग्रही अद्वैतवादियों का ढङ्ग है कि जिस वाक्य में स्पष्ट द्वैत आया और उस का अर्थ खैंचतान से भी अपने पक्ष में न हुवा वहां झट 'तत्त्वमसि' अहंब्रह्मास्मि" को ले दौड़ते हैं । यदि मनोमयाधिकरण होने से भेद सिद्ध नहीं होता तो अभेद भी सिद्ध न होवे । क्योंकि अभेदप्रकरण भी तो नहीं है । परन्तु इन अधिकरणों का भेद जानना साधारण बात नहीं है कि लिया उठाकर छाप दिया ॥८॥ फिर द० ति० भा० पृ० ३००

"गुहाधिकरण गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ११ " कठवल्ली से सुना है कि सुकृत का फल नरदेह है और वही परब्रह्म की प्राप्ति का स्थान है विद्याशमादि के सम्भव से फिर देह में या हृदय में ब्रह्म जीव ठहरे हैं और कर्मफल को पाता है और न कि बुद्धि जीव हैं जड़ और अजड़ के विरोध से जड़बुद्धि सुकृतपान नहीं कर सक्ती है चेतना क्षेत्रज्ञ कर सक्ता है एक छत्री अन्य अछत्री इनको देख कह सक्ते हैं कि छत्री चलते हैं उपचार से जैसे, तैसे जीव पाता और ईश अपाता दोनों संग से पाता कहे हैं तिस से जीव ईश हैं या जीव पीता ईश पिवाता है छाया और आतप की नाई जीव हृदयमें प्रत्यक्ष में और ब्रह्म श्रुति से दिखाता है "गुहाहितङ्गह्वरेष्ठं पुराणं यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टमिति" जैसे लोकमें इस गौका दूसरा लाओ यह कहने से न घोड़ा न भैंसा लाता है किन्तु गौही लाता है तिसे चेतन जीव ब्रह्म समस्वभाववाले हैं और नकि विषम स्वभाववाले जड़चेतन बुद्धि जीवहै और समान धर्म होने से एक है केवल उपाधिसे पृथक् भासते हैं (ऋतं पिबन्तौ) इस श्रुति की व्याख्या पूर्व कर चुके हैं ॥

प्रत्युत्तर-आप ने २ दो सूत्र बिच के जो छोड़ दिये हैं, उन्हें और मिला लीजिये, वे ये हैं-

अत्ता चराचरग्रहणात् १ । २ । ९ ॥ प्रकरणाच्च १ । २ । १०

चराऽचरमात्र का ग्रहण करने से परमात्मा सब का ग्राहक भी है तथा प्रकरण से भी यहां परमात्मा ही का ग्रहण है, मन आदि का नहीं । फिर तीसरा यह सूत्र है, आपने जिसे अपना पक्षपोषक समझकर लिखा है (गुहां प्रविष्टावात्मानौ) इस में आत्मानौ इस द्विवचन से अत्यन्त स्पष्ट है कि

दो आत्मा गुहा में प्रविष्ट हैं, एक जीवात्मा, दूसरा परमात्मा। यह कहना कि समान धर्म (दोनों चेतन) होने से एक हैं, ठीक नहीं। यदि एक कहने का तात्पर्य चैतन्य साधर्म्यमात्र है तो ठीक है अर्थात् चेतनता में दोनों एकसे हैं। जैसे मनुष्य मनुष्य एक इत्यादि परन्तु विशेष से दोनों भिन्न हैं, न कि उपाधि से। क्योंकि जीव एकदेशीय होने से उपाधियुक्त होता है, ब्रह्म तो सर्वदेशीय है उसे कोई उपाधि उपहित नहीं कर सकता। उपाधि घेरे को कहते हैं, ब्रह्म सब से बड़ा होने से घिर नहीं सकता इस लिये " उपाधि से ब्रह्म ही जीव बन गया " यह समझना भ्रम है॥ ११॥

द० ति० भा० पृ० ३०० पं० २० से-

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्

अन्तर्यामी परमात्मा अधिदैवादिषु पृथिव्यादिषु भवितुमर्हति कुतः तत् तस्य परमात्मनः धर्माणां गुणानां व्यपदेशनात्। भाषार्थः। बृहदारण्यक के पांचवें अध्याय में याज्ञवल्क्यने उद्दालक से कहा कि पृथिव्यादि में अन्तर्यामी ईश्वर है क्योंकि पृथिवी में रहता है पर उस को पृथिवी नहीं जानती फिर ज्ञान और अमृतादि गुणों का उसी में संभव है इस से " यइमंच लोकं परंच लोकं सर्वाणि भूतानि योन्तरोयमितिः " फिर कहा कि " पृथिव्यांतिष्ठन् पृथिव्या अन्तरोऽयं पृथिवीं न वेद यस्य पृथिवीशरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः " इत्यादि ऐसा वाक्यों में न कि अधिदैवादिका अभिमानी देवता या योगी या अपूर्व संज्ञा है किन्तु परमात्मा है अन्तर्यामी अमृतत्वगुण से॥

प्रत्युत्तर-सूत्रार्थ यह है कि (अधिदैवादिषु) पृथिव्यादि देवों में (तद्धर्मव्यपदेशात्) उस परमात्मा के धर्मों का व्यपदेश होने से (अन्तर्यामी) परमात्मा अन्तर्यामी है॥

इतने से स्वामी जी के पक्ष भेदवाद का खण्डन कुछ भी नहीं होता प्रत्युत आप ही के उद्धृत किये हुवे उपनिषद्वाक्यों से उस का पृथिव्यादि देवों से भिन्न पृथिव्यादि का अन्तर्यामी होना पाया जाता है। यथा-

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरोयं पृथिवी न वेद। इत्यादि

अर्थात् जो परमात्मा पृथिवी में ठहरा है, पृथिवी के भीतर भी है, जिसे पृथिवी नहीं जानती । इत्यादि ॥

द० लि० भा० पृ० ३०१ पं० १ से-

शारीरश्चोभयेऽपिहिभेदेनैनमधीयते २०

कण्व और माध्यन्दिन जे दोनों जीव से अलग ईश्वरको पढ़ते हैं तिन से जीव भी अन्तर्यामी नहीं है और न प्रधान है किन्तु अन्तर्यामी ईश्वर है काण्वः "यो विज्ञाने तिष्ठन्" इति माध्यन्दिनः "यआत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो भवति" अणु से अणु और महान् से महान् पृथिवी व्योमादि सब वस्तु में अन्तर्यामी को कहने से परमात्मा ही सर्वव्यापक है अन्तर्यामी और विज्ञानमय शरीर है इत्यादि सब कुछ ब्रह्म ही है यह अधिकरण ब्रह्म ही को कहते हैं भाते हैं जीव अज्ञानतक है जब यथार्थ अनुभव हुआ तो सब कुछ वो ही है अब आगे का सूत्र भूतयोनि प्रकरण का है ॥

प्रत्युतर-इस सूत्र में भी इस से पूर्वले सूत्र (न च स्मार्त्तमतद्धर्माभिलापात् । २ । १९) में से " न " की अनुवृत्ति है । और अर्थ यह है कि (शारीरश्च न) शरीरधारी जीवात्मा भी अन्तर्यामी नहीं है । क्योंकि (उभयेऽपिहि) दोनों काण्व और माध्यन्दिन शाखा वाले आचार्य (एनम्) इस जीवात्मा को (भेदेन) ब्रह्म से भिन्न भाव से (अधीयते) पढ़ते हैं ॥

इस में भी भेद ही सिद्ध हुआ, अभेद नहीं । आप ने भी अपने अर्थ में उपनिषद्वाक्य लिखा है कि—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति, इत्यादि

जो जीवात्मा के भीतर रहता और उस का अन्तर्यामी है ॥

द० ति० भा० पृ० ३०१ पं० ९ में सूत्र है कि-

अदृश्यत्वादिगुणकोधर्मोक्तेः ॥ २ । २१ ॥

प्रत्युत्तर- यह सूत्र भी अद्वैतवाद को नहीं कहता । इस का सरलार्थ यह है कि-परमात्मा अदृश्यत्व आदिगुणवाला है क्योंकि अदृश्यत्वादि धर्म उपनिषद् में कहे हैं जैसा कि आप के ही शाङ्करभाष्य में उपनिषद् का वाक्य उद्धृत है कि:-

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् ।

अर्थात् वह ब्रह्म अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, वर्णरहित, आंख कान हाथ

पांव से रहित है इत्यादि । वहीं प्राणिमात्र का स्रष्टा है । बस इस से भी किसी प्रकार स्वामी जी के पक्ष पर कोई दूषण नहीं आता ॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपस्तस्मा-
देतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते इति ॥

इस का न आप ने पता दिया, न अर्थ लिखा, न यह लिखा है कि इस से हमारे पक्ष की यह सिद्धि और विपक्ष की यह हानि है । पाठकों के अवलोकनार्थ हम इस का अर्थ लिखते हैं—

"जो सर्वज्ञ और सब कुछ प्राप्त किये हुवे है, जिस का ज्ञान ही तप है, वह ब्रह्म है । उस के तप अर्थात् ज्ञान वा सङ्कल्प से नाम रूप और अन्न उत्पन्न होजाता है अर्थात् जब वह चाहता है, तब ही नाम रूप और अन्न को उत्पन्न कर लेता है" ॥

द० ति० भा० पृ० ३०१ पं० १७ से—

"विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यांनेतरौ २२

इतश्चपरैशएव भूतयोनिर्नशारीरः प्रधानं चेति

जीव भूतों का कारण नहीं होसक्ता है क्योंकि अमूर्तपुरुष बाहर भीतर इत्यादि विशेषणों से व्यापक ब्रह्म ही कहा है न कि परिच्छिन्न जीव इस से " दिव्योह्यमूर्तयः " इत्यादि और प्रधान भी भूतों का कारण नहीं हो सकता है क्योंकि प्रधान से भूतों का कारण अलग कहा है, इस से "अक्ष-रात्परतः पर इति अक्षरं अव्याकृतंनामरूपबीजशक्तिरूपं भूतसूक्ष्ममीश्वरा-श्रयन्तस्यैवोपाधिभूतंसर्वस्मात् विकारात्परो य अविकारस्तस्मात्परतः पर इति भेदेन व्यपदेशात्परमिह विवक्षितन्दर्शयतीति "

प्रत्युत्तर—भला इस से आप का पक्ष क्या सिद्ध हुवा ? जब कि आप ही लिखते हैं कि—जीवात्मा परिच्छिन्न एकदेशीय होने से जगत्कर्त्ता नहीं हो सकता और प्रधान वा प्रकृति भी जगत्कर्त्ता नहीं है । क्योंकि—

दिव्योह्यमूर्तःपुरुषस्सबाह्याभ्यन्तरोह्यजः ।
अप्राणोह्यमनाः शुभ्र इत्यादि ॥

परमात्मा के ही ये विशेषण होसकते हैं कि दिव्य है, मूर्त्तिरहित है, पुरुष है, बाहर भीतर व्यापक है, अजन्मा है, प्राणादि वा मन आदि से रहित है ॥ और प्रकृति इस लिये स्वयं जगत् नहीं रच सकती कि—

अक्षरात् परतः परः

आत्मा अविनाशी प्रधान प्रकृति से भी पर अर्थात् सूक्ष्म है। ये वाक्य आप ने ही अपने अर्थ में उद्धृत किये हैं॥

द० ति० भा० पृ० ३०१ प० २५ में—रूपोपन्यासाच्च इत्यादि सूत्र से अद्वैतवाद सिद्ध किया है॥

प्रत्युत्तर—आप के ही उद्धृत उपनिषदादिवाक्यों की सङ्गति और व्यासमूत्रों की पूर्वाऽपरसङ्गतिसहित इस सूत्र का स्पष्ट अर्थ यह है—

रूपोपन्यासाच्च २। २३॥

अर्थात् परमात्मा की व्यापकता में ही रूपों का उपन्यास वर्णन किया गया है, न कि जीव वा प्रकृति में। इस लिये पूर्व सूत्र में कहा (नेतरौ) ठीक है कि जीव वा प्रकृति जगत के कर्त्ता नहीं हैं। रूप वाले पदार्थों को इस प्रकार परमात्मा में उपन्यस्त किया है कि—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणोहृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा इति॥

अर्थात परमात्मा सब भूतों का अन्तरात्मा (अन्तर्यामी) है क्योंकि अग्नि उस के मूर्धा (मस्तक) के तुल्य है, चन्द्र सूर्य आंखों के, दिशायें कान, वाणी वेद, वायु प्राण, हृदय जगत् और पृथिवी पांव के तुल्य है। इस प्रकार परमात्मा में ही इन सब अग्नि, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि नामरूप वाले पदार्थों का उपन्यास कहा है, जीव वा प्रकृति में नहीं। इस से भी भेद सिद्ध है क्योंकि जिस प्रकार आंख, कान, हाथ, पांव, प्राण आदि से जीवात्मा भिन्न है, इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि से इन का अन्तरात्मा भिन्न है॥

वाममार्गप्रकरणम्

पं० ज्वालाप्रसाद जी महाराज! आप के भाई बलदेवप्रसाद जी तो तन्त्रशास्त्र के आचार्य हैं. फिर आप ने क्या तन्त्र नहीं पढ़े? जो तन्त्रविषयक सत्यार्थप्रकाशस्थ निम्नलिखित वाक्यों का कुछ भी समाधान न किया—

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
एते पञ्च मकाराः स्युर्मोक्षदा हि युगे युगे॥

कालीतन्त्रादि में

प्रवृत्ते भैरवी चक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः
निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् पृथक् ॥

कुलार्णवतन्त्र

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले ।
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥

महानिर्वाणतन्त्र

मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिषु ।
वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ॥
एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ।

ज्ञानसंकलिनीतन्त्र

रजस्वला पुष्करं तीर्थं चाण्डाली तु स्वयं काशी ।
चर्मकारी प्रयागः स्याद्रजकी मथुरा मता ॥
अयोध्या पुक्कसी प्रोक्ता ।

रुद्रयामल तन्त्र

आप को तो चाहिये था कि इन महानिन्दित सम्प्रदायी कार्यों का भी पक्ष लेकर पुष्टि करते । वा इन श्लोकों के अर्थ फेरते वा अमान्य बताते ॥

कालिदासप्रकरण

द० ति० भा० पृ० ३०२ पं० ११ से—

समीक्षा—यही तो दयानन्द जी ने निधड़क ही लेखनी चलाई है भला कौनसी पुस्तक इतिहास भोजप्रबन्धादि में यह लिखा है कि कालीदास गड़रिया था और स्वामी जी ने शत्रुता से कालिदास को गड़रिया बताया है क्यों कि इन महाकवि के ग्रन्थों को "जिस का नाम इंग्लैंडीय मान्यपुरुष भी गौरव से साथ लेते हैं" पढ़ने का निषेध किया है और भोजप्रबन्ध में कहीं भी कालिदास को गड़रिया नहीं लिखा है किन्तु राजा की सभा में नवरत्नोंमें यह भी था और स्वामी जी तो जाति कर्म से मानते हैं तो उन के मतानु-

सार पण्डित होनेसे वह गड़रिया नहीं रहा और जो पण्डित होकर भी गड़-रिया जाति रही तो स्वामी जी के ही ग्रन्थों से स्वामी जी का खण्डन होगया

प्रत्युत्तर-स्वामी जी ने कालिदास को गड़रिया कहीं नहीं लिखा, आप के हृदय में संस्कार होगा, आप ने कहीं अन्यत्र सुना होगा। स्वामी जी ने तो भोज विक्रम कालिदासादि की अपने समय में कुछ प्रशंसा की है कि इन के समय में संस्कृत का प्रचार हुआ। उनके काव्यों का पढ़ना इस लिये वर्जित किया है कि अनार्ष ग्रन्थों के पाठ से आर्ष ग्रन्थों के प्रचार और पाठ में बाधा पड़ती है। तथा काव्य प्रायः कामासक्ति के उद्बोधक होते हैं। और यदि वह गड़रिया हो कर भी भोज की सभा के नवरत्नों में था तो स्वामी जी का गुणकर्मस्वभावानुसार वर्ण मानना दूषित नहीं हुवा प्रत्युत भोज भी जन्म से निकृष्ट जाति तक को उत्तम गुण कर्म स्वभावयुक्त पाय उस की प्रतिष्ठा करता था और अपनी सभा के विद्वान् पुरुषों में लेलेता था, जिस से सब कोई विद्वान् होने का प्रयत्न करता था। आजकल के समान निरक्षर पुरो-हितों की लीक बन्धी न थी और न हरिद्वार प्रयाग गया के पण्डे आदि के समान निरक्षरों को लक्षों रुपयों का दान मिलता था, और न आजकल के काशी के पण्डितों के सा जात्यभिमान था कि एक धाराप्रवाह संस्कृत भाषण करने वाले प्रतिष्ठित रईस सदाचारी कायस्थ को केवल कायस्थ कुल में जन्म लेने मात्र से वेदपाठसभा में बैठने तक का अनधिकारी समझा ॥

रुद्राक्षप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० ३०३ पं० १ से-रुद्राक्षधारण को शैवों का ऐसा ही चिह्न बताया है, जैसा संन्यासी लोगों का वेष पृथक् होता है इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-यदि ऐसा है तो केवल शैवों के लिये विधान होता। परन्तु उस में तो रुद्राक्षहीन पुरुषों को धिक्कार (लानत) लिखी है। फिर वैष्णवादि सब अन्य संप्रदायियों को गाली ही क्यों न हुई ?

द० ति० भा० पृ० ३०३ पं० १९ से-

समीक्षा-राजाभोज के बनाये संजीवकग्रन्थ का पता और उन मनुष्यों का वृत्तान्त कहांतक लिखें हमने कई रजिस्टरी चिट्ठी भिण्डस्थान को ब्राह्मणोंके पास भेजी थीं जिस में ऊपर लिखा ब्योरा स्पष्ट लिख दिया था उनमें से दो स्थानों से उत्तर आया है कि यह सब बात मिथ्या है यहां कोई ऐसी पुस्तक

हमारे पास नहीं जिस में ऐसी बातें लिखी हों इस कारण स्वामी जी का कहना और चौबेजी के कहना दोनों अप्रमाण हैं। भोज के समय जितने ग्रन्थ बने हैं वह अद्यावधि उन्हीं के नाम से विख्यात हैं जो उन के कर्त्ता हैं सहस्रों श्लोकों को व्यास जी के नाम से रचने से उन्हें क्या लाभ था पहले स्वयं दयानन्द जी कहते थे व्यास जी ने २४००० सहस्र श्लोक का महाभारत बनाया अब चार सहस्र ही का वर्णन किया है फिर व्यास जी ने प्रतिज्ञा की है कि मैं इस ग्रन्थ में ८८०० कूट श्लोक कहूंगा " अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि चेति" जिन्है मैं और शुकदेव जानता हूं संजय अर्थ कर सक्ता है या नहीं जिस के अर्थ में क्षणमात्र गणेशजी विचार करते थे इस अवसर में व्यास जी बहुत श्लोक बना लेते थे वैशम्पायन ने इस की प्रशंसा की है जो इस में है वह अन्यस्थान में मिलसक्ता है जो इस में नहीं है वह और कहीं नहीं मिलेगा। यह ग्रन्थ लक्षश्लोक से पूर्ण है स्वर्गारोहणपर्व के अन्त में लेख है कि इस के पाठ से अष्टादश पुराण को श्रवण का फल होता है तथा अनुक्रमणिका में प्रत्येक पर्व का वृत्तान्त और उस के अध्याय श्लोकों की संख्या लिखी है चार सहस्र में तो इस का युद्ध भी नहीं समा सकता और इस के बिना इतिहास कहां से आवेंगे क्या सत्यार्थप्रकाश में से निकलेंगे और देखिये प्रत्येक पुराणों में अष्टादश पुराणों का वर्णन है और उस के श्लोकों की संख्या है इससे स्पष्ट विदित है कि यह सब एक समय के बने हैं राजा भोज के समय पुराण बना किसी प्रकार से सम्भव नहीं ॥

प्रत्युत्तर—क्या आपने लखना के रावसाहब वा रामदयालु जी का कोई पत्र पाया है ? यदि नहीं पाया तो वृथा एक स्वर्गवासी महात्मा को मिथ्यावादी लिखना ठीक नहीं। महाभारत में स्वयं आदिपर्व मे २४००० सहस्र श्लोक होना लिखा है। वह भी साध्य है। तथा नीचे लिखे आदिपर्व अध्याय २ के भारत सूचीपत्र रूप श्लोकों को पढ़ने और तदनुसारी नीचे के (नक़्शे) चक्र को देखने से ज्ञात होगा कि भोज के समय से अब तक भी बराबर लोग श्लोक बना कर मिलाते रहे और कितने ही श्लोक घटा भी दिये। जैसा कि—

१—आदि पर्व—

अध्यायानां शते द्वे तु संख्याते परमर्षिणा।
सप्तविंशतिरध्याया व्यासेनोत्तमतेजसा ॥१३१॥

२-सभा पर्व

अध्यायास्सप्ततिर्ज्ञेयास्तथा चाष्टौ प्रसंख्यया ॥१४२॥

३-वन पर्व

अत्राध्यायशते द्वे तु संख्यायाः परिकीर्त्तिते ॥२०४॥
एकोनसप्ततिश्चैव तथाध्यायाः प्रकीर्त्तिताः ॥

४-विराट् पर्व

अत्रापि परिसंख्याता अध्याया: परमर्षिणा ।
सप्तषष्टिरथोपूर्णाः श्लोकानामपि मे शृणु ॥२१६॥

५-उद्योग पर्व

अध्यायानां शतं प्रोक्तं षडशीतिर्महर्षिणा ॥२४२॥

६-भीष्म पर्व

अध्यायानां शतं प्रोक्तं तथा सप्तदशाऽपरे ॥२५२॥

७-द्रोण पर्व

अत्राध्यायशतं प्रोक्तन्तथाध्यायाश्च सप्तति: ॥२६७॥

८-कर्ण पर्व

एकोनसप्ततिः प्रोक्ता अध्यायाः कर्णपर्वणि ॥२७६॥

९-शल्य पर्व

एकोनषष्टिरध्यायाः पर्वण्यत्र प्रकीर्त्तिताः ॥२८७॥

१०-सौप्तिक पर्व

अष्टादशास्मिन्नध्यायाः पर्वण्युक्ता महात्मना ॥३०८॥

११-स्त्री पर्व

सप्तविंशतिरध्यायाः पर्वण्यस्मिन्प्रकीर्त्तिताः ॥ ३२१ ॥

१२-शान्ति पर्व

अत्र पर्वणि विज्ञेयमध्यायानां शतत्रयम् ॥ ३२७ ॥
त्रिंशच्चैव तथाध्याया नव चैत्र तपोधनाः ॥

१३-अनुशासन पर्व

अध्यायानां शतं त्वत्र षट्चत्वारिंशदेव तु ॥३३५॥

१४ अश्वमेध पर्व—

अध्यायानां शतं चैव त्रयोध्यायाश्च कीर्त्तिताः ॥ ३४१ ॥

१५ आश्रमवासि पर्व—

द्विचत्वारिंशदध्यायाः पर्वैतदभिसंख्यया ॥ ३५० ॥

१६ मौसल पर्व—

अष्टाध्यायाः समाख्याताः श्लोकानां च शतत्रयम् ॥३६१॥

१७ महाप्रस्थान पर्व—

अत्राध्यायास्त्रयः प्रोक्ताः श्लोकानां च शतत्रयम् ॥३६७॥

१८ स्वर्गारोहण पर्व—

अध्यायाः पञ्च संख्याताः पर्वण्यस्मिन् महात्मना ॥३७७॥

नाम पर्व	किस श्लोकानुसार	कितने अध्याय होने चाहियें	कलकत्ते की पुस्तक में कितने हैं		
१ आदि पर्व	१३१	२२७	२३६	९	बढ़े
२ सभा	१४२	७८	८०	३	,,
३ वन	२०४	२६९	३१५	४५	,,
४ विराट्	२१६	६७	७२	५	,,
५ उद्योग	२४२	१८६	१९७	११	,,
६ भीष्म	२५२	११७	१२४	७	,,
७ द्रोण	२६७	१७०	२०४	३४	,,
८ कर्ण	२७६	६९	९६	२१	,,
९ शल्य	२८७	५९	६५	६	,,
१० सौप्तिक	३०८	१८	१८		
११ स्त्री	३२१	२७	२७		
१२ शान्ति	३२७	३.९	३६५	२६	बढ़े
१३ अनुशासन	३३५	१४६	१६८	२२	,,
१४ अश्वमेध	३४१	१०३	९२	११	घटे
१५ आश्रमवासी	३५०	४२	३९	३	,,
१६ मौसल	३६१	८	८	८	
१७ महाप्रास्थानिक	३६७	३	२	१	घटा
१८ स्वर्गारोहण	३७७	५	६	१	बढ़ा

देखिये वर्त्तमान प्रतापचन्द्र राय के छपाये कलकत्ते के महाभारत में जो १९० अध्याय भारतलिखित सूचीपत्र से अधिक हैं और १५ अध्याय न्यून हैं। तब न जाने क्या २ मिलाया गया और क्या २ उत्तम विषय निकाल दिया गया और मुम्बई के छापे में तो और भी अधिक श्लोक हैं और सूचीपत्र बनने से पहले न जाने कितने मिलाये और कितने घटाये गये हैं क्योंकि सूचीपत्र भी स्वयं व्यास जी ने नहीं बनाया, प्रत्युत सूत जी के पश्चात् बना है॥

द० ति० भा० पृ० ३०४ पं० ९ से पृ०३०५ पं० ५ तक यह आशय है कि १-जैनियों से पौराणिकों ने मूर्त्तिपूजा नहीं ली किन्तु पौराणिकों से जैनीलोगों ने ली २-मुसल्मानों के दीबाचे देखकर स्वामी जी ने वेदभाष्य भूमिका रची। ३-तर्कसङ्ग्रह देख कर सत्यार्थप्रकाश में सूत्रावली बनाई ४-देवीभागवतादि में जो भिन्न २ देवों से सृष्टि की उत्पत्ति लिखी है वे सब देवता भिन्न २ नहीं किन्तु परमेश्वर ही के नाम हैं॥

प्रत्युत्तर-१—जैनियों से पुराणों ने अवतार न लिये होते तो १० मुख्य अवतारों में बौद्ध जैनों के अवतार बुद्ध देव को नवां अवतार क्यों माना जाता २-क्या सायणाचार्य्य ने भी ऋग्वेदभाष्य का उपोद्घात (दीबाचा) मुसल्मानों से लिया था ? ३-तर्कसङ्ग्रह के समान सत्यार्थप्रकाश में कहीं कोई सूत्रावली संस्कृत में स्वामी जी की बनाई नहीं है॥ ४-देवीभागवतादि सब पुराणों में अविरोधभाव से एक ही परमेश्वर के अनेक नामों की व्याख्या होती तो लिङ्गपुराण छपा लखनौ सन् १८८७ अध्याय ९६ में शिव जी ने शरभ पक्षी का रूप धारण करके नृसिंह जी को मार डालना क्यों लिखा है ? नृसिंह जी तो पुराणानुसार अवतार थे। और शिव भी, जैसा कि-

श्री भगवानुवाच-

अकाले भयमुत्पन्नं देवानामपि भैरव । ज्वलितः स नृसिंहाग्निः शमयैनं दुरासदम् ॥१२॥ सान्त्वयन् बोधयादौ तं तेन किं नोपशाम्यति । ततोमत्परमं भावं भैरवं सम्प्रदर्शय ॥ १३ ॥ सूक्ष्मं सूक्ष्मेन संहृत्य स्थूलं स्थूलेन तेजसा । वक्त्रमानय कृत्तं च वीरभद्र ! ममाज्ञया ॥ १४ ॥ इत्यादिष्टोगणाध्यक्षः प्रशान्तवपुरास्थितः । जगाम रंहसा

तत्र यत्रास्ते नरकेशरी ॥१५॥ ततस्तं बोधयामास वीरभद्रो हरोहरिम् । उवाच वाक्यमीशानः पिता पुत्रमिवौरसम् ॥१६॥

महादेव जी बोले कि-

हे वीरभद्र ! इस समय देवताओं को बड़ा भय हो रहा है इस कारण उस नृसिंह रूप अग्नि को शीघ्र ही जाय शान्त करो । पहले तो मीठे वचनों से उस को समझाओ, जो न शान्त हों तो भैरव रूप दिखाओ । सूक्ष्म को सूक्ष्म और स्थूल को स्थूल तेज से संहार कर "हमारी आज्ञा से नृसिंह का * मुण्ड और चर्म हमारे लिये लाओ" । यह शिव जी की आज्ञा पाय शान्ति से वीरभद्र जी नृसिंह के समीप गये और उन को अपने औरस पुत्र की भांति समझाने लगे कि:-

वीरभद्र उवाच-

जगत्सुखाय भगवन्नवतीर्णोसि माधव । स्थित्यर्थे च नियुक्तोसि परेण परमेष्ठिना ॥१७॥ बिभर्षि कूर्मरूपेण वाराहेणोद्धृता मही । अनेन हरिरूपेण हिरण्यकशिपुर्हतः ॥१९॥ अत्यन्तघोरं भगवन् नरसिंह वपुस्तव । उपसंहर विश्वात्मंस्त्वमेव मम सन्निधौ ॥ २४ ॥

हे नृसिंह जी ! आप ने जगत् के सुख के लिये अवतार लिया है और परमेश्वर ने भी जगत् की रक्षा का ही अधिकार आप को दे रक्खा है ॥१७॥ मत्स्य रूप धरके आप ने इस जगत् की रक्षा की, कूर्म और वाराहरूप से पृथिवी को धारण किया, इस नृसिंह रूप से हिरण्यकशिपु का संहार किया, वामन रूप धर राजा बलि को बांधा । अब तुम हमारे कहने से इस अति घोर रूप का संहार करो, जगत् को बहुत त्रास हो रहा है ॥ २४ ॥

सूत उवाच-

इत्युक्तोवीरभद्रेण नृसिंहः शान्तया गिरा ।
ततोऽधिकं महाघोरं कोपं प्राज्वालयद्धरिः ॥२५॥

सूत जी बोले-

हे मुनीश्वरो ! इस भांति वीरभद्र जी ने बहुत शान्त वचनों से नृसिंह जी

---

* आप लोग कहते हैं कि शिव विष्णु एक हैं, परन्तु शिव नृसिंह का शिर कटवाता और खाल खिंचवाता है ॥

को समझाया परन्तु वे न माने और इन के वचन सुन बड़ा क्रोध कर बोले कि-२५

नृसिंह उवाच-

आगतोऽसि यतस्तत्र गच्छ त्वं मा हितं वद । इदानीं संहरिष्यामि जगदेतच्चराचरम् ॥२६॥ मन्नाभिपङ्कजाज्जातः पुरा ब्रह्मा चतुर्मुखः । तल्ललाटसमुत्पन्नो भगवान् वृषभध्वजः ॥३१॥ कालोऽस्म्यहं कालविनाशहेतुर्लोकान्समाहर्त्तुमहं प्रवृत्तः । मृत्योर्मृत्युं विद्धि मां वीरभद्र जीवन्त्येते मत्प्रसादेन देवाः ॥ ३५ ॥

वीरभद्र ! जहां से तू आया है वहां ही चला जा । इस चराचर जगत् का अभी मैं संहार करता हूं ॥२६॥ चतुर्मुख * ब्रह्मा मेरे नाभिकमल से उत्पन्न हुआ और ब्रह्मा के ललाट से शिव की उत्पत्ति हुई है॥३१॥ इस जगत् का नाश करने के अर्थ मुझे साक्षात् काल ही जान, मृत्यु का भी मृत्यु मैं हूं, हे वीरभद्र, ! सब देवता मेरी कृपा से जीते हैं ॥ ३५ ॥

सूत उवाच-

साहंकारमिदं श्रुत्वा हरेरमितविक्रमः ।
विहस्योवाच सावज्ञं ततोविस्फुरिताधरः ॥ ३६ ॥

सूत जी बोले कि हे मुनीश्वरो ! यह नृसिंह जी का अभिमानयुक्त वचन सुन कुछ कोप कर हंसके वीरभद्र कहने लगे-

वीरभद्र उवाच-

किं न जानासि विश्वेशं संहर्त्तारं पिनाकिनम् । असद्वादोविवादश्च विनाशस्त्वयि केवलः ॥ ३७ ॥ तवान्योन्याऽवताराणि कानि शेषाणि साम्प्रतम् । कृतानि येन केनापि कथाशेषोभविष्यसि ॥ ३८ ॥ दोषं त्वं पश्य एतत्त्वमवस्थामीदृशीं गतः । तेन संहारदक्षेण क्षणात्संक्षय-

* धन्य है पुराणों को, कहीं ब्रह्मा और शिव की उत्पत्ति किसी प्रकार, कहीं किसी प्रकार ॥

मेष्यसि ॥ ३९ ॥ प्रकृतिस्त्वं पुमान्रुद्रस्त्वयि वीर्यं समाहितम् । त्वन्नाभिपङ्कजाज्जातः पञ्चवक्त्रः पितामहः ॥४०॥ न त्वं स्रष्टा न संहर्त्ता न स्वतन्त्रोहि कुत्रचित् । कुलालचक्रवच्छक्त्या प्रेरितोसि पिनाकिना ॥ ४५ ॥ अद्यापि तव निक्षिप्तं कपालं कूर्मरूपिणः । हरहारलतामध्ये मुग्ध ! कस्मान्न बुध्यसे ॥ ४६ ॥ विस्मृतं किं तदंशेन दंष्ट्रोत्पातेन पीडितः । वाराहविग्रहस्तेद्य साक्रोशं तारकारिणा ॥४७॥ दग्धोसि यस्य शूलाग्रे विष्वक्सेनच्छलाद्भवान् । दक्षयज्ञे शिरश्छिन्नं मया ते यज्ञरूपिणः ॥ ४८ ॥ निर्जितस्त्वं दधीचेन सङ्ग्रामे समरुद्गणः । कण्डूयमाने शिरसि कथं तद्विस्मृतं त्वया ॥ ५० ॥ चक्रं विक्रमतोयस्य चक्रपाणे तव प्रियम् । कुतः प्राप्तं कृतं केन त्वया तदपि विस्मृतम् ॥५१॥ ते मया सकला लोका गृहीतास्त्वं पयोनिधौ । निद्रापरवशः शेते स कथं सात्त्विकोभवान् ॥ ५२ ॥ शास्ताऽशेषस्य जगतोन त्वं नैव चतुर्मुखः । इत्थं सर्वं समालोक्य संहरात्मानमात्मना ॥ ५८ ॥ नोचेदिदानीं क्रोधस्य महाभैरवरूपिणः । वज्राशनिरिव स्थाणोस्त्वैवं मृत्युःपतिष्यति ॥ ५९ ॥

वीरभद्र बोले कि—

हे नृसिंह ! जगत् के संहार करने हारे श्री शिव जी को क्या तुम नहीं जानते, यह तुम्हारा "अस्त व्यस्त बोलना केवल तुम्हारे नाश का हेतु है" पहिले जो २ अवतार तुमने लिये वे अब कहां हैं । इस लिये तुम भी कथा शेष हो जाओगे अर्थात् न रहोगे । इस क्रूरता के कारण बहुत शीघ्र तुम्हारा संहार किया जावेगा । तुम प्रकृति हो और शिवजी पुरुष हैं उन्हों ने तुम में वीर्य का निषेक किया तब तुम्हारे नाभिकमल से पञ्चमुख * ब्रह्मा उत्पन्न हुए । हे नृसिंह जी ! जो शिव को तुम अपना पौत्र समझते हो तो न तो तुम

* धन्य ! ब्रह्मा के चार मुख से ५ मुख भी वर्णन कर दिये ॥

संहार करने हारे न पालन करने हारे हो "केवल अज्ञान से" अपने स्वरूप को भूल रहे हो, कुम्हार के चाक की भांति शिव जी की शक्ति से घूमते फिरते हो। हे मूढ! "तेरे कूर्म अवतार का कपाल अब तक शिवजी ने" हार में पिरो रक्खा है और वाराह अवतार की डाढ़ रुद्र ने उखाड़ी और तुझे अति पीड़ा दी, तेरे विष्वक्सेन रूप को शिव ने अपने त्रिशूल के अग्र से वध किया। दक्ष के यज्ञ में तेरे यज्ञरूप का शिर मैंने काटा। तेरे पुत्र ब्रह्मा का पांचवां मस्तक अब तक कटा ही पड़ा है, शिवभक्त दधीचि ने तेरा पराजय किया" परन्तु ये सब बातें भूल गया और फिर "तेरे शिर में खुजली चली"। यह सुदर्शनचक्र जिस के बल से तू पराक्रमी हो रहा है, कहां से पाया और किस ने लगाया, यह भी भूल गया। प्रलय के समय सब लोगों का संहार मैंने किया, तू तो निद्रावश हो समुद्र में जा सोया। इसी से जान ले कि जैसा तू सात्विक है॥ न तू शास्ता है और न ब्रह्मा। यह सब मन में विचार कर इस क्रूर रूप का संहार कर, नहीं तो महाभैरवरूप शिव के क्रोध का वज्र अब तेरे मस्तक पर गिरेगा॥

सूत उवाच–

इत्युक्तोवीरभद्रेण नृसिंहः क्रोधविह्वलः। ननाद तनुवेगेन तं ग्रहीतुं प्रचक्रमे॥ ६०॥ अत्रान्तरे महाघोरं विपक्षभयकारणम्। गगनव्यापि दुर्धर्षं शैवतेजःसमुद्भवम्॥६१॥ सहस्रबाहुर्जटिलश्चन्द्रार्धकृतशेखरः। समृगार्धशरीरेण पक्षाभ्यां चञ्चुना द्विजाः। ६६। स्पष्टदंष्ट्रोऽधरोष्ठश्च हुङ्कारेण युतोहरः। हरिस्तद्दर्शनादेव विनष्टबलविक्रमः॥ ६९॥ बिभ्रदौर्म्यंसहस्रांशोरधः खद्योतविभ्रमम्। अथ विभ्रम्य पक्षाभ्यां नाभिपादेभ्युदारयन्॥ ७०॥ पादावाबध्य पुच्छेन बाहुभ्यां बाहुमण्डलम्। भिन्दन्नुरसि बाहुभ्यां निजग्राह हरो हरिम्॥ ७१॥ ततोजगाम गगनं देवैः सह महर्षिभिः। सहसैव भयाद्विष्णुं विहगश्च यथोरगम्॥७२॥ उत्क्षिप्योत्क्षिप्य

संगृह्य निपात्य च निपात्य च । उड्डीयोड्डीय भगवान् पक्षाघातविमोहितम् ॥ ७३ ॥ नीयमानः परवशो दीनवक्त्रः कृताञ्जलिः । तुष्टाव परमेशानं हरिस्तं ललिताक्षरैः ॥ ७५ ॥

नृसिंह उवाच-

नमो रुद्राय शर्वाय महाग्रासाय विष्णवे । नम उग्राय भीमाय नमः क्रोधाय मन्यवे ॥ ७६ ॥

सूत उवाच-

नाम्नामष्टशतेनैवं स्तुत्वामृतमयेन तु । पुनस्तु प्रार्थयामास नृसिंहः शरभेश्वरम् । ९५ । यदा यदा ममाज्ञानमत्यहङ्कारदूषितम् । तदा तदापनेतव्यं त्वयैव परमेश्वर ॥९६॥ एवं विज्ञापयन् प्रीतिं शङ्करं नरकेशरी । नन्वशक्तोभवान् विष्णो जीवितान्तं पराजितः ॥ ९७ ॥ तद्वक्त्रशेषमात्रान्तं कृत्वा सर्वस्य विग्रहम् । शुक्तिशित्यं तदा भङ्गं वीरभद्रः क्षणात्सलः ॥९८॥

देवा ऊचुः-

अथ ब्रह्मादयः सर्वे वीरभद्र त्वया दृशा । जीविताः स्मोवयं देवाः पर्जन्येनेव पादपाः ॥ ९९ ॥ एतावदुक्त्वा भगवान् वीरभद्रोमहाबलः । पश्यतां सर्वभूतानां तत्रैवान्तरधीयत ॥ ११४ ॥ नृसिंहकृत्तिवसनस्तदाप्रभृति शङ्करः । वक्त्रं तन्मुण्डमालायां नायकत्वेन कल्पितम् ॥ ११५ ॥

इति श्री लिङ्गपुराणान्तर्गते षण्णवतितमेऽध्याये

नृसिंहवधाख्यं प्रकरणं समाप्तम्

सूतजी बोले कि–

हे मुनीश्वरो ! इतना सुनते ही नृसिंह जी क्रोध की अग्नि में जल उठे और बड़ा घोर शब्द करके वीरभद्र जी को पकड़ना चाहा । इसी अवसर में महाघोर शत्रुओं को भय देने हारा शिवतेज से उत्पन्न अतिदुर्धर्ष आकाश तक व्याप्त बड़ा भयङ्कर रूप वीरभद्र का होगया । सहस्र भुजा धारे और मस्तक पर चन्द्र से शोभित था । जिस रूप का आधा शरीर मृग का और आधा पक्षी का । बड़े २ पङ्ख, तीखी चोंच, वज्र के तुल्य नख, बड़ी २ और अतितीक्ष्ण डाढ़, नीलकण्ठ, चार पाद, प्रलयाग्नि के समान देदीप्यमान देह अतिकुपित और बड़े क्रूर तीन नेत्र और प्रलय के मेघों के समान जिस का गम्भीर शब्द था । उस अतिदारुण हुङ्कार शब्द को करते हुवे रुद्ररूप को देखते ही नृसिंह जी का सब बल, पराक्रम नष्ट हो गया और जैसे सूर्य के आगे खद्योत हो जाय, ऐसे निस्तेज हो गये । शरभरूप शिव भी अपने पुच्छ से नृसिंह के पांव लपेट हाथों से हाथ पकड़ छाती में चोंच के प्रहार देते हुवे जैसे सर्प को गरुड़ ले उड़े, ऐसे ही भयभीत नृसिंह जी को अपने पक्षों के घात से मोहित कर आकाश को ले उड़े और आकाश में जाय फिर नृसिंह जी को भूमि पर गिराया और फिर उठाया । इस भांति बहुत बार उठाय २ पटका और जब नृसिंह जी बहुत व्याकुल हो गये, तब लेकर उड़ चले । सब देवता स्तुति करते हुवे उन के पीछे चले । नृसिंह जी परवश और दीनमुख हुवे २ आकाश में अपने को उठा ले जाते शिव जी को देख हाथ जोड़ स्तुति करने लगे । सूत जी बोले कि हे मुनीश्वरो ! एक सौ आठ नामों से परमेश्वर की स्तुति कर नृसिंह जी शुद्ध अन्तःकरण से प्रार्थना करने लगे कि महाराज ! जब २ मुझे अहङ्कार से अज्ञान हो तब २ आप शासन करें । वीरभद्र भगवान् उन की प्रार्थना सुन प्रसन्न भये और कहा कि हे विष्णो ! अब तू अशक्त हुवा और तेरा प्राणों तक पराजय हुवा । इतना कह नृसिंह जी का चर्म वीरभद्र जी ने उतार लिया और शरीर के शुक्लवर्ण अस्थि निकल आये और शिर भी काट लिया । यह सब चरित्र देख ब्रह्मा आदि देवता स्तुति करने लगे । पुनः सब देवताओं के देखते ही वीरभद्र भगवान् अन्तर्धान हो गये । उसी दिन से नृसिंह जी का चर्म शिव जी ने ओढ़ा और उन का मुण्ड अपनी मुण्डमाला का मध्यमणि बनाया ॥

यह लिङ्गपुराण के ९६ अध्याय में नृसिंहवध समाप्त हुवा

द० ति० भा० पृ० ३०५ पं० ६ से पृ० ३०६ पं० २६ तक परमेश्वर के नाम स्मरण का माहात्म्य लिखा है ॥

प्रत्युत्तर—परमात्मा का नामस्मरण निःसन्देह पुण्यजनक और पाप से बचाने वाला है। परन्तु नाममात्र से स्वामी जी ने निष्फलता लिखी है किन्तु नाम के साथ काम भी उत्तम किये जायं तो निष्फलता नहीं लिखी। केवल मुख से "रामर जपना, पराया माल अपना" करने वालों का खण्डन है, ईश्वरभक्तों का नहीं। पापों से छूटने का तात्पर्य भविष्यत् में पाप न करना है॥

———*———

अथ मूर्त्तिपूजामहाप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० ३०८ पं० ३ में—

मा असि। प्रमा असि। प्रतिमा असि॥

तै० आर० ४। ५॥ हे महावीर! तुम ईश्वर की प्रतिमा हो इत्यादि॥

प्रत्युत्तर—इस में महावीर और ईश्वर कहां से आगये?। पिछले प्रकरण में तो हैं नहीं। सायणाचार्य ने इस का अर्थ यह किया है कि—

हे परिधे! प्रागग्रत्वेन दक्षिणदिग्वर्त्ती उदग्दिग्वर्त्ती वा त्वम् (मा असि) महावीरस्थानं मातुमियत्तया परिच्छेत्तुं समर्थोसि, तथा हे परिधे! उदगग्रत्वेन प्राग्दिग्वर्त्ती उदग्दिग्वर्त्ती वा त्वम् (प्रमा असि) प्रकर्षेण मातुं समर्थोसि॥

अर्थात् हे यज्ञवेदी की परिधि! पूर्व दिशा में अग्रभाग होने से दक्षिण वा उत्तरवर्त्ती तू (माअसि) महावीर स्थान को नापने और "इतना है" यह परिच्छिन्नता बताने को समर्थ है। तथा हे परिधि! उत्तर को अग्रभाग होने से पूर्व वा उत्तरवर्त्ती तू (प्रमा असि) अत्यन्त करके नापने को समर्थ है॥

अब विचारना चाहिये कि सायणाचार्य तो मा, प्रमा, प्रतिमा शब्दों का अर्थ नापने का साधन करते हैं, आप मूर्त्ति अर्थ करते हैं। सायणाचार्य "हे परिधे!" कहते हैं और आप प्रकरणविरुद्ध "हे महावीर!" कहते हैं" ईश्वर का तो यहां वर्णन ही नहीं, न सायणाचार्य ने लिखा, न पीछे से अनुवृत्ति। तात्पर्य तो यह है कि यज्ञवेदि की परिधि नापकर बनाई जाती है, इस लिये वह नपैना है जिस से उस के पूर्वादि दिशाओं में रक्खे हुये

महावीरादि पदार्थों का परिमाण ज्ञात हो सकता है। भला इस कतरब्योंत से मूर्त्तिपूजा सिद्ध होती है ?

द० ति० भा० पृ० ३०८ पं० ९-स ऐक्षत प्रजापतिः। इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—

स ऐक्षत प्रजापतिः इमं वा आत्मनः प्रतिमामसृक्षि यत्संवत्सरमिति। तस्मादाहुः प्रजापतिः संवत्सर इत्यात्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत। यद्वेव चतुरक्षरः संवत्सरश्चतुरक्षरः प्रजापतिस्तेनोहैवास्यैष प्रतिमा ॥ ११। १। ६। १३ ॥

प्रजापति ने विचार किया कि इस को अपनी प्रतिमा (नपैना) बनाऊं जो कि संवत्सर है। इसी लिये संवत्सर (वर्ष) को प्रजापति भी कहते हैं। यह उस ने अपना नपैना बनाया है। जैसे ४ अक्षर का प्रजापति शब्द है, वैसे ही ४ अक्षर का संवत्सर शब्द है। इस से भी वह उस का (माप साधन) नपैना है ॥

इस में यह कहा है कि ईश्वर जिस से जगत् की आयु आदि को मापता है वह वर्ष (संवत्) है। यह परमेश्वर का नपैना है। परमेश्वर जैसे सब का स्वामी है वैसे इस नपैने का भी स्वामी है। इसी लिये (का) यह षष्ठी का अर्थ स्वस्वामिभाव (मालिक और मिलकियत) सम्बन्ध है। परमेश्वर स्वामी और संवत्सर स्व है। जैसे कपड़े को नापने का गज़ बज़ाज़ का गज़ कहाता है। वा भूमि को नापने का फ़ीता, इञ्जीनियर का फ़ीता कहाता है। इसी प्रकार सृष्टि को नापने का साधन संवत्सर परमेश्वर का नपैना (प्रतिमा) कहा गया। जैसे बज़ाज़ और गज़ में कार्य कारण सम्बन्ध नहीं अर्थात् बज़ाज़ स्वयं गज़ नहीं बनगया। इसी प्रकार परमेश्वर और संवत्सर में भी कार्य कारण सम्बन्ध नहीं अर्थात् परमेश्वर ही स्वयं संवत्सर रूप नहीं बन गया। वेद वा ब्राह्मणादि ग्रन्थों में प्रतिमा शब्द मात्र के आने से ईश्वर की साकारता सिद्ध नहीं हो सकती। यदि ऐसा हो तो वेद में प्रतिमा शब्द से आकाशादि की भी प्रतिमा सिद्ध होजावे ॥

ईश्वर निराकार है और निर्विकार है, वह जगदाकार स्वयं नहीं बनता। जैसा कि—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते । श्वेताश्वतर

न उस का कोई कार्य है, न करण है । अर्थात् वह किसी पदार्थ का उपादानकारण नहीं है । प्रकृति जड़ है परन्तु उस में चेतन परमात्मा व्यापक होने से उससे जगत् रचा जाता है । परमात्मा आकाश से भी सूक्ष्म कहने में आकाश शब्द केवल जगह मात्र का वाचक नहीं किन्तु वायु से सूक्ष्मस्वरूप वाले तत्त्व का नाम आकाश है । आपने आकाश को शून्य का पर्याय समझा, इसी से भूल हुई । आकाश से वायु की उत्पत्तिः—

आकाशाद्वायुः । तैत्ति०

फिर कैसे सम्भव हो जब कि आकाश स्वयं अवस्तु हो । सगुण और निर्गुण का अर्थ यदि आप यही मानते हों कि सत्त्व, रजः तमः ३ गुण (जो यथार्थ में प्रकृति के हैं, ब्रह्म के नहीं) परमात्मा के गुण हैं । तो भी हम कह सकते हैं कि एक मनुष्य एक काल में धनी, दूसरे काल में निर्धन हो तो क्या मनुष्य के स्वरूप में भेद पड़ता है ? नहीं, किन्तु उस के स्व (मिलकियत) में धन होता है और नहीं होता, परन्तु पुरुष का स्वरूप धन होने और न होने पर भी पुरुष के सा ही रहता है । ऐसे ही प्रकृति से विकृति होने पर ३ गुण भिन्न होते हैं तब उन का स्वामी होने से परमात्मा सगुण और प्रलय काल में तीनों गुणों की साम्यावस्था होजाती है, कोई गुण भिन्न अपने स्वरूप में नहीं रहता, इस से उस समय परमात्मा निर्गुण कहावे तो भी परमात्मा के निज के दो स्वरूप सगुण और निर्गुण नहीं बनते किन्तु प्रकृतिसहित के हैं । तब उसके निराकार साकार दो रूपों का होना तो सर्वथा ही असङ्गत है ॥

द० ति० भा० पृ० ३०९ पं० १३—तदेवाग्निस्तदादित्यः ॥ इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—

तदे॒वा॒ग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तदु॑ च॒न्द्रमाः॑ । तदे॒व शु॒क्रं तद्ब्रह्म॒ ता आपः॒ स प्र॒जाप॑तिः । यजुः । ३२ ॥ १ ॥

इस का अर्थ तो यह है कि सब का प्रकाशक होने से अग्नि, सब को पकड़ने वाला होने से आदित्य, सर्वधारकता से वायु, आह्लादकारकता से चन्द्रमा, शीघ्रकारी होने से शुक्र, बड़ा होने से ब्रह्म, विभु होने से अप्

और प्रजा के पालन से वही ब्रह्म प्रजापति भी कहाता है। यह नहीं कहा गया कि वही स्वरूप बदलकर अग्नि, वायु आदि तत्त्वरूप बन गया। ऐसा हो तो ऊपर कहे (न तस्य कार्यम्) इत्यादि एकरसत्वप्रतिपादक वाक्यों से विरोध आवेगा। तथा सब वस्तु ब्रह्म होने से भी किसी पदार्थ विशेष में ब्रह्मबुद्धि से पूजा करना भी ठीक नहीं। उस अवस्था में सब वस्तु ब्रह्म हैं तो प्रतिमा भी ब्रह्म, पुष्प भी ब्रह्म, वृक्ष भी ब्रह्म, बस जो पुष्प, जल, गन्धादि जहां पड़ा है वहां ब्रह्म पर ही चढ़ा है और ब्रह्म ही है। फिर मूर्त्तिपूजा कैसी?

द० ति० भा० पृ० ३०८ पं० २१ से—तं यज्ञं बर्हिषि०। इत्यादि॥

प्रत्युत्तर—

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये। यजुः ३१। ९॥

अर्थ—(तम्) उस (यज्ञम्) पूजनीय (अग्रतः जातम्) सृष्टि से पूर्व प्रसिद्ध (पुरुषम्) पूर्ण परमात्मा को (ये) जिन (साध्याः) योगाभ्यासादि साधन करते हुवे (च) और (ऋषयः) मन्त्रार्थ के ज्ञाताओं ने और (देवाः) देवतों ने (बर्हिषि) जपयज्ञादि में (प्रौक्षन्) सत्कृत किया और (तेन) उस यज्ञ से (अयजन्त) पूजा वा पूजते हैं॥

इस पर आप का ही लिखा शतपथ यह है:—

अथैतमात्मनः प्रतिमामसृजत यद्यज्ञं तस्मादाहुः प्रजापतिर्यज्ञइत्यात्मनोह्येतं प्रतिमामसृजत। श० ११। १। ८। ३

तब इस यज्ञ को उस ने अपना ज्ञानसाधन बनाया, इस से प्रजापति यज्ञ कहाया क्योंकि यज्ञ जपादि से प्रजापति का ज्ञान होता है॥

इस में भी यज्ञ यजन उपासना जपादि को परमेश्वर की प्राप्ति का साधन (प्रतिमा) कहा है। किन्तु काष्ठ पाषाणादि निर्मित प्रचलित मूर्त्तियों को उस के ज्ञान का साधन नहीं बताया, तब मूर्त्तिपूजा विषय में इस का प्रमाण देना व्यर्थ है॥

द० ति० भा० पृ० ३१० पं० ५ से—देवा ह वै० इत्यादि—

प्रत्युत्तर—

शतपथ का लम्बा चौड़ा पाठ और फिर मनमाना अर्थ लिखा है परन्तु उसमें

विष्णु सूर्य का नाम है, परमेश्वर का नहीं। जैसा कि उन्हीं में आया है कि–

स विष्णुर्यज्ञः स यज्ञोसौ स आदित्यः ॥

विष्णु नाम यज्ञ का और यज्ञ नाम आदित्य अर्थात् सूर्य का है। यहां परमेश्वर का वर्णन न होने और मूर्त्ति का वर्णन न होने से इस का यहां लिखना व्यर्थ है। तथा–

द० ति० भा० पृ० ३११ पं० १९ में–तस्य सिद्धिमयाणस्य। इत्यादि

प्रत्युत्तर- तैत्ति० के पाठ को ऊपर के शतपथ में जोड़ दिया है। सो न शतपथ और तैत्तिरीय ग्रन्थों की एकता, न विषय की एकवाक्यता, फिर लिखना ग्रन्थ बढ़ाना मात्र है। तात्पर्य उस का यह है कि सूर्य का तेज ओषधियों में गिर कर उन्हें उगाता, बढ़ाता और पकाता है॥

द० ति० भा० पृ० ३१२ पं० ५ से–देवतों के आकार कैसे होते हैं? (उत्तर) निरुक्त में लिखा है कि पुरुषों के से आकार होते हैं। देखिये–

अथाकारचिन्तनं देवतानां पुरुषविधाः। इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर–निरुक्त अध्याय ७ खण्ड ६ । ७ का पाठ उद्धृत करके हम ठीक २ अर्थ किये देते हैं:—

"अथाकारचिन्तनं देवतानाम्। पुरुषविधाः स्युरित्येकं चेतनावद्धि स्तुतयोभवन्ति तथाभिधानानि । अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते ॥

ऋ॒ष्वा तं इ॑न्द्र॒ स्थवि॑रस्य बा॒हू ॥"

अर्थात् जब देवताओं के आकार का विचार करते हैं। इस प्रकार देवतों का मनुष्याकार है क्योंकि चेतन के समान स्तुतियां हैं और नाम भी और मनुष्यों के अङ्गों का वर्णन भी पाया जाता है। (जैसा कि-)

उ॒रुं नो॑ लो॒कमनु॑ नेषि वि॒द्वान्त्स्व॑र्व॒ज्ज्योति॒रभ॑यं स्व॒स्ति।
ऋ॒ष्वा त॑ इन्द्र॒ स्थवि॑रस्य बा॒हू उप॑ स्थेयाम शर॒णा बृ॒हन्ता॑।

(ऋ० ६। ४७। ८)

अर्थ-(इन्द्र) हे राजन् ! (स्थविरस्य) जिस विद्याविनयवृद्ध (ते) आप के (शरणा) शत्रुनाशक (वृहन्ता) बड़ी (ऋष्वौ) श्रेष्ठ (बाहू) भुजाओं को हम (उपस्थेयाम) उपस्थित होवें (विद्वान्) वह आप विद्वान् जिस से (नः) हम को (उरुम्) बहुत (स्वर्वत्) सुखयुक्त (ज्योतिः) प्रकाश और (अभयम्) भयरहित (स्वस्ति) सुख और (लोकम्) दर्शन को (अनु नेषि) प्राप्त कराते हो ॥

इस में राजा को मनुष्याकार देवता मान कर प्रशंसा (स्तुति) की है। इस लिये इस से मूर्त्तिपूजा की सिद्धि नहीं हो सकती। दूसरा उदाहरण निरुक्तकार ने देवता मनुष्याकार होने का यह दिया है कि-

"यत्संगृभ्णा मघवन्काशिरित्ते"

इस का अर्थ यह है कि हे (मघवन्) धनवान् राजन् ! (यत्) जो कि (ते) आप की (काशिः) मुट्ठी है वह (संगृभ्णा) संग्रह करने वाली हो। काशिर्मुष्टिः। निरु० ६। १। इस में भी राजा को मनुष्याकार देवता कहने से यह सिद्ध नहीं होता कि परमात्मा की मूर्त्ति बनानी वा पूजनी चाहिये। फिर निरुक्तकार कहते हैं कि:-

"अथापि पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः। आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि। कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते॥

अर्थात् मनुष्यों के से द्रव्यों का वर्णन देवतों में पाया जाता है। जैसा कि नीचे के मन्त्र में है-

आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिराषड्भिर्हूयमानः।
आष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमख मा मृधस्कः॥
(ऋ० २। १८। ४)

अर्थ-(इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त राजन् ! (हूयमानः) बुलाये हुवे आप (द्वाभ्यां हरिभ्याम्) दो हरणशील पदार्थों से युक्त यान द्वारा (आयाहि) आइये (चतुर्भिः) चार से (आ) आइये (षड्भिः) छः से (आ) आइये (अष्टाभिः) आठ से (आ) आइये (दशभिः) दश हरणशील पदार्थों से युक्त यान के द्वारा आइये (अयम्) इस (सुतः) उत्पन्न किये रस के (सोमपेयम्) सोमपानार्थ आइये (सुमख) हे सुन्दर यज्ञ वाले (मृधः) संग्रामों को (माकः) न कीजिये ॥

अर्थात् राजा को योग्य है कि अग्नि आदि पदार्थों से संपादित यन्त्रादि निर्मित यानों द्वारा जावे आवे । सज्जनों से सोमपानादि आदर सत्कार ग्रहण करले, संग्राम न करे ॥ इस में भी राजा को मनुष्याकार देवता कहने से ईश्वर की प्रतिमापूजा सिद्ध नहीं होती ॥ फिर निरुक्त ने दूसरा प्रतीक नीचे लिखे मन्त्र का दिया है:-

अपाः सोममस्तमिन्द्र प्रयाहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते ।
यत्रा रथस्य बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो दक्षिणावत् ॥
ऋ० ३ । ५३ । ६ ॥

अर्थ-(इन्द्र) हे राजन् ! (यत्र) जिस गृह में (बृहतः) बड़े (रथस्य) विमान रथ और (वाजिनः) अग्निजन्य घोड़े का (निधानम्, स्थापन और (विमोचनम्) खोलने का (दक्षिणावत्) दक्षिणा के तुल्य है (गृहे) जिस आप के गृह में (कल्याणीः) सुखदायिका (जाया) स्त्री है उस (अस्तम्) गृह को [निघं० ३ । ४] (प्रयाहि) आइये जाइये और (सोमम्) सोमरस को (अपाः) पीजिये जिस से (सुरणम्) अच्छे प्रकार संग्राम हो ॥ तथा निरुक्त—

अथापि पौरुषविधिकैः कर्मभिः । अद्धीन्द्र
पिबं च प्रस्थितस्य । आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवम् ॥

अर्थात् निरुक्तकार कहते हैं कि मनुष्यों के से काम भी देवतों के वेद में पाये जाते हैं । जैसा कि (इन्द्र) हे राजन् ! (अद्धि) भोजन कीजिये (पिब च) और पान कीजिये । इत्यादि । और (श्रुत्कर्ण) सुनने की शक्तिरूप कान वाले ! (हवम्) पुकार को (आश्रुधि) सब ओर से श्रवण कीजिये ॥

यहां तक निरुक्तकार ने यह बताया है कि मनुष्यों के से कर्म, मनुष्यों के से वाहनादि और मनुष्यों के से अङ्ग देवतों के वेद ने वर्णन किये प्रतीत होते हैं । इस से मनुष्य भी दान, दीपन, द्योतनादि गुणों से इन्द्रादि पद-वाच्य देवता हैं । इस से आगे निरुक्तकार यह बतलाते हैं कि वायु, सूर्य, अग्नि आदि पदार्थ जो मनुष्याकार नहीं हैं, वे भी देवता हैं । यथा—

अपुरुषविधाःस्युरित्यपरमपि तु यद्दृश्यतेऽपुरुषविधं तद्य-थाऽग्निर्वायुरादित्यःपृथिवी चन्द्रमा इति।[यथो एतच्चेतनाव-द्विस्तुतयो भवन्तीत्यचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते।यथाक्षप्रभृतीन्यो-

षधिपर्यन्तानि। यथो एतत्पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्त इत्यचेतनेष्वप्येवद्भवति। अभिक्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः इति ग्रावस्तुतिः। यथो एतत्पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैरित्येतदपि तादृशमेव। सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनमिति नदीस्तुतिः। यथो एतत्पौरुषविधिकैः कर्मभिरित्येतदपि तादृशमेव, होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशतेति ग्रावस्तुतिरेव ।] अपि वोभयविधाः स्युरपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युर्यथा यज्ञो यजमानस्यैष चाख्यानसमयः। निरुक्त ७। ७॥

अर्थात् निरुक्तकार कहते हैं कि बहुत से देवता मनुष्याकार नहीं भी हैं जैसे देखा जाता है कि अग्नि, वायु, सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा ये देवता हैं। [जिस प्रकार चेतनों की प्रशंसा पाई जाती है वैसी जड़ (अचेतन) देवतों की भी पाई जाती हैं। जैसे कि अक्ष से लेकर ओषधि पर्यन्त हैं। और जिस प्रकार मनुष्याकार अङ्गों से स्तुति पाई जाती हैं, ऐसी ही अचेतन जड़ पदार्थों की भी प्रशंसा पाई जाती है। "पत्थरों के हरे मुख" (हरे मसाले पीसने से) कहे गये हैं। और जिस प्रकार चेतनों के वाहनादि द्रव्यों का वर्णन है, इसी प्रकार जड़ पदार्थों के भी वाहनादि का वर्णन देखा जाता है जैसा कि "नदी ने सुखदायक रथ जोड़ा" (प्रवाह से अभिप्राय है)। और जिस प्रकार मनुष्याकार देवतों के कर्म पाये जाते हैं इसी प्रकार अचेतनों के भी। जैसा कि "होता से पहले सिल बट्टों ने मसाला चाट लिया" यहां देखा जाता है। इस से या तो देवता दोनों प्रकार के हों, अथवा मनुष्याकारों के ही कर्मरूप देवता निराकार हों, जैसे यजमान मनुष्याकार देवता और उस का कर्म "यज्ञ" निराकार देवता है। और यह आख्यान का समय है"

यहां तक निरुक्त का भावार्थ हुवा। विचारना चाहिये कि द० ति० भा० पृ० ३१६ में [ ] इस कोष्ठक में लिखे बीच के निरुक्त के पाठ को क्यों छोड़ दिया गया ? जिस में जड़ और चेतन दोनों पदार्थों की देवता संज्ञा व्यावहारिक मानी है और स्पष्ट कहा है कि जड़ पदार्थ पत्थर, बट्टे, नदी आदि में मुख, रथ आदि अङ्गों की कल्पना करके वर्णन पाया जाता है। इस से

निरुक्तकार ने स्पष्ट बतलाया है कि ऐसे नमूने (निदर्शन) देखकर मनुष्यों को जान लेना चाहिये कि वेद की ऐसी शैली है जो जड़ पदार्थों का वर्णन चेतन की तरह लालित्य के लिये काव्यवत किया गया है । आजकल कवि लोग भी नदी, बग़ीचा, पुष्प, मकान, तालाब आदि को रूपक में वर्णन किया करते हैं, सो प्रथम २ यह विद्या वेद से ही निकली है । यदि पं० ज्वालाप्रसाद जी ऊपर लिखे मध्यस्थ पाठ को न छोड़ते तो उन के ही पुस्तक से सिद्ध हो जाता कि वेद का तात्पर्य देवता शब्द से केवल उपास्य ब्रह्म ही नहीं है किन्तु निरुक्त के अनुसार—

या तेनोच्यते सा देवता

जिस वस्तु का वर्णन मन्त्र में होता है, वही पृथिवी, जल, वायु, बिजुली आदि पदार्थ देवता कहाते हैं जो निराकार और साकार भेद से दो प्रकार के हैं। और उन में से कुछ जड़ और कुछ चेतन हैं । तथा जड़ों के वर्णन भी चेतन की भांति किये गये हैं । पृथिवी का गौरूप धरना मानना भ्रान्ति है और निघण्टु वा निरुक्त १ । १ में "गौः" पद पृथिवी का नाम है । जैसे अर्जुन वृक्ष का नाम भी है और पाण्डव का भी । तो क्या अर्जुन वृक्ष ही पाण्डवाऽर्जुन रूप में प्रकट हुवा मानियेगा ? कृष्ण का उस जगह प्रकरण में (निरुक्त मूल में) नाम तक नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० ३१६ । ३१७ और ३१८ में मूर्त्तिपूजा के पक्ष में ये उपपत्ति (दलीलें) दी हैं । १—पृथिवी आदि के देखने से परमात्मा का ऐसा स्मरण नहीं होता जैसा मूर्त्ति के । २-आकाशादि को तुम नित्य मानते हो, वे ईश्वर के रचे ही नहीं तो उन के द्वारा ईश्वर का स्मरण कैसे होगा । ३ पत्थर से प्रार्थना आदि कोई नहीं करता किन्तु पत्थर एक परमेश्वर का चिन्ह है । ४-तीन काल प्रति दिन मूर्त्ति के दर्शन से सदा पाप का डर रहता है । ५-भावना मूर्त्ति में भी करते हैं और सर्वत्र भी । ६-महारानी की मूर्त्ति के एकदेशीय हो जाने से क्या उस का राज घट जाता है ? । ७-चन्दनादि चढ़ाना आदरसूचक है । ८-क्या रोटी में व्यापक होने से ईश्वर भी रोटी के साथ भक्षित होता है ? ९-अवतार न लेवे तो यह एक बन्धन है । १०-यदि दो वस्तु समान हों तो उन में एक दूसरे की भावना हो सकती है, सुख दुःख असमान हैं, अतः दुःख में सुखादि की भावना नहीं

होती । ११–सर्वज्ञ की भावना सर्वत्र हो सकती है । १२–आवाहन से देवता आते हैं परन्तु अदृश्य हैं । १३–पितर भी आवाहन से आते हैं । १४–जनमेजय के यज्ञ में मन्त्रों से सर्प और इन्द्र तक चले आये । १५–मूर्त्ति में आवाहन विसर्जन नहीं करते किन्तु प्राणप्रतिष्ठा करते हैं । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-१–मूर्त्ति के देखने से बढ़ई का ज्ञान होता है, पृथिव्यादि देखने से ईश्वर का । २–आकाशादि कारणों को हम नित्य मानते हैं, कार्यों को नहीं, बस कार्यरूप पृथिव्यादि के देखने से ईश्वर का स्मरण हो सकता है। ३–पत्थर में परमेश्वर का विशेष क्या चिह्न है ? ४–मूर्त्ति के दर्शन पाप से बचावें तो अदर्शन समय में निर्भयता होवे ? ५–भावना सर्वत्र ही करते हो तो पुष्पादि को तोड़कर मूर्त्ति पर क्यों चढ़ाते हो ? ६–महारानी की मूर्त्ति ही एकदेशीय नहीं है, किन्तु वह साक्षात् भी एकदेशीय है । परमेश्वर सर्वव्यापक है । ७–पुष्पादि चढ़ाना अनादर हुवा, क्योंकि वृक्षस्थ परमेश्वर से छीनकर मूर्त्तिस्थ पर चढ़ाते हो । ८–सर्वग अचल होने से वह रोटी आदि के साथ चलायमान नहीं होसकता । ९–तो कुकर्म न कर सकना भी परमेश्वर को बन्धन है ? । १०–यदि समानों में ही एक दूसरे की भावना होती है, विषमों में नहीं, तो परमेश्वर के समान कोई नहीं, अतः उसकी भावना किसी पदार्थ में नहीं होसकती, फिर मूर्त्ति में कैसे हो सकती है ? यहां तो आप कहते २ छकड़ी भूल गये हैं । ११–सर्वज्ञ का अर्थ आप सर्वव्यापक समझे ! धन्य ! वह शब्द सर्वग है, सर्वज्ञ नहीं । १२–हां, अग्न्यादि देवता अग्निस्थापना से आसक्ते हैं, परन्तु मृत राम, कृष्ण आदि आप के अभिमत नहीं आ सकते । १३–पितर तो जीते जी सब ही जानते हैं कि आते जाते हैं । १४–जनमेजय के यज्ञ में जैसे बिल्ली लोटन (छारछबीला, वा बालछड़) पर बिल्ली आपड़ती है, ऐसे ही हवन की सामग्री पर सर्प भी आपड़े होंगे । और जनमेजय की कथा की मन्त्रसाध्यता तो साध्यकोटि में है । जब सभी पौराणिककथा संशययुक्त हैं तब यह क्या स्वतः प्रमाण है । १५–प्राणप्रतिष्ठा और आवाहन में आप के मत में क्या भेद है ? । एक जड़ पदार्थ में देवता का आवाहन ही करते हुवे तो प्राणप्रतिष्ठा किया करते हो ॥

द० ति० भा० पृ० ३१८ के नीचे और ३१९ में षड्विंशब्राह्मण का प्रमाण–

यदा देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति स्विद्यन्त्युन्मीलन्ति निमीलन्ति तदा

प्रायश्चित्तं भवतीदंविष्णुर्विचक्रम इति स्थालीपाकᳯहुत्वा पञ्चभिराहुतिभिरभिजुहोति; विष्णवे स्वाहा, सर्वभूताधिपतये स्वाहा, चक्रपाणये स्वाहेश्वराय स्वाहा, सर्वपापशमनाय स्वाहेति, व्याहृतिभिर्हुत्वाथ साम गायेत ॥

जब देवताओं के स्थान कांपते हैं, देवताओं की प्रतिमा रोती हैं, हंसती हैं, नाचती हैं, एकदेश से स्फुटनको प्राप्त होती हैं,पसीने युक्त होती हैं, नेत्र खोलती हैं, मीचती हैं, तब प्रायश्चित्त होता है "इदं विष्णुर्विचक्रमेति" इस मन्त्र से हवन कर पांच व्याहृतियों का हवन करे इस में चक्रपाणि आदि शब्द से ईश्वर साकार सिद्ध होता है इससे यही सिद्ध है कि जब तक यह मूर्त्ति स्थिर रहती है तभी तक शान्ति है चलायमान होते ही वैकारिक गुणयुक्त होती है ईश्वर की अवतारों की मूर्त्ति वेदानुसार प्रतिष्ठा करके पूजन करते हैं परन्तु ईश्वर को आने जाने वाला किसी ने नहीं कहा ईश्वर सर्व व्यापक होने से आता जाता नहीं और मूर्त्ति प्रतिष्ठा करने से क्यों चलायमान हो यह मूर्त्ति तो एक घर समझिये जैसे कोई मनुष्य घर में बैठा है तो क्या वह घर चलने लगेगा कभी नहीं और " स्था गतिनिवृत्तौ " धातु से प्रतिष्ठा शब्द सिद्ध होता है जो चलायमान न हो अचल रहै वही प्रतिष्ठा की जाती है और जो चलै तो हाला चाला होजाय यह तो एक देवताओं के विग्रह हैं उन में देवता आन कर प्रविष्ट होजाते हैं जैसे एक स्थान टूट जाने से मनुष्य और स्थान में चले जाते हैं उसी प्रकार जब मूर्त्ति अशुद्ध हो जाती है या टूट जाती है तो देवता और मूर्त्ति में प्रवेश कर जाते हैं महाभाग्य होने से एक अनेक होजाते हैं, यवनादि के स्पर्श से देवता नहीं रहते उन का निवास बड़े पवित्र स्थान में होता है जैसा घर हालने से बड़ा उत्पात होता है उसी प्रकार मूर्त्ति आदि में विकार होने से प्रायश्चित्त है। पुत्रादिकों में प्राण डालने का विधान नहीं है उन का आत्मा सर्वज्ञ नहीं एक अनेक नहीं होसकता मृतक होने पर कर्मानुसार दूसरे तनु को प्राप्त होता है जो पितर आदि किसी योनि को प्राप्त होता ही है फिर कैसे प्राण आवें और वह कैसे रहैं पिता पुत्र की आत्माकू बुलावै और उस को और बुलावे तो जगत् की व्यवस्था नष्ट हो जावे यह सामर्थ्य देवताओं को

ही है प्रत्येक मूर्त्ति में अपना आत्मा प्रवेश कर सकते हैं ॥

प्रत्युत्तर-प्रथम तो षड्विंश के पाठ की प्राचीनता भी साध्य है । दूसरे उस में देवतों की प्रतिमाओं का हंसना, रोना, नाचना, फटना आदि लिखा है, पूजने का नाम नहीं । तथापि इस का अर्थ यह है कि—

" जब सूर्यादि देवों के लोक कांपते हैं और उन के स्वरूप हंसते वा रोते वा नाचते वा फटते वा पसीना लेते वा चिमचिमाते जान पड़ें, तब यह प्रायश्चित्त है कि (इदं विष्णुर्वि०) इस मन्त्र से स्थालीपाक का होम करके, ये ५ आहुति करे १—विष्णवे स्वाहा २-सर्वभूताधिपतये स्वाहा ३- चक्र पाणये स्वाहा ४-ईश्वराय स्वाहा ५- सर्वपापशमनाय स्वाहा । फिर व्याहृतियों से (भूः स्वाहा, भुवः स्वाहा, स्वः स्वाहा, भूर्भुवः स्वः स्वाहा) ये आहुति देवे और सामगान करे ॥

तात्पर्य यह है कि जब मनुष्य पाप बहुत करते हैं तो विष्णु की व्यवस्थानुसार वायुमण्डल (एटमास्फ़ियर) में कुछ विकार उत्पन्न होता है और हलचल मचती है, रोगादि का बड़ा भय होता है और देवता अर्थात् तारागणों के आकार उसी वायुविकार के कारण बहुत अनोखे २ (विलक्षण २) दृष्टि पड़ने लगते हैं । तब मनुष्यों को अपने पापों का स्मरण करके विष्णु यज्ञ करना चाहिये, जिस से वायुमण्डल में शान्ति हो, रोगादि का भय दूर हो । विष्णु सब जगत् का आधार है इस लिये उसी के नाम की भिन्न २ विशेषणों से आहुति लिखी हैं । इस में देवता शब्द से पाषाणादि निर्मित प्रतिमा अर्थ लेने में कोई प्रमाण नहीं । किन्तु आठ वसुओं के अन्तर्गत होने से शतपथ ब्राह्मणानुसार नक्षत्र, तारागण की देवता संज्ञा तो प्रमाण है । और प्रत्यक्ष में प्रायः देखा भी जाता है कि जब वायु में कोई बड़ा भारी विकार होता है तब रोग अनावृष्टि आदि के चिन्ह तारों के बहुतायत से टूटने, हंसने, रोने आदि दिखाई देने लगते हैं । आपने ५ व्याहृति लिखी हैं सो भूल है । चक्रपाणि शब्द यहां इस लिये प्रयोग किया है कि चक्र अर्थात् तारागण और वायु आदि का चक्र, विष्णु अर्थात् व्यापक सर्वाधार परमेश्वर के हाथ में है अर्थात् वह चाहे जैसा घुमावे। किन्तु इस से ईश्वर को साकार मानना वा उस का पाञ्चभौतिक हाथ मानना भूल की बात है । क्या आपने नहीं देखा कि-

अपाणिपादोजवनो ग्रहीता । श्वेताश्वतोप० ३ । १९

वह हाथ पांव नहीं रखता पर हाथ पांव के काम सर्वव्यापकता से कर लेता है ॥

इस के अतिरिक्त प्रकरण का भी विचार करना चाहिये । षड्विंशब्राह्मण के ५ वें प्रपाठक में १२ खण्ड हैं, ७ वें खण्ड में-

सपृथिवीमन्वावर्त्तते० इत्यादि ॥

पृथिवी लोक के विचित्र उत्पात की शान्ति का वर्णन है । और ८ वें खण्ड में-

सोन्तरिक्षमन्वावर्त्तते० इत्यादि ॥

अन्तरिक्ष लोक के पदार्थों के विकृत दर्शनादि सूचित रोगादि शान्ति का प्रायश्चित्त कहा है । फिर ९ वें खण्ड में-

सदिवमन्वावर्त्ततेऽथ यदास्य तारावर्षाणि चोल्काः पतन्ति निपतन्ति धूमायन्ति दिशोदह्यन्ति० इत्यादि ।

इस लोक में द्युलोकगत उत्पात दर्शन का प्रायश्चित्त कहकर फिर १० वें खण्ड में-

स परं दिवमन्वावर्त्ततेऽथ यदास्यायुक्तानि यानानि प्रवर्त्तन्ते देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति० इत्यादि ॥

इस में परम द्युलोकगत पदार्थों के उत्पातदर्शन का प्रायश्चित्त होमादि कहा है । इस से भी स्पष्ट है कि द्युलोक के देवतों का ही वर्णन है, पृथिवीलोक के आधुनिक प्रचलित देवी भैरवादि की मूर्त्तियों का नहीं । यह वही प्रमाण है जो संवत् १९२६ में श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी के सामने स्वामी श्री विशुद्धानन्दादि पण्डितों ने दिया था । और जिस पराजय का नाम सुनते ही काशीस्थ महात्माओं के मुख से गाली के अतिरिक्त अब भी कुछ नहीं निकलता ॥

यदि मूर्त्ति देह के स्थान में नहीं है, किन्तु घर के तुल्य है, इसी से चलती फिरती नहीं, तो भोजन, स्नान, शयन आदि मूर्त्ति को क्यों कराया जाता है । क्या घर भी न्हिलाये, खिलाये और सुलाये जाते हैं । प्रति उप-

सर्ग पूर्वक "स्था" धातु का अर्थ अचल रहना आप ही के घरू व्याकरण में होगा। जब परमेश्वर सर्वव्यापक है तौ एक मूर्त्ति के यवनस्पर्श होने वा टूटने फूटने से उसे छोड़ दूसरी मूर्त्ति में कैसे जा आ सकता है। मरे हुवे पुत्रादि का आवाहन करके यदि इसकारण नहीं बुला सके कि उन का कर्मानुसार जन्मान्तर हो गया, तौ जन्मान्तर में से भी मन्त्र बल से क्यों नहीं बुला लेते, जब आप के कथनानुसार स्वर्गलोक से जनमेजय के यज्ञ में इन्द्र का सिंहासन भी विचलित होना मानते हैं॥

द० ति० भा० पृ० ३२१ पं० २४ से—

समीक्षा, यह संपूर्ण स्वामी जी का लेख असंगत है यहां यह विचार कर्त्तव्य है कि इस यजुर्वेद के मन्त्रों की किसी पूर्व अथवा उत्तर मन्त्र से संगति है अथवा नहीं जो यह कहैं कि विना संगति ही कार्य कारण उपासना का निषेध किया है तौ यह कहना चाहिये कि "ब्रह्म के स्थान में" यह अर्थ किस पद का है मन्त्र के अक्षरों से तौ असंभूति उत्पत्ति रहित और संभूति उत्पत्तिमत् वस्तु की जो उपासना करता है सो नरक में पड़ता है यही अर्थ प्रतीत होता है तौ यह निर्णय करना चाहिये कि ब्रह्म असंभूति पदार्थ है अथवा नहीं जो उत्पत्तिरहित होने से ब्रह्म भी असंभूति पदार्थ है तौ उस की उपासना करने से भी नरक होगा और जो असंभूति पदार्थ ब्रह्म नहीं तौ संभूति शब्द का अर्थ होगा इस में दो दोष हैं ब्रह्म को कार्यत्वापत्ति और ब्रह्म की उपासना से नरक भी होगा क्योंकि संभूति की उपासना में नरक रूप फल मन्त्रप्रतिपाद्य है जब पूर्व उत्तर संगति विना मन्त्र के अक्षरों के यह अर्थ कैसे करेंगे सो ईशावास्य इस मन्त्र से लेकर "अन्धन्तमः" इस मन्त्र तक कोई ऐसा पद नहीं कि जिस के अर्थ यह हैं कि "ब्रह्म के स्थान में" इस की संस्कृत ब्रह्मणः स्थाने अथवा ईश्वरस्य स्थाने यह कहीं भी नहीं। सज्जन पुरुष यजुर्वेद का ४० वां अध्याय देख कर विचार लेंगे कि क्या प्रकरण है कुछ मन्त्र पूर्व भी लिख आये हैं इस कारण उन का दुबारा लिखना ठीक नहीं ब्रह्म के स्थान में कारण प्रकृति और कार्य पाषाणादि की उपासना करता है सो नरक में गिरता है यह अर्थ प्रकरण विरुद्ध है और यह भी विचारना चाहिये कि "ब्रह्म के स्थान में" इस का भावार्थ क्या है ब्रह्म का स्थान कौन है ब्रह्म की उपासना का स्थान वा ब्रह्म

का निवासस्थान वा ब्रह्मरूप स्थान यह अर्थ है । प्रथमपक्ष में तो ब्रह्म की उपासना स्थान कोई दूसरा पदार्थ स्वामी जी के मत में नहीं है क्योंकि यदि ब्रह्म की उपासना का स्थान कोई पदार्थ मानेंगे तो प्रतीक उपासना सिद्ध होगी क्योंकि ब्रह्मबुद्धि से किसी पदार्थ की उपासना ही प्रतीकोपासना है और यदि ब्रह्म के निवासस्थान को ब्रह्मस्थान मानें तो ब्रह्म को व्यापक होने से सर्व ही वस्तुमात्र ब्रह्म का निवासस्थान है, तिस स्थान में कारण कार्य उपासना करता ही कौन है, जो नरक को प्राप्त होगा क्योंकि कारण प्रकृति और कार्य पृथिवी आदि भी तो ब्रह्म का निवासस्थान है, तिस में कार्य कारण दृष्टि सब को प्राप्त है क्योंकि कारण को कारण और कार्य को कार्य सब ही जानते हैं, परिशेष से ब्रह्मरूप स्थान में जो कारण प्रकृति की और कार्य पृथिवी पाषाणादि की उपासना करता है सो नरक में पड़ता है, यह अर्थ दयानन्द जी को विवक्षित होगा । आशय यह है जो कारण प्रकृतिबुद्धि से और कार्य पाषाणादि मूर्त्तिबुद्धि से ईश्वर की उपासना करता है सो नरक में पड़ता है । जब यह अर्थ इष्ट हुवा तो विचारिये मूर्त्तिपूजक आचार्य ब्रह्म में मूर्त्तिबुद्धि करके पूजन, उपासना करते हैं अथवा मूर्त्ति में ब्रह्मबुद्धि करके पूजनादि करते हैं । प्रथमपक्ष तो कोई विचारशून्य भी ग्रहण न करेगा, दूसरा पूर्व आचार्य मार्गारूढ़ पुरुष सर्वव्यापक ब्रह्म को वा भक्तवात्सल्यादि गुण विशिष्ट कैलासवासी, वैकुण्ठवासी देव को केवल मूर्त्तिरूप कैसे मानेगा, इस कारण मूर्त्ति में ही ब्रह्मबुद्धि दृढ़ करके पूजन करते हैं । स्वामी जी का यह विपरीत ज्ञान है, जो कहते हैं कि ब्रह्म के स्थान में कारण कार्य बुद्धिकर्त्ता को नरक होता है, ऐसी बुद्धि तो इन्हीं की है, प्रतिमापूजकों की नहीं । प्रतिमापूजक तो प्रतिरूप अधिष्ठान में ब्रह्मबुद्धि करके ब्रह्म का पूजन करते हैं । इसी अर्थ को व्यास जी सूत्र से कथन करते हैं ॥

प्रत्युत्तर—"ब्रह्म के स्थान में" यह पद अध्याहार से लिये गये हैं, यदि न लिये जावें तो अर्थ ही नहीं बनता क्योंकि वैसे तो संभूति और असंभूति से भिन्न जगत् का कोई पदार्थ है ही नहीं फिर क्या दोनों प्रकार के पदार्थों का जानना अन्धन्तम नरक का हेतु होगा ?

यद्यपि ब्रह्म भी असंभूति पद का अर्थ हो सकता है, परन्तु उस ब्रह्म की उपासना—

निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ।

इत्यादि वाक्यों में श्रेष्ठफलजनक कही है। इससे अपने अंश में वे वाक्य इस वाक्य के अपवाद होजायंगे। उत्सर्ग की रीति है कि अपवाद के विषय को छोड़कर प्रवृत्त होता है, इसी प्रकार ब्रह्मोपासना अन्य वाक्यों में विहित होने से इस वाक्य द्वारा निषिद्ध नहीं होसकती। जैसे सरकारी कार्यालयों के द्वारों पर प्रायः लिखा रहता है (भीतर मत आओ) तो क्या सरकारी कर्मचारी जिन का वहां बैठ कर काम करना विहित है, उन्हें भी वह निषेध लग सक्ता है? नहीं, किन्तु अन्यों को मनाई है। इसी प्रकार असम्भूति की उपासना के निषेध में ब्रह्मोपासना का निषेध वा निन्दा नहीं आसकती। "ब्रह्म के स्थान में" इस का तात्पर्य यह है कि किसी अन्य कार्य को वा कारण प्रकृति को ही ब्रह्म जान कर उपासना करना नरकप्रद है। ब्रह्म के निवासस्थानादि की कल्पना करना व्यर्थ है और वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध अर्थान्तरकल्पना वाक्छल नाम का छल है॥

अविशेषाऽभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्

न्यायदर्शन १।२।५४

तथा मूर्त्ति आदि में ब्रह्मबुद्धि करना ही तो यहां निन्दित बताया है। पृष्ठ ३२३ में लिखे–

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्॥ शारी० ४।१।५

का अर्थ यह है कि "ब्रह्म के सर्वोत्तम होने से ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में ब्रह्म ही रहता है"॥

जिस प्रकार बाज़ार में अनेक वस्तु यद्यपि रहती हैं, परन्तु जिस को जो अत्यन्त प्रिय और उत्तम जान पड़ता है वह उस के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं देखता। इस में मूर्त्तिपूजा का पता भी नहीं॥

"अन्धन्तमः प्रविशन्ति०" का यह अर्थ जो द० ति० भा० पृ० ३२३ में लिखा है, यह है–

"जो कारण जड़ प्रकृति की उपासना करते हैं, वे अन्धन्तम में प्रवेश करते हैं और जो कार्य की उपासना करते हैं, वे तिस से भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं"

"जादू तो वह जो सिरपै चढ़ के बोले" स्वामी जी भी तो यही कहते हैं कि कारण प्रकृति और कार्य घट, पट, वृक्ष, मूर्त्ति आदि को पूजना नरकप्रद है। बस आप स्वयं ठिकाने आगये॥

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ यजुः ४० । १०

इस प्रकरण का अव्यवहितः प्रति० से अगला मन्त्र है । जिस का अर्थ यह है कि सम्भव असम्भव पदों का यहां लौकिक अर्थ नहीं, किन्तु और ही है। अर्थात् सम्भव कार्य, असम्भव कारण इत्यादि । इस से अगला मन्त्र यह है-

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ॥
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते ॥ ४० । ११

अर्थात् कार्य और कारण को साथ २ जानना चाहिये । इन दोनों को जान कर मृत्यु को तरके अमर हो जाता है ॥

अब बताइये प्रकरण से क्या विरोध आया ?

द० ति० भा० पृ० ३२४ में "न तस्य प्रतिमा अस्ति०" इस मन्त्र का अर्थ करते हुये ३ बात लिखी हैं । १-तत् पद का अर्थ साकार है, निराकार नहीं! २-इस से पिछले दो मन्त्रों में साकार का ही वर्णन है । ३-प्रतिमा का अर्थ मूर्त्ति नहीं, किन्तु तुल्यरूपान्तर है ॥

प्रत्युत्तर-'तस्य' पद को आप परमात्मा के लिये मानते हैं, फिर साकारता कैसे? यदि साकार का वर्णन होता तो "प्रतिमा है" ऐसा कहा जाता, "प्रतिमा नहीं है" यह कभी न कहते । २-पूर्व मन्त्र यह है-

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि । नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् ॥ यजुः ३२ । २ ॥ न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः । हिरण्यगर्भ इत्येषः । मा मा हिꣳसीदित्येषा । यस्मान्न जात इत्येषः ॥ ३२ । ३ ॥

हे मनुष्यो ! (विद्युतः) विशेष करके प्रकाशमान (पुरुषात्) पूर्ण परमात्मा से (सर्वे) सब (निमेषाः) निमेष, कला, काष्ठा आदि काल के अवयव (अधि) अधिकता से (जज्ञिरे) उत्पन्न होते हैं (एनम्) इस परमात्मा को (न) न (ऊर्ध्वम्) ऊपर (न) न (तिर्यञ्चम्) तिरछा (न) न (मध्ये) मध्य में (परिजग्रभत्) सब ओर से कोई पकड़ सकता है । अर्थात् निराकार होने से वह ऊपर नीचे बीच में कहीं इन्द्रियग्राह्य नहीं हो सक्ता ॥

क्योंकि (तस्य) उस परमात्मा की (प्रतिमा) देह वा आकार वा मूर्त्ति (न अस्ति) नहीं है, इस से पकड़ा नहीं जासकता । (यस्य नाम महद्यशः) जिस का नामस्मरण बड़ा यश करने वाला है (हिरण्यगर्भ इत्येषः) जिस का वर्णन [हिरण्यगर्भः] २५ । १० -१३ इस अनुवाक में है और जिस का वर्णन वा यश "मा मा हिंसीत्" १२ । १०२ ऋचा में है तथा जिस की कीर्त्ति " यस्मान्न जातः परो अन्यः " इत्यादि ८ । ३६, ३७ अनुवाक में है, उस की प्रतिमा नहीं है ॥ ३ ॥

प्रतिमा का अर्थ यहां मूर्त्ति ही है क्योंकि न पकड़ा जा सकने में यह हेतु दिया है कि उस की मूर्त्ति नहीं है । मूर्त्तिमान् पदार्थ पकड़ने में आसकते हैं, अमूर्त्त नहीं ॥

द० ति० भा० पृष्ठ ३२५ में " कासीत् प्रमा प्रतिमा०" इत्यादि मन्त्र का प्रमाण दिया है ॥

प्रत्युत्तर—इस से पूर्व ऋ० १० । १३० । १ में यह मन्त्र है कि-

योयज्ञोविश्वतःतन्तुभिस्ततः० इत्यादि ।

जिस का तात्पर्य यह है कि जो यज्ञ (सृष्टिरचनरूपयज्ञ) विश्वभर में फैला है ॥

पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति० इत्यादि । ऋ० १० । १३० । २ ॥

परमात्मा इस सृष्टिरूप यज्ञ को रचता और उधेड़ता (प्रलय करता) है । फिर ऋ० १० । १३० । ३ मन्त्र यह है—

कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत् । छन्दः किमासीत्प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे

इस मन्त्र में यह प्रश्न किया है कि यदि सृष्टि को यज्ञस्वरूप में वर्णन करते हैं तो सृष्टिरूप यज्ञ का प्रमा, प्रतिमा, निदान, आज्य, परिधि, छन्दः, प्रउग और उक्थ क्या २ वस्तु कल्पना करने चाहियें । इस में ईश्वर की मूर्त्ति का वर्णन नहीं है । आप न मानें तो सायणाचार्य के भाष्य को देख लीजिये-

विश्वसर्जनोपायत्वेन प्रजापतिना सृष्टे यज्ञे विश्वस्य स्रष्टारोविश्वसृजोदेवाः विश्वसर्जनाय तं यज्ञमन्वतिष्ठन् तस्मिन् समये जगतोऽनुत्पत्तेः जगदन्तःपातिनोयागोपक

रणभूता: पदार्था: कथमासन्नित्यनया प्रश्नः क्रियते–यद्यदा विश्वे सर्वे साध्या देवा देवं प्रजापतिमयजन्त। तदानीं तस्य यज्ञस्य प्रमा प्रमाणम् इयत्ता का कथंभूतासीत्। तथा प्रतिमा हविः प्रतियोगित्वेन मीयते निर्मीयते इति प्रतिमा देवता सा वा तस्य यज्ञस्य कासीत्। तथा निदानमादिकारणं यागे अप्रवृत्तस्य प्रवर्त्तकं फलं किमासीत्। तथा आज्यं घृतम् एतदुपलक्षितं हविर्वा तस्य यज्ञस्य किमासीत्। तथा परिधिः परितो धीयन्त इति त्रयः परिधयो बाहुमात्राःपलाशादिवृक्षजन्याः परिपूर्वाद्धधातेः "उपसर्गे घोः किरिति" किप्रत्ययः,के आसन्नित्यर्थः। तथा तस्य यज्ञस्य गायत्र्यादिकं छन्दः किमासीत्। प्रउगमुक्थम् उपलक्षणमेतत् आज्यप्रउगादीनि उक्थानि शस्त्राणि वा कान्यासन्॥ एतेषु प्रश्नेषु त्रयाणामुत्तरम्–

संसारोत्पादन के उपायभूत, परमेश्वर के रचे यज्ञ में, संसार के उत्पादक (पृथिव्यादि सूक्ष्म भूत) देवतों ने उस यज्ञ का अनुष्ठान किया। परन्तु उस समय जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था और जिन साधनों से यज्ञ किया जाता है वे पदार्थ जगत् के अन्तर्गत हैं इस लिये इस ऋचा में यह प्रश्न किया गया है कि यज्ञ के साधन तब किस प्रकार हुवे। उस सृष्टिरूप यज्ञ की "प्रमा" परिमाण क्या था? उस की "प्रतिमा" हविः स्थानी पदार्थ जो हविः के स्थान में प्रतिनिधि था वह क्या था? तथा "निदान" आदि कारण वा यज्ञ में अप्रवृत्त को प्रवृत्त कराने वाला फल क्या था? और "आज्य" घृत और इस के साथी अन्य हव्यपदार्थ क्या थे? एवं "परिधि" जो बाहुमात्र पलाशादिवृक्षजनित ३ होती हैं और समीप में वेदी के रक्खी जाती हैं वे क्या थीं? उस यज्ञ का गायत्र्यादि छन्द क्या था? प्रउग उक्थादि स्तोत्र क्या थे? इन में से ३ प्रश्नों का उत्तर–(अगले मन्त्र में वर्णित है)

अब "न तस्य०" मन्त्र में जो "मा मा हिꣳसीदित्येषा" यह प्रतीक है इस का पूरा मन्त्र और उस का अर्थ देखिये–

मा मां हिꣳसीज्जनिता यः पृथिव्या योवा दिवꣳ

सत्यधर्मा व्यानट् । यश्चापश्चन्द्राःप्रथमोजजान
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजुः ॥ १२ । १०२

अर्थः-(यः सत्यधर्मा) जो सत्यधर्म वाला परमेश्वर (पृथिव्याः) पृथिवी का (जनिता) उत्पादक (वा) और (यः) जो (दिवम्) द्युलोक को (च) और (अपः) जलों को और (चन्द्राः) चन्द्रमाओं को (जजान) उत्पन्न करता है उस (कस्मै) प्रजापति (देवाय) देव के लिये हम (हविषा विधेम) भक्तिपूर्वक सेवन करें, जिस से वह (मा) मुझे (मा हिंसीत्) न हिंसा करे ॥

" यस्मान्न जातः "-इस प्रतीक का पूरा मन्त्र यह हैः-

यस्मान्न जातःपरो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा। प्रजापतिःप्रजया सꣳ रराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोड शी ॥ यजुः ८ । ३८ ॥

(यस्मात्) जिस से (परः) उत्तम (न) नहीं (अन्यः) दूसरा (जातः) हुवा है । (यः) जो (विश्वा भुवनानि) सब भुवनों में (आ विवेश) व्याप रहा है (सः प्रजापतिः) वह संसार का स्वामी (प्रजया) संसार के साथ (संरराणः) भले प्रकार दान करता हुवा (त्रीणि ज्योतींषि) तीन ज्योतियों को (षोडशी) प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथिवी इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक, नाम; इन प्रश्नोपनिषद् (६ । ४) में कही १६ कला वाला (सचते) समन्वित करता है ॥

इन मन्त्रों में भी कोई ऐसी बात नहीं आती जिस से परमात्मा की साकारता पाई जावे । न यह पाया जाता है कि सब जगत् ही परमात्मा है प्रत्युत सब जगत् में परमात्मा व्याप रहा है । यह पाया जाता है ॥

आगे द० ति० भा० पृ० ३२६ से ३२८ तक में-(यद्वाचानभ्युदितम्) इत्यादि केनोपनिषद् के प्रमाण जो स्वामी जी ने मूर्त्तिपूजाखण्डन में दिये हैं उन का अर्थ करके लिखा है कि यह प्रतीकोपासना सिद्ध हुई ॥

प्रत्युत्तर-आप भी तो दृश्य की उपासना का निषेध करते हैं और द्रष्टा परमात्मा की उपासना का विधान करने वाला अर्थ करते हैं । बस जितने प्रतीक वा दृश्य पाषाणादि पदार्थ हैं वे पूजा उपासना योग्य नहीं और जो स्वयं अदृश्य तथा सब का द्रष्टा ब्रह्म है वही उपासनीय है । यह आप ही

के लेख से सिद्ध होता है ॥

द० ति० भा० पृ० ३२८ पं० २८ प्राप्तौ सत्यां निषेधः । प्राप्ति होने से निषेध होता है तो मूर्त्तिपूजन वेद से भी पूर्व का सिद्ध हुआ ॥

प्रत्युत्तर-तो वेदादि शास्त्रों में झूठ, छल, छिद्र, काल, व्यभिचार, मद्य, मांसादि का जितना निषेध है आप के मतानुसार सब पूर्व का होने से त्याज्य नहीं ? धन्य हो। विहित का अनुष्ठान और निषिद्ध का त्याग ही कर्त्तव्य होता है, यह सब भूमण्डल का सिद्धान्त है। आप निषिद्ध को पूर्व का होने से ग्राह्य समझते हैं, यह आप की जडोपासनाजडितबुद्धि का फल है। धर्माधर्म दोनों ही सनातन हैं परन्तु धर्म करना और अधर्म न करना चाहिये। किन्तु आप का तो जो सनातन है वही कर्त्तव्य है इस लिये आप निषिद्ध भी सनातन को ही मानेंगे सो मानिये ॥

स्वामी जी ने जो युक्तिपूर्वक सत्यार्थप्रकाश में मूर्त्तिपूजा के १६ दोष दिखाये हैं उन के उत्तर में द० ति० भा० पृ० ३३१ से ३३७ तक १६ दोषों का उत्तर और मूर्त्तिपूजा के १६ लाभ बताये हैं जिन का उत्तर एक एक करके इस लिये आवश्यक नहीं कि साधारण आर्यलोग भी इस प्रकार के प्रश्नोत्तर कर लेते हैं। कोई शास्त्रसम्बन्धी प्रमाण नहीं, हां उस में जो मुख्य २ तर्क हैं उन का उत्तर दिया जाता है ॥

द० ति० भा० पृ० ३३१ पं० ३१ में-

नाम ही नामी को मिला देता है ॥

प्रत्युत्तर-तो बस परमेश्वरादि नाम ही परमात्मा से मिला देंगे, मूर्त्ति-पूजा व्यर्थ है ॥

द० ति० भा० पृ० ३३३ पं० १४ में-

जब उस के नाम और मूर्त्ति की इतनी प्रतिष्ठा करते हैं तो वह स्वयं उपस्थित हो तो कितनी प्रतिष्ठा हो ॥

प्रत्युत्तर-आप तो पूर्व सब जगत् को ही साकार ब्रह्म बता चुके हैं, फिर यहां यह क्यों लिखते हो कि "यदि वह स्वयं उपस्थित हो" इस से यह विदित होता है कि वास्तव में स्वयं मूर्त्ति को साक्षात् परमेश्वर नहीं मानते। इस से आप का "न तस्य प्रतिमा" के अर्थ में लिखा सब वस्तुमात्र साकार ब्रह्म है, लिखना ठीक नहीं, हां हां मैं भूल गया, वह आप का तो लेख और भाषा नहीं किन्तु साधुसिंहादि की कृपा वा प्रसाद है ॥

द० ति० भा० पृ० ३३३ पं० २२ में—

क्या इन मूर्त्तियों से महारानी और लाट मिन्स्टरादि कुछ बुरा मानते हैं प्रत्युत प्रसन्न होते हैं ॥

प्रत्युत्तर—महाराणी आदि साकार हैं इन की मूर्त्ति उचित हैं इस लिये प्रसन्न होते हैं । निराकार शुद्ध परमात्मा में साकारादि दोष कल्पना निःसन्देह उस की अप्रसन्नता का कारण होसकता है ॥

द० ति० भा० पृ० ३३७ पं० १६ से—

जहां मूर्त्तिपूजन नहीं होता उस देश की पृथिवी में अधिक सुगन्धित पुष्प नहीं होते, यह इस में प्रत्यक्ष प्रमाण है ॥

प्रत्युत्तर—धन्य हो ! जब अन्यदेशों में अविद्यावश बौद्धमत वा रोमन कैथोलिक लोग मूर्त्तिपूजा अधिक करते थे तब क्या वहां पुष्प सुगन्धि अधिक थी ? और अब नहीं रही ? प्रत्युत विद्या के प्रभाव से अब अन्यदेशों में भी सुगन्धियुक्त पुष्प अधिक होने लगे हैं । विद्वान् मालियों ने अनेक युक्तियों से सुगन्धियुक्तपुष्प बोने आरम्भ कर दिये हैं ॥

द० ति० भा० पृ० ३३८ पं० १३ से—

अब मूर्त्तिपूजन प्रतिष्ठादि वेदमन्त्रों से लिखते हैं—"यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसोऽव्यक्षरत्स इमे द्यावापृथिवी अगच्छद्यन्मृदियं तद्यदापोऽसौ तन्मृदश्चाऽपाञ्च महावीराः कृता भवन्ति तस्मान्मूर्त्तिनिर्माणाय मृत्पिण्डं परिगृह्णाति । इत्यादि ॥ शतपथ १४ । १ । २ । ९

प्रत्युत्तर—इस से अधिक धर्मात्मापना क्या होगा कि शतपथब्राह्मण में न तो इस क्रम से पाठ है, और पाठ में भी लिखते छपते कुछ भूल होजावे यह संभव है । परन्तु शतपथ में "मूर्त्तिनिर्माणाय" यह पद भी नहीं है । और आप ने अपनी ओर से स्वार्थसाधनार्थ मिला दिया । यदि कोई न्याय करने वाला हो तो आप की गति क्या हो ! ! ! शतपथब्राह्मण छापा बर्लिन पृ० १०२४ में—

अथ मृत्पिण्डं परिगृह्णाति । अभ्र्या च दक्षिणतोहस्तेन च हस्तेनैवोत्तरतोदेवी द्यावापृथिवी इति यज्ञस्य शीर्षच्छिन्नस्य रसोव्यक्षरत्स इमे द्यावापृथिवीअगच्छद्य-

न्मृदियं तद्यदापोऽसौ तन्मृदश्चाऽपां च महावीराः कृता भवन्ति तेनैवैनमेतद्रसेन समर्धयति कृत्स्नं करोति तस्मादाह देवी द्यावापृथिवी इति मखस्य वामद्य शिरोराध्यासमिति यज्ञोवैमखो यज्ञस्य वामद्य शिरोराध्यासमित्येवैतदाह देवयजने पृथिव्या इति देवयजने हि पृथिव्यै संभरति मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्ण इति यज्ञोवै मखो यज्ञाय वा यज्ञस्य वा शीर्ष्ण इत्येवैतदाह॥ शतपथे १४।१।२।९

इस में न तो उस क्रम से पाठ है और न "मूर्त्तिनिर्माणाय" पद है। और न इस पद के विना कुछ भी आप का प्रयोजन सिद्ध होता है। तात्पर्य तो यह है कि "देवी द्यावापृथिवी० यजुः ३७। ५ इस मन्त्र से यज्ञ में महावीर संज्ञक यज्ञपात्र निर्माणार्थ मिट्टी का ढला (पिण्ड) लावे॥

अब हम शतपथ ब्राह्मण से ही यह भी दिखलाना चाहते हैं कि महावीर हवन के पात्र विशेष की संज्ञा है। यथा–

तदाहुः। यद्वानस्पत्यैर्देवेभ्योजुह्वत्यथ कस्मादेतन्मृन्मयेनैव जुहोतीति। इत्यादि। शतपथे १४। २। १। ५३

जिस का भावार्थ यह है कि महावीर संज्ञक पात्र मिट्टी के क्यों बनावे वनस्पति (काष्ठ) के पात्रों से देवतों को हवन किया करते हैं सो यह भी काष्ठ के क्यों न बनाये जावें? इस का उत्तर अगली कण्डिका में स्पष्ट दिया है कि–

स यद्वानस्पत्यः स्यात् प्रदह्येत। यद्धिरण्मयःस्यात्प्रलीयेत। यल्लोहमयः स्यात्प्रशिच्येत। यदयस्मयः स्यात्प्रदहेत्परीशासात्रथैष एवैतस्मा अतिष्ठत। तस्मादेनं मृन्मयेनैव जुहोति

शतपथे १४। २। १। ५४

अर्थात् काष्ठ के का यह भय है कि वह अग्नि में भस्म हो जावे। सुवर्ण का गल जावे। लोहमय चू जावे। अयोमय फूंकने लगे। इस लिये यही ठीक है कि मृण्मय (मिट्टी के) से होम करे॥

इस में भी जुहोति क्रिया से महावीर का होमसाधन होना पाया जाता है । परमात्मा की मूर्त्ति होना नहीं । आप ने भी पृष्ठ ३५१ में यह कण्डिका पाठभेद करके लिखी है और " जुहोति=हवन करता है " । इस पद का अर्थ मूर्त्ति बनाना किया है । जो किसी व्याकरण कोष निरुक्तादि का मत नहीं । और यदि आप ही के पक्ष को मान लें तो काष्ठ पाषाण पीतल आदि की मूर्त्ति वर्जित रहें, केवल मट्टी की मूर्त्ति बनाई जावें ॥

मन्त्र में " द्यावापृथिवी " लिङ्ग है इस से मिट्टी के विषय में शतपथकार ने इस का विनियोग किया है । मन्त्र अर्थसहित हम नीचे लिखते हैं परन्तु यज्ञप्रकरण में इस के उपमालङ्कार से उपदिष्ट स्त्रीशिक्षा का प्रयोजन नहीं है । यथा—

देवी॑ द्यावापृथिवी म॒खस्य॑ वाम॒द्य शिरो॑ राध्यासं देव॒यज॑ने पृथि॒व्याः ॥ म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे ॥ यजुः ३७ । ३ ॥

(देवी) उत्तम गुणयुक्त (द्यावापृथिवी) प्रकाश और भूमि के तुल्य स्त्रियो ! (अद्य) इस समय (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच (देवयजने) देवयज्ञ में (वाम्) तुम दोनों के (मखस्य) यज्ञ के (शिरः) उत्तमाङ्ग को मैं (राध्यासम्) सिद्ध करूं (मखस्य शीर्ष्णे) यज्ञ के उत्तमाङ्ग के लिये (त्वा) तुझ को और (मखाय) यज्ञके लिये (त्वा) तुझ को सिद्ध करूं ॥ ३ ॥

द० ति० भा० पृष्ठ ३३९ पं० ११ में जो शतपथ का पाठ लिखा है, उस में भी " मूर्त्तिनिर्माणाय " यह अपनी रचना का मिला दिया ! धन्य आप का साहस ! ! इस में बंबी की मिट्टी लेने का विधान है क्योंकि अगले मन्त्र में " वम्रयः " लिङ्ग आया है । इस से बंबी के विषय में इस का विनियोग किया है । मन्त्र अर्थसहित नीचे लिखे अनुसार है—

यह भी ध्यान रहे कि आप ने जो मूल मन्त्रों के अर्थों में बार २ " हे महावीर " लिखा सो मन्त्रों में महावीर पद का चिह्न तक नहीं । प्रत्युत इस ३७ वें अध्याय भर में महावीर शब्द तक नहीं आया । यथा—

देव्यो॑ वम्र्यो भूतस्य॑ प्रथम॒जा म॒खस्य॑ वो॒
ऽद्य शिरो॑ राध्यासं देव॒यज॑ने पृथि॒व्याः ॥
म॒खाय॑ त्वा म॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे ॥ यजुः ३७ । ४ ॥

है (प्रथमजाः) पहले से हुई (वम्रयः) थोड़ी अवस्था वालीं (देव्यः) देवियो । (भूतस्य) सिद्ध हुए (मखस्य) यज्ञ को (पृथिव्याः) पृथिवी के (देवयजने) देवयज्ञ में (अद्य) आज (वः) तुम लोगों को (शिरः) शिर के तुल्य (राध्यासम्) मैं सिद्ध किया करूं, शेष पूर्ववत् ॥ ३७ । ४ ॥

शतपथ बर्लिन का छपा पृष्ठ १०२५ कण्डिका १२ में यज्ञार्थ अजाक्षीर लेने का वर्णन है, परन्तु मूर्त्ति का वहां चिन्ह भी नहीं, पुस्तक बढ़ने के भय से पाठ उद्धृत नहीं किया, जो चाहें सो उस पुस्तक के इसी पते पर देख सकते हैं । यहां मूर्त्ति शब्द तक नहीं आया ॥

इस का मन्त्र यजुः ३७ । ७ है इस में भी महावीर पद नहीं आया ।

द० ति० भा० पृ० ३४२ पं० १० में-

सर्वानेवास्मा एतद्देवान्त्सिगोमूनकरोति । श० १४ । १ । २ । १५

प्रत्युत्तर-इस में भी मूर्त्ति शब्द नहीं आया, फिर आप इस का अर्थ करते समय पं० २० में मूर्त्ति शब्द कहां से ले आये ? न मन्त्र ३७ । ७ में कहीं भी मूर्त्ति शब्द है, न महावीर शब्द है ॥

द० ति० भा० पृ० ३४३ में-अथ मृत्पिण्डमुपादाय त्रीन्महावीरान्करोति इत्यादि । फिर इस के अर्थ में मृत्पिण्ड लेकर महावीर की ३ मूर्त्ति बनाता है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर-आप के लिखे समान न तो शतपथ में पाठ है, न मूर्त्ति शब्द है, किन्तु नीचे लिखे अनुसार पाठ है-

मृत्पिण्डमुपादाय महावीरं करोति मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णऽइत्यसावेव बन्धुः प्रादेशमात्रं, प्रादेशमात्रमिव हि शिरोमध्ये संगृहीतं,मध्ये संगृहीतमिव हि शिरोऽथास्योपरिष्टात् त्र्यङ्गुलं मुखमुन्नयति नासिकामेवास्मिन्नेतद्दधाति तं निष्ठितमभिमृशति मखस्य शिरोऽसीति मखस्य ह्येतत्सौम्यस्य शिर एवमितरौ तूष्णीं पिन्वने तूष्णीᳪं रौहितकपाले ॥ शतपथे १४ । १ । २ । १७

कछुवे आदि के कपाल के सांचे से उसी प्रकार के ये ३ मृत्पात्र बनाने की विधि है । मिट्टी का डला लेकर एक महावीर बनावे और "मखाय त्वा"

३७ । ८ पढ़े । यह महावीर प्रादेशमात्र (८ अङ्गुल) लम्बा चौड़ा गोल बनावे क्योंकि कपाल (जो उस का सांचा=मैट्रिस है) भी प्रादेशमात्र ही होता है । और बीच में महावीर पात्र सुकड़ा रहे जैसा कि शिर बीच में सुकड़ा होता है । और ३ अङ्गुल का ऊपर को मुंह उस पात्र का उठावे, जिस से उस में का हव्य पदार्थ अग्नि में सुगमता से निकल जावे, और आगे को नाक सी बनादेवे जैसी कि कछुवे की होती है । इसी प्रकार दूसरे और तीसरे महावीरों को बनावे । फिर बिना मन्त्र चुप पिन्वन और चुप ही दो रौहिण कपाल बनावे । ये पात्र कपाल (खोपड़ी) के आकार के होते हैं इस लिये इन का सांचा भी खोपड़ी और प्रायः नाम भी कपाल होता है ॥ इस प्रसङ्ग में महावीरों का पात्रविशेष होना और भी स्पष्ट हो गया ॥

द० ति० भा० पृ० ३४४ । ३४५ । ३४६ । ३४७ । ३४८ में महावीरसंज्ञक पात्रों को धूप में सुखाना, अग्नि में पकाना, अग्नि से निकालना, बकरी के दूध में धोना, प्रोक्षण करना, पोंछना, घृत से चिकनाना, उन की प्रशंसा करना, प्राणादि से उन को फूंक द्वारा फूंकना, (देखो श० १४ । १ । ३ । ३०) लिखा है और आपने उसे मूर्त्ति पर घटाया है । परन्तु यजुः ३७ अध्याय के जो २ मन्त्र आप ने दिये हैं न तो उन मन्त्रों में मूर्त्ति पद आया, न शतपथ ब्राह्मण में, किन्तु आप ने सारे संसार को अन्धा समझ के वा आंखों में धूल डालने के विचार से अन्धाधुन्ध (मूर्त्तिनिर्माणाय *) पद घुसेड़ दिया । जिस से समस्त प्रकरण का अर्थ लौट गया । पाठक लोग यजुः अध्याय ३७ के जितने मन्त्र हैं उन का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी कृत भाष्य में भी उपस्थित है, वहां देख सकते हैं, यहां लिखने से पुस्तक बढ़ेगा । नवीन कोई बात नहीं जिस के लिये पुस्तक बढ़ाया जावे ॥

द० ति० भा० पृ० ३४९ । ३५० में हवन के मन्त्रों को मूर्त्ति फटजाने का प्रायश्चित्त होम बताया है सो यह मूर्त्ति का प्रकरण ही नहीं किन्तु यज्ञ-पात्रों का है, फिर उन के लिखने की आवश्यकता ही क्या है । तथा आप की अन्त्येष्टि पद्धति और स्वामिदया० जी कृत अन्त्येष्टि में इन मन्त्रों को लिखा है, सो आप ने मूर्त्तिपूजा सिद्ध करने में लगा दिया ! धन्य हो !!

* दूसरी बार के छपे द० ति० भा० में न जाने क्यों, मूर्त्तिशब्द नहीं है, किन्तु (निर्माणाय) इतना ही है । परन्तु भावार्थ में फिर भी " मूर्त्ति-निर्माणार्थ " ही लिखा है ।

द० ति० भा० पृ० ३५२ पं० ६ से—

उद्नो दिव्यस्य नो धातरीशानो वि ष्या दृतिम् ।
(अथर्व० ७ । १९ । १)

प्रत्युत्तर—(सायणभाष्यम्-)

प्र नभस्व इति वृष्टिकामोमरुद्भ्योमान्त्रवर्णकीभ्यो वा देवताभ्यः क्षीरौदनहोमः । "प्रनभस्वइति वर्षकामोद्वादशरात्रम्" कौ० ५ । ५ ॥

२—दर्शपूर्णमासयोः पत्नीसंयाजेषु सौम्ययागं "नघ्रंस्ततापं" इत्यनयाऽनुमन्त्रयेत ॥

मन्त्रभाष्यम्—अत्र द्वितीयादिपादत्रये वृष्ट्यर्थं पर्जन्यः प्रार्थ्यते तदर्थमादौ अतिवृष्ट्या भूमेर्बाधा माभूदिति, तस्याः स्थैर्यं प्रथमपादे आशास्यते । हे पृथिवि! विस्तीर्णे भूमे! त्वं प्रनभस्व । नभतिर्गतिकर्मा । प्रकर्षेण सङ्गता उच्छ्वसिता भव । अयमर्थः—सस्यादिवृद्ध्यर्थं पर्जन्यस्तवोपरि महतीं वृष्टिं करिष्यति, तयातिवृष्ट्या त्वं शिथिलावयवा मा भव किन्तु दृढा भवेति ० ० ० ईशानः वृष्टिप्रदानशक्तस्त्वं दृतिं जलपूर्णां भस्त्रां मेघरूपां विष्य विमुञ्च। यथा जलपूर्णात् दृतिमुखात् महज्जलं स्रवति एवं मेघेभ्यो महतीं वृष्टिं कुर्वित्यर्थः ॥

इस में भी मूर्त्ति का वर्णन नहीं है, इस के लिये हम ने आप ही के पक्ष का सायणभाष्य ऊपर लिखा है। जिस का तात्पर्य यह है कि—

"प्रनभस्व—इस मन्त्र से वर्षा की कामना करके मरुतों वा मन्त्ररूप देवतों के लिये दूध, चावल का होम है। इस विषय में कौथुमीय०५।५का प्रमाण है । दर्श पौर्णमासेष्टियों के पत्नीसंयाजों में (नघ्रंस्ततापं) इस मन्त्र का विनियोग है" ॥

प्रनभस्व० इसी ऋचा का उत्तरार्ध आप ने लिख दिया है । मन्त्र के आरम्भ से सायणभाष्य का (जो ऊपर लिखा है) आशय यह है कि—

"इस में दूसरे पाद से लेके ३ पादों में वृष्टि के लिये पर्जन्य देवता की प्रार्थना है। इस लिये प्रथम यह कहा है कि अतिवृष्टि से पृथिवी को बाधा न हो। इस कारण पहले पाद में पृथिवी की स्थिरता चाही गई है। हे पृथिवि! विस्तृत भूमि! तू अत्यन्त उच्छ्वसित हो अर्थात् खेती आदि की वृद्धि के लिये पर्जन्य तुझ पर बड़ी वर्षा करेगा, उस से तू ढीली न होगा, किन्तु दृढ़ रहना" ॥

अब उत्तरार्ध का अर्थ सायणकृत सुनिये, जो आप ने मूर्त्तिपूजा पर लगाया है—

"(ईशानः) वर्षा करने में समर्थ तू (दृतिम्) जलभरी मशक [मेघ] को (वि-ष्य) छोड़। जैसे जल भरी मशक के मुख से धध धध जल गिरता है, ऐसे मेघों से भारी वर्षा कर" ॥

इस सायणभाष्य से भी यह स्पष्ट हो गया कि दृति का अर्थ चमड़े की मशक है। मूर्त्तिव्यापक परमेश्वर नहीं। तथा पृष्ठ ३५५ में जो आप ने (नग्नं तत्ताप) मन्त्र से मूर्त्तिपूजा सिद्ध की है, उसे भी सायणाचार्य ने यहीं बता दिया है कि यह मन्त्र दर्शपौर्णमास इष्टियों में यजमानपत्नी के संयाजों में सौम्ययाग के अनुमन्त्रण में काम आता है, मूर्त्तिपूजा में नहीं। विस्तार के भय से आगे हम इस का सायणभाष्य न लिखेंगे। यद्यपि हम सायणभाष्य को सर्वांश प्रमाण नहीं करते, परन्तु आपका मुख बन्द करने को तो सायणभाष्य पुष्कल प्रमाण है और विशेष कर जब कि आप का किया अर्थ प्रमाणरहित और सायण का प्राचीन आपका माना हुआ और कौथुमादि के प्रमाणयुक्त है॥

द० ति० भा० पृ० ३५२ पं० १४ से—

एह्यश्मा॑नु॒मा ति॑ष्ठा॒श्मा भ॑वतु ते त॒नूः। कृ॒ण्वन्तु॒ विश्वे॑ दे॒वा आयु॑ष्टे श॒रदः॑ श॒तम् ॥ अथर्व कां० २। सू० १३। मं० ४

प्रत्युत्तर—

(सायणः सूक्तारम्भे) आयुर्दा इति सूक्तं गोदानाख्ये संस्कारकर्मणि अनुयोजयेत्। "शान्त्युदकं करोति तत्रैतत्सूक्तमनुयोजयति" कौ० ७। ४ एह्यश्मानमित्यनया दक्षिणेन पादेनाश्मानमास्थापयेत्। (मन्त्रभाष्यम्) हे माणवक! एहि आगच्छ। अश्मानम् आतिष्ठ, दक्षिणेन पादेन क्रम। ते तव तनूः शरीरम् अश्मा

भवतु । अश्मवत् रोगादिविनिर्मुक्तं दृढं भवतु । विश्वेदेवाश्च ते तव शतसंवत्सरपरिमितम् आयुः कृण्वन्तु कुर्वन्तु ॥

अर्थ-इस सूक्त के आरम्भ में सायणाचार्य कहते हैं कि (आयुर्दा०) यह सूक्त गोदान संस्कार में विनियुक्त किया जाता है । कौथुमशाखीय ५ । ४ के प्रमाण से सायणाचार्य कहते हैं कि इस से शान्ति का जल करते हैं । अर्थात् (एह्यश्मान०) इस मन्त्र से संस्कार वाले बालक का दहिना पांव पत्थर पर रखवावे । सायणाचार्यकृत मन्त्रार्थ-हे बालक ! आ पत्थर पर बैठ । तेरा शरीर पत्थर अर्थात् पत्थर के तुल्य रोगादिरहित पुष्ट हो । देवता तेरी १०० वर्ष की आयु करें ।

(आयुर्दा०) इस सूक्त का चतुर्थ मन्त्र (एह्यश्मानमातिष्ठ०) यह है । जिस का अर्थ सायण तो कौथुमीय प्रमाणपूर्वक यह करते हैं कि बालक की लात (चरण) पत्थर पर लगवाया जाय । और आप मूलविरुद्ध, सायणविरुद्ध और कौथुमीय प्रमाणविरुद्ध (पत्थर) का पूजना सिद्ध करते हैं । इस में वा इस से पिछले मन्त्र में कोई परमेश्वर का वाचक शब्द भी नहीं है ॥ "

द० ति० भा० पृ० ३५२ पं० २१ में-दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । इत्यादि यजुर्मन्त्र ३६ । १८ के (दृते) पद का अर्थ-हे मूर्त्तिव्यापक परमेश्वर ! किया है ॥

प्रत्युत्तर-शेष मन्त्र के अर्थ में कोई विवाद नहीं केवल (दृते) पद के अर्थ में विवाद है । आप "दृति" का अर्थ मूर्त्तिव्यापक किस प्रमाण से लेते हैं ? निघण्टु में तो दृति मेघ का नाम है । आप के मान्य अमरकोष में-

दृतिसीमन्तहरितोरोमन्थोद्गीथबुद्बुदाः ।

तृतीयकाण्ड लिङ्गादिसंग्रहवर्ग श्लोक १९ के महेश्वरकृत अमरविवेक टीका में-

दृतिः चर्मपुटः ।

अर्थात् चमड़े के कुप्पे वा " मशक " को दृति लिखा है । मेदिनीकोष का प्रमाण भी टीकाकार देता है कि-

दृतिश्चर्मपुटे मत्स्येनेति मेदिनी ।

यदि आप महीधर भाष्य को प्रमाण करते हों तो उसी को देखिये । वह (दृते) का अर्थ करता है कि-

(दृते) दृ विदारे, विदीर्णे जराजर्जरितेऽपि शरीरे ।

अर्थात् बुढ़ापे से शरीर शिथिल होने पर ॥

दूसरा अर्थ महीधर ने यह किया है कि—

यद्वा—ससुषिरत्वात्सेक्तृत्वाच्च दृतिशब्देन महावीरः ॥

अर्थात् छेदयुक्त और सींचने का पात्र होने से दृति महावीर पात्र का नाम जानो ॥

फिर हम नहीं जानते कि आप (मूर्त्तिव्यापक परमेश्वर) अर्थ किस आधार पर करते हैं । यथार्थ में तो वैदिक शब्दों के यौगिकार्थ बल से यहां " दृ विदारणे " धातु के आश्रय से केवल यह अर्थ है कि (हे सर्वदुःखविदारक !) आगे मन्त्रार्थ सुगम और निर्विवाद है ॥

द० ति० भा० पृ० ३५३ पं० १० में—दृते दृंह मा ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम्०अथर्व ॥

प्रत्युत्तर—यहां भी दृति का अर्थ मूर्त्तिव्यापक करना सर्वथा निर्मूल है । ठीक अर्थ यह है कि " हे सर्वदुःखविदारक ! मैं आप की दृष्टि में चिरञ्जीव होऊं " यदि आप सायणाचार्य का भाष्य भी मानें तो उक्त दोनों ठिकाने के (दृते) पद का सायणीयभाष्य ही देखें । उस में भी मूर्त्तिव्यापक अर्थ नहीं है । तथा आप इसे अथर्व के पते से लिखते हैं परन्तु पूर्व यजुर्मन्त्र के ३६ । १८ से आगे यजुर्वेद में ही १९ वां है । इस लिये उक्त महीधरभाष्य से भी आप का अर्थ विरुद्ध है ॥

द० ति० भा० पृ० ३५३ पं० १८ में (नमस्ते हरसे) इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर—इस मन्त्र में तो (दृति) पद भी नहीं फिर है मूर्त्तिव्यापक अर्थ किसका ? (अर्चिषे) का अर्थ " तेजःस्वरूप" है आप ने स्वमूर्त्तिप्रकाशकाय" कहां से लिया ? (अन्यान्) का अर्थ "मूर्त्तिपूजनविमुखान् नास्तिकान्" भी कैसे हुआ ? (नमस्ते हरसे) इस मन्त्र को महीधर ने लिखा है कि इस को १७ । ११ में व्याख्यात कर चुके हैं । सो वहां का भाष्य देखिये—

"हे अग्ने ते तव शोचिषे शोचनहेतवे तेजसे नमोऽस्तु । कीदृशाय शोचिषे हरसे हरति सर्वरसानिति हरस्तस्मै हरतेरसुन्प्रत्ययः । ते तव अर्चिषे पदार्थप्रकाशकाय तेजसे नमोऽस्तु । अन्यदुक्तम् ॥

अर्थ-हे अग्ने! तेरे (शोचिषे) प्रकाश के हेतु तेज को (नमः) नमस्कार है। कैसा तेज है कि (हरसे) सब रसों का शोषणे वाला (अर्चिषे) दूसरे पदार्थों को चमकाने वाला। अन्य पूर्व कह चुके हैं॥

इस से भी अग्नि का वर्णन पाया जाता है, मूर्त्तिव्यापक का चिन्ह तक नहीं॥

द० ति० भा० पृ० ३५४ पं० ९ में-यतोयतः समीहसे०॥ इस का अर्थ लिखा है कि (यतः) जिस राम कृष्णादि अवतार से-

प्रत्युत्तर-यह भी अनर्गल है। अर्थ यह है कि जहां २ से आप चेष्टा करते हैं वहां २ से हम को निर्भय करो॥

द० ति० भा० पृ० ३५४-३५५ में-

अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्राच्या दिशोऽघायुरभिदासात् एतत्स ऋच्छात्॥ अथर्व० ५। १० । १ से ७ तक के ७ मन्त्र लिख कर अर्थ किया है कि हे इष्टदेव! मूर्त्तिव्यापक परमेश्वररूप! तुम मेरे कवच हो इत्यादि॥

प्रत्युत्तर-मन्त्रार्थ यह है (अश्मवर्म) पाषाणतुल्य पुष्ट कवच (मे) मेरा (असि) है (यः) जो (अघायुः) पापी शत्रु (मा) मुझे (प्राच्यादिशः) पूर्व दिशा से (अभिदासात्) मारे (सः) वह दुष्ट (एतत्) इस मार को (ऋच्छात्) प्राप्त हो। इसी प्रकार दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ऊपर, नीचे और अन्तराल दिशाओं से भी कवच द्वारा शत्रुओं से बचने का वर्णन है। परन्तु (हे मूर्त्तिव्यापक परमेश्वर!) यह किसी पद का अर्थ नहीं। क्या आप यह समझते हैं कि जहां २ अश्मादि पत्थर का वाचक कोई शब्द आजावे वहां २ पत्थर में व्यापक वा मूर्त्ति में व्यापक परमेश्वर का ही वर्णन है?

द० ति० भा० पृ० ३५५ पं० १६ में-नघ्रंसत्ताप न हिमो जघान प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः। आपश्चिदस्मै घृतमित्क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित्तत्र भद्रम्। अथर्व ७। १८। २ का अर्थ करते हुवे (सोमः) का अर्थ (मूर्त्तिव्यापको देवः) किया है॥

प्रत्युत्तर-जब कि आप स्वयं सोमशब्द पर यह शतपथ १२। ६। १। १ लिखते हैं कि:-

सोमो वै राजा यज्ञः प्रजापतिस्तस्यैतास्तन्वो या एता देवताः।

(तथा)-सर्वं हि सोमः। श० ५। ५। ४। १०॥

जिस का अर्थ यह है कि "सोम राजा यज्ञ है जो प्रजा का पालक है और ये अन्य देवता उस (यज्ञ) के अङ्ग हैं।" दूसरे शतपथस्थ पाठ का अर्थ यह हुवा कि "यज्ञ ही सोम है" फिर सोम शब्द का अर्थ "सृष्टिव्यापक परमेश्वर" कैसे हुवा? वेदमन्त्रार्थ में विवाद ही क्या है। यह तो हम को भी स्वीकृत है कि जहां (सोम) यज्ञ होता है, वहां कल्याण है, वहां सूर्यादि के तापजनित रोग, ओलों की वर्षा आदि अनिष्ट नहीं होते॥

द० ति० भा० पृ० ३५६-३५७ में स्वामी जी के सत्यार्थप्रकाश पृ० ३१८ लिखित-

अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः।

इत्यादि लेख पर यह दोष दिया है कि स्वामी जी ने पौन श्लोक लिखा है, समस्त लिखते तो क़लई खुलजाती। और स्वयं पूरे दो श्लोक लिखे हैं॥

प्रत्युत्तर-मुख्य बात यह है कि हिन्दू लोग जो कहते हैं कि रामेश्वर महादेव लिङ्ग को रामचन्द्र ने पूजा। इस पर स्वामी का कथन है कि यह बात वाल्मीकीय रामायण में नहीं लिखी किन्तु रामचन्द्र ने सीता को सेतुबन्ध दिखाया है। और यदि आप लिङ्गपूजा मानते हैं तो हम आपके लिखे दोनों पूरे श्लोकों को ही उद्धृत करके अर्थ लिखते हैं और पूछते हैं कि इस में भी लिङ्गस्थापन वा पूजा का वर्णन कहां है? यथा-

एतत्तु दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः।
सेतुबन्ध इति ख्यातं त्रैलोक्यपरिपूजितम् ॥१॥
एतत्पवित्रं परमं महापातकनाशनम्।
अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद्विभुः ॥ २ ॥

युद्धकाण्ड सर्ग १२५ श्लोक २०। २१॥

(राम कहते हैं कि हे सीते!) यह बड़े समुद्र का घाट दीखता है, इस को सेतुबन्ध कहते हैं, यह ३ लोक में प्रसिद्ध है, यह परम पवित्र स्थान है, यहां पापी महापातकों का प्रायश्चित्त करते हैं, यहां ही सर्वव्यापक देवों में बड़े महादेव परमात्मा ने (हम पर) कृपा की॥

अर्थात् हमने परमात्मा की कृपा से यह पुल बांधा। इस प्रकार पूरे दो श्लोक लिख देते और उन का अर्थ लिख देते तब भी यह सिद्ध नहीं होता कि रामचन्द्र जी ने मूर्त्तिस्थापन वा लिङ्गपूजन किया हो। इस लिये स्वामी

जी ने जो एक श्लोक का १ पाद और दूसरे के २ पाद मात्र लिखे । उस का यह तात्पर्य नहीं निकाला जा सकता कि शेष पादों से लिङ्गपूजा सिद्ध हो जाने के भय से उन्होंने वे पाद छोड़ दिये , किन्तु अनावश्यक थे ॥ आगे-

द० ति० भा० पृ० ३५७ पं० १४ से-(यत्र यत्र स याति स्म रावणोराक्षसेश्वरः)

इत्यादि उत्तरकाण्ड के दो श्लोकों से सिद्ध किया है कि रावण सदा जाम्बूनद सोने का लिङ्ग साथ रखता था और गन्ध पुष्पादि से पूजता था । इत्यादि ।

प्रत्युत्तर-प्रथम तो वाल्मीकीय रामायण में प्रक्षेप अन्यों का संभव है । दूसरे, उत्तरकाण्ड तो समस्त ही कल्पित है । इस के ये प्रमाण हैं-

१-बालकाण्ड के आरम्भ में ही लिखा है कि-

षट् काण्डानि तथोत्तरम् । सर्ग ३ श्लोक २

अर्थात् ६ काण्ड और उत्तरकाण्ड । इस शैली से यह ध्वनि निकलती है कि उत्तरकाण्ड पीछे से बना, अन्यथा " ६ काण्ड और उत्तरकाण्ड " न कहते किन्तु इकट्ठा " ७ काण्ड " कहते ॥

२-युद्धकाण्ड के अन्त में रामायण का माहात्म्य विस्तारपूर्वक वर्णित है । माहात्म्य, ग्रन्थ के आदि वा अन्त में लिखा जाता है । इस से विदित होता है कि युद्ध (छठे) काण्ड पर ही रामायण समाप्त होगया ॥

३-काक भुशुण्डादि की असंभव कथाओं का तांता उत्तरकाण्ड में ही है । और अन्याययुक्त सीतापरित्याग की कथा भी इसी काण्ड में है । जिस को रामचन्द्र जैसे न्यायकारी पुरुष से अनहोनी मान कर कितने ही विद्वान् उसे नहीं मानते ॥

४-रामनाम टीकाकार प्रायः सर्गों के सर्गों को प्रक्षिप्त मानते हैं और॥ उन पर टीका नहीं करते । और ऐसे सर्ग उत्तरकाण्ड में सब से अधिक हैं जैसा कि राम टीकाकार उत्तर के २३ सर्ग के अन्त में लिखता है कि-

इत उत्तरं पञ्च सर्गाः प्रक्षिप्ता बोध्याः ॥

अर्थात् इस से आगे ५ सर्ग प्रक्षिप्त जानने । ऐसा ही बहुत जगह कहा है । फिर उत्तर के ३७ सर्ग से आगे ५ सर्गों को रामटीकाकार प्रक्षिप्त मानता है और कहता है कि——

कतकतीर्थाद्यनादृतत्वाञ्च मयापि न व्याख्याताः

कतक तीर्थादि ने नहीं माने इस से मैंने भी टीका नहीं किया ॥ फिर

उत्तर ५९ वें सर्ग के आगे ३ सर्गों को राम टीकाकार कहता है कि-

तीर्थकतकाद्यस्पृष्टत्वेन प्रक्षिप्तमिति न व्याख्यातम् ॥

तीर्थ कतकादि ने छुवे भी नहीं इस से प्रक्षिप्त जानकर हमने भी टीका नहीं की ॥

५-वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड सर्ग १ में संक्षिप्त सब कथा के वर्णन में उत्तरकाण्ड की एक भी कथा नहीं गिनाई और श्लोक ८९ पर-

रामः सीतामनुप्राप्य राज्यं पुनरवाप्तवान् ॥

अर्थात् रामचन्द्र सीता को पाय फिर राज्य को प्राप्त भये थे। इस प्रकार भूतकाल करके वर्णन किया है। फिर रामचन्द्र जी के भविष्यत् यज्ञ का वर्णन तो है, पर सीता परित्याग का नहीं ॥

६-फिर बालकाण्ड सर्ग २ में रामायण की कथाओं का सूची पत्र है। उस के अन्त में श्लोक ३८, ३९ में सूचीपत्र बनाने वाला कोई पुरुष कहता है कि-

स्वराष्ट्ररञ्जनं चैव वैदेह्याश्च विसर्जनम् ॥ ३८ ॥
अनागतं च यत्किञ्चिद्रामस्य वसुधातले ।
तच्चकारोत्तरे काव्ये वाल्मीकिर्भगवानृषिः ॥ ३९ ॥

" अर्थात् प्रजापालन, सीतात्याग और जो कुछ भविष्यत् कथा है वह उत्तर काव्य में भगवान् वाल्मीकि ने बनाई।" स्पष्ट है कि यह लेख स्वयं वाल्मीकि जी का नहीं। और " उत्तर " का विशेष नाम लेने का भी प्रयोजन न था, जब कि सूचीपत्र की अन्यकथाओं में सात काण्डों के नाम नहीं आये हैं। इस से प्रतीत होता है कि यह घड़न्त है। तथा प्रथम सर्ग में कथाओं का सूचीपत्र आ ही चुका था फिर दूसरे ही सर्ग में नये सूचीपत्र की आवश्यकता न थी, किन्तु यह पुनरुक्ति इसी स्वार्थसाधन के लिये की गई है। और

७-प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः ।
चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमर्थवत् । वा० बा० ३ । १

अर्थात् राम को राज्य मिलने पर वाल्मीकि जी ने रामायण बनाया। पूर्व नहीं ॥

८-तथा सर्गशतान्पञ्च । वा० बा० ३ । २ ॥

अर्थात् ५०० सर्ग बनाये। इस पर राम टीकाकार लिखता है कि-

पञ्चशतरूपसर्गसंख्या षट्काण्डानामेव ।

अर्थात् ५०० सर्ग संख्या ६ काण्डों की ही है, ७ वें की नहीं ॥

तीसरी बात यह है कि इन श्लोकों में रावण राक्षसराज का लिङ्गपूजक होना लिखा है । सो जो रावण राक्षस के अनुगामी हों वे लिङ्गपूजा करें, जिस ने अन्य भी अनेक अनर्थ किये थे, उन में एक लिङ्गपूजा भी सही, परन्तु रामभक्तों को तो लिङ्गपूजा नहीं करनी चाहिये ॥

इति मूर्त्तिपूजामहाप्रकरणम् ॥

अथ-तीर्थप्रकरणम्

द० ति० भा० पृष्ठ ३५९ में-नमः पार्य्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च नमस्तीर्थ्याय च० । यजुः १६ । ४२ इस मन्त्र के "तीर्थ्य" पद से गङ्गादि तीर्थ सिद्ध किये हैं ॥

प्रत्युत्तर—इस मन्त्र में तीर्थ्य पद आया है परन्तु प्रयागादि का वर्णन आपने अपनी ओर से वा महीधर की देखा देखी लगाया है । मन्त्र में नहीं है । न मन्त्र में यह वर्णित है कि तीर्थ गङ्गादि को कहते हैं । प्रत्युत आप भी यह अर्थ करते हैं कि (हे शिव) (आप तीर्थरूप हो) जिस से शिव परमेश्वर ही तीर्थ-संसार से पार तिराने वाला पाया जाता है और ठीक अर्थ तो यह है कि-

समानतीर्थे वासी (अष्टाध्यायी ४ । ४ । १०७)

जो विद्यार्थी एक गुरु से पढ़ते हैं वे सतीर्थ्य कहाते हैं, यही कौमुदी में लिखा है कि—

समाने तीर्थे गुरौ वसतीति सतीर्थ्यः

जिस से गुरु का नाम तीर्थ होता है । इस लिये "नमस्तीर्थ्याय" का अर्थ यह हुवा कि गुरुकुलवासी वेदादि के अध्येता (तीर्थ्य) पुरुष का (नमः) सत्कार अन्नादि से करना ॥

फिर द० ति० भा० पृ० ३५९ पं० १० में इमं मे गङ्गे यमुने० इत्यादि प्रमाण दिया है ॥ प्रत्युत्तर—

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या ।

असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥
(ऋ० १० । ७५ । ५)

(सायणभाष्यम्)

अत्र प्रधानभूताः सप्त नद्यः तदवयवभूतास्तिस्रः स्तूयन्ते हे गङ्गे हे यमुने हे सरस्वति हे शुतुद्रि हे परुष्णि हे असिक्न्या अवयवभूतया सहिते मरुद्वृधे, वितस्तया सुषोमया च सहिते आर्जीकीये ! त्वं चैवं सप्त नद्योयूयं मे स्तोमं स्तोत्रम् अस्मदीयमासचत आसेवध्वं शृणुहि शृणुत च। आर्जीकीयाया वितस्तया सुषोमया च साहित्यं निरुक्ते उक्तं वितस्तया चार्जीकीय आशृणुहि सुषोमया चेति । अत्र गङ्गा गमनादित्यादि निरुक्तं द्रष्टव्यम् ॥

सायणभाष्य का भावार्थ—

इस में प्रधान ७ नदी और उन के अवयवभूत ३ नदियों की प्रशंसा की जाती है । १ गङ्गे । २ यमुने । ३ सरस्वति । ४ शुतुद्रि । ५ परुष्णि । ६ अवयवभूत असिक्नी सहित मरुद्वृधे । ७ वितस्ता और सुषोमा सहित आर्जीकीये ! इस प्रकार ७ नदियो ! तुम मेरे स्तोत्र को सेवित करो और सुनो ॥

आर्जीकीया का वितस्ता और सुषोमा के सहित होना निरुक्त में कहा है कि "वितस्ता तथा सुषोमा सहिते ! आर्जीकीये ! सुन" ॥ इस में "गङ्गा गमनात्" इत्यादि निरुक्त देखना चाहिये ॥

अब सायणाचार्य के भाष्य से भी पापनाशकता, तीर्थता और मोक्षदायकता का गन्ध तक नहीं आता । फिर यह प्रमाण पं० ज्वा० प्र० जी के पक्ष को पुष्ट कहां करता है ? नहीं करता ॥

किसी को दो सन्देह सायणभाष्य से नये उत्पन्न होंगे । १—यह कि नदियों को सम्बोधन और सुनना क्यों वर्णन किया है । २—यह कि यदि गङ्गा को भगीरथ ने बहाया, तो भगीरथ के पितृपितामहादि के समयों में वर्त्तमान ऋग्वेद में उस का वर्णन तथा अन्य नदियों का वर्णन कैसे आया ॥

१—प्रथम का समाधान तो हमारी समझ में यह है कि—(ताम्निविधा-

ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च) निरुक्त ७ । १ अर्थात् वेदों में ३ प्रकार की ऋचा हैं । १ परोक्षकृता । २ प्रत्यक्षकृता । ३ आध्यात्मिकी ॥ इन में से (अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना) निरु० ७।२ प्रत्यक्षकृताओं में मध्यमपुरुष और त्वम् (तू) यह सर्वनाम आता है ॥

इस से जाना जाता है कि वेद की यह शैली है कि प्रत्यक्ष पदार्थों को इस प्रकार प्रयोग में लाता है । हम को उस का अर्थ समझते समय अपनी शैली जो वर्त्तमान भाषा की है उसी में तात्पर्य समझ लेना चाहिये । कुछ यहां नदियों के विषय में ही ऐसा हो सो नही, किन्तु अग्ने! वायो! सूर्य! मुसल! उलूखल! पूषन्! चन्द्र! इत्यादि सम्बोधनों से वेद भरे पड़े हैं । उन सब की सङ्गति इस निरुक्त से हो जाती है । कहीं २ वेद के अग्न्यादि पदों में श्लेषालङ्कार होता है । वहां परमेश्वरविषयक अर्थ में सम्बोधन आवश्यक होता है । यह भी उन २ अग्नि वायु आदि पदों में सम्बोधन के प्रयोग का कारण है ॥

व्याकरण में (सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च ॥
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन) यह कारिका ॥

व्यत्ययोबहुलम् (३ । १ । ८५)

इस सूत्र पर है । इससे भी प्रथम मध्यम उत्तम पुरुषों का व्यत्यय वेद में बतलाया गया है । इसलिये वेद की यह शैली (मुहावरा) जान पड़ता है ॥

२-दूसरे का समाधान भी इसी मन्त्र के निरुक्त से हो जायगा । यह तो प्रसिद्ध ही है कि वेद में प्रायः यौगिक शब्द हैं । तदनुसार इस मन्त्र में आये समस्त नदीवाचक पदों का अर्थ निरुक्त ने इस प्रकार किया है जिस को सायणाचार्य ने संकेतमात्र लिखकर छोड़ दिया है । यथा निरुक्त ९ । २६—

१—गङ्गा गमनात्

गमन से गङ्गा । अर्थात् गति वा चाल वा बहाव प्रशंसित हो ॥

२—यमुना प्रयुवती गच्छतीति वा प्रवियुतं गच्छतीति वा।

जोड़ती हुई चलने वा जुड़ी हुई चलने से यमुना ॥

३—सरस्वती सर इत्युदकनाम सर्त्तेस्तद्वती ।

अर्थात् सृ धातु से सरस् जल का नाम है, उत्तम जल वाली सरस्वती जानो ॥

४—शुतुद्री शुद्राविणी क्षिप्रद्राविण्याशु तुन्नेव द्रवतीति वा ॥

अर्थात् शीघ्र भागने वाली शीघ्र व्यथित सी चलने वाली को शुतुद्री जानो॥

५-इरावतीं परुष्णीत्याहुःपर्ववती भास्वती कुटिलगामिनी ॥

पर्वों जोड़ों वाली, प्रकाश वाली, कुटिलगामिनी को परुष्णी जानो। इसी से इरावती नदी का नाम परुष्णी पड़ा ॥

६-असिक्न्यशुक्लासिता,सितमितिवर्णनामतत्प्रतिषेधोऽसितम्

अशुक्ला वा असिता होने से असिक्नी। सित वर्ण का नाम है, उस का उलटा असित॥

७-मरुद्वृधाः सर्वा नद्यो मरुत एना वर्धयन्ति ॥

मरुद्वृधा सब नदी हैं क्योंकि मरुत् इन को बढ़ाते हैं ॥

८-वितस्ता विदग्धा विवृद्धा महाकूला ॥

विदग्धा वा विशेष बड़ी वा बड़े किनारों वाली को वितस्ता जानो ॥

९-आर्जीकीयां विपाडित्याहुर्ऋजूकप्रभवा वर्जुगामिनी वा।

ऋजूक से उत्पन्न होने वाली वा ऋजुगामिनी को आर्जीकीया जानो। इसी से विपाशा नदी को आर्जीकीया कहते हैं॥

इस निरुक्त के देखने से ऐसा ज्ञात पड़ता है कि इन २ लक्षणों वाली नदी होती हैं और जिस २ नदी में जो २ लक्षण पाये गये, लोक में उस २ नदी को पीछे से उस २ नाम से पुकारने लगे। जैसे कि निरुक्तकार ने दो जगह स्वयं कहा है कि आर्जीकीया ऋजुगामिनी होने से विपाशा का नाम पड़ गया। और पर्वों वाली आदि लक्षणों से इरावती का दूसरा नाम परुष्णी पड़ा॥

इस से यह जानना चाहिये कि वेद में आये गङ्गा आदि नाम भागीरथी आदि के वाचक नहीं किन्तु वेदोक्त लक्षणयुक्त होने से भागीरथी आदि को गङ्गा आदि नाम पीछे संप्रचरित हुवे॥

द० ति० भा० पृ० ३६० पं० १ से-सरस्वती सरयुः सिन्धुरूर्मिभिः। इत्यादि प्रमाण दिया है॥

प्रत्युत्तर-

सरस्वती सरयुः सिन्धुरूर्मिभिर्महोमहीरवसा यन्तु वक्षणीः।
देवीरापो मातरः सूदयित्न्वो घृतवत्पयो मधुमन्नो अर्चत ॥

(ऋ० १० । ६४ । ९)

सायणभाष्यम्

महोमहतोऽपि महीर्मत्य: अत्यहन्तं महत्य: ऊर्मिभिः सहिता: सरस्वती सरयुः सिन्धुः एतदाद्या एकविंशतिसंख्याकाः वक्षणीःइमा नद्यः अवसा रक्षणेन हेतुना आयन्तु अस्मदीयं यज्ञं प्रत्यागच्छन्तु ततः देवीः देवनशीला मातरो मातृभूताः सूदयित्न्वः प्रेरयित्र्यः तासामापः घृतयुक्तंमधुमत् मधुसहितमात्मीयं पयः नोऽस्मभ्यमर्चत प्रयच्छत ॥

(सायणभाष्य का भावार्थ) बड़े से बड़ी अत्यन्त बड़ी लहरों सहित सरस्वती, सरयू, सिन्धु इत्यादि २१ प्रकार की नदी हैं, वे रक्षाहेतु आवें, हमारे यज्ञ में प्राप्त हों और दिव्यशील माता के समान प्रेरणा वाली उन का जल मधुरतायुक्त है। वे अपने जल देवें ॥ १ ॥

इस सायण के भाष्य का भी भावार्थ यही निकलता है कि २१ प्रकार की भारी २ नदियों के जल से हमारी रक्षा होवे और यज्ञ कार्य में उन के मधुर जल वर्त्ते जावें। वे हमारा माता के समान पोषण करती हैं। माता दुग्ध पिलाती है, ये मीठा जल पिलाती हैं। इस में भी पापनाशन और मोक्षदान का कुछ भी वर्णन नहीं आया ॥

द० ति० भा० पृ० पं०३६० पं १४ से-आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीत्। इत्यादि मन्त्र से तीर्थ सिद्ध किये हैं-

प्रत्युत्तर-इस में सरल शब्दार्थ भी देखा जावे तो गङ्गादि तीर्थों का लेशमात्र वर्णन नहीं। पदार्थ सहित मन्त्र पढ़िये:—

आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीदग्निर्भूयिष्ठ इत्यन्यो अब्रवीत्।
वर्धयन्तीं बहुभ्यः प्रैको अब्रवीदृता वदन्तश्चमसाँ अपिंशत ॥

(ऋ० १। १६१ । ९)

अर्थः-(एकः) एक तो (अब्रवीत्) कहता है कि (आपः) जल (भूयिष्ठाः इति) बहुत हैं। (अन्यः) दूसरा (अब्रवीत्) कहता है कि (अग्निः) अग्नि (भूयिष्ठ इति) बहुत हैं। (एकः) एक (प्रअब्रवीत्) उत्तमता से कहता है कि (वर्धयन्तीम्) पृथिवी बड़ी है। (ऋता) [इस प्रकार सब] सत्य (वदन्तः) कहते हुवे (चमसान्) चमसों को (अपिंशत) बांटें ॥

अर्थात् जल, अग्नि, पृथिवी आदि में जिस पर जो दृष्टि डालता है उसे वही बड़ी प्रतीत होती है और भिन्न २ वस्तुओं को बड़ा बताने वाले सभी सत्यवादी हैं क्योंकि यथार्थ में जल, अग्नि वा पृथिवी सभी बड़े हैं। इस में यह नहीं कहा कि जल वा स्थल तीर्थ वा मोक्षदायक हैं॥

द० ति० भा० पृ० ३६१ में रामायण के कुछ श्लोक लिखे हैं, जिन का उत्तर रामायण के प्रक्षिप्तांश में आ चुका है॥

द० ति० भा० पृ० ३६२ पं० ११ से-यमोवैवस्वतोदेवः इत्यादि मनु ८। ९२ से तीर्थ सिद्ध किया है॥

प्रत्युत्तर-इस का अर्थ यह है कि "यम वैवस्वत जो तेरे हृदि स्थित है। यदि उस से विरोध नहीं तो न गङ्गा को जा, न कुरुओं को"॥

यह मनु ८। ९२ राजा के साक्षी से साक्ष्य सुनते समय का है। जिस में पापनाश वा मोक्ष का कुछ भी वर्णन नहीं, किन्तु गङ्गा वा कुरुक्षेत्र वासरूप दण्ड का भय दिया है कि झूंठी गवाही आत्मा के विरुद्ध न दोगे तो तुम को गङ्गा वा कुरुक्षेत्र वासरूप दण्ड भोगना न पड़ेगा। इस में पापनाश वा मोक्ष का वर्णन नहीं। क्या दण्ड भोग के स्थान कारागारादि को तीर्थ वा मोक्षप्रद कह सकते हैं? नहीं॥

द० ति० भा० पृ० ३६२ पं० १९ से-सिताऽसिते सरिते यत्र सङ्गथे। इत्यादि मन्त्र को ऋग्वेद संहिता का बताकर तीर्थ सिद्ध किये हैं॥

प्रत्युत्तर-यह मन्त्र ऋग्वेद संहिता में नहीं है, न इस पर सायणाचार्य ने भाष्य किया किन्तु परिशिष्ट का वचन है और तीर्थ का विचार वेदप्रकाश मासिकपत्र वर्ष २ खण्ड १२ वर्ष ३ खण्ड १ में विस्तारपूर्वक है, वहां ऐसे बहुत से मन्त्रों पर विचार किया है, देखिये—और यद्यपि ऐसे २ कृत्रिम मन्त्रों का अर्थ भी योगाभ्यास की ओर हो सकता है, परन्तु हम निश्चय विश्वास करते हैं कि परिशिष्ट ग्रन्थों वा उन में के कितने ही वाक्यों की रचना आधुनिक मतवादियों ने इसी कारण की है, जिस से उन्हें अपने आधुनिक विचारों को वेद से सिद्ध करने का अवसर मिल सके। भला परिशिष्ट क्या वस्तु है? इस का शब्दार्थ यह है कि जो वेदों में परमात्मा को उपदेश करते समय परिशेष रह गया, वह किसी समय के लोगों ने बनाया और वेद की कमी को ऐसे पूरा किया, जैसे पाणिनि के सूत्रों की न्यूनता को वार्त्तिक से पूरा करते हैं, परन्तु इन मन्त्रों के घड़ने वालों ने तीर्थमाहात्म्य जिसे

परमात्मा ने वेदों में (इनके विचारानुसार) भूल कर छोड़ दिया था, उसे पूर्ण करके परमात्मा के भी बड़े बन गये ॥

गुरुप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० ३६२ और ३६३ में–सत्यार्थप्रकाश के गुरुमाहात्म्य में के इस लेख पर कि (यदि गुरु भी दोषी हो तो दण्डनीय है) आक्षेप करके गुरु को अदण्ड्य और अन्धाधुन्ध जैसी गुरु आज्ञा करे, मानना लिखा है।

प्रत्युत्तर–मनु के (गुरोर्यत्र परीवादः) इत्यादि अध्याय २ श्लोक २००, २०१ में गुरुनिन्दा न सुनने का विधान, झूंठी निन्दा न सुनने के लिये है। और यदि यथार्थ में गुरु दोषी हो तो–

> गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
> आततायिनमायान्तं हन्यादेवाऽविचारयन् ॥ मनुः

अर्थात् चाहे गुरु हो, चाहे बालक, बूढ़ा, वा बहुश्रुत ब्राह्मण हो, किन्तु दुष्ट आततायी को शीघ्र मारे ॥ और धर्मात्मा विद्यादाता गुरु की सेवा का विधान सत्यार्थप्रकाश के इसी प्रकरण की २ पङ्क्ति और ऊपर को देखिये तो मिल जायगा ॥

पुराणप्रकरणम् ।

द० ति० भा० पृ० ३६४ पं० १५ से–अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा । इत्यादि ऋ० १० । १२५ । १२ से देवी भी सिद्ध की हैं।

प्रत्युत्तर–यदि आप का लिखा ही अर्थ ठीक माना जाय तो भी प्रकृति (उपादान कारण) की महिमा वर्णित होती है, कुछ महिषासुर-मर्दनी, मद्यमांसप्रिया, पुराणोक्त देवी का वर्णन तो नहीं। और आप जो पुराणोक्त सृष्ट्युत्पत्ति के परस्पर विरोध का परिहार करते हैं कि जिस २ कल्प में जिस २ देवता से सृष्टि चली, उस २ पुराण में उस २ भिन्न २ देवता से सृष्टि की उत्पत्ति लिखी, सो समाधान इस लिये ठीक नहीं कि कोई मनुष्यादि के समान देहधारी देवी आदि इस महती प्रजा के उत्पन्न करने और असंख्य लोकों के धारण करने में असमर्थ होने से उनका सृष्टिकर्तृत्व ही सत्य नहीं, फिर और विचार ही क्या करना है ॥

द० ति० भा० पृ० ३६५ पं० २९ यह कथा स्वामी जीने अपनी मिलावट और गड़बड़ी से लिखी है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर–आप ने यह न लिखा कि क्या २ मिलावट और गड़बड़ी है। और यह तो ठीकही है कि स्वामी जी ने शिवपुराण का अक्षरशः अनुवाद तो किया ही नहीं, किन्तु सारांश कथा का लिखा है। नृसिंह का जिस प्रकार शरभावतार शिव ने वध किया, सोतो हम पूर्व पृष्ठ ३१० से ३१५ तक में वर्णित ही कर चुके हैं। फिर भला जब अवतार२ आपस में एक दूसरे का वध करने लगे, रामावतार और परशुरामावतार आपस में सामना करने लगे, यदि ये बातें भी विरोध करने की नहीं तो और क्या चाहते हो ?

द० ति० भा० पृ० ३६९ पं० ११ से ब्रह्मा को मोह न होने के वरदान मिलने पर भी बछड़े चुराने रूप मोह होने की शङ्का का यह समाधान किया है कि वह वरदान केवल विविध सृष्टि की रचना में कर्तृत्वाभिमान न होने के विषय में है। परन्तु इस प्रकार का मूल में कोई पद नहीं कि कर्तृत्वाभिमान न होगा। किन्तु "विमुह्यति" क्रिया का अर्थ "मोह" ही है और आप "अहङ्कार" अर्थ करते हैं। तब आप के मत में काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहङ्कार; इन पांच में मोह और अहङ्कार का भेद कुछ भी न रहेगा॥ ऐसी खैंचातानी से पुराणों की महिमा का स्थापन नहीं होसकता॥

द० ति० भा० पृ० ३७१ में–वाराह और हिरण्याक्ष की लड़ाई में जो असम्भवता स्वामी जी ने दिखाई थीं उन का समाधान किया है और कहा है कि पृथिवी थोड़ी रह गई थी, शेष जल में डूबी थी, वाराह जी उसे उठा कर ला रहे थे इत्यादि–परन्तु थोड़ी पृथिवी शेष थी, थोड़ी डूबी थी, यह कथा इस प्रकरण में भागवत में नहीं है और जो वाराह दान्त पर पृथ्वी को रक्खे थे, वे स्वयं कहां खड़े थे ? इत्यादि शङ्काओं का कुछ उत्तर नहीं। चटाई की तरह न लपेटने पर भी स्वामी जी की शङ्का जो आधार की है उस का भी कुछ उत्तर नहीं। स्वामी जी ने कुछ भागवत के अनुवाद का नाम नहीं लिया किन्तु उस की कथा जुबानी लिखी है। पर जो कुछ भी भागवत में लेख है उतना भी असम्भव दोष से रहित तो नहीं॥

द० ति० भा० पृ० ३७३ में–लिखा है कि भागवत में प्रह्लाद की कथा में खम्भा पर कीड़ी चलना आदि नहीं लिखा। परन्तु कथा तो स्वामी जी ने

निस्सन्देह ज़ुबानी लिखी, किन्तु भागवत जैसे असंभवादिदोषयुक्त पुस्तक में समय बिताना व्यर्थ जाना । परन्तु क्या प्रह्लाद की कथा भी भागवत में नहीं है ? और क्या सृष्टिक्रमविरुद्ध असंभव बात नृसिंह की उत्पत्ति भी उस में नहीं है ? यदि है तो उस का समाधान विज्ञान के अनुसार आप को करना था ॥

रथेन वायुवेगेन

यह वाक्य भागवत दशमस्कन्ध ३८ । ३९ में और:–

जगाम गोकुलं प्रति ३८ । २४ में है ॥

इस में कहीं की ईंट कहीं रोड़ा नहीं हैं । अध्याय ३८ से ३९ तक में वही अक्रूर के जाने का वर्णन है । और स्वामी जी ने आद्योपान्त कथा देखने के लिये ज़बानी याद रहे दो पाद लिख दिये हैं, परन्तु आशय तो यही है कि अक्रूर का रथ वायुवेग वाले घोड़ों से युक्त था । जब ऐसा भागवत में है तो स्वामी जी की देर लगने की शङ्का का उत्तर यह नहीं होसकता कि प्रेम में देर लगगई । क्योंकि रथ की वायुवेगिता लिखने का तात्पर्य शीघ्र पहुंचाने के लिये ही था । फिर देर लगाने से प्रयोजन वायुवेग का पूरा नहीं होता॥

द० ति० भा० पृ० ३७४ में पूतना का शरीर छः कोस का जो सत्यार्थप्रकाश में लिखा है, उसे असत्य बताया है और भागवत का श्लोक स्वयं प्रमाण में दिया है कि–

पतमानोऽपि तद्देहस्त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान् ।
चूर्णयामास राजेन्द्र तदद्भुतमिवाभवत् ॥

और कहा है कि छः कोस के वृक्ष उस से दब नहीं गये किन्तु उस की धमक से गिर गये । परन्तु यह भी गुदड़ी गांठना है । क्योंकि उस में वृक्षों का गिरना नहीं लिखा किन्तु (चूर्णयामास) अर्थात् छः कोस के वृक्षों का चूरा करना लिखा है, जो दब कर ही होता है ॥

द० ति० भा० पृ० ३७५–३७६–में लिखा है कि बोपदेव ने कोई और भागवत बनाई होगी । यह श्रीमद्भागवत तो व्यास जी ने ही बनाई है । जो पद्म तथा मत्स्यपुराण से भी सिद्ध होता है । इत्यादि ॥

प्रत्युत्तर–भागवत की पूरी परीक्षा तो "भागवतपरीक्षा" नाम के छोटे से पुस्तक में देखियेगा । जो हमारे पास से मिल सकता है । परन्तु संक्षिप्त

यह है कि महाभारत के आदिपर्वान्तर्गत आस्तीकपर्व अध्याय ४० श्लो० ३०। ३१। ३२ में शृङ्गी ऋषि का वर्णन, फिर अध्याय ४२ श्लोक २९ से ३३ तक में परीक्षित को सर्प काटे के उपाय करने का वर्णन, अध्याय ४३ श्लोक ३। ४ में तक्षक की फुंकार का वर्णन है। और भागवतोक्त राज्य छोड़ गङ्गा किनारे जाने के बदले, घर ही में रहना और तक्षक से काटा जाना वर्णित है। जिस से भागवत का परीक्षित ने सुनना ही निर्मूल होता है, फिर और बात कहनी ही क्या है॥ जैसा कि—

सम्मन्त्र्य मन्त्रिभिश्चैव स तथा मन्त्रतत्त्ववित्।
प्रासादं कारयामास एकस्तम्भं सुरक्षितम्॥२९॥
रक्षां च विदधे तत्र भिषजश्चौषधानि च।
ब्राह्मणान्मन्त्रसिद्धांश्च सर्वतो वै न्ययोजयत्॥ ३०॥
राजकार्याणि तत्रस्थः सर्वाण्येवाकरोच्च सः।
मन्त्रिभिः सह धर्मज्ञस्समन्तात्परिरक्षितः॥ ३१॥
न चैनं कश्चिदारूढं लभते राजसत्तमम्।
वातोऽपि निश्चरंस्तत्र प्रवेशे विनिवार्यते॥ ३२॥
प्राप्ते च दिवसे तस्मिन् सप्तमे द्विजसत्तमाः।

भावार्थ– मन्त्रियों से सलाह करके, एकस्तम्भ वाला, बड़ा रक्षित, ऊंचा महल बनाया, वहां वैद्य और दवाई से रक्षा रक्खी, मन्त्रविद्सिद्ध ब्राह्मण चारों ओर नियुक्त किये॥ ३०॥ वह वहीं राजकाज सब करता था। मन्त्री जिस का पहरा देते थे। कोई भी उसे वहां ऊंचे पर बैठे को नहीं छू सकता था। वहां वायु भी छन २ कर जाता था॥ ३२॥

जब सातवां दिन आया तब अध्याय ४३ में लिखा है कि सर्प ब्राह्मण तपस्वियों का रूप बना कर आये, सायंकाल हो गया था, आशीर्वाद पढ़ कर कुशा और फल दे गये, फलों ही में सूक्ष्म रूप धरके तक्षक भी आया, राजा ने मन्त्रियों से कहा कि सातवां दिन भी बीता, लो, फल खाओ। मन्त्रियों को कुछ फल देकर आप भी एक फल खाने को तैयार हुवे, कि फल में छोटासा लाल नेत्र का जन्तु जान पड़ा, तब राजा ने कहा कि यह कीड़ा ही काट लेगा, जिस से ब्राह्मण का वाक्य झूठा भी न हो॥

अ० ४४ में लिखा है कि जब तक्षक ने फुंकार मारी, उस समय—

ततस्तु ते तं गृहमग्निना वृतं प्रदीप्यमानं विषजेन भोगिनः।
भयात्परित्यज्य दिशः प्रपेदिरे पपात राजाऽशनिताडितो यथा॥

भावार्थः—उस ज़हरी सर्प के फुंकार की अग्नि से जलते हुए स्थान को छोड़ कर मन्त्री चारों दिशाओं को भाग गये, और राजा बिजुली का सा मारा नीचे गिर पड़ा॥ इस में भागवत सुनना, राज्य का छोड़ना, गङ्गा तट पर जाना, कुछ भी नहीं लिखा। इतिहासों में इस से बड़ा पुस्तक कोई है ही नहीं। इसलिये यही निश्चय है कि भागवत शुकदेव जी ने राजा परीक्षित को नहीं सुनाई, जैसा कि देवीभागवत के नीलकण्ठ टीका की भूमिका देखिये:—

विष्णुभागवतं बोपदेवकृतमिति वदन्ति

अर्थात् देवीभागवत को महापुराणान्तर्गत मानने वाले विष्णुभागवत को बोपदेवकृत बताते हैं। इस से यह विदित हो गया कि श्रीमद्भागवत को बोपदेवकृत मानना उस समय भी प्रचरित था, जब कि देवीभागवत पर नीलकण्ठ ने टीका बनाई। फिर वही लिखता है कि:—

पुराणभेदेन मतभेदस्तु बहुशः।

अर्थात् भिन्न २ पुराणों से भिन्न २ मत तो बहुत प्रसिद्ध हैं॥

अब महाभारत आदिपर्व से यह सिद्ध हुवा कि राजा परीक्षित ने प्रायोपवेशन नहीं किया, न भागवत सुनी और भागवत का बोपदेवकृत होना देवीभागवत के नीलकण्ठी टीका की रचना से पूर्व भी प्रचरित था। और शान्तिपर्व अध्याय ३३१ और ३३२ में शरशय्या पर लेटे भीष्मपितामह जी ने धर्मात्मा युधिष्ठिर से शुकदेव जी का जन्म और परमधाम जाना भूतकाल करके कहा है। जिस के अन्त में यह श्लोक है कि:—

इति जन्म गतिश्चैव शुकस्य भरतर्षभ!।
विस्तरेण समाख्याता यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥

अध्याय ३३२ श्लोक ३९॥

अर्थात् यह शुकदेव जी का जन्म और परलोकगति हमने विस्तारपूर्वक तुम्हें सुनाई, जो तुम ने पूछी थी। विशेष "भागवतपरीक्षा" में देखिये॥

इस से यह ज्ञात होता है कि राजा परीक्षित के पितामह युधिष्ठिर के पूर्व ही शुकदेव जी परमधाम सिधार गये थे, जब कि परीक्षित जन्मा भी न था, फिर उस को कथा सुनाने कहां से आये ?

द० ति० भा० पृ० ३११ पं० २५ से—

स्वामी जी ग्रहों का फल नहीं मानते कि जड़ पदार्थ किसी को दुःख देते नहीं, वेद इस बात को कहता है कि ग्रह दुःख सुख देते हैं। यदि ग्रह दुःख सुख नहीं देते तो क्यों उन की शान्ति वेद में की है ? निश्चय यह भेंट पाकर शान्ति करते हैं—

शन्नो मित्रः शं वरुणः । शं विवस्वांश्छमन्तकः । उत्पाताः पार्थिवान्त-रिक्षाः शं नो दिविचरा ग्रहाः ॥

अथर्व १९ । ९ । ७ इत्यादि ६ मन्त्रों से यह प्रार्थना दिखलाई है कि ये सूर्यादि ग्रह, नक्षत्र, प्रातः, सायं, दिन, रात्रि आदि हमें सुखदायक हों ॥

प्रत्युत्तर-स्वामी जी के कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि जड़ पदार्थ से किसी को सुख दुःख नहीं होते, किन्तु जड़ पदार्थों से तो तापादि दुःख सुख स्वामी जी और सब लोग मानते ही हैं । परन्तु जड़ पदार्थ ज्ञानशून्य हैं, वे जान कर कभी किसी को दुःख नहीं देते और भेंट पूजा लेकर ज्ञानपूर्वक शान्त भी नहीं होते । आप ने जो मन्त्र लिखे हैं उन में सूर्यादि को चेतन मान कर प्रार्थना नहीं है किन्तु यह प्रार्थना ईश्वर से है कि रात्रि, दिन, प्रातः, सायम्, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, जल, वायु, पृथिवी आदि पदार्थों से हमें सुख मिले ॥

और (गृह्णन्ते ते ग्रहाः) यह निरुक्ति भी अशुद्ध है किन्तु-(गृह्णन्ति ते ग्रहाः) चाहिये । तथा सूर्यादि हम से दूर हैं यह इस लिये कहा है कि यदि कोई सूर्यादि को मनुष्यादि के समान चेतन हाथ पांव वाला माने तो भी वह दूर होने से हमें पकड़ नहीं सकता । किन्तु उस के तापादि को न माना हो सो नहीं । प्रत्युत स्वामी जी ने स्पष्ट सत्यार्थप्रकाश द्वितीय समुल्लास में कहा है कि—

"जैसी यह पृथिवी जड़ है वैसे ही सूर्यादि लोक हैं वे ताप और प्रकाशादि से भिन्न कुछ भी नहीं कर सकते "॥

द० ति० भा० पृ० ३१९ पं० १३ से—

समीक्षा—वाह स्वामी जी धन्य है ग्रहलाघव का वाक्य लिख कर नाम

सूर्यसिद्धान्त का लिखते हैं । क्या ही अद्भुत बात है कि जब सूर्य और चन्द्रमा के बीच में भूमि आवेगी तो चन्द्रग्रहण होगा, यदि यह बात मानलें तो पृथिवीवासियों को कभी चन्द्रग्रहण न दीखना चाहिये क्योंकि छाया से चन्द्रग्रहण दृष्टि आवे तो किसी और लोक वालों को दीखना चाहिये पृथ्वी वाले को नहीं क्योंकि जैसे किसी आदमी के सामने कोई और दूसरा आजाय तो बेशक उस पर उस की छाया पड़ेगी । परन्तु उस की ओट तीसरे मनुष्य को मालूम होगी जो ठीक उस के पीछे होगा, बीच के मनुष्य को दोनों यथावत् दीख सकेंगे इस कारण चन्द्रसूर्य के पृथिवी के बीच में आने से कभी कोई ग्रहण नहीं होसकता और सूर्य चन्द्रमा दोनों पृथ्वी से ऊंचे पर हैं । उन की छाया पृथिवी पर पड़ती है । पृथ्वी की उन पर नहीं पड़ती । हां, जो पृथ्वी से नीचे लोक हैं उन को चन्द्र और सूर्य के बीच में पृथ्वी आने से ग्रहण दीख सकता है परन्तु ऐसा नहीं है । यह स्वामी जी ने अपना शास्त्र छोड़ अंग्रेज़ों का अनुकरण किया है ज्योतिष का मत है जब राहु सूर्य एक राशि में हों तो उनकी छाया पड़ने से तीसरे स्थान के पृथ्वी वासियों को ग्रहण दीखता है और ऐसे ही केतु चद्रमा एक राशि पर होने से चन्द्रग्रहण सब को दीखता है ॥

प्रत्युत्तर—धन्य है आप की गणितज्ञता को ! स्वामी जी ने तो ग्रहलाघव को सिद्धान्तशिरोमणि लिख दिया, इस पर उछलते हैं, आप स्वामी जी लिखित "सिद्धान्तशिरोमणि" पद के स्थान में "सूर्यसिद्धान्त" पद लिखते हैं सो कुछ बात नहीं । और आगे पृ० ३८० पं० २५ में अपने ही विरुद्ध आप लिखते हैं कि—

"सिद्धान्तशिरोमणि के नाम से लिख दिया"

जब आप ही दो पृष्ठों में ही अगाड़ी पिछाड़ी भूल गये तो स्वामी जी ने ग्रहलाघव का सिद्धान्तशिरोमणि लिख दिया इस पर क्या रोष है । क्या आप ग्रहलाघव को नहीं मानते ? यदि मानते हैं तो ग्रहलाघवानुसार भी आप को—

छादयत्यर्कमिन्दुर्विधुं भूमिभाः ।

अर्थात् सूर्य को चन्द्रमा ढकता और चन्द्रमा को पृथ्वी की छाया ढकती है । यह शङ्का कैसी अज्ञान भरी है कि पृथिवीनिवासियों को पृथिवी की छाया से हुवा ग्रहण न दीखना चाहिये । आपने खगोल समझा होता तो जान लेते कि-पृथिवी और सूर्य के बीच में चन्द्रमा है और चन्द्रमा सूर्य

के प्रकाश से चमकता है। और पृथिवी के चारों ओर चन्द्रमा घूमता है। इस लिये जब घूमता हुआ चन्द्रमा पृथिवी और सूर्य के बीच में आता है तब सूर्य को ढकता है और सूर्यग्रहण होता है। और जब चन्द्रमा पृथिवी के इस ओर और सूर्य उस ओर होता है तब पृथिवी, सूर्य चन्द्रमाओं के बीच में आकर सूर्य के प्रकाश को चन्द्रमा पर अपनी छाया से नहीं जाने देती, बस जितने चन्द्रभाग पर पृथिवी सूर्य के प्रकाश को जाने से रोकती है, उतना भाग ग्रस्त जान पड़ता है और यह दशा पृथिवीनिवासियों को भले प्रकार दीख सकती है॥

और ग्रहलाघव वाले ने सिद्धान्तशिरोमणि में देखकर लिखा है। क्योंकि सिद्धान्तशिरोमणि प्राचीन है और उसके गोलाध्याय ग्रहणवासनाप्रकरण में-

पश्चाद्भागाज्जलदवदधः संस्थितोऽभ्येत्य चन्द्रो
भानोर्बिम्बं स्फुरदसितया * छादयत्यात्ममूर्त्या॥
पश्चात्स्पर्शो हरिदिशि ततो मुक्तिरस्यात एव
क्वापिच्छन्नः क्वचिदपि ततो नैष कक्षान्तरत्वात्॥ १॥

वासनाभाष्यम्

अर्कादधश्चन्द्रकक्षा। यथा मेघोऽधस्स्थः पश्चाद्भागादागत्य रविं छादयति। एवं चन्द्रोऽपि शीघ्रत्वात् पश्चाद्भागादागत्य रविं छादयति। अतः पश्चात्स्पर्शः। निःसरति चन्द्रे पूर्वतो मोक्षो रवेः। अतएव कक्षाभेदात् क्वचिदर्कश्छन्नो दृश्यते क्वचिदेष न छन्नः। यथाऽधस्थे मेघे कैश्चिद्रविर्न दृश्यते, कैश्चिद्दृश्यते प्रदेशान्तरस्थैः॥

भाष्य का अर्थ-"सूर्य से नीचे चन्द्रमा की कक्षा है। जैसे मेघ नीचे स्थित है और पश्चिम से आकर सूर्य को ढक लेता है। ऐसे ही चन्द्रमा भी शीघ्रगामी होने से पश्चिम से आकर सूर्य को ढक लेता है। इसी से (सूर्यग्रहण) में पश्चिम से स्पर्श होता है। और चन्द्रमा के निकल जाने

* असितया आत्ममूर्त्या=अर्थात् चन्द्र अपनी बिना प्रकाश वाली मूर्त्ति से सूर्य को ढकता है। चन्द्रमा में निज का प्रकाश नहीं, किन्तु सूर्य से आता है॥

पर सूर्य का पूर्व से मोक्ष होता है। इसी कारण कक्षाभेद से कहीं सूर्य ढका और कहीं बिना ढका दीखता है। जैसे मेघ नीचे आजाने पर किन्हीं लोगों को सूर्य दीखता और किन्हीं देशान्तरवासियों को नहीं दीखता"

अब चन्द्रग्रहण का प्रमाण उसी प्रकरण के ४ थे श्लोक से सुनियेः-

पूर्वाभिमुखोगच्छन् कुच्छायान्तर्यतः शशी विशति।
तेन प्राक् प्रग्रहणं पश्चान्मोक्षोऽस्य निस्सरतः ॥ ४ ॥

वासनाभाष्यम्-

भूभा तावत्पूर्वाभिमुखमर्कगत्या गच्छति। चन्द्रश्च स्वगत्या। स शीघ्रत्वात्पूर्वाभिमुखोगच्छन् भूभां प्रविशति। तेन तस्य प्राक्स्पर्शः। भूभाया निस्सरतः पश्चान्मुक्तिः॥

भाष्य का अर्थ-पृथिवी की छाया पूर्वाभिमुख सूर्य की गति के साथ जाती है और चन्द्रमा अपनी गति से। वह शीघ्रगामी होने से पूर्वाभिमुख जाता हुवा पृथिवी की छाया में घुस जाता है। इस से उस का पूर्व से स्पर्श और पृथिवी की छाया से निकलते हुए का पश्चिम से मोक्ष होता है॥

अब इस का प्रमाण सुनिये कि सूर्य से चन्द्रमा में प्रकाश होता है। निज से नहीं। यथा=सामवेदे छन्दआर्चिके—

२उ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ क २र
अत्रा ह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्
३ २ ३ १ २ ३ २
इत्था चन्द्रमसो गृहे॥ ऐन्द्रपर्व अध्याय२दशति४मन्त्र ३

भाषार्थः-(अत्र) इस (चन्द्रमसः गृहे) चन्द्रमा के मण्डल में (त्वष्टुः) सूर्य की (गोः) किरण का (अपीच्यम्) छिपा वा (नाम ह) स्वरूप ही है (इत्था) इस प्रकार (अमन्वत) मानो॥

अर्थात् परमेश्वर का उपदेश है कि हे मनुष्यो! सूर्य की किरण चन्द्रमा को प्रकाशित करती है। यह जानो तथा मानो॥

इस मन्त्र में 'त्वष्टा' पद का अर्थ सूर्य है और परमैश्वर्य वाला होने से सूर्य भी इन्द्रपदवाच्य है। 'त्वष्टुः' का अर्थ सूर्य करने में निरुक्तकार ने ऋग्वेद

की ऋचा प्रमाण देकर कहा है कि "त्वष्टा पुत्री का लेजाना करता है और इस सब जगत् में व्यापता है और ये सब भूतमात्र का समागम करते हैं । (यम) दिन की माता (उषा) लेजायी जाती है । बड़े विवस्वान् की जाया अदृष्ट होती है अर्थात् आदित्य की जाया रात्रि आदित्य के उदय पर छिप जाती है" यह निरुक्त के पाठ का भावार्थ है जो निरुक्तकार ने "त्वष्टा दुहित्रे" इत्यादि ऋग्वेद १० । १७ । १ की ऋचा का व्याख्यान किया है ॥

गोशब्द से सूर्य की किरण अर्थ लेने में निरुक्तकार कहते हैं कि "और इस की एक किरणें चन्द्रमा की ओर प्रकाश करती हैं और इस से उपेक्षा करनी चाहिये, आदित्य से इस (चन्द्रमा) का प्रकाश होता है जैसा कि-सुषुम्नः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमागन्धर्वः, यह वाक्य है इस लिये किरण भी गौ कही जाती हैं । "अत्रा ह गोरमन्वत" इस मन्त्र पर आगे (४ । २५ में) व्याख्या करेंगे । सब ही किरणें गौ कही जाती हैं" यह निरुक्तस्थ पाठ का भावार्थ है ॥

ऋग्वेद १ । ८४ । १५ में भी ऐसा ही पाठ है जिस पर निरुक्तकार ने सूर्य की छिपी हुई वा प्रतिगत किरण चन्द्रमण्डल पर पड़ती हैं, यह लिखा है ॥

प्रायः इस प्रकार के व्याख्यानों पर लोगों को भ्रम हुवा करता है कि व्याख्याता ने वेद के विज्ञान की प्रशंसार्थ पक्षपात से खेंचतान करके वर्त्तमान काल में प्रसिद्ध हुवे विज्ञान की बातें वेद में घुसेड़ दी हैं । परन्तु उन संशयात्माओं को इस से शान्ति मिलेगी कि आजकल के वैज्ञानिकों के जन्म से बहुत वर्ष पूर्व यास्कमुनि ने ऊपर लिखा सिद्धान्त कहां से निकाला ? वेद से । क्योंकि निरुक्तकार अपने मत में "सुषुम्नः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमागन्धर्वः" इस वेदवचन का प्रमाण देते हैं ॥

प्रत्युत इस में तो सायणाचार्य ने भी स्पष्ट स्वीकार किया है कि "चन्द्रबिम्ब में सूर्य की किरणें प्रतिफलित होती हैं" इत्यादि ॥

तथा एशियाटिक सोसाइटी के सुयोग्य सभ्य पं० सत्यव्रत सामश्रमी जी अपनी टिप्पणी में विवरणकार का मत लिखते हैं कि-"गो शब्द से यहां सुषुम्ना नाम सूर्य की किरण लेनी चाहिये, जो चन्द्रमण्डल के छोटा होने से चन्द्रमण्डल पर जाकर लौटकर पृथिवी पर चान्दनी के रूप से प्रकाश करती है वही यहां गो शब्द से अभिप्राय है" ॥

इस प्रकार हमने वेद और सिद्धान्तशिरोमणि से स्वामी जी के पक्ष की

पुष्टि की है और आप ने जो दो श्लोक सिद्धान्तशिरोमणि के पृ० ३८०-३८१ में लिखे हैं वे किसी पुराणों के पक्षपाती ने कभी पीछे से मिलाये जान पड़ते हैं॥ और ठीक भी हों तो राहु और केतु पृथिवी और चन्द्रमा के उस भाग का नाम जान पड़ता है जिस की छाया से ग्रहण होते हैं। यदि आप ऐसा न मानेंगे तो आप को सिद्धान्तशिरोमणि को पूर्वापरविरुद्ध अप्रमाण कहना पड़ेगा, और ग्रहलाघव के अनुसार भी आप को स्वामी जी का मत शिर पर रखना पड़ेगा। क्योंकि आप तो ग्रहलाघव को मानते हैं॥

द० ति० भा० पृ० ३८० पं० ५ से जो-"एवं पर्वान्ते" इत्यादि ग्रहलाघव का प्रमाण लिखा है उस में आप के लिखे अर्थ से भी ग्रहण निकालने का गणित पाया जाता है, यह उस से भी सिद्ध नहीं होता कि राहु कोई दैत्य चेतन है और वैर से सताता है। जब कि आप स्वयं सत्ययुग का बना सिद्धान्तशिरोमणि को पृ० ३८३ पं० ३। ४ में मानते हैं तो आप के मतानुसार व्यासकृत द्वापरान्तकाल के पुराणों का वर्णन उस में आना ही इस का प्रमाण है कि यह वर्णन पीछे से किसी ने घुसेड़ा॥

अथ गरुड़पुराणप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० ३८२ पं० २२ से-

१-वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत

अथर्व १८। १। ४९

२-मृत्युर्यमस्यासीद्दूतःप्रचेता असून्पितृभ्योगमयांचकार

१८। २। २७

३-यांते धेनुं निपृणामि यमु ते क्षीरओदनम्।

तेनाजनस्यासोभर्त्ता योऽत्रासदजीवनः १८। २। ३०

४-दण्डं हस्तादाददानोगतासोः सह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन।

अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वामृधोअभिमातीर्जयेम १८।२।५९

५-धनुर्हस्तादाददानोमृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन।

समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ्त्वमेह्युपजीव लोकम् १८।२।६०

६-एतत्ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे।

तस्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर १८ । ४ । ३१

७-धानाधेनुरभवद्वत्सोअस्यास्तिलोऽभवत् ।

तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुपजीवति १८ । ४ । ३२

८-एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु ।

एनीःश्येनीःसुरूपाविरूपास्तिलवत्साउपतिष्ठन्तुत्वात्र १८।४।३३

९-एनीर्धानाहरिणीःश्येनीरस्यकृष्णाधानारोहिणीर्धेनवस्ते ।

तिलवत्साऊर्जमस्मैदुहानाविश्वाहासन्त्वपस्फुरन्तीः३४ अ०वे०

भावार्थः

वैवस्वत देव जो मनुष्यों को संगमन करने हारे हैं उनयमराजा कू हवि से तृप्त करता हूं १ यमराजा का दूत मृत्यु है प्रचेता है जोकि प्राणों को निकालते हैं २ जो तुह्मारे वास्ते धेनुदान करता हूं जो कि दुग्धादिक देंगी इसी गौ से यम लोक में गये प्राणी सुखी हों ३ हात में दण्ड धारण किये हुवे प्र णियों को बलपूर्वक ग्रहण करते हैं ४ धनुष हाथ में लिये मृतक कू बलपूर्वक ग्रहण करते हैं ५ यह सविता देवता के अर्थ वस्त्र देता हूं सो हे सविता देवता तुम यमलोक में हमारे पितरों को वस्त्र दो ६ यह धान धेनु हों तिल वत्स हैं येही यमराज में पितरों को सुखदाता हैं ७ यह गाये कामधेनु सम हों एनी श्येनी स्वरूप विरूप और तिल रूप वत्स पितरों के अर्थ प्राप्त हों ८ एनी धन हरने हारी श्येनी कृष्णगौः तिलवत्सा यम लोक के पितरों के अर्थ हैं ९ देखिये तप दान श्राद्ध यमराज गोदान आदि सब विधान अथर्ववेद में हैं ॥

प्रत्युत्तर-(वैवस्वतं सङ्ग०) इस मन्त्र का अर्थ तो हम आप का किया ही माने लेते हैं । परन्तु-

यमं ह यज्ञो गच्छति० ॥ ऋ० १० ॥ १४ ॥ १३

इस प्रमाण से वायु शेष यम के लिये हवन करना लिखने से गरुड़ पुराण की लीला सिद्ध नहीं होती ॥

२-(मृत्युर्यमस्यासीद्दूतः०) इस मन्त्र का पदार्थ यह है-(मृत्युः) मौत (यमस्य) नियन्ता परमात्मा का (दूतः) परिताप वा दुःख का दाता दूत(आ. सीत्) है । जो (प्रचेताः) सदा सन्नद्ध रहता है, प्रमाद नहीं करता । वही

(असून्) प्राणों को (पितृभ्यः) पितरों से (गमयाञ्चकार) अलग करता वा गत करता है । इस में भी मरण वा मृत्यु यथार्थ में परमेश्वर का दूत है जो परमात्मा की आज्ञानुसार पूर्वजों (पितरों) के प्राण लेता रहा है, परन्तु इस में किसी देहधारी यमदूत का वर्णन नहीं ॥

३—यां ते धेनुं निपृणामि यमु ते क्षीर ओदनम् ।
तेना जनस्यासो भर्ता योत्राऽसदजीवनः ॥ १८ । २ । ३० ॥

यह मन्त्र मृतकदाह करते समय का है और इस का अर्थ यह है कि हे यम ! अर्थात् वायो ! (ते) तेरे लिये (याम्) जो (धेनुम्) गौ (निपृणामि) देता हूं (च) और (यम्) जो (क्षीरे) दूध में पका (ओदनम्) भात (ते) तेरे लिये देता हूं । (तेन) उस धेनु और क्षीरोदन के साथ (जनस्य) इस जन्म लेने वाले का (भर्त्ता) धारक (असः) हो तू (यः) जो कि (अत्र) इस वेदि में (अजीवनः) मृतक (असत्) है ॥

यहां धेनु वा गौ का अर्थ पशुविशेष नहीं है, किन्तु स्वयं अथर्ववेद १८ । ४ । ६२ में लिखा है (आप ने भी ?) कि-

धाना धेनुरभवद्वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत् ।
तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुपजीवति ॥ १८ । ४ । ६२

अर्थ-(धाना) धान (धेनुः) गौ (अभवत्) है और (अस्याः) इस धानरूप गौ का (वत्सः) बछड़ा (तिलः) तिल (अभवत्) है (ताम्) इस धानरूप गौ को (वै) निश्चय (अक्षिताम्) जो [अग्नि में डालने से] नष्ट नहीं हुई उसे (यमस्य) वायु के (राज्ये) राज्य अर्थात् आकाश में (उपजीवति) आधार करता है ॥

दोनों मन्त्रों को मिलाकर यह अर्थ हुवा कि मृतक के साथ गौ अर्थात् धान और उस का बछड़ा अर्थात् तिल और दूध पके चावल होमने चाहियें, वायु उन पदार्थों सहित मृतक शरीर को अपने राज्य (आकाश में) आधार होकर ले जाता है । जिस से पृथिवीनिवासी मनुष्यादि प्राणियों को वह प्रेत=लाश रोगादि उत्पन्न करके सड़ कर दुःख न दे ॥

४—दण्डं हस्तादाददानो गतासोः सह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन ।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वा मृधो अभिमातीर्जयेम १८।२।५९

यह मन्त्र पूर्व मन्त्र ३ से २९ मन्त्र आगे है और इस में पीछे से यमराज का वर्णन भी नहीं है, किन्तु यह मन्त्र मृत पुरुष के पुत्र को लक्ष्य करके कहा गया है कि (त्वम्) तू (गतासोः) मृतपुरुष के (दण्डम्) लाठी को (हस्तात्) हाथ से (आददानः) लिये हुवे (श्रोत्रेण) कान आदि इन्द्रियों (वर्चसा) तेज (बलेन) और बल के (सह) साथ (अत्र) इस संसार में रह (इह) यहां (एव) ही (वयम्) हम ज्ञाति बान्धवादि हैं और (विश्वाः) सब (अभिमातीः) अभिमानी (मृधः) सङ्ग्राम [निघण्टु २ । १७] करने वालों को (जयेम) जीतें ॥

९-धनुर्हस्तांदाददानो मृतस्यं सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ॥
समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ्त्वमेह्युपं जीवलोकम् ॥१८।२।६०

तू (मृतस्य) मृतपुरुष के (धनुः) धनुष को (हस्तात्) हाथ से (आददानः) लिये हुवे (क्षत्रेण) क्षत्रियसम्बन्धी (वर्चसा) तेज और (बलेन) बल के (सह) साथ) भूरि) बहुत (पुष्टम्) पुष्ट (वसु) धन को (समागृभाय) संग्रह कर (अर्वाङ्) पीछे (जीवलोकम्) जीवते संसार के (त्वम्) तू (उप) समीप (एहि) आ ॥

अर्थात् पितृशोक में चिता के समीप बैठे हुवे पुत्रादि उत्तराधिकारी को अन्य ज्ञाति बान्धवादि लोग ऐसे आश्वासन देकर घर को बुलावें ॥

इस से अगले मन्त्रों (इयं नारी पतिलोकम् इत्यादि २) में मृतपुरुष की स्त्री को आश्वासन और नियोगादि का विधान ज्ञातिबान्धवों की ओर से है॥

६—एतत्ते देवः सविता वासो ददाति भर्त्तवे ॥
तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ॥ १८ ॥ ४ ॥ ३१ ॥

इस का यह अर्थ किसी प्रकार नहीं है कि यह वस्त्र सविता के लिये देते हैं, किन्तु यह अर्थ है कि (सविता) सूर्य (देवः) देवता (ते) तेरे (भर्त्तवे) धारण को (वासः) आच्छादन (ददाति) देता है (तत्) उसे (वसानः) आच्छादन किये हुवे (त्वम्) तू (यमस्य) वायु के (राज्ये) राज्य में (तार्प्यम्) तृप्ति तक (चर) विचर ॥

अर्थात् शरीर से पृथक् हो कर जीवात्मा सूर्य के प्रकाशरूप वस्त्र को

आच्छादित किये हुवे वायुमण्डल में अपने लिङ्ग देह को आप्यायित करता है अर्थात् (यजुः ३९ । ६) मन्त्रानुसार प्रथम दिन मृत जीवात्मा सविता के लोक को प्राप्त होता है ॥

७ इस का प्रत्युत्तर संख्या ३ में आ चुका कि धान धेनु हैं और तिल जो चिता में छोड़े जाते हैं वे धान धेनु के वत्स हैं । इसी को आगे ८ वें ९ वें मन्त्र में प्रपञ्चित किया है। यथा–

८—एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु । एनीः श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवत्सा उपतिष्ठन्तु त्वात्र ॥ १८ । ४ । ३३ ॥

(असौ) यह (एताः) ये (धेनवः) धान धेनुवें (ते) तेरे लिये (कामदुघाः) इच्छापूर्ण करने वाली (भवन्तु) होवें । जो कि (एनीः) चितकबरी (श्येनीः) श्वेत (सरूपाः) समान रङ्ग की (विरूपाः) अनेक विरुद्ध रङ्गों की (तिलवत्साः) जिन [धानरूप धेनुओं] के तिल बछड़े हैं वे (त्वा) तुझे (अत्र) यहां चिता में (उपतिष्ठन्तु) उपस्थित हों ॥

९—एनीर्धाना हरिणीः श्येनीरस्य कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते । तिलवत्सा ऊर्जमस्मै दुहाना विश्वाहा सन्त्वनपस्फुरन्तीः ॥ १८ । ४ । ३४ ॥

(एनीः धानाः) विचित्र रङ्गवाली धान (हरिणीः) हरी (श्येनीः) श्वेत (रोहिणीः) लाल (कृष्णाः) काली (धानाः) धान (अस्य ते) इस तेरी (धेनवः) धेनु हैं । (तिलवत्साः) तिल ही जिन के बछड़े हैं वे (अनपस्फुरन्तीः) न भागती हुई (अस्मै) इस के लिये (ऊर्जम्) रस को (दुहानाः) पूरित करती हुई (विश्वाहा) सब दिन (सन्तु) हों ॥

इन मन्त्रों से प्रकट है कि १-(यमराज वायु की शुद्धि के लिये मृतक को उत्तम हविष्य पदार्थों के साथ फूंकना चाहिये ॥ २-मौत यमदूत है जो मौत प्राण निकालती है ॥ ३-मृतक को दुग्ध में पके भात तिल धान आदि के साथ फूंका जावे, ये पदार्थ मृतकशरीर के परमाणुओं को ऊपर अपने साथ लेजाते हैं ॥ ४-५ मृत पुरुष का पुत्रादि उत्तराधिकारी शोक करके चिता के समीप न पड़ा रहे किन्तु दाह कर्म के पश्चात् ज्ञाति बान्धवादि लोग उस का शोक दूर करते हुवे आश्वासन दें और मृतपुरुष के दण्ड धनुष् आदि पदार्थ

उन के उत्तराधिकारी को धारण करावें जैसे पगड़ी बन्धवा कर मृतपुरुष का स्थानापन्न पञ्च लोग पुत्रादि को बनाते हैं ॥ ६ मृतजीवात्मा प्रथम दिन सूर्यलोक से आप्यायित होता है ॥ ७-धेनु का तात्पर्य धान है और तिल उन धेनुओं के वत्स हैं जिन से वायुमण्डल में मृतपुरुष आप्यायित होता है ॥ ८-वे धान रूप धेनु काली, हरी, लाल, श्वेत आदि विचित्र रङ्गों की होती हैं॥ ९-वे धान ही हैं कोई गाय (पशु) नहीं हैं, उन का रस आकाश में रस की वृद्धि करता है और सदा सुख की वृद्धि होती है ॥

देखिये यहां मृतक जीवात्मा की तृप्ति के लिये महाब्राह्मणादि को दान श्राद्ध गोदानादि का लेशमात्र भी वर्णन नहीं है परन्तु हां, साधारण पुरुषों के चौंकाने को ये आप के लिखे अच्छे मन्त्र हैं ॥ जीव नियत काल तक आकाश में वायु आदि से आप्यायित होकर जन्म लेता है । इस लिये उस का जन्मान्तर धारण करने तक सुख दुःख भोगादि न मानना ठीक ही है । वह वायु में तत्त्वों से आप्यायित तो होता है परन्तु स्थूलदेह में जो सुखादि के अनुभव करता था, वे वहां नहीं पहुंच सकते । जो कुछ उस का आप्यायन होता है सो अग्नि से होता है, वह केवल अग्नि में होम करने से हो सकता है । इतर द्वारा नहीं ॥

व्रतप्रकरणम्

इस प्रकरण में जो पृ० ३८५ पं० २३ में-

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैः । इत्यादि मनु का प्रमाण है उस का तात्पर्य सत्यभाषणादि वा चान्द्रायणादि व्रतों से है, एकादश्यादि भिन्न २ देवतों के व्रतों का (जो प्रचरित हैं) मनुस्मृति में नाम तक नहीं ॥ उपनयनादि के व्रत यज्ञसम्बन्धी गृह्यसूत्रोक्त हैं, उन का एकादश्यादि से कुछ सम्बन्ध नहीं ॥ पृष्ठ ३८६ में जो प्रायश्चित्त के व्रतविधायक श्लोक लिखे हैं, सो इस लिये आप को व्यर्थ हैं कि वह तो पापियों के पाप का दण्ड है । उस का एकादशी आदि पौराणिक व्रतों से सम्बन्ध नहीं । यदि एकादश्यादि के व्रत की परिपाटी आप प्राचीन समझते थे, तो एक तो प्रमाण मनु वा वेदादि प्राचीन ग्रन्थ का दिया होता ? ब्रह्मलोक की अप्सरा न सही, इन्द्रलोक की सही, कथा तो एकादशीमाहात्म्य में है ॥

—*—

ब्रह्माण्डप्रकरणम्

द० ति० भा० पृ० ३८७ से ३९३ तक ७ पृष्ठों में "भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्" । यो० पा० ३ सू० २५ का व्यासभाष्य लिख कर भागवतादिलिखित भूगोल खगोल की कथा की सत्यता सिद्ध करने का साहस किया है ॥

प्रत्युत्तर–मूल सूत्र का इतना अर्थ है कि " सूर्य में संयम करने से (योगी को) भुवन ज्ञान हो जाता है " ॥ भाष्य में आपने पृष्ठ ३८८ प० २४ में सुमेरु पर्वत को सुवर्ण का लिखा है जो प्रत्यक्ष के ही विरुद्ध है । फिर उसके मणि-मयादि शृङ्ग लिखे हैं, वे भी पत्थर के ही प्रत्यक्ष हैं । इस लिये यह लेख भी प्रत्यक्ष विरुद्ध है । सुमेरु के उत्तर की ओर २००७ योजन लम्बाई के ३ पहाड़, उन के बीच बीच में ३ खण्ड ९००० योजन का प्रत्येक, दक्षिण की ओर दो हज़ार योजन के निषधादि पर्वत, हरिवर्षादि भी २ हज़ार योजन के ३ खण्ड ४ लक्ष कोश जम्बूद्वीप सुमेरु के चारों ओर लम्बाई में और २ लक्ष चौड़ाई में इत्यादि विस्तार इस भूमि पर, जिस पर हम रहते हैं, असंभव है । यह पृथिवी का ४९ करोड़ योजन मानना प्रत्यक्षविरुद्ध, गणितविरुद्ध और ज्योतिषशास्त्र के भी विरुद्ध है । देखिये सिद्धान्तशिरोमणि में पृथिवी का विस्तार केवल इतना है

सि० शि० के गणिताध्याय में लिखा है——

प्रोक्तो योजनसंख्यया कुपरिधिः सप्ताङ्गनन्दाब्धयः ।
तद्व्यासः कुभुजङ्गसायकभुवोऽथ प्रोच्यते योजनम् ॥
याम्योदक्पुरयोः पलान्तरहतं भूवेष्टनं भांशहृत् ।
तद्भक्तस्य पुरान्तराध्वन इह ज्ञेयं समं योजनम् ॥

अर्थ- पृथिवी की परिधि ४९६७ योजन है और 'व्यास' १५८१ योजन लंबा है । दो ऐसे नगरों के जिन में से एक वृषुवद्वृत्तरेखा के उत्तर में और दूसरा दक्षिण में स्थित हो, पलान्तर को भूमि की परिधि में गुणा करने से और ३६० पर भाग देने से उन नगरों का योजनों में अन्तर जाना जाता है ॥

यदि १ योजन ५ मील के बराबर माना जाय तो पृथिवी की परिधि ४९६७ × ५ अर्थात् २४८३५ मील, और 'व्यास, १५८१ × ५ अर्थात् ७९०५ मील होता है । योरपवासियों ने परिधि २४८५६ मील और व्यास ७९१२ मील सिद्ध किया है । यह ७ मील का भी अन्तर इस कारण है कि योजन पूरे

५ मील का नहीं होता किन्तु कुछ अधिक होता है। अर्थात् यदि ५$\frac{१}{२३०}$ मील का एक योजन माना जाय तो पूरे २४८५६ मील की परिधि और ठीक ७९१२ मील का व्यास आजाता है ॥

पुराणों और इस भाष्य में पृथिवी का विस्तार इतना लंबा चौड़ा लिखा है कि जिस का कुछ पारावार नहीं। हम इस भय से कि हमारे पौराणिक भाई पं० ज्वा० प्र०जी इस को निन्दा न समझलें इस विषय में स्वयं कुछ नहीं कहना चाहते किन्तु उन के खण्डनपक्ष में सिद्धान्तशिरोमणि ही का श्लोक देते हैं—

कोटिघ्नैर्नखनन्दषट्कनखभूभूभृद्भुजङ्गेन्दुभि-
ज्योतिःशास्त्रविदोवदन्ति नभसःकक्षामिमां योजनैः ॥
तद् ब्रह्माण्डकटाहसम्पुटतटे केचिज्जगुर्वेष्टनं
केचित् प्रोचुरदृश्यदृश्यकगिरिं पौराणिकाः सूरयः ॥ *

सि० शि० गणिताध्याये ॥

अर्थ—१८७१२०६९२०००००००० योजन को ज्योतिः शास्त्र के जानने वाले सारी सृष्टि का एक छोटा भाग मानते हैं। बहुत से इस को पृथिवी की परिधि का मान समझते हैं और 'पौराणिक विद्वान्, इस को केवल एक 'लोकालोक, नामक पर्वत की ऊंचाई बतलाते हैं ॥

अब विचारना चाहिये कि भास्कराचार्य, आज कल के उन्नतिशाली ज्योतिषी और प्रत्यक्ष इन सब के विरुद्ध यह भाष्य किस प्रकार माननीय हो सकता है। जो जहाज़ पूर्व को छोड़े गये और थोड़े काल में वे पश्चिम में आ निकले, यदि पृथिवी का विस्तार इस प्रकार का असंभव होता तो यह कभी न हो सकता। अब यह विचार शेष रहा कि तो क्या यह व्यास-भाष्य जिस को स्वामी जी ने आर्षभाष्य माना है, असत्य है ? इस के उत्तर में यही कहना पड़ता है कि स्वामीजी ने सिद्धान्तशिरोमणि आदि ज्योतिष के प्राचीन ग्रन्थों को और मनुस्मृति आदि को धर्मशास्त्रत्व से भी तो प्रमाण किया है, परन्तु अयुक्त बातें किसी की भी (चाहे वे ग्रन्थकर्त्ता ने लिखी हों चाहे पीछे से किसी ने मिलाई हों) नहीं मानीं, न माननी चाहियें। और

* निस्सन्देह ये श्लोक पुराणों की अयुक्त बातें देखकर सिद्धान्तशिरोमणि में लिखे गये हैं क्योंकि यह ग्रन्थ ब्रह्मवैवर्तादि पुराणों से अर्वाचीन प्रतीत होता है ॥

इस विषय में तो एक को मानने से दूसरे को त्यागना पड़े ही गा। क्योंकि प्रसिद्ध ज्योतिष के भास्कर भास्कराचार्य जब पृथिवी का विस्तार इतना न्यून मानते हैं और इस भाष्य में इतना अधिक माना है तो फिर परस्परविरुद्ध दो सत्य कैसे माने जा सकते हैं ?

द० ति० भा० पृ० ३९४ पं० २५ कहीं भक्तमाल में ऐसी कथा नहीं है ॥

प्रत्युत्तर—यदि आप कहते कि " यह कथा भक्तमाल में नहीं है " तब तो कुछ ठीक भी था, परन्तु " ऐसी " अर्थात् इस " विष्ठा का तिलक मान लेना " के सदृश तो अनेक कथा हैं । और भक्तमाल भी अनेक प्रकार के पाठभेदयुक्त हैं । किसी न किसी में हो तो भी आश्चर्य नहीं ॥

द० ति० भा० पृ० ३९५ पं० ८ से—यज्ञोपवीत को विद्या का चिन्ह होने का निषेध किया है ॥

प्रत्युत्तर—विद्याप्राप्ति का चिन्ह होता तो पश्चात् दिया जाता किन्तु विद्या के अधिकारी होने का भी है इसी से उपनयन में दिया जाता है ॥

द० ति० भा० पृ० ३९५ पं० १९ से—कलियुग को पापादि का कारण माना है; परन्तु प्रमाण एक भी नहीं दिया । यह ठीक है कि काल के विना कुछ नहीं होता, काल में ही सब कुछ होता है परन्तु काल अधिकरण है, काल कर्त्ता नहीं है, ऋतुओं में अङ्कुरादि उत्पन्न होते हैं, ऋतु उन को उत्पादक नहीं किन्तु सूर्यादि की उष्णतादि का तारतम्य उस का कारण होता है ॥

द० ति भा० पृ० ३९६ पं० ३ से—दश नामों के अन्तर्गत होने से दयानन्द सरस्वती नाम भी मिथ्या हुआ, लिखा है ॥

प्रत्युत्तर—स्वामी जी ने नामों को मिथ्या नहीं, किन्तु नवीन कल्पना माना है । जब किसी का सन्तान उत्पन्न होता है तब वह एक नाम की कल्पना करके रख देता है । ऐसा ही गुरु लोग शिष्यों के नाम रखते हैं । स्वामी जी का आशय यह नहीं है कि ये दश नाम न रक्खे जावें किन्तु यह है कि इसी प्रकार के नाम धरने का कुछ शास्त्रसिद्धान्त नहीं है । किन्तु अन्य भी उत्तमार्थक शोभन नाम चाहें सो रख सक्ते हैं ॥

द० ति भा० पृ० ३९६ पं० १३ से—यदि १०० वर्ष की आयु मानें तो स्वायम्भुव मनु से रामचन्द्र जी तक के १०००० ही वर्ष होंगे । इस लिये पहिले बड़ी आयु थीं, इत्यादि आशय है ॥

प्रत्युत्तर–पूर्व अब की अपेक्षा आयु तो अधिक थी परन्तु वेद के अनुसार परमायु साधारणतया १०० वर्ष ही थी और अधिक से अधिक ४०० वर्ष। स्वायंभुव से रामचन्द्र जी तक १०० पीढ़ी ही नहीं हैं किन्तु प्रधान और प्रसिद्ध पुरुषों का वर्णन है, गौण और साधारण छोड़ दिये हैं। इस से कुछ दोष नहीं आता। फिर यदि हम आप के पुराणानुसार सत्ययुग में १ लक्ष वर्ष की और त्रेता में १०००० वर्ष की आयु भी मानें तो भी स्वायंभुवादि छः मन्वन्तरों का समय इस लेखे से भी बड़ा है, फिर वही शङ्का आप के मत में भी रहेगी॥

द० ति भा० पृ० ३९६ पं० २२ में–दशरथ जी के ६० हज़ार वर्ष के आयु में रामचन्द्र जी का जन्म माना है॥

प्रत्युत्तर–यदि सत्ययुग में १ लक्ष, त्रेता में १० सहस्र, द्वापर में १ सहस्र और कलियुग में १०० वर्ष की पुराणानुसार आयु हो तो भी त्रेता में १०००० दश सहस्र से बढ़कर ६० सहस्र से भी अधिक आयु दशरथ की कैसे मान सक्ते हैं और रामचन्द्र जी जिन के राज्य भर में कोई अल्पायु नहीं था, लिखा है, वे भी रामायणानुसार अपने पिता से षष्ठांश ११००० वर्ष में ही मर गये?

द० ति० भा०पृ० ३९७ पं०१९–पूर्व लिखा था कि आर्य तिब्बत आये अब स्वामी जी ने कौन सी भङ्ग की तरङ्ग में लिख दिया कि सदा से यहां रहते हैं॥

प्रत्युत्तर–सृष्टि ही तिब्बत में प्रथम हुई यह प्रथम हम सिद्ध कर चुके हैं तब वहीं से यहां आये, लिखना और "सदा से यहां आर्य लोग रहे" इस का तात्पर्य यह है कि यह भूमि आदि सृष्टि से कभी दस्युओं से आच्छादित नहीं रही, आर्यों का राज्य रहता रहा, इसी से इस का नाम आर्यावर्त्त था॥

यह दयानन्दतिमिरभास्कर के ३९७ पृष्ठ तक प्रथमावृत्ति का प्रत्युत्तर समाप्त हुआ। यदि द्वितीयावृत्ति में पृष्ठ पङ्क्ति का भेद पड़े तो कुछ आगे पीछे देखने से ठीक हो जायगा॥

आगे ३९९ से ४०२ पृष्ठ तक आर्यसमाज के १० नियमों का खण्डन किया है, उस का उत्तर—

दश नियमों का मण्डन

१ सब सत् विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सब का आदिमूल परमेश्वर है॥

समीक्षा–जब सब का आदिमूल परमेश्वर है तो स्वमन्तव्य ६ पृ० ५८१ में

प्रकृति परमाणु और जीव को नित्य मानना इस नियम के विरुद्ध है दोनों में कौन बात सच्ची है ॥

खण्डन १—आदिमूल नाम मुख्य का होता है या आधार का होता है। मूल=प्रतिष्ठायां चुरादिः। आप के मत में भी चौमुखे ब्रह्मा को सब का आदि मूल माना है । और कहीं २ देवी को माना है । कहीं महादेव को । जब ब्रह्मा की उत्पत्ति नाभि कमल से पुराण बताते हैं तब ब्रह्मा से आदि में विष्णु की विद्यमानता होने से ब्रह्मादि आदिमूल कैसे हो सकते हैं। सनातनधर्म का पहिला नियम यह होना चाहियेः—

१—सब असत्य भाषण और इन्द्रजाल से जो भ्रम होता है, कई का पुत्र, वाराह इष्टदेव है ॥

टीका—जलन्धर की पतिव्रता का व्रत भङ्ग किया, असत्य बोला, ब्रह्मा को भ्रम हुवा, बछड़े चुराये। रामचन्द्र रोये, एक भगवान् ने चीर चुराये । अवतार लेने से कई का पुत्र है। इसी लिये तो आर्यों के सर्वमान्य नियम का खण्डन तिमिरभास्कर में लिखा है ॥

२-ईश्वर जो सच्चिदानन्दस्वरूप निर्विकार सर्वशक्तिमान् न्यायकारी दयालु अजन्मा अनन्त निर्विकार अनादि अनुपम सर्वाधार सर्वेश्वर सर्वव्यापक अन्तर्यामी अजर अमर अभय नित्य पवित्र और सृष्टि का कर्त्ता है उसी की उपासना करनी योग्य है ॥

समीक्षा—यह दूसरा नियम सर्वथा अशुद्ध है । जब ईश्वर निर्विकार है तो उस में सृष्टिरचना का विकार कैसे है और वह सृष्टि क्यों करता है और जो सर्वशक्तिमान् है तो जो चाहे सो क्यों नहीं कर सकता न्याय करना दया करनी यह निर्विकार में संभव कहां अथवा यह ज्ञान ईश्वर का परोक्ष है वा अपरोक्ष है और संशय की निवृत्ति परोक्ष वा अपरोक्ष ज्ञान से होती है। परोक्ष (जो प्रत्यक्ष न हो) ज्ञान से तो संशय की निवृत्ति हो नहीं सकती क्योंकि जो देखा नहीं उस का होना तथा गुण कर्मों का निश्चय नहीं होसकता इस कारण जब तक ईश्वर के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान न होगा तब तक उपरोक्त गुण उस में कैसे संभव हो सकते हैं और उपासक उपासना किस की करै जब कि ईश्वर का साक्षात्कार ही नहीं तो यह नाम कैसे कल्पना करलिये निराकार के भी और नाम किसी के ऊपर दया करते देखा जो दयालु नाम रख लिया यह तो नाम जभी सिद्ध हो सकेंगे जब ईश्वर का साकार अव-

तारधारी निश्चय कर लोगे निराकार में यह नाम कल्पनामात्र है ॥

खण्डन २—दूसरे नियम का खण्डन सर्वथा पक्षपात है ॥

यह कहां की फ़िलासफ़ी है कि निर्विकार परमात्मा सृष्टिरचना न कर सके । सनातनधर्म के पुराणों में तो सहस्रों श्लोकों में ईश्वर को निराकार निर्विकार माना है । यदि कोई सनातनी चाहै तो हम दूसरे नियम के बताये सब नाम इन पुराणों में दिखा सकते हैं, यहां तक कि अवतारों की स्तुति तक में निराकार शब्द लिखा गया है जो सर्वथा ही असङ्गत है ॥

हां आप के मत में दूसरा नियम यों होना चाहिये-ईश्वर (कच्छ मत्स्यादि) क्षणभङ्गुर, रोती सूरत, विकारवान्, अशक्त, अन्यायकारी, कोठरी में बन्द, अजान, बौना, तीर से मरने वाला, डरपोक, कभी २ हो, कभी न रहे, अशुद्ध, मनुष्यों का बनाया हुवा है, उस की और उत भूत वृक्षादि जड़ की उपासना करनी चाहिये ॥

टीका-सुग्रीव से सीता की खोज का अभिलाषी, वामन=बौना, तीर लगने से मरने वाला=कृष्ण, (बाली से डरके वृक्ष की ओट में होकर) डरपोक, कलियुग में न रहने वाला, चिता की भस्म में लोटने वाला ॥

३-वेद सत्यविद्याओं का पुस्तक है वेद का पढ़ना और सुनना सब आर्यों का परम धर्म है ॥

समीक्षा—जब वेद का पढ़ाना और पढ़ना ही परम धर्म है तो आपने सत्यार्थप्रकाशादिग्रन्थोंमेंमहाभारत, मनुस्मृति, शतपथब्राह्मणवाक्य, वेदानुकूल मान कर क्यों ग्रहण किये । यदि मन्त्रभाग ही में सब धर्मों की प्रवृत्ति निवृत्ति सब पदार्थों की उत्पत्ति स्थिति लय और जो कुछ सृष्टि और कल्याण के लिये होना चाहिये लिखा है तो पृथक् पृथक् स्थान पर प्रमाण के लिये केवल मन्त्रभाग की ही श्रुति पूर्ण थी । मनुस्मृति, महाभारत और२ पुस्तकों के श्लोकों के और ब्राह्मणभाग के प्रमाण देने की कोई आवश्यकता नहीं थी क्योंकि मन्त्रभाग को आप स्वतः प्रमाण मानते हैं तो मन्त्रों के ही प्रमाण से सृष्टिक्रम युगों की व्यवस्था ब्रह्मा के दिन वर्षकल्प की संख्या प्रतिमापूजन का निषेध अवतारों का न होना दायभाग ब्राह्मणादि लक्षण सब कुछ उसी से साबित करते परन्तु आपने सत्यार्थप्रकाशादि में जो और ग्रन्थों के प्रमाण लिखे हैं इनकी क्या आवश्यकता थी । यदि वे वेदानुकूल लिखे हैं तो मन्त्र ही क्यों न लिख दिये, यह तो आप ने ऐसा किया जैसा

कोई आम छोड़ बबूर पर गिरे, चाहिये था कि केवल मन्त्र ही तो अपने ग्रन्थों में लिखे रहने देते, शेष सब निकाल डालते ॥

मण्डन ३–रे नियम का खण्डन करके सारे सनातनधर्म को ज्वालाप्रसाद जी ने भस्म का टीका लगा लिया है ॥

कौन सनातनधर्मी वेद के पढ़ने पढ़ाने से विमुख होगा। हां ज्वाला-प्रसाद जी को अपने पूज्य बुद्धाऽवतारादि की बात याद आगई होगी ॥

"त्रयोवेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्त्तनिशाचराः" अब कलियुगी सनातन० सभा का तीसरा यह नियम होना चाहिये–वेद मिथ्या ज्ञान का पुस्तक है वेद का पढ़ना पढ़ाना सुनना सुनाना ज्वालाप्रसादादि कलियुगी विद्यावा-रिधियों को महा अधर्म है। यदि स्वामी दयानन्द वेदानुकूल अन्य पुस्तकों का पढ़ना पाप बताते तब तो यह आक्षेप करते ॥

४ सत्य का ग्रहण और असत् के छोड़ने में सदा उद्यत रहना चाहिये॥

समीक्षा–यह नियम विवेकान्तर्गत है जब तक विवेक न होगा तबतक सत् असत् की परीक्षा कैसे होगी। यदि कोई कहे ईश्वर सत्य है, या जगत् ? जगत् तो नाशवान् होने से असत् और ईश्वर नित्य होने से सत् है, जब जगत् मिथ्या ईश्वर सत्य है, तो किस का ग्रहण किस का त्याग करे, ग्रहण और त्याग दूसरे पदार्थ का होता है जब दूसरा पदार्थ असत्य ही है तो त्याग किस का। इस नियम का धर्म से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह नियम निश्चयरहित है मिथ्या पदार्थों का क्या ग्रहण क्या त्याग हो सकता है। और सत्यार्थप्रकाश के असत्य अप्रमाण और वचनों का आजतक त्याग न हुआ॥

मण्डन ४–कलियुगी धर्मसभा का चौथा नियम यह होना चाहिये "सत्य के त्याग और असत्य के ग्रहण में सर्वथा उद्यत रहना चाहिये" ॥

हमारे भाई ज्वालाप्रसाद जी को असत्य कुछ दीखता ही नहीं, जगत् मिथ्या का राग यों आलापते हैं कि पुराण जगत् के ही अन्तर्गत हैं, और स्वयं भी सनातनी जगत् का अङ्ग हैं, तब आप मिथ्याभाषणादि मिथ्या-कथायुक्त पुराणों को जानते हुवे सभी जगत् को मिथ्या बताने लगे ॥

हरा चश्मा लगाने से संसार हरा दीखता है। मिथ्या मत मानने वालों को संसार मिथ्या नज़र आता है ॥

५ सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत् और असत् का विचार करें करना चाहिये ॥

समीक्षा-स्वामी जी ने ईसाइयों के दश नियमों के अनुसार अपने नियम बनाये हैं इस में भी वही बात्ती है जो ४ नियम में है पहले तो यह देखना चाहिये कि, शरीर का क्या धर्म है और आत्मा का क्या धर्म है शरीर जड़ और दुःखरूप है उस की उत्पत्ति घटना बढ़ना नष्ट होना प्रत्यक्ष है, आत्मा दृश्य है नित्यैकरस चैतन्य जन्म मरण से रहित है जो मरण मरण से रहित है सोई आनन्द है फिर आत्मा में अनात्माभिमान और अनात्मा में आत्माभिमान कैसा फिर कैसे धर्मानुसार सत् असत् का विचार करके नियम किया और यह भी आश्चर्य है कि, निरवयव चैतन्य आत्मा को माना और प्रसन्न माना, निरवयव आकाश जड़ तो सर्वव्यापक और निरवयव चैतन्य आत्मा प्रसन्न तो बताओ यह धर्म अनुसार सत्य का ग्रहण है या असत्य का त्याग है, जब निरवयव है तो दो या तीन गाथा एक ही स्वरूप में कैसे हो सकती है ॥

मण्डन ५-शरीरका धर्म,आत्माका धर्म इसके मर्म की बात आप कहते शर्म को छोड़ धर्म से मुंह मोड़ते हैं । आप लिखते हैं। "जो जन्ममरण से रहित है वही आनन्द है" बस सौ जाल डालने से भी सत्यप्रकाश नहीं रुकता । अब बताइये कि आपके अवतार जन्म मरण होते हुवे भी कैसे आनन्द हैं? आर्य लोग तो सब काम धर्मानुसार सत् असत् को विचार कर करते हैं परन्तु आप पक्षपात के वश धर्मानुसार काम करने के उपदेशरूप नियम को ही निकलवाना चाहते हैं ॥

चोर चान्दनी रात दुखारी

आप तो यही नियम बनावेंगे कि—विना सत् असत् का विचार किये सब वैदिक नियमों का खण्डन करना चाहिये। स्वामी जी ने ईसाई मतका खण्डन धड़ाके से किया है । क्या आप ईसाइयों के १० नियमों को मन में मान बैठे हैं ? इसी लिये उनका खण्डन नहीं किया है ?

६ संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य प्रयोजन है अर्थात शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना ॥

समीक्षा—इस में यह बात विचारने योग्य है कि परमेश्वर को सर्वाधार सर्वेश्वर जान कर उपासना की गई है फिर संसार की उन्नति और उपकार में भी आप का हस्तक्षेप करना ये उपास्य की बराबरी है इस में तो अपने और संसार की उन्नति में परमेश्वर को ही अधिष्ठाता और प्रतिनिधि सम-

झना चाहिये यह ही परम धर्म है और जब कर्मानुसार है तो आप से उन्नति कैसी ॥

मण्डन ६-इस नियम को वही समझते हैं जो ईश्वर को सर्वाधार सर्वेश्वर मानते हैं। तभी तो उस परमेश्वर के पुत्र मान कर संसार की उन्नति करने का व्रत साधते हैं ॥

यदि ज्वालाप्रसाद जी के मत में ईश्वर ही सब उन्नति अवनति करता है तो तिमिरभास्कर बनाकर क्यों छपाया। ईश्वर ही पोथी बनाकर भेजता या आर्यसमाज का खण्डन करता। आप को यह नियम बनाना चाहिये कि "संसार की हानि करना सनातनी समाज का मुख्य प्रयोजन है, अर्थात् शारीरिक सामाजिक और आत्मिक अवनति करना ॥

टीका-बालविवाहादि से शारीरिक हानि, पुराण कथाओं से आत्मिक और गालीगान से सामाजिक हानि ॥

७ सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये ॥

समीक्षा-प्रीति अनुकूल पुरुषों में होती है यदि धर्मानुसार पर दृष्टि है तो धर्मविरोधी हठ करने वाले अभिमानी को शत्रु समझना चाहिये फिर सबसे प्रीतिपूर्वक वर्तना कैसा यदि चोर चोरी करे तो उस के साथ प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार कैसे वर्ते जो प्रीति करे तो धर्म कहां और धर्म करे तो प्रीतिसे यथायोग्य वर्ताव कैसे करा सकता है शत्रु के साथ यथायोग्य होने में प्रीति कहां ॥

उ०-धर्मविरोधियों से प्रीति करके ही तो उनके सदुपदेश के लिये आर्यसमाज अपना सर्वस्व व्यय करता है। रातदिन धर्मविरोधियों को समझाकर पिता परमेश्वर की आज्ञा का संदेशा उनपर पहुंचारहा है। जो चोरी करता है उसेभी चोरी की बुराई बताकर चोरी छुटाना आर्यसमाज का लक्ष्य है ॥

धर्मानुसार प्रीति हमारी न्यायशीला गवर्नमेंट की देखो, चोरीका फल जेलख़ाने में पड़ा भोग रहा है परन्तु वह बीमार होता है तो १६) रुपये फ़ीस वाला बड़ा डाक्टर उस को विना फ़ीस देखने जाता है। दूधभात खुलवाता है क्या पापी जनों से प्रीति नहीं होसक्ती ?

हां आप यह नियम बनाना प्रस्तुत कीजिये—

७-अपने भाइयों से द्वेषपूर्वक अधर्मानुसार कृतघ्नतापूर्वक वर्त्ताव करना चाहिये ।

टीका-जो वेदोपदेश करै, उसे नास्तिक कहकर पास न जाओ। बिरादरी से गेरो । जबतक चमारों के शिर पर चोटी है, एकादशीव्रत करें, रामराम कहैं, अग्निपरिक्रमा से विवाह करैं, तबतक उन्हे त्याज्य नीच अस्पृश्य वस्त्र न छुवाना । जब कल्मा पढ़ले, चोटी कटवाले, बप्तिस्मा लेले, राम कृष्ण को बुरा कहे, तब हाथ मिलाना ॥

८ अविद्या का नाश और विद्याकी वृद्धि करनी चाहिये ॥

समीक्षा-विद्या यथार्थज्ञान को कहते हैं 'विद्ययामृतमश्नुते' विद्या से अमृत अर्थात् मुक्ति होती है जिससे संसार में जन्म नहीं होता और आपने मुक्तिसेभी लौटना मानाहै तो सारी तुम्हारे ग्रंथोंमें अविद्याही अविद्या है२ परमेश्वर सजाति विजाति भेदरहित है जगत् नाशवान् होनेसे स्वप्नवत् है जगत् में सत्यबुद्धि परमेश्वर में भेद मानना ही अविद्या है सो आपने सम्पूर्ण ग्रंथमें ईर्ष्या निन्दा द्रोह यह सब अविद्याही लिखी है वेदान्तरूप ब्रह्मविद्या का नाश किया है फिर अविद्याका नाश कैसा ॥

उ०-जगत् को मिथ्या मानने वाले स्वयं जगत् के अङ्ग हैं, अवयव हैं। जब जगत्को मिथ्या कहते हो तो आप भी मिथ्या हैं। आपके पुराणकर्त्ता आदि सब मिथ्या हैं। ऐसे मिथ्यावादियों के मिथ्या ज्ञान की अविद्या का दूर करना और पीर पूजा, भूत पूजा आदि अनेक अविद्याओं का नाश करना आर्यसमाज का कर्तव्य नियम है । हां आप यह नियम बनावें-

८ विद्याका नाश और अविद्या की वृद्धि करनी चाहिये ।

टीका-स्त्रियों को विद्या से वंचित करना, शूद्रों को गिराना और संसारकी उन्नति को अविद्या बताना, यह आपको ही भेट रहो ।

९ हरेक को अपनी उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये ॥

समीक्षा-जबतक भेदबुद्धि है तबतक यह नियमभी निर्वाह नहीं होसक्ता यह बात आपकी कथन मात्र है क्योंकि आप भेदवादी हैं और भेद वादियों में यह बात नहीं कि औरों की उन्नति से संतुष्ट हो ऐश्वर्यकी तो

बातही रहने दीजिये फिर जब स्वामीजी ने अपना नवीन मत ही कल्पना करलिया तो अपने से और धर्मावलंबियों की उन्नति आप कब चाहेंगे आपने सैकड़ों दुर्वाक्य कहे और सनातनधर्म की अवनति में सत्यार्थप्रकाश ही बनाया है यह नियम कथन मात्र है यथाहि—

पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे

उ०—स्वामीजी ने "यथेमां वाचं कल्याणीं" कहकर सब को अमृतरूप पिता परमेश्वर के पुत्र बताकर सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझी, इस लिये कथन मात्र नहीं, कर दिखाया है। हां आप का नियम यह होसक्ता है कि-

९ प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी अवनति समझनी चाहिये ॥

टीका-इसी लिये तो विद्या का प्रकाश नहीं करना चाहते । किसी को पढ़ाने से उसकी उन्नति न होजाय ॥

स्वामी जी यदि अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट रहते, अपना मोक्ष चाहते तो विशुद्ध गङ्गातट त्याग इस घोर आग में न कूदते । स्वामी जी ने अपनी मोक्ष की मंज़िल पास आई की पर्वाह न कर कोटानुकोट पुरुषों को मोक्ष मार्ग दिखाने का यत्न किया । दुर्वाक्य नहीं कहे किन्तु प्रेम भरे उपदेश दिये । सोतों को जगाया । जो गहरी नींद में पड़े थे, उनको उच्च स्वर से जगाया, जो कुम्भकर्ण के समान न जागे उन पर कटु खण्डनरूप चेंटुवे भी लिये । जब पुत्रों का फोड़ा बढ़ जाता है तब चतुर पिता उसे गोदी में भर डाक्टर के नश्तर के सामने कर देते हैं । बालक रोता है, गाली देता है । चतुर दयामूर्ति डाक्टर नश्तर से चीर कर उसमें कड़ुवा नीम वा आइडोफ़ार्म भर देता है । दबा २ कर खूब मवाद निकालता है । ऐसे ही स्वामी दयानन्द ने पाखण्ड को खंड खंड करने के लिये खण्डन किया । सत्य सनातनधर्म का उपदेश कर उपकार किया है ॥

१० सब मनुष्यों को 'सर्वदा द्रोह छोड़कर' सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिये और पृथक् सर्व हितकारी नियमों में सब स्वतंत्र हैं ॥

समीक्षा—जो सर्वहितकारी नियम हैं सो प्रति २ लेकर सर्व कहलाते हैं फिर यह बड़े अचंभे की बात है कि पृथक् हितकारी नियम में स्वतंत्रता और

सर्व हितकारी में परतंत्रता क्या बात यह इन के नियम १० अशुद्ध हैं सर्व-हितकारी और पृथक् सर्वहितकारी में अन्तर ही क्या है सो तो लिखा होता क्या सामाजिक सर्व हितकारी और पृथक् सर्व हितकारी में केवल समाज को छोड़कर और सब मनुष्य नहीं आगये, फिर परतंत्र स्वतंत्र कैसा सब के लिये एकसा ही करनाथा ॥

इति श्रीस्वामीदयानन्दकृतनियमखंडनं सम्पूर्णम्

उत्तर १०- यह दश नियम का खण्डन लिखते समय ज्वालाप्रसाद जी के भीतर का " सर्वदा द्रोह " बाहर क़लम पर आगया । इसी लिये यहां इसे लिख गये, फिर शर्म आई तो "छोड़" और जोड़ दिया। हम पं० ज्वा० प्र० जी से बूझते हैं कि आर्यसमाज के नियमों को द्रोह छोड़ पढ़ कर देखें। दशवें नियम में "सर्वदा द्रोह छोड़" इतना शब्द नहीं है और न " पृथक्" शब्द है,यह कुप्रथा भी आप को ही उलटे भाव हैं। शुद्ध नियम इस प्रकार है:-

" सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये। प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें "॥ १०॥

तात्पर्य नियम का यह है कि समाजसम्बन्धी नियमपालन में परतन्त्रता और अपने व्यक्तिगत नियम पालन में स्वतन्त्रता रहनी चाहिये। " सर्वदा द्रोह छोड़ कर " यह पाठ आपने बढ़ा लिया है।

इति दशनियमखण्डनम् ॥

आगे पृष्ठ ४०२ से ४०४ पर्यन्त आपने भी स्वामी जी के स्वमन्तव्याऽमन्तव्य के समान अपने ४० मन्तव्य लिखे हैं, जिन का प्रत्युत्तर पृथक् लिखने की इस लिये आवश्यकता नहीं कि इस ग्रन्थमें इन सबका ब्यौरेवार खण्डन हो चुका है

ओं शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा ॥

शन्न इन्द्रोबृहस्पतिः शन्नोविष्णुरुरुक्रमः ॥ यजुः ३६ । ९ ।

इति श्रीमत्स्वामि हज़ारीलाल सूनुना तुलसीरामस्वामिना कृते भास्करप्रकाशे सत्यार्थप्रकाशस्य एकादशसमुल्लासखण्डनं नामैकादशः समुल्लासः समाप्तः ॥ ११

समाप्तश्चायं ग्रन्थः